रवीन्द्रनाथ के निबन्ध

(भाग २)

[आत्मकथा, साहित्य-समीक्षा, व्यक्तिलेख
आदि विविध विधाओं के निबन्ध]

अनुवादक :
अमृतराय

साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

क्रम

पंचम खण्ड : साहित्य के पथ पर

षष्ठ खण्ड : साहित्य का स्वरूप

सप्तम खण्ड : प्राचीन साहित्य

अष्टम खण्ड : लोक साहित्य

नवम खण्ड : आधुनिक साहित्य

दशम खण्ड : विचित्र प्रबन्ध

एकादश खण्ड : पंचभूत

रवीन्द्रनाथ के प्रबन्ध और गद्यशिल्प

बुद्धदेव वसु

रवीन्द्रनाथ ने गद्य लिखा है कवि के समान; उनके गद्य का गुण कविता का ही गुण है; कविता जो कुछ हमे दे सकती है वही उनके गद्य की भी देन है। यदि किसी खण्ड-प्रलय में उनकी सब कविता की पुस्तकें लुप्त हो जायें और केवल नाटक, उपन्यास, प्रबन्ध बच रहें तो उन प्रबन्ध-नाटक-उपन्यासों से ही भविष्य का पाठक समझ जायगा कि रवीन्द्रनाथ एक महाकवि का नाम है।

हाँ, प्रबन्ध से भी समझ जायगा। प्रबन्ध : जिसमें कोई स्पष्ट विषय होना चाहिए, कोई विशेष पद्धति होनी चाहिए, जिसमे तर्क की सीढ़ियाँ पार करते हुए मीमांसा की ओर पहुँचना पड़ता है—कम-से-कम हमारी ऐसी ही कुछ धारणा है—उसमें भी यह अद्‌भुत कवि स्तर-स्तर में घुसा बैठा; किसी भी विषय की किसी भी आलोचना में उनका स्वर, द्युति, स्पन्दन, वेग, तरग—एक शब्द में उनका व्यक्तित्व—विषय को छा लेता है। अर्थात् हमारी समझ में प्रबन्ध को जैसा न होना चाहिए—कम-से-कम पाठशालाओं में यही सिखाया जाता है—उनका प्रबन्ध ठीक वैसा ही है।

जो लोग रवीन्द्रनाथ के प्रबन्ध के समर्थक नहीं हैं या जो समझते हैं कि आलोचना-धर्मी रचना में कविता का गुण-दोष गिना जाता है, इसलिए वर्जनीय है, उनकी बात मैं अच्छी तरह समझ सकता हूँ। यहाँ तक कि कभी-कभी मुझे उनकी बात से सहमत होने का भी लोभ हुआ है। सच तो है—रवीन्द्रनाथ के प्रबन्ध में कितनी पुनरुक्ति होती है, कितना अवांतर अंश, बहुत-सा कहने पर भी मीमांसा जैसे अस्पष्ट रह जाती है, मास्टर साहब की तरह 'समझाकर' बात कहना जैसे उन्हें आता ही न हो। तर्क के बदले वे देते हैं उपमा, तथ्य के बदले बिम्ब; जहाँ पाठक को अपने मत की ओर खींच लाना उनका प्रकट अभिप्राय है

वहाँ वे उसकी इन्द्रियों को तीक्ष्ण कर देते हैं, जहाँ बुद्धि के निकट प्रमाण देना होगा वहाँ वे नियम-कायदे से कोई मतलब न रखकर हमारे हृदय को आर्द्र बनाने में लग जाते हैं। समाज, राजनीति, शिक्षा, इतिहास—इन सब विषयों में तो खैर पूर्वोक्त दुर्बलता के होते हुए, वक्तव्य को शब्दालंकार से अलग करके पहचाना भी जा सकता है। लेकिन अपने प्रियतम और अंतरतम विषय साहित्य की आलोचना करते समय उनकी बात में से कोई 'सारांश' निकलना दुर्लभ हो उठता है; उसमें न तो कोई परिष्कृत परिभाषा रहती है न कोई विधान; ऐसा लगता है कि जैसे वे किसी सुस्पष्ट सूत्र की घोषणा करने में अक्षम हों या अनिच्छुक हों, या कभी अगर उन्होंने ऐसा किया भी तो खुद ही उनका खण्डन कर देते हैं—शायद अगले ही क्षण। मानना ही पड़ेगा कि जिस अर्थ में अरस्तू, आनन्दवर्धन, या मल्लिनाथ समालोचक हैं उस अर्थ में रवीन्द्रनाथ साहित्य के समालोचक भी नहीं है।

नहीं भी है तो क्या; वह पदवी उनको मिलनी चाहिए या नहीं मिलनी चाहिए इस बात को लेकर हम बहस नहीं करेंगे। इतना ही कहूँगा : क्या एक ही साथ सोफोक्लीज और अरस्तू या कालिदास और मल्लिनाथ हुआ जा सकता है—यह क्या स्वाभाविक होगा या वाछनीय होगा या सम्भव या मर्त्यलोक के लिए सहनीय? और एक बात : होमर और सोफ़ोक्लीज़ का जन्म अगर पहले न हो गया होता तो अरस्तू कहाँ रहते; वाल्मीकि, कालिदास आदि कवियों को सामने रखे बिना क्या हम किसी आनन्दवर्धन की कल्पना कर सकते हैं? साहित्य के मामले में सृष्टिकर्म ही प्रधान और प्राथमिक होता है, समालोचना केवल उसकी अनुगामिनी होती है; और जब कोई बड़ी सृजनशील प्रतिभा समालोचना में हाथ डालती है तब उसके लिए केवल यही सम्भव होता है कि वह 'समालोचना को ही सृष्टिकर्म बना दे।' यह बात रवीन्द्रनाथ ने ही कही थी; उनके प्रबन्ध की आलोचना करते समय इसको ध्यान में रखना होगा। मान लेना होगा कि पद्य और गद्य-रचना को मिलाकर उनके व्यक्तित्व की जो अखण्डता प्रकट होती वही वे हैं; किसी पाठक-गोष्ठी को खुश करने के लिए वे और कुछ नहीं हो सकते; हम ग्रहण करें या न करें वे अपने अखण्ड रूप में बने ही रहेंगे। उनका गद्य अतिभाषी है? उनकी कविता भी वैसी ही है। अलंकार-बहुल है? अस्पष्ट है? उच्छ्वासप्रवण है? इनमें से एक-एक बात उनकी किसी-न-किसी काल की कविता के विषय में भी सच है। जिस प्रकार 'वसंत यापन'-

जैसी गद्य-रचना में उन्होंने प्रबन्ध के आकार में कविता लिखी है, उसी प्रकार 'एबारे फिराओ मोरे' या 'वसुन्धरा' में उन्होंने कविता के आकार में प्रबन्ध लिखा है। हम साहित्य में वर्ण-संकरता ले आने के लिए उन्हें दोष दे सकते हैं; गद्य में कविता की रीति और कविता में गद्य के विषय का संचार करके उन्होंने दोनों की ही क्षति की है, यह भी माना जा सकता है; लेकिन सब-कुछ कह चुकने के बाद सबसे जरूरी जो सवाल उठ खड़ा होता है वह है : क्या हम उन्हें छोड़ सकते हैं ? रवीन्द्रनाथ के दोष बच्चों-जैसे सरल हैं, उनका उन्हें भान भी नहीं, आत्मगोपन की कोई चेष्टा भी नहीं है, अपने घर के आँगन में बैठकर वे बड़े सहज भाव से खेलते हैं, दर्शक के हाथों पकड़े जाने का भय उन्हें नहीं रहता और पकड़े भी गए तो कोई चिन्ता नहीं। वे एक विराट् प्रतिभा की छाया में खा-पीकर बड़े हो रहे हैं; जैसे उनमें ह्रास का कोई लक्षण नहीं है वैसे ही उनका उत्सस्थल वह प्रतिभा भी शक्तिशाली है; जरूरत पड़ने पर वह अविश्वासी को वज्रपात के समान विदीर्ण कर सकती है। रवीन्द्रनाथ ऐसे ही लेखक थे जिनके दोष हममें से कोई भी किसी भी दिन पकड़ सकता है और जिसके बिना हममें से किसी का एक क्षण काम नहीं चल सकता। और यहीं पर उनकी चरम विजय है, इसी अपरिहार्यता में : उनके दोषों को छोड़ने के पीछे उनको ही छोड़ देना पड़ेगा, इसीलिए उसके सब दोषों के होते हुए—जबकि मन-ही-मन उनके विरुद्ध तर्क कर रहा हूँ ठीक उस समय भी उनके सब दोषों के समेत हमें उनका वरण करना ही होगा; उत्कर्ष के ढेरों दूसरे उदाहरण उनको म्लान नहीं कर सकते, उसी प्रकार जैसे बहुत-से तीर्थों की स्मृति गृहदेवता को अपने स्थान से नहीं हटा सकती।

लेकिन किस अर्थ में अपरिहार्य, किस अर्थ में गृहदेवता ? क्या इसलिए कि अगर उन्होंने 'कथा ओ काहिनी' न लिखी होती तो माध्यमिक विद्यालयों में पढ़ाने योग्य बंगला कविता की कोई अच्छी पुस्तक न मिलती ? या इसलिए कि अगर उन्होंने 'जन-गण-मन' की रचना न की होती तो सारे भारत में पूरी तरह ग्रहण किये जाने योग्य कोई राष्ट्रीय गान हमको न मिलता ? या इसलिए कि अगर उन्होंने 'गीत वितान' न लिखा होता तो उत्सवों में, अन्न-प्राशन में, श्राद्ध के दिन या चलचित्रों में नायिका के गाने योग्य गीत हमें न मिलते ? या इसलिए कि उनके प्रबंधों के भंडार से हमें अपने भाषणों और समाचार पत्रों की रचनाओं में उद्धृत करने योग्य वाक्य अनवरत मिलते जा रहे हैं ? बंगाल में और सारे

भारतवर्ष में उनकी जो प्रातिष्ठानिक मूर्ति स्थापित हुई है—जिसको देवमूर्ति कहना भी गलत न होगा—मैं उस पर जोर नहीं देना चाहता; जहाँ पर हम उठते-बैठते उसका नाम लेते हैं, कोई भी अनुष्ठान उनके स्मरण से आरम्भ करते है, किसी भी मतवाद के समर्थक के रूप में उनको खड़ा करते है, वहाँ पर वे सब लोगों के स्वत प्राप्त आश्रय है, हमारे आत्मसम्मान के लिए आवश्यक, महिमा के लिए एक प्रतीक के रूप मे सारे भारतवर्ष के लिए अपरिहार्य। लेकिन उस तरह बिना कुछ खर्च किये कोई पाठक उन्हें पा ही नही सकता : क्योंकि पाठक होने के लिए अपने ऊपर दायित्व लेने की शक्ति चाहिए : उनकी रचना मे प्रवेश करने के लिए हमे उनको उपार्जित करना होगा; वे एक बड़े कवि हैं या अच्छे कवि हैं यह मोटी बात भी हमारे अपने आविष्कार की अपेक्षा रखती है। और, मैं एक साधारण पाठक के रूप मे ही कहना चाहता हूँ कि उनमें दोष चाहे जितने ही दिखाई दें, उनके बिना एक पल हमारा काम नहीं चल सकता।

लेकिन क्या यह सम्भव नही है कि हम रवीन्द्रनाथ की रचनाओ मे से छँटाई करके अपना रवीन्द्रनाथ खड़ा कर लें ? हम क्या बाहुल्य को अलग करके उनकी वाणी को नही पा सकते, उच्छ्वास को छोड़कर उन्हें उपलब्ध नही कर सकते या उनकी 'श्रेष्ठ' रचनाओ का समाहार नही कर सकते ? ऐसा करना सम्भव नही है, यह मैं नही कह सकता बल्कि हम यह मानने के लिए बाध्य हैं कि उनके-जैसे रचनाबहुल लेखक के पक्ष मे संकलन एक उपयोगी चिकित्सा होगी। उस ओर उनका अपना और अनुरागी संपादकों का प्रयास देखा गया है, साहित्य अकादेमी के इस ग्रंथ मे भी वही चेष्टा दिखाई पड़ती है। भविष्य मे भी, ऐसा लगता है, उनकी रचनाओं में से चयन करने की आवश्यकता निरन्तर अनुभव होगी; क्योंकि हम उनको विभिन्न दिशाओ से देखने के अभ्यस्त हो गए हैं; किसी विदेशी अथवा नये पाठक के आगे उनको उपस्थित करते समय सबसे पहले हम उनकी बहुमुखता और वैविध्य का परिचय देना चाहते है—"आप तो जानते ही हैं उन्होंने सब तरह की रचनाएँ की हैं और शायद ऐसा कोई विषय नही है जिस पर उन्होने न लिखा हो।" आगे चलकर कोई यह न सोचे कि उन्होंने केवल कोमलकात पदावली लिखी है इसलिए हम उनके समाज-विषयक प्रबन्धों को सामने लाने की चेष्टा करते हैं; बाद को किसी की कही ऐसी धारणा न हो कि ईश्वर से प्रेम करने के फलस्वरूप वे संसार को नही देख सके इसलिए हम 'गल्पगुच्छ' में से चुन-चुनकर उनके वास्तवबोध के उदाहरण निकालते हैं।

ये सभी सत्कर्म उनको लेकर की गई आलोचना के लिए प्रासंगिक हैं; लेकिन जब हम उनकी प्रदक्षिणा करने के बाद उनके विभिन्न अंशों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उद्यत होते हैं तभी यह बात समक्ष में आती है कि वे गंभीरतम अर्थ में कवि हैं, कवि को छोड़ और कुछ भी नहीं हैं। एक ही उत्स से, एक ही उत्साह की प्रेरणा से उनकी विख्यात भिन्न-भिन्न दिशाएँ फैली हुई हैं—ठीक जिस तरह 'निर्झरेर स्वप्न भंग' कविता में कहा गया है—उनका मन खानों में बँटा हुआ नहीं है, सामयिक भाव से जोड़े हुए लेकिन असल में एक-दूसरे से सम्पर्करहित गाड़ी के डिब्बों को वह इंजन के समान नहीं खींचे लिये जा रहा है; उनका सब वैचित्र्य जल-स्रोत की 'अविराम गति के समान' है जिसे रोका नहीं जा सकता। 'कवि रवीन्द्रनाथ', 'औपन्यासिक रवीन्द्रनाथ' 'प्रबन्धकार रवीन्द्रनाथ' इन विभागों को इसलिए अस्वीकार न करने पर भी अन्ततः स्वीकार नहीं किया जा सकता; वे एक-दूसरे में प्रविष्ट हैं, एक-दूसरे के उद्दीपक और परिपूरक हैं और एक अखण्ड सत्ता के प्रतिरूप हैं। जिस मौलिक उपादान से रवीन्द्रनाथ का गठन हुआ है वह है कवित्व-शक्ति, उसीने उनकी गद्य-रचना को सप्राण और सार्थक बनाया है; जिस प्रकार अग्नि किसी भी ईंधन में प्रज्वलित हो उठती है उसी प्रकार उनकी कवि-प्रतिभा भी सभी रूपों में, सभी विधाओं में प्रदीप्त है, दीप्ति में अन्तर अवश्य है, निश्चय ही 'सोनारतरी' का काव्य-ग्रन्थ और 'आत्मशक्ति' प्रबन्धमाला में कवित्व एक-जैसा घनत्व नहीं है, लेकिन कविता का संस्पर्श दोनों में है इसीलिए उनके प्रायः सभी संदर्भों में यौवन की रक्तिम आभा दिखाई पड़ती है—उसका प्रसंग चाहे पुराना हो वक्तव्य सुपरिचित और उपदेश आज के दिन अवान्तर। जो व्यक्ति अपने पोर-पोर में कवि नहीं है वह क्या 'छेलेभुलानो छड़ा'-जैसी समालोचना या 'बांगला भाषा परिचय' की प्रस्तावना या 'सहज पाठ'-जैसी वर्ण-परिचय की पुस्तक लिख सकता था? "भाषा में सर्वत्र कविता है—छंद होगा तो कविता होगी—सर्वत्र है, नहीं है तो केवल विज्ञापन और समाचारपत्रों में। साहित्य के जिस विभाग को हमने 'गद्य' का नाम दिया है उसमें भी कविता है—जहाँ-तहाँ खूब अच्छी कविता—भाँति-भाँति के शब्दों में रचित। सच पूछो तो गद्य नाम की चीज कोई नहीं है : है वर्णमाला और नाना प्रकार की कविता, कोई शिथिल, कोई संहत और कोई जरा ज्यादा बिखरी हुई। जहाँ पर स्टाइल की दिशा में प्रयत्न है वहीं पर पद-विन्यास है।" स्तिफ़ान मलार्मे की इस उक्ति के प्रमाणस्वरूप किसी एक, सारे संसार में किसी

एक कवि को यदि खड़ा करना हो तो वह कवि मलार्मे नहीं है, उसका शिष्य पाल वालेरी भी नही है—निस्संदेह वह कवि रवीन्द्रनाथ हैं। क्योंकि मलार्मे और वालेरी का गद्य उनकी कविता के समान ही सांकेतिक है, गद्य-रचना के विषय भी 'विशुद्ध' और निर्भार है—कह सकते है उनके विषय कविता से अलग नही है और कविता के विषय पर कवि के समान लिखने में अततोगत्वा कम ही व्यावहारिक प्रतिवन्ध रहता है। लेकिन रवीन्द्रनाथ ने साधारण भाषा में गद्य लिखा है, बहुत बार निरुत्साहजनक सांसारिक विषयों को लेकर लिखा है (सहकारिता पर भी उनका प्रबन्ध है), हम उन्हें गद्य को कविता के स्तर पर उठाने की सचेतन चेष्टा करते वार्धक्य से पहले नही देखते। तो भी, चूंकि स्टाइल उनके लिए स्वाभाविक है, छंद उनकी मज्जा में भिदा हुआ है, इसलिए उनके समग्र गद्य मे ऐसी रचनाएँ अपेक्षाकृत कम ही हैं (विलकुल न हो ऐसी बात नही) जिसमे कोई गूँज नही उठती, कोई भीड़ नही निकलती, जो स्मृति में स्पंदित नही होती या हमे वह अलौकिक अनुभूति नही देती जिसे हमने आनंद का नाम दिया है। इसी तरह हमे उनके गद्य में कविता मिलती है—'बीच-बीच मे खूब अच्छी कविता, कोई शिथिल, कोई संहत, कोई जरा ज्यादा बिखरी हुई।'

२

'निवन्धमाला' के इस खण्ड के प्रवन्धों को मुख्यतः पाँच अंशों में विभाजित किया गया है : 'आत्म-परिचय,' 'पत्रधारा', 'भ्रमण' (भाषा और साहित्य) और 'विचित्र'। प्रत्येक अंश के शीर्षक से ही उनकी अतर्भुक्त रचनाओं की प्रकृति का अनुमान किया जा सकता है, केवल 'विचित्र' अंश के सम्वन्ध मे कुछ कहना जरूरी है। इस विशेपण का प्रयोग रवीन्द्रनाथ ने स्वयं ही किया था—उनका 'विचित्र प्रवन्ध' १३१४ वंगाब्द मे प्रकाशित हुआ, उनके दृष्टांत को सामने रखकर हमने उन सव रचनाओ को 'विचित्र' की संज्ञा दी है जिन्हें दूसरे किसी विभाग में ठीक-ठीक नही डाला जा सकता। हम कहना चाहते हैं कि इस अंश की रचनाओं में रचना ही प्रधान है, विषय तो केवल उपलक्ष है, किसी भी एक प्रसंग का सहारा लेकर लेखक ने अपनी भावना और कल्पना, अपने मूल्य-बोध और पक्षपात को विस्तार दे दिया है! इस प्रकार की रचनाओं के लिए आधुनिक वंगला भाषा मे एक नया नाम निकला है —'रम्य रचना'। यह फ्रांसीसी वेल लेत्र का अनुकरण है; कुछ लोग अब भी कहते हैं—और पहले भी कहते थे

—व्यक्तिगत प्रबंध। नये नामकरण मे इस बात का भय होता है कि वह अयोग्य को अपनी ओर खीचता है, 'रम्य रचना' को भी—बंगला भाषा में उसके साम्प्रतिक प्रादुर्भाव को देखकर—अक्षम का आश्रयस्थल कहने की इच्छा होना अनुचित नही कहा जा सकता। जो लोग कविता, प्रबंध, उपन्यास कुछ भी नहीं लिख सकते और जो ठीक अर्थों मे पत्रकार भी नही हैं, जिनके पास न तो तथ्य है न ज्ञान, न उद्‌भावना-शक्ति न कला-नैपुण्य, जो सुसंगत भाव से किसी विषय पर एक क्षण विचार भी नहीं कर सकते और जो परस्पर सम्बद्ध दो वाक्यों की रचना करने मे भी स्वभावत. असमर्थ हैं उनकी विशृंखल प्रगल्भता उद्धृत होकर छापे के अक्षरों मे दिखाई न पड़ती यदि 'रम्य रचना' शब्द की सृष्टि न हुई होती। लेकिन केवल इसीलिए कि बहुत-सी निकृष्ट रचनाएँ उससे प्रश्रय पा रही हैं हम यह नही कह सकते कि वह शब्द ही त्याज्य है या कि गद्य-रचना के उस विशेष रूप का अस्तित्व ही नही है। यदि हम यह मान सकते हैं कि 'कविता' के नाम से प्रकाशित अधिकांश रचनाएँ कविता नही होती तो अधिकांश 'रम्य रचनाएँ' यदि रम्य न हों और रचनाएँ भी न हों तो उनको लेकर बहुत अधिक विचलित होने से कैसे काम चलेगा। नये नामकरण के पारिभाषिक औचित्य को लेकर तर्क उठ सकता है, लेकिन यह ठीक न होगा कि नये नामकरण का कोई प्रयोजन नही है। यूरोपीय भाषा में कहने से एक विशेष प्रकार के साहित्यगुण से युक्त रचना का ही बोध होता है, लेकिन हमारे 'प्रबन्ध' (संस्कृत मे जिसका अर्थ था पद्य या गद्य की कोई भी रचना) शब्द का अर्थ इतना अधिक व्यापक है कि कभी-कभी उसको सीमित किये बिना ठीक से काम नही चल सकता। 'छोटी साहित्य-गुण-सम्पन्न गद्य रचना' के अर्थ में essay शब्द का व्यवहार सबसे पहले मिशैल मंतेन ने किया—साहित्य का यह रूप भी उन्हीका आविष्कार है। बाद के चार सौ वर्षों में उत्पन्न अन्य बहुत-से उदाहरणों से परिचय होने के फलस्वरूप आज के पश्चिमी पाठक essay शब्द देखते ही समझ जाते है कि कैसी रचना उनके सम्मुख रखी जा रही है। यदि कोई जीव-विज्ञानी सर्वभक्षी प्राणियो की पाकस्थली के विषय में कोई गवेषणा प्रकाशित करे या कोई धर्मविद् ईसाई धर्म-तत्त्व की एक नई व्याख्या का प्रणयन करे या कोई इतिहास के अध्यापक रूस की क्रांति मे लेनिन और ट्राट्स्की की भूमिकाओं की तुलनात्मक विवेचना करें तो इनमें से किसी को कोई पश्चिमी पाठक essay नही कहेगा; उन सब ज्ञानगर्भ, विधिबद्ध और उद्देश्य-निर्भर रचनाओं के लिए 'monograph', 'dissertation', 'tract', 'treatise'

आदि बहुत-से अन्य शब्द प्रचलित हैं। किंतु हमारी भाषा में रवीन्द्रनाथ का 'पचभूत' भी प्रबंध की पुस्तक है, स्वामी विवेकानंद का 'भक्तियोग' भी प्रबन्ध की पुस्तक है और विद्यासागर महाशय के 'विधवा विवाह विषयक प्रस्ताव' को भी दूसरे किसी नाम के अभाव में 'प्रबन्ध' ही कहना पड़ेगा। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अगर और भी दो-एक व्यवहार-योग्य शब्द होते तो ज्यादा अच्छा होता।

जो देखने-सुनने में प्रबन्ध के समान है ऐसी गद्य-रचना के दो स्पष्ट विभाजन दिखाई पड़ते हैं: उनमें से एक में विषय ही सर्वस्व या मुख्य होता है, वहाँ पर लेखक नया कोई ज्ञान देना चाहता है या नये किसी मत का प्रचार करना चाहता है। इन सब रचनाओं की सूचना, मध्यभाग और समाप्ति का एकांत निर्देशक होता है वक्तव्य; प्रतिपाद्य विषय को प्रमाणित करने के लिए जिन युक्तियों और उदाहरणों की आवश्यकता है लेखक ने पहले से ही उन्हें इकट्ठा कर लिया है—लेखक के रूप में उसकी समस्या उन उपादानों को भाषा में बाँधने भर की होती है—भाषा उसके लिए केवल एक वाहन है, एक अपरिहार्य यंत्र—कह सकते हैं कि उन उपादानों को एक शृंखला में बाँधना ही उनकी रचना है। और दूसरे में विषय गौण होता है; लेखक रचना-कर्म शुरू करने के पहले—अपने जीने अपने मेल-जोल या साधारण पढ़ी-सुनी बातों के बाहर—कोई गवेषणा नहीं करता; वह कोई पूर्वनिर्दिष्ट भावना या कोई समाज-हितकारी उद्देश्य लेकर लिखने नहीं बैठता; लिखते-लिखते उसके भीतर भावना का संचार होता है और वह अपना ही अनुसरण करते हुए प्रसंगातर पर चला जाता है; उसकी सूचना, मध्य भाग और समाप्ति पीछे छूट जाती है—'वक्तव्य' को उपस्थित करने का कोई प्रयोजन नहीं, वही अमोघ और अलक्ष्य विधान उसको भी नियंत्रित करते हैं जो किसी कविता, नाटक या उपन्यास को। उसकी भाषा में रूप, छंद और स्वादुता होती है, पाठक के साथ उनके व्यवहार में सौजन्य, आसक्ति और हास्यरस-बोध होता है और जगत् के साथ उनके व्यवहार में होता है संराग और दूरकल्पना। शीर्षक में जिस विषय का उल्लेख रहता है उसको लेकर वे जितना कुछ कहते हैं संभवतः उनकी अपनी बात भी रहती है; हम जान पाते हैं कि यह जगत् उनकी चेतना में किस प्रकार प्रवेश कर रहा है, उनका प्रेम कहाँ है, किस संशय का कीड़ा उन्हें कुतर रहा है, किस गुप्त वेदना का परिपाक उन्होंने रचना में किया है। अर्थात् विषय चाहे जो हो, वे अपने-आपको व्यक्त करते हैं (यह सूत्र भी मान्तेन का ही

है) और इस अर्थ में उनकी रचना व्यक्तिगत या व्यक्तिनिर्भर होती है, उनके व्यक्तित्व का दर्पण भी उसे कह सकते हैं। मान्तेन ने बेधड़क 'मैं' शब्द का व्यवहार किया है, रवीन्द्रनाथ का 'हम' भी 'मैं' का ही एक चतुर और विनयी रूप है; और यह 'मैं'—गीतिकाव्य के वक्ता के समान ही—देश-काल के विशेष लक्षण द्वारा चिह्नित होने पर भी विश्व-मानव का प्रतिभू है। जीव-विज्ञानी जब सर्वभक्षी प्राणी की पाकस्थली के सम्बन्ध मे 'प्रबन्ध' लिखता है तब उसके कवित्व में एक ही अग को उद्योग करना पड़ता है, किन्तु अन्य जिस प्रकार के प्रबन्धों की हम चर्चा कर रहे हैं, वे लेखक की समस्त सत्ता के भीतर से निकलते हैं; वह केवल बुद्धि या चित्त का ही नही समस्त प्राण का भी अन्तःकरण का काम होता है; जो आदमी अपनी नन्ही बिटिया के विनोद के लिए फर्श पर घुटनियों चलता है, सर्दी के भय से जाड़े-भर स्नान नही करता, अवसर पाते ही महाभारत पढ़ता है, अलकतरे को पसंद करता है—वह इद्रियबद्ध असंगतिपूर्ण मनुष्य भी उससे संसरित और प्रतिफलित हो रहा है। जिसको हम वैज्ञानिक दृष्टि कहते हैं वह इस विराट् जगत् की एक विच्छिन्न कणिका के ऊपर ठहरी रहती है, अन्य सब चीजों का अस्तित्व वहाँ पर लुप्त हो जाता है; निरंजन ज्ञान उसी दृष्टि से पकड़ मे आता है। हम जिनको प्रबन्धकार कहते हैं वे इस विच्छेद-प्रवण एकान्तिक दृष्टि से वचित होते है। जगत् अपने विविध उपादान लेकर उनकी चेतना के ऊपर अनवरत आघात कर रहा है; सुख से, दुःख से, आकांक्षा से स्पदित रक्त-मांस के मनुष्य को वे कभी नही भूलते—और वही उनकी रचना का रूप ले लेती है—सत्य नही, जीवन्त, शिक्षणीय नही, आनंददायक; उसमें कोई अमोघ युक्ति नही होती, कोई ध्रुव मीमांसा नही होती, निश्चित रूप से मे कुछ भी नही कहते; लेकिन ऐसे कितने ही इगित बिखेर देते है जो सहृदय पाठक के मन में बीज के समान उड़कर पहुँच जाते है—जो सभव हुआ तो जड़ पकड़ लेता है और कभी किसी दिन एक नई भावना का फल भी लगा देता है। विज्ञानी के समान वे कोई प्रस्तुत सत्य लाकर हमारे हाथ में नही दे देते —दे सकते भी नही; वे पाठक को अपना सहयोगी बना लेते हैं; जिस बात को वे आभास में कहते हैं, उपमाओं में कहते हैं, गुंजन और वर्णहिल्लोल में कहते हैं उसका 'अर्थ' पूर्णता पाता है पाठक के मन में—यदि पाठक अयोग्य नही है।

मैं क्या अतिरंजना कर रहा हूँ? क्या मैं कोई बहुत बड़ा दावा कर रहा हूँ? लेकिन मैं कोई आदर्श तो स्थापित नही कर रहा हूँ, रवीन्द्रनाथ के ही वैशिष्ट्य की चर्चा कर रहा हूँ। यह प्रबन्ध—या प्रबन्ध का यह विशेष प्रकार—यूरोप मे

मान्तेन जिसका स्रष्टा है—हमारे साहित्य में उसके महाशिल्पी रवीन्द्रनाथ हैं। इसमें सिद्धिलाभ की दृष्टि से जो सब गुण आवश्यक या वांछनीय जान पड़ सकते हैं, उन सबका रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा में एकत्र संयोग घटित हुआ था। केवल 'विचित्र' नामधारी अंश नहीं, इस ग्रंथ की सब रचनाएँ पूर्वोक्त गुण-सम्पन्न हैं; सभी सृजनशील साहित्य है, उनका मूल्य रचना में ही है उत्पाद्य वस्तु में नहीं—यहाँ तक कि उनके सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक प्रबन्धों में भी जो प्रबन्ध कालप्रभाव से मलिन नहीं हो गए, उनमें भी यह एक ही लक्षण विद्यमान है। क्योंकि रवीन्द्रनाथ ऐसे ही लेखक हैं जिनके लिए किसी भी समय शिल्पी न होना दुस्साध्य था, जिनके किसी-किसी प्रबन्ध-ग्रंथ में (जैसे छन्द, बाँगला भाषा परिचय) हमको गवेषणा और रसात्मकता का समन्वय मिलता है, विश्लेषणदक्षता के साथ ही कविता की उद्बोधिनी शक्ति मिलती है। साहित्य के नियम और परिभाषाओं का वे अनायास अतिक्रमण कर जाते हैं उनकी आत्म-कथा भ्रमणपंजिका और चिट्ठी-पत्री में हमको आशानुरूप तथ्य नहीं मिलते; समालोचना में यथायोग्य तत्त्व-कथा नहीं मिलती। दूसरी ओर उन्हें समालोचना में आत्मकथा की अवतारणा कर देने में कोई बाधा नहीं होती, भ्रमणपंजिका में भ्रमण को भूलकर जीवन, मृत्यु और शिल्प-कला के विषय में दूर-कल्पना को प्रश्रय देते हैं—जिससे कोई पाठक भूलकर भी यह न सोचे कि उनकी 'समालोचना'—चिह्नित पुस्तकों में साहित्य के विषय में उनके सब वक्तव्य आ गए हैं या उनकी 'जीवन-स्मृति' और 'बचपन' के बाहर और कहीं भी उनकी आत्मकथा नहीं है। साहित्य के विषय में उन्होंने क्या सोचा है यह अगर पूरी तरह जानना हो तो उनकी 'चिट्ठी-पत्री', 'आत्मकथा' और 'भ्रमणपंजिका' भी पढ़नी होगी और साथ ही यदि उनकी समालोचना को न देखें तो उनके जीवन के विषय में हम यथेष्ट न जान सकेंगे। इस ग्रंथ का विभाजन सुविधा के लिए या नियम-रक्षा की खातिर किया गया है; असल में यह सब प्रबन्ध परस्पर-सम्पृक्त हैं।

३

और उनकी कविता के साथ भी इनका बहुत गहरा सम्बन्ध है। यह बात सभी कवियों के विषय में साधारणतः सत्य है, लेकिन सब कवियों की कविता और गद्यरचना एक ही रूप में अन्वित नहीं होती। जिस प्रकार रिल्के के सम्बन्ध में उसी प्रकार रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में हम यह नहीं कह सकते कि उनकी कविता को

हृदयंगम करने के लिए उनकी पत्रावली के साथ परिचय होना अत्यावश्यक है। वे मालार्मे या वालेरी के समान नही है; घुमाकर, फिराकर, आड़े-तिरछे, चोरी-छिपे, छल से, कौशल से, संकेत से, जाल बिछाकर—वे शिल्प-कला की ऐसी कोई भावमूर्ति गढ़कर नही खड़ी कर देते जो उनकी अपनी कविता केसाथ अविकल रूप से मेल खा जाय। वे येट्स के समान हमें अपनी कविता के अंत पुर मे नही ले जाते। कवि-जीवन की विवृति के रूप में 'जीवन-स्मृति' निस्सदेह निराशाजनक है। रवीन्द्रनाथ ने की थी पुनरुक्ति; एक ही बात उन्होने पद्य और गद्य में कही थी; उनकी कविता और गद्य परस्पर परिपूरक ही नही है, जहाँ-तहाँ उनकी अदला-बदली भी की जा सकती है। जो लोग आधुनिक कविता मे दीक्षित है, यह बात सुनकर बाद को रवीन्द्रनाथ के प्रति उनकी श्रद्धा कम न हो जाय इसलिए यही पर मैं इस बात का उल्लेख करना चाहता हूँ कि शार्ल बोदलेयर—जो आधुनिक कविता के आदि उत्स हैं—के गद्य में भी उनकी कविता की प्रतिध्वनि विरल नही है; वे प्रबन्ध मे कविता का स्तवक तक रच डालते है, कविता के भण्डार से उठाये गए चित्र कल्प, शब्द और अलंकार बिखेर देते है, कभी-कभी एक ही उपकरण से अपनी कविता और समालोचना की रचना करते है। दोनो कवियो मे अंतर इसी स्थान पर है—और यह अंतर महत्त्वपूर्ण है—कि रवीन्द्रनाथ ने वही बात अपने गद्य मे कम शब्दों में कही है और कविता में उच्छ्वास के साथ कही है और बोदलेयर ने गद्य विस्तार के साथ लिखा है और कविता मे बहुत अधिक संयम से काम लिया है। 'जीवन-स्मृति' के मृत्यु-शोक' अध्याय में जो बात रवीन्द्रनाथ ने केवल दो अनुच्छेदों में कही थी, 'वलाका' काव्य-ग्रंथ का श्रेष्ठ अंश उसीकी व्याख्या और विस्तार है; किन्तु बोदलेयर की शिल्प-विषयक प्रचुर समालोचना का निचोड़ उनकी 'आलोक-स्तम्भ' कविता की ग्यारह चतुष्पदियो मे आ गया है। बोदलेयर का गद्य जैसे उनकी छुट्टी का घण्टा हो—हमको ऐसा ही लगता है: छंद, तुक और स्तवक-विन्यास की निर्मम शर्तों को पूरा करने के बाद, चतुर्दशपदी के व्यूह में आदर्श को समेटने के मर्मान्तिक प्रयास के बाद वे गद्य में मानो अपने को निष्कृति देते हों; वह उनके विनोद और विचरण का क्षेत्र है, कौतुक का मंडप और विचार-बुद्धि की मृगया भूमि; अर्थात् उनके व्यक्तित्व का जो अश सामाजिक, रसिक और तत्त्वदर्शी है, जिसने उनकी कविता में प्रच्छन्न रहते हुए मेघलिप्त सूर्य के समान उनकी कविता को रंग दिया है। उसकी स्वाधीन क्रीड़ा गद्यप्रबन्ध मे उन्हें अभीप्ट थी। बोदलेयर का गद्य चाहे कितना अच्छा हो, वह उनकी कविता

का विकल्प या समकक्ष होने का दावा नहीं कर सकता; लेकिन रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविता को ढकने की चेष्टा नहीं की इसीलिए कभी-कभी उनकी कविता और गद्य का अंतर केवल पद्यछंद के प्रयोग या पंक्ति-विन्यास की असममात्रिक पद्धति से ही पता चलता है। 'पूरबी' से लेकर 'जन्मदिन' तक हमको बहुत-सी कविताएँ मिलती हैं जिन्हें रवीन्द्रनाथ गद्य में इसी प्रकार या इससे भी मनोरम बनाकर लिख सकते थे या लिख भी गए हैं; 'पश्चिम यात्री की डायरी' के अनेक अंशों को प्रायः साथ-साथ ही उन्होंने छंद और तुक में रूपायित किया है, 'शेषेर कविता' का गद्यशिल्प अनेक स्थलों पर कविता का रंग फीका कर देता है; गद्य-कविता 'बासा' एक पत्र का परिष्कृत रूप है; और परवर्ती पत्रावली में ऐसे कई अनूठे वाक्य हमको मिलते हैं या भागते हुए क्षणों की भावछाया मिलती है जिसका काव्यरूप देने के लिए उनको कष्टकल्पना का आश्रय लेना पड़ा है। रवीन्द्रनाथ की समग्र कविता और समस्त गद्य को पास-पास रखकर विचार करने पर हम देखते हैं कि उनकी कविता और गद्य का विवर्तन समानान्तर नहीं है; उनके हाथ मे गद्य जिस प्रकार बार-बार परिवर्तित हुआ है, कविता नहीं हुई; कविता में वे जैसे प्रकृति के हाथों अभिषिक्त एक सम्राट् हों, पद्य के आकार में जो कुछ लिखेंगे वही कविता होगी या अगर कविता न भी हो तो कम-से-कम उपादेय होगी, इस प्रकार का एक विधान उन्होंने स्वय भी प्रायः मान लिया था; लेकिन गद्य में वे कहीं अधिक सचेत शिल्पी है, खुद ही अपने को पीछे छोड़ जाने के लिए निरन्तर सचेष्ट।

इस प्रकार बंगला साहित्य में यह अनोखी घटना घटी कि जो हमारी भाषा के कविगुरु हैं और जिनका समकक्ष कवि आज भारत मे दूसरा नहीं है, वे ही हमारी गद्यरीति के भी स्रष्टा है। स्रष्टा की बात को लेकर इतिहासकार की ओर से आपत्ति हो सकती है; कहने की जरूरत नहीं कि मैं विद्यासागर और बंकिमचंद्र को भूल नहीं रहा हूँ; मैं कहना चाहता हूँ कि बंकिम से लेकर आज तक बंगला गद्य जिस प्रकार विवर्तित और रूपान्तरित हुआ है और आज के दिन आधुनिक बंगला भाषा कहने से जिसका बोध होता है उसके साक्ष्य, प्रमाण और उदाहरण के प्रधान भण्डार रवीन्द्रनाथ हैं। 'बउ ठाकुरानीर हाट' से लेकर 'शेषेर कविता' तक या 'विचित्र प्रबन्ध' से लेकर 'छेले बेला' तक : यह ग्रंथ-शृंखला बंगला गद्य के इतिहास को धारण किये हुए है; बंकिमी और बीरबली गद्य 'साधु' भाषा और 'चलतू' भाषा, घरेलू, बैठकी और दरबारी रीति, प्राचीन, आधुनिक और आधु-

निकतर शैली : उनके पचास वर्षों के इस कृतित्व को हम बंगला गद्य का अणुविश्व कह सकते हैं, शायद महाविश्व कहना भी गलत न होगा। इसमें सब-कुछ है : भारी, हल्का, गंभीर, चपल, संस्कृत और देशज, समतल और ऊँचा-नीचा अत्युक्ति, वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति; बहुत-सी मिली-जुली रागनियाँ हैं; सात्विक मिताचार के सन्निकट विलासी का उच्छ्वास, सामाजिक सौजन्य के सन्निकट ऐश्वर्य का आत्मविकरण। 'जीवन-स्मृति' का परिमित, यथोचित, प्राजल और प्रसन्न गद्य जिनकी रचना है उनको हम अठारहवीं शती के अंग्रेजी अर्थ में 'भद्र-लोक' कह सकते हैं; किन्तु उसके बाद हठात् 'घरे बाहरे' खोलने पर अलंकरण का अतिरेक देखकर हमारा दम घुटने लगता है, ऐसा लगता है कि यदि कालिदास की भाषा बंगला गद्य होती तो वे जो काव्य लिखते, वह यही है। और फिर 'लिपिका' में हमको जादूगर का एक उल्टा खेल देखने को मिलता है; 'घरे बाहरे' के प्रायः समकालीन इस गद्य को अच्छे अर्थ में 'जनाना' कहने को जी चाहता है; कि जैसे कुलनारी की मौखिक भाषा का ग्राम्य दोष निकालकर रवीन्द्रनाथ ने उसकी ऋजुता, लावण्य और सरलता ले ली हो; जो नितांत प्राकृत है उसीके उन्नयन में उत्पन्न यह सम्मोहन उन्होंने पूर्ववर्ती 'डाकघर' में भी दिखाया था। केवल उनके साहित्य को पढ़कर हम बंगला गद्य की सम्पूर्ण धारा को जान सकते हैं और यह बात ऐतिहासिक और अन्यान्य कारणों से दूसरे किसी बंगाली लेखक के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। हमें उनको अपने गद्य के अछूते दर्पण के रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है।

यौवन में रवीन्द्रनाथ ने बंकिम का अनुकरण किया है, मध्य वयस में प्रमथ चौधरी के प्रभाव ने उनका स्पर्श किया और इन दो लोगों को छोड़कर उनके सम-कालीन या पूर्ववर्ती लेखकों में दूसरा कोई नहीं है जिसके साथ गद्यशिल्प की दृष्टि से उनकी तुलना की जा सके। इसीलिए यदि हम इस बात का अन्वेषण करें कि उनका 'बंकिमी' गद्य कहाँ पर बंकिम से आगे बढ़ आया है और उनकी *'सबुजपत्र'* युग की रचना भी किधर से अप्राथमिक है तो हम शायद समझ सकें कि उनको बंगला गद्य का स्रष्टा कहने का संगत कारण है या नहीं। *वह अन्तर, मेरी समझ* में, यह है। बंगला गद्य में जो रमणीयता है वह बंकिम की *देन है, उनके पहले यह* गुण नहीं दिखाई पड़ता, और उनके उपन्यास और *'कमलाकान्तेर दफ्तर' आदि प्रबन्ध* रमणीय गद्य में रचे गए हैं इसीलिए आज तक *उनकी ख्याति कम नहीं पड़ी।* लेकिन यह रमणीयता गद्य-पद्य की ऋणी है। *अर्थात् बंकिम के गद्य में बीच-बीच*

मे पद्यछंद के बोल सुनाई पड़ते हैं, पद्य के ध्रुपद के समान ही उनमें अनुलापी अंग अविरल है, उनके कोई-कोई वाक्य लगभग पयार की पंक्ति हो सकते हैं—कम-से-कम मध्य खंडन में उनकी उन्मुखता स्पष्ट है और अठारहवीं शती के अंग्रेजी के दस मात्राओं वाले पद्य के समान उक्ति और प्रत्युक्ति की द्विधा के बीच उनकी स्थिति है। उनके वाक्य ऋजु हैं, शिक्षित सैन्यदल के समान वे काल पर पैर मिलाकर चलते है, उनकी शृंखला और धारावाहिकता युक्तिनिर्भर है, वे अभिप्राय की एकता के द्वारा सम्बद्ध हैं। और समग्र रूप से देखने पर प्रमथ चौधरी का चरित्र-लक्षण भी यही है: वाक्यवन्ध की यही ऋजुता, यह युक्तिनिर्भर वाग्नुक्रम। 'साधु' और 'चलतू' भाषा को लेकर चलने वाले वाद-विवाद के कारण यह सादृश्य हम बहुत दिनों तक लक्ष्य नही कर सके लेकिन आज के दिन जब यह गृहयुद्ध शांत हो गया है तब 'लोकरहस्य' या 'विविध प्रबन्ध' के बाद 'हालखाता' या 'नाना चर्चा' पढने पर यह बात सहज ही हमारी समझ में आ जाती है कि इन दोनों व्यक्तियों के गद्य का चलन एक ही प्रकार का है और उनके गठन में भी कोई उल्लेखनीय अंतर नही है। लेकिन इनके बाद रवीन्द्रनाथ को खोलने पर फौरन एक दूसरा सुर ध्वनित हो उठता है। हम अनुभव करते है कि उसमें और भी एक गुण है जिसको दीप्ति या शृंखला या रमणीयता कहना काफी नही है, जिसको प्रवाह या प्रवहमानता कहना पड़ता है—जो रवीन्द्रनाथ के पहले के गद्य मे नही है और परवर्ती सब गद्य में भी लक्षणीय नही है।

बंकिम मे, या उसके पहले विद्यासागर में भी, गति है लेकिन जिसको हम रवीन्द्रनाथ का प्रवाह कह रहे हैं उसकी प्रकृति और है और यह अंतर आकार में चाहे बहुत बड़ा न भी हो पर सन्दर्भ मे दूरस्पर्शी है। रवीन्द्रनाथ के गद्य का कल्प या यूनिट वाक्य नही अनुच्छेद होता है, वे एक साथ एक-एक अनुच्छेद में सोचते है और उनकी समग्र रचना उन अनुच्छेदों के योगफल से बड़ी जान पड़ती है। वाक्य के संग वाक्य के या अनुच्छेद के संग अनुच्छेद के संबंध के लिए व्याकरण का या युक्ति का योग ही यथेष्ट होता है और उसके द्वारा भी उत्कृष्ट गद्य सम्भव होता है; लेकिन रवीन्द्रनाथ मे यह योगसूत्र ऐसा एक रहस्यमय प्राणस्पंदन है जिसको हम अंततः भाषा का ध्वनिस्पंदन कहकर ही पहचान सकते है। शृंखला मे बँधे हुए उनके वाक्य केवल अपने सान्निध्य गुण में पडोसी नही होते, वे एक अखण्ड धारावाहिकता मे परस्पर-संयुक्त होते हैं; वे केवल एक-दूसरे का अनुसरण नही करते बल्कि जैसे रह-रहकर एक-दूसरे को छूते चलते है; जीव के

अंग-प्रत्यंग के समान लचीले होते हैं, वे खेल जानते हैं, व्यतिक्रम करने मे उन्हें भय नहीं लगता, मानसाम्य को तोड़कर वे आशातीत को संभव कर देते है। उनकी एक ही रचना मे क्षुद्र और सरल एवं जटिल और दीर्घायित वाक्य-विन्यास नि सकोच स्थान पा लेते हैं; उनके दो लगे-लगे वाक्य एक ही तरह से आरम्भ या समाप्त नही होते; स्वरात और हलन्त शब्दो के सन्निवेश में वे जैसे अचेतन भाव मे व्यवधान को बचाते हुए चलते हैं, एक ही स्वर की आवृत्ति सहन नही करते; द्युति वैचित्र्य और ऐश्वर्य की साधना में अंग्रेजी ढग का अन्वय स्वीकार कर लेते है—जो उनके पहले बंकिम और विद्यासागर ने भी किया है; लेकिन पार्श्वोक्ति, सर्वनाम और क्रम-विपर्यय के प्रयोग के कारण जिसका पूर्ण रूप रवीन्द्रनाथ के पहले दिखाई नही पड़ा था, यद्यपि समालोचक उनको भूलकर कभी-कभी यह भी कहते हैं कि कुछ अयोग्य आधुनिक लेखक ही बंगला गद्य में अंग्रेजी रीति के प्रवर्त्तक हैं। किन्तु अंग्रेजी तो अब नहीं है, वही विशुद्ध बंगला हो गई है या शायद उस ढग को अंग्रेजी कहना ही भूल है; क्योंकि जिस दिन बंगला गद्य ने कॉमा, सेमीकोलन आदि विराम-चिन्हों को स्वीकार कर लिया उसी दिन कहा जा सकता था कि अपनी प्रतिभा के आग्रह से वह बहुलांग रूपकरण मे अन्यान्य आधुनिक भाषाओं की प्रतियोगी हो उठेगी। कम-से-कम रवीन्द्रनाथ के बाद यह बात नितांत अग्राह्य है कि एक-मात्र दो मात्रा पर निर्भर—कृत्तिवासी पयार के साथ बंगला गद्य का कोई संबंध है या कि 'विशुद्ध बंगला अन्वय' नाम का दूसरा कोई पदार्थ सम्भव है। वरन् हमको तो यह बात तर्क से परे जान पड़ती है कि रवीन्द्रनाथ की इस समस्त नवीनता का उत्स और आश्रय बंगाली के मुँह की बोली का अपना और मौलिक छंद है; जिस सुर मे हम लोग स्वाभाविक रूप मे अपनी बात कहते है, जिस प्रकार हमारे कंठ-स्वर का आरोह-अवरोह होता है—हमारा आवेग और नैराश्य, संशय, उत्तेजना और दीर्घश्वास, इन सबके एक आदर्श ध्वनिरूप का दूसरा नाम है रवीन्द्रनाथ का गद्य। और यही चीज जिसको हम छंद कह रहे हैं वह पद्य का नहीं, गद्य का ही छंद है, पारिभाषिक यथार्थता की खातिर हम उसको छन्दस्पद कह सकते है; उसमें पद्य या गान के समान ताल नही है पर राग-संगीत के अलाप के समान लय है; रवीन्द्रनाथ का असाधारण कृतित्व इसी बात में है कि आजीवन कवि के समान गद्य लिखने पर भी गद्य में—यहाँ तक कि गद्य कविता में भी—उन्होंने पद्यछन्द की प्रतिध्वनि को स्थान नही दिया। श्रीयुत अतुलचन्द्र गुप्त ने बहुत ठीक कहा है

कि "उनका गद्य महाकवि का गद्य है, तो भी कहीं पर भी पद्यगंधी नहीं है।" यह 'तो भी' ही अर्थपूर्ण है।

४

इसी छन्दोसिद्धि के कारण रवीन्द्रनाथ का तर्क दुर्बल होते हुए भी प्रबंध ढह नहीं पड़ता, घटनागत यथार्थता का अभाव होते हुए भी उपन्यास स्मरणीय रहता है और नाटक अन्यान्य कारणों से दुस्सह जान पड़ने पर भी उल्लेखनीयता की मर्यादा पाता है। व्यतिक्रम उसमें न हो ऐसी बात नहीं; 'नवीन' 'बाँशरी' और अंशतः 'तिन संगी' के गद्य को कृत्रिमता की पराकाष्ठा कहने में मुझको संकोच न होगा; बंगला भाषा के स्वाभाविक छन्द पर जिनका स्वाभाविक प्रभुत्व था वे कैसे उन सब ग्रन्थों की रचना कर सके यह आने वाली पीढ़ियों के लिए एक समस्या रहेगी। रवीन्द्रनाथ का एक लक्षण जो हमारे अनंत विस्मय का कारण है वह है उनकी दैवी स्वतः स्फूर्ति; क्लांत क्षणों में उन्होंने अपना अनुकरण भले किया हो पर चेष्टा करके नवीनता नहीं पैदा करनी चाही; और इसीलिए 'बाँशरी' या 'तिनसंगी' इतने अधिक चरित्रच्युत जान पड़ते हैं, उनके एक-एक पद में पाठक को चौंकाने का जो प्रयास है वह इतना क्लिष्ट और कष्टकर है कि उसे गंभीरतम अर्थ में अ-रावीन्द्रिक कहना पड़ता है। मगर इसके साथ-ही-साथ प्रायः उसी समय रचित 'विश्व-परिचय' और 'छेलेबेला' में गद्य-शैली की वैसी ही नवीनता होते हुए कष्ट देने वाली कृत्रिमता नहीं है; उसका कारण मेरी समझ में यही है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब रवीन्द्रनाथ की महान भाषा का व्यवहार करते हैं तो वह भली मालूम होती है पर गल्प और नाटक के पात्र-पात्रियों के मुख में वही भाषा अविश्वसनीय हो जाती है। काल्पनिक चरित्रों के मुख में उन चरित्रों के उपयुक्त भाषा डालने की चेष्टा में रवीन्द्रनाथ बहुत बार असफल हुए हैं, नाटक-रचना में यही उनकी कठिनाई थी। 'डाकघर' के छोटे आकार-प्रकार में यह प्रकट नहीं हुई, किन्तु 'राजा' से लेकर 'रक्तकरबी' तक जहाँ भी वक्ता या प्रवक्ता हैं वहीं उनकी बात सुनकर हमको संदेह होता है कि इनकी अपनी कोई सत्ता नहीं है, ये केवल अपने कर्ता के हाथ के खिलौने हैं। वस्तुतः रवीन्द्रनाथ का गद्य सबसे अधिक प्रामाणिक और स्वच्छन्द उस समय हो उठता है जब वे अपनी ज़बानी बात कह सकते हैं; इसीलिए उनकी श्रेष्ठ रचनाओं में उनके 'गल्पगुच्छ' का निश्चित स्थान है और स्थान है उनके

उपन्यासों के वर्णनात्मक अंशों का, उनके प्रबन्धों का, चिट्ठी-पत्री और आत्म-कथात्मक रचनाओं का। अंततः इन्हीमे से छाँटने पर गद्यशिल्पी रवीन्द्रनाथ का उत्कृष्ट परिचय मिल सकता है।

प्रबन्ध-रचना की एक गतानुगतिक पद्धति से हम परिचित है: मास्टर साहब छात्र से कहते हैं अमुक-अमुक पुस्तकें पढ़कर इस विषय पर एक प्रबन्ध लिख लाओ और छात्र यदि प्रमाणित कर सके कि उल्लिखित पुस्तकों में कितनी उसने पढ़ी हैं, पढ़कर अततः थोड़ा-बहुत समझा है और उतने को अपनी भाषा मे प्रकट करने मे असफल नही हुआ तो इतने से ही उसकी गिनती पहले नम्बर के छात्रों में हो जाती है। हम मान सकते है कि बाद को स्वयं अध्यापक होने पर वह इसी पद्धति का और भी व्यापक व्यवहार करेगा, शताधिक पुस्तको का अध्ययन करके नये ग्रन्थ की रचना करेगा, उसके अध्यवसाय के फल से किसी एक सीमित विषय मे हमारा ज्ञान बढ़ेगा सम्भवतः वह विषय असामान्य होगा अर्थात् साधारण साहित्यरसिक के लिए मनोज्ञ न होगा, लेकिन विशेषज्ञ के लिए आदरणीय होगा। इस प्रकार की पुस्तक अपने क्षेत्र में मूल्यवान होगी, लेकिन तब तक ही जब तक उस विशेष विषय मे और भी अधिक ज्ञान संकलित नही होता। लेकिन प्रबन्ध-रचना का और भी एक उपाय है वह प्रतिभावानों का उपाय है। किसी एक शुभ मुहूर्त मे लेखक अपनी अन्तर्चेतना द्वारा अकस्मात् एक सत्य को अनुभव करता है—वह सत्य भी है या नही, यह भी ठीक-ठीक नही कहा जा सकता, केवल इतना कहा जा सकता है कि लेखक की अनुभूति सत्य है। उसको व्यक्त करने के लिए जिन सब तथ्यों, युक्तियो और उदाहरणों को वह उपस्थित करता है वे भी निर्धारित या सुचिन्तित रूप में संकलित नहीं होते, अपने उत्साह की गर्मी में जो कुछ मन में आता है प्रायः उसीको वह बिना सोचे-समझे ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार के प्रबन्धों का वैशिष्ट्य यही है कि युक्त अथवा तथ्य में भ्रांति पकड़ी जाने पर भी रचना को क्षति नही पहुँचती क्योंकि उसकी मौलिक अनुभूति प्रमाणनिर्भर नही होती, संक्रामक होती है अतएव उसका मूल्य चिरकालिक होता है। उदाहरण के रूप मे मैं रवीन्द्रनाथ के 'भारतवर्षीय इतिहासेर धारा' नामक प्रबन्ध का उल्लेख कर सकता हूँ; आज, उसके प्रत्येक तथ्य को भी यदि पंडित लोग गलत साबित कर दें तो भी हम उसको छोड न सकेंगे, भारतवर्षीय सभ्यता के विषय में लेखक की दृष्टि हमको मुग्ध करती रहेगी। और यह दृष्टि इस अर्थ मे सत्य होगी कि कभी कि-

समय किसी एक पुरुष ने उसके प्रभाव में भारत के समग्र रूप की उपलब्धि की थी। जहाँ पर उपलब्धि है वहाँ हम तर्क करना भूल जाते हैं।

इस प्रकार की समालोचना को बिम्बधर्मी या इम्प्रेशनिस्टिक कहकर बहुत-से लोग इसकी मर्यादा को कम करने की चेष्टा करते रहते है। लेकिन यहाँ पर यह प्रश्न उठाना उचित होगा कि बिम्ब किसके मन में उदित हो रहा है? वह यदि किसी समकालीन साप्ताहिक के लेखक हों जो पाठक के साथ पाँच मिनट की गप-शप करके प्रसगत: यह बतलाना नही भूलते कि कोई पुस्तक पढ़कर उनको 'कैसी लगी' तो इस विषय की आलोचना करने का मैं कोई प्रयोजन नही देखता। किन्तु वह यदि कोई आलापचारी सैमुअल जान्सन हों या वृद्ध गेटे या नवयुवक जान कीट्स या बोदलेयर अथवा टामस मान या रवीन्द्रनाथ ठाकुर तो इस तथाकथित बिम्ब की अश्रद्धा नहीं की जा सकती; हम देख सकते हैं कि कोई एक भाव उनके मन में बिम्बित हुआ है इसीलिए वह व्यंजना में गहरा हो उठा है; एक असतर्क मुहूर्त में इनके मुँह से निकली हुई बात या जल्दी मे लिखे गए पत्र की कोई उक्ति—कभी-कभी वह भी जैसे अर्थ में और इंगित मे अपना महत्व रखती है। और फिर हमको अपनी अनिच्छा के बावजूद मानना ही पड़ता है कि भगवान् के राज्य मे सुविचार नाम की कोई चीज नही है; तभी तो प्रतिभा नामक रहस्यमय वस्तु अन्यायपूर्वक हमारे ऊपर जीत जाती है—निर्दिष्ट शास्त्रसमूह न पढ़कर भी, वयस मे प्राय: नाबालिग होते हुए भी, यहाँ तक कि आलोच्य विषय में बहुत ही कम ज्ञान लेकर भी वह हमारे ऊपर अनायास विजयी हो जाती है। जो स्वयं सृजनशील प्रतिभावान लेखक हैं, साहित्य या आनुषंगिक विषय में उनकी बात के मूल्य को स्वत: सिद्ध कहना गलत न होगा, क्योंकि हम देखते हैं कि पंडित लोग युग-युग में उनकी उक्ति के भाष्य लिखते है लेकिन पडितों की गवेषणा के साथ परिचय स्थापित करना कवियों के लिए आवश्यक नही होता।

कवि-समालोचक का मन किस तरह काम करता है, हमारी भाषा में रवीन्द्रनाथ इसके अनुपम उदाहरण है। उनके प्रबन्ध मे उपमा का प्राचुर्य देखकर कुछ लोग कहते हैं कि वे स्थान हो न हो अकारण 'कवित्व' करते रहते हैं। यह बात ठीक नही; हमें याद रखना चाहिए कि उपमा से अलग होकर दर्शनशास्त्र अचल हो जाता है, उपनिषद् और प्लेटो से आरम्भ करके इसके अनेकानेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। बल्कि यही बात लक्ष्य करने की है कि रवीन्द्रनाथ के यौवन-

कालीन सामाजिक और राजनीतिक प्रबन्ध एकदम तथ्यपूर्ण भाषा में लिखे गए हैं, जिसको गद्यतम गद्य कहा जाता है वह भी उन्होंने बहुत लिखा है; वस्तुतः 'सबुज पत्र' के पहले तक प्रबन्ध में या कथा-साहित्य में उनकी कविमत्ता को पूर्ण निष्कृति नहीं मिली है। तो भी उनके जिस किसी भी काल की रचना में [illegible] की उपस्थिति अनुभव होती है; उसका कारण उनके मन की [illegible] है। बिजली कौंधने की तरह वे एक क्षण में अपने मूल विचार को [illegible] उपस्थित कर देते हैं; आलोच्य विषय चाहे जो हो, राजनीति या धर्म, [illegible] या इतिहास, वे तुरंत विषय के ठीक मर्मस्थल में पहुँच जाते हैं; [illegible] हैं वे नया कोई तथ्य न पाने पर भी एक नई दृष्टि पाते हैं; [illegible] एकमत नहीं हो पाते उनको दिखाई देता है कि [illegible] युक्ति उसी रचना में से निकालना सम्भव है। रवीन्द्रनाथ [illegible] तम हैं जो हमें समझा देते हैं कि हम लोग जिनको [illegible] कहते हैं वह [illegible] महत्त्वहीन वस्तु है, असल चीज अन्तर्दृष्टि है—[illegible] सहज क्षमता, जो विषय और विषयी दोनों को [illegible] है। रवीन्द्रनाथ एक अत्यंत औत्सुक्यजनक व्यक्ति हैं [illegible]

दृष्टिकोण उपस्थित किये थे, उसी प्रकार यहाँ पर भी जैसे अपने ही साथ तर्क करते-करते उनकी यात्रा होती है; जरा-सा आगे जाकर, फिर जरा-सा पीछे जाकर, बीच-बीच में कलेवा खाकर, कभी किसी आकस्मिक और उज्ज्वल भावना के पीछे दौड़कर या कभी दूरकल्पना के उत्साह में आलोच्य विषय को भूलकर—इस प्रकार लिखते हैं कि जैसे वह सब-कुछ उनकी आत्मपरीक्षा और स्वगतोक्ति हो। जिस प्रकार कविता में उसी प्रकार प्रबन्ध-रचना में बहुत बार आच्छादन का व्यवहार उपयोगी होता है; साहित्य के विषय में कुछ कहना हो तो उसका एक प्रशस्त उपाय विशेष किसी कवि या ग्रंथ की समीक्षा करना होता है, उसीके सहारे चलते हुए लेखक का चिन्तन उद्घाटित हो सकता है—और कवि लोग साधारणतः इसी प्रकार समालोचना लिखा करते हैं। रवीन्द्रनाथ में भी इसके उदाहरणों का अभाव नहीं है; लेकिन 'साहित्य', 'साहित्येर पथे' और सबके बाद 'साहित्येर स्वरूप'—इन तीन ग्रंथों में हम विशुद्ध तात्त्विक या दार्शनिक आलोचना की ओर उनकी प्रवृत्ति देखते हैं। 'साहित्येर तात्पर्य', 'साहित्येर सामग्री', 'सौंदर्यबोध', 'साहित्य विचार', 'साहित्य धर्म', 'तथ्य और सत्य'—ये सब शीर्षक, मानना ही होगा, प्रथम दर्शन में उतने उत्साहजनक नहीं हैं; हमें ऐसा लग सकता है कि जो व्यक्ति साहित्य, सत्य या सौंदर्य के विषय में अपनी धारणा खूब स्पष्ट ढंग से बतला सकता हो वह और चाहे जो हो कवि नहीं है और रवीन्द्रनाथ ने कैसे इस विमूर्त्त वायुमार्ग में विचरण किया था उसकी बात सोचकर हमारा विस्मित होना भी स्वाभाविक है। थोड़ी-सी पीड़ा के साथ हमें याद आ जाता है कि उन दिनों वह कवि अपने देश के प्रधान पुरुष के रूप में अधिष्ठित हुआ था; जिस प्रकार लोगों को उनके सामने कोई भी प्रश्न उपस्थित करने में अब सकोच नहीं होता उसी प्रकार उनके संतोष-साधन की चेष्टा भी कवि के कर्तव्य का अंग हो गई है; यहाँ तक कि 'कविता किसको कहते हैं' इस तरह का असंभव प्रश्न उठने पर भी वे मौन नहीं रह सकते। दूसरी ओर यह संभावना भी स्वीकार करने योग्य है कि जीवन के प्रधान सृजनशील अध्याय में पहुँचने पर और अपने विरुद्ध अर्वाचीनों के एक दल का कलरव सुनने पर वे अपने अचेतन साहित्य-धर्म को सचेतन स्तर पर व्यक्त करने की चेष्टा कर रहे थे; हो सकता है कि अपने साहित्य के आदर्श और विश्वास के संबंध में अपने ही सामने एक आखिरी बयान देने की इच्छा उनकी हुई थी। यह चेष्टा विपद्-जनक है, क्योंकि कवि किसी तात्त्विक व्याख्या में अपनी कविता को बाँध नहीं सकता; तत्त्व को बहुत कसने पर बोरा फट जाता है और धान के पूले बाहर

निकल आते है और उदार होने पर वह सब साहित्य का निर्विशेष आधार हो जाता है। ऐसी स्थिति में कवि लोग एक-मात्र जो कर सकते है वही रवीन्द्रनाथ ने किया है : अरस्तू या आलकारिको के समान विषय पर सीधे-सीधे हमला न करके उन्होंने घुमा-फिराकर अपनी बात कही है; उनकी रचना मे संशय, कौतुक, पुनरुक्ति, अस्थिरता आ गई है; कोई एक बात कहकर उन्होंने उसी दम उसको सीमित, खण्डित या विस्तारित कर दिया है; किसी प्रबन्ध को समाप्त करते ही वह उन्हें अधूरा लगने लगता है—और फिर उसीको आगे बढ़ाकर उन्हे उसके प्रतिवाद मे और समर्थन मे और भी लिखना पड़ता है। इसीलिए उनकी तत्त्वालोचना इतनी सप्राण और लहरदार है, उसको हम एक आंदोलन भी कह सकते हैं : 'अलि बार-बार फिर जाय, अलि बार-बार फिर आशे'—लेखक के साथ विषय का संबंध कुछ इसी प्रकार का है और इसके बिना फूल जैसे खिल नही पाता। ये 'फूल' है रवीन्द्रनाथ की दो-एक तीव्र और सहजात अनुभूतियाँ, उनके हृदय मे अनिर्वचनीय की झलक; वह कोई प्रमाणसापेक्ष तथ्य नही है इसीलिए उपमा, रूपक और अलिधर्मी हिल्लो के अलावा उसके संग व्यवहार का दूसरा कोई रास्ता नही है। इसीलिए उनका सब तर्क गान हो उठता है—'घरे बाहरे' की विमला की बात चुराकर कह रहा हूँ; या अगर इससे भी अधिक ठीक परिचय देना चाहूँ तो वह भी रवीन्द्रनाथ की भाषा मे ही मिलेगा। 'छन्द' ग्रंथ के आरम्भ मे 'सइ, केबा शनाइलो श्याम नाम' यह पंक्ति उद्धृत करके वे कहते है कि इस साधारण समाचार को छन्द में इस प्रकार झूले की पेंग दे दी गई है कि पाठक के मन में लहरें उठने लगी। इन्ही दो-एक बातों के···अंतर का स्पंदन अब कभी शांत न होगा। वे अस्थिर हो गए हैं और अस्थिर करना ही उनका काम है। पद्य छन्द के इस इन्द्रजाल से हममे से कोई अपरिचित नही है; लेकिन आश्चर्य की बात है कि रवीन्द्रनाथ के गद्य की चोट से कभी-कभी हमें इतना अभिभूत हो जाना पड़ता है कि हमारे मन मे 'बस लहरें उठने लगती हैं', बात खत्म हो जाने पर भी स्पंदन नही थमता। और भी आश्चर्य की बात यह है कि उनका यह किन्नरकण्ठ हमें वहाँ पर भी सुनने को मिलता है जहाँ विषय वैज्ञानिक है; बल्कि यों कहें कि वही पर सबसे ज्यादा सुनने को मिलता है; उनको छन्द और शब्दतत्त्व की आलोचना केवल हमारी बुद्धि के निकट कोई वार्ता नही पहुँचाती, हमारी समग्र सत्ता को पुलकित कर देती है। शायद यह ठीक है कि वे हमको किसी मीमांसा के किनारे नही पहुँचाते, कभी कोई तैयार सत्य उठाकर हमारे हाथ में नही दे देते;

लेकिन हमारे मन में एक वेग का संचार करते हैं जिसके फलस्वरूप हमारी अपनी भ्रष्ट स्मृति, स्वप्न का भग्नांश, चिन्तन की रश्मि, इंद्रिय की कोई नई सिहरन अंधकार से बाहर निकल आती है। हम चंचल हो उठते हैं, डोंगी लेकर समुद्र में कूद पडते हैं; वे हमको स्वाधीन ढंग से सत्य के अनुसरण की यात्रा करा देते हैं—हमारे साथ वे ऐसा ही करते हैं—यदि हम अपनी अक्षमतावश बीच समुद्र में डूब मरें तो यह दायित्व उनका नही है और अगर हो भी तो भी यह मानना होगा कि बाहर निकलने मात्र से हम सार्थक हो गए हैं। 'वे अस्थिर हो गए हैं और अस्थिर करना ही उनका काम है' : यह बात उनके प्रबन्ध-संग्रह के मुखपृष्ठ पर उद्धृत करने योग्य है।

५

रवीन्द्रनाथ की गद्य-रचना को और भी एक तरह से विभाजित किया जा सकता है; एक ओर सरकारी या औपचारिक, दूसरी ओर घरेलू या निजी। यह विभाजन उनके प्रबन्धों के लिए भी अर्थहीन नही है लेकिन पत्रावली और भ्रमण-वृत्तांत के संबंध में तो अक्षरशः सत्य है। पत्रावली को अलग करके उनके गद्य-साहित्य के विषय मे नही सोचा जा सकता; क्योंकि वह केवल परिमाण मे अजस्र नही है, कभी-कभी साहित्यगुण से भी भरपूर है। किन्तु जो उनकी सचमुच की चिट्ठियाँ हैं, और साथ ही स्मरणीय साहित्य हैं, वे सब उनके यौवन की रचना हैं; जिस दिन से शांतिनिकेतन के गुरुदेव और जगत् के गुरुस्थानीय होने का दुर्भाग्य उनके लिए घटित हुआ, उस दिन से वे चिट्ठी लिखने का सुयोग खो बैठे; अपने जीवन के अंतिम बीस-पच्चीस वर्षों में उन्होने पत्र के रूप में जो कुछ लिखा है उसका श्रेष्ठ अंश पत्र के वेश से प्रबन्ध है या कम-से-कम प्रकाशन के लिए ही लिखा गया है; अन्य सब पत्र अनुरोध की रक्षा के लिए या कर्तव्य के बोध से लिखे गए हैं, उनमें कही वे किसी महिला को सान्त्वना या उपदेश दे रहे है या कही किसी समकालीन पुस्तक या घटना के विषय में उनको कुछ अनिच्छापूर्वक अपना अभिमत देना पड़ रहा है। अंत मे उनकी प्रत्येक चिट्ठी, प्रतिलिपि रखकर, डाक मे भेजी जाती थी; चिट्ठी की स्वच्छन्दता की दृष्टि से इससे बड़ा कोई दूसरा विघ्न नही हो सकता; उनकी इस काल की चिट्ठी-पत्री साधारणतः इतनी निर्वैयक्तिक है कि प्रायः कोई भी चिट्ठी किसी भी व्यक्ति को भेज देने मे कोई बुराई न होती। मगर इस स्थिति में भी वे नितान्त रवीन्द्रनाथ हैं इसलिए अनेक

पत्रों में उन्होंने कम या अधिक सरसता का संचार किया है, उनके हाथ के गुण से फुटकर खबरों का चिरकुट भी सुस्वादु हो गया है, काम की बात भी प्रयोजन के भीतर ही घुटकर नही रह गई है। जिस चीज को कारीगरी या दक्षता कहते हैं वह जैसे उनके नयनाभिराम हस्ताक्षर के समान ही पूरी तरह उनका अभ्यास बन गई थी; उसको देखकर जहाँ उनको धन्य कहे विना नही रहा जाता वहाँ उस सुवर्ण युग को याद करके हमारे मुँह से गहरी साँस निकल जाती है जब पत्र लिखने वाले और पाने वाले के बीच मुद्रक की छाया नही पड़ी थी। उसी युग की एक श्रेष्ठ फसल 'छिन्नपत्र' है—अमर काव्य 'सोनार तरी' और 'गल्पगुच्छ' को ध्यान में रखकर ही मैं यह बात कह रहा हूँ: ऐसी सप्राण, एक साथ ही इतनी व्यक्तिगत और इतनी सार्वजनीन, इतनी चिरनवीन और सदा पढ़ने योग्य चिट्ठियाँ रवीन्द्रनाथ ने फिर कभी नही लिखी। कल्पना, हास्यरस, मनस्विता; अनुचिन्तन का आविष्कार और बहिर्जगत् का वास्तव तथ्य; आँख से देखना और मन-ही-मन सोचना;—'छिन्नपत्र' में यह सब-कुछ है और उसके साथ ही है एक व्याप्त सत्ता, जिसको मैं बंगाल छोड़कर और कोई नाम नही दे सकता। ऋतु, नदी और तृण-तरु समेत बगाल की ग्राम-प्रकृति उसकी कांति, गन्ध और आर्द्रता लेकर इस प्रकार इस पुस्तक के अक्षरों से निकलकर हमारी इंद्रियों के ऊपर छा जाती है कि 'छिन्नपत्र' नाम का उच्चारण करते ही बंगाल की एक मानस-मूर्ति हमारी आँखों के सामने खड़ी हो जाती है और ये सब विशुद्ध चिट्ठियाँ है जो सचमुच किसी बन्धु या आत्मीय को कुछ खबर भेजने के लिए लिखी गई थी, इनमे सचेतन कलात्मकता की कोई चेष्टा न थी, रवीन्द्रनाथ इन्हें लिखकर भूल भी गये थे। उनकी स्वतः स्फूर्ति यहाँ पूरी तरह विजयी हुई है।

अपरिचित या अल्पपरिचित भक्त के निकट आत्म-उद्घाटन रिल्के के लिए जितना सहज था, रवीन्द्रनाथ के स्वभाव के उतना ही विरुद्ध; हम देखते हैं कि उनकी किसी भी काल की कोई भी अच्छी चिट्ठी किसी निकट आत्मीय या घनिष्ठ बन्धु को लिखी गई थी। सत्रह वर्ष की अवस्था में पहली बार विलायत जाने पर उन्होने जो भ्रमण-वृत्तांत लिखा था उसको गद्यसाहित्य में उनकी प्रतिभा का पहला स्वाक्षर कहा जाता है। 'यूरोपप्रवासी के पत्र' तत्काल सामयिक पत्रों में छपने पर भी, प्रकाशन के लिए नहीं लिखे गए थे जोड़ासाँको मे रहने वाले आत्मीय जनों के लिए ही ये चिट्ठियाँ सचमुच लिखी गई थी; इसीलिए उनमे वह अंतरंगता ध्वनित हुई है जो बाद में हमको 'छिन्नपत्र' और 'यूरोप यात्री की

हैं। गद्य के प्रति वृद्ध कवि के इस गहरे मनोयोग का एक कारण निश्चय ही यह है कि साधु भाषा की तुलना में चलतू भाषा कही ज्यादा लचीली होती है, उसमे खेल-खिलवाड़ और शैली के वैविध्य का जो अवकाश है उसको रवीन्द्रनाथ के कान और मन ने अचूक ढग से पकड़ा था; और जिस प्रकार उन्होने यौवन मे बंगला पद्य के प्रत्येक सभव छंद को प्रतिष्ठित किया था उसी प्रकार प्रौढ़ जीवन मे गद्य की ध्वनि-माधुरी को नाना रूपों मे उद्‌भावित किये बिना वे नही रह सके। दूसरा कारण संभवतः यह है कि वे भीतर-ही-भीतर क्लांत हो गए थे; कहने के लिए अब और कुछ न था इसलिए स्टाइल ही उनका अवलम्ब हो उठा। तीन नृत्यनाटकों मे दो की कहानी के अश उनकी अपनी पहले की रचनाओं से लिये गए हैं; 'छेलेबेला' का नया कोई उपादान नही है; 'राजा की रानी' का रूपान्तर हुआ 'तपती'; 'राजा' का रूपान्तर हुआ 'शापमोचन'; 'एकटि आषाढ़े' गल्प का रूपान्तर हुआ 'ताशेर देश' और 'पुजारिनी' कविता का रूपान्तर हुआ 'नटीर पूजा'। नृत्य, संगीत और अभिनय के चित्ताकर्षण से अलग करके देखने पर भी, केवल पठनीय पुस्तक के रूप मे, इस सब पुनर्लेखन के महत्त्व को जो अस्वीकार नही किया जा सकता उसका कारण इनकी गद्यशैली की कारीगरी ही है।

इस काल के भ्रमण-ग्रन्थो का लक्षण यह है कि रवीन्द्रनाथ कभी भूल नही पाते कि वे रवीन्द्रनाथ है, 'काले लोगों' का भार उठाये हुए दुनिया मे निकले है। जिस प्रकार एक समय उन्होने सारी इंद्रियों से बंगाल और इंगलैण्ड को हृदयंगम किया था, जापान, रूस या दक्षिण अमेरिका के साथ उनका व्यवहार अब वैसा नही है; उनकी आँखें अब तथ्य नही देखती, घ्राणेन्द्रिय केवल पूर्व-परिचित जूही के फूल से आंदोलित होती है; नये देश के किसी दृश्य या वातावरण की सृष्टि अब वे हमारे लिए नहीं करते। वे स्वदेश के साथ अन्य देशो की तुलना में लगे हुए है; स्वदेश की श्रीवृद्धि की चिन्ता से उनका मन आच्छन्न है : विचार, वितर्क और विश्लेषण में वे यहाँ तक लगे हुए है कि 'राशियार चिठि' प्रायः एक राजनैतिक निबन्ध हो उठा है। तो भी प्रत्येक पुस्तक में गद्य इतना वेगवान और दीप्तिपूर्ण है कि उसका प्रभाव तत्त्व के मूल्य को छा लेता है; सामाजिक, ऐतिहासिक और राजनैतिक कारणों से जो पठनीय है वह शिल्पगुण से स्मरणीय हो उठता है। मेरी इस बात का श्रेष्ठ उदाहरण 'यात्री' है; उसकी भावगंभीर स्वगतोक्ति में ज्ञान की जो बात है वह दूसरा लेखक भी सुना सकता था किन्तु

विषय में उनकी भविष्यवाणी सफल हुई है शायद आशा से भी अधिक; रिकार्ड, रेडियो और सिनेमा के विपुल प्रचार के फलस्वरूप बंगाल में आज प्रायः कोई ऐसा नहीं है जो उनके गीतों की दो-चार कड़ियाँ नहीं जानता, लेकिन अनेक हैं जो उनको उसके अलावा और किसी रूप मे नहीं जानते। शिक्षित तरुण भी उनके गीतो से जितने मोहित है, उनकी पठनीय रचनाओं से उतने परिचित नहीं हैं; ऐसे युवक आज बहुत कम है जिन्होने उनका प्रत्येक काव्यग्रन्थ पढा हो; और इस बात को लेकर आक्षेप करना भी व्यर्थ है, क्योकि युगधर्म के आगे हार माननी ही पड़ती है, अतः रवीन्द्रनाथ के 'प्रत्यावर्तन' की प्रतीक्षा करने के अलावा दूसरी गति नहीं है। उसी दिन को ध्यान में रखकर मैं कह देना चाहता हूँ कि जब कोई भावी पाठक यत्नपूर्वक रवीन्द्रनाथ की समग्र गद्यरचना को पढ़ेगा तब उसकी यह निश्चित धारणा होगी कि वे गद्यशिल्प में बंगला भाषा के श्रेष्ठ पुरुष हैं और विश्व-साहित्य में भी उनका ऊँचा स्थान है। हम किसी-किसी विदेशी लेखक की बात सोच सकते है जिसने उनसे अच्छे नाटक, उनसे अच्छे उपन्यास या प्रबन्ध लिखे हैं या जिनका गद्य और भी तीव्र या गहरा है; किन्तु गद्यशिल्प का ऐसा ऐश्वर्य, ऐसा विचित्र वैभव और किसी की रचना मे प्रकट हुआ है या नहीं, इसमें संदेह है। एक कवि के विषय में यह बात सुनने में बहुत अनोखी लगती है, पर रवीन्द्रनाथ अगर अपरिमेय रूप में प्रतिभावान थे तो यह उनका अपराध तो नहीं है।

अवतरणिका

मैंने जिस संसार में पहले-पहल आँखें खोली थीं वह बड़ा निर्जन था। नगर के बाहर उपनगर-जैसा, तारों और पड़ोसियों के घरों के शोर-गुल से आसमान भर नहीं उठा था।

हमारा परिवार मेरे जन्म के पहले ही समाज का लंगर उठाकर दूर पक्के घाटों के बाहर पहुँच गया था। वहाँ के आचार-अनुशासन, काम-काज सब-कुछ अनूठे थे।

हमारा एक पुराने जमाने का बड़ा-सा मकान था, उसमें बहुत-सी टूटी हुई ढालों, बछों और मोर्चा लगी हुई तलवारों से सजी हुई ड्योढ़ी थी। ठाकुर-पूजा का दालान था, तीन-चार आँगन थे, भीतर का बगीचा था, साल-भर का गंगा-जल रखने के लिए एक अँधेरा कमरा था। जिसमें तमाम जाले-ही-जाले थे। पूर्व युग के भाँति-भाँति के तीज-पर्व अपने कलरव के साथ अपनी साज-सज्जा के साथ उसमें कभी चला-फिरा करते थे, मुझे उनकी याद भी नहीं है। मैं जब आया तब इस घर से प्राचीन युग ने अभी-अभी विदा ली थी, नया युग अभी-अभी आया था, उसका माल-असबाब तक अभी न पहुँचा था।

इस घर से इस देश के सामाजिक जीवन का स्रोत जिस तरह हट गया था उसी तरह पहले के धन के स्रोत में भी भाटा आ गया था। कभी यहाँ पर पितामह की ऐश्वर्य-दीपावली अपनी अनेकानेक शिखाओं में दीप्यमान थी, उस दिन तो दहन शेष के काले-काले दाग बाकी रह गए थे और राख केवल एक काँपती हुई क्षीण शिखा। प्रचुर उपकरणों से भरा हुआ पुराने समय का आमोद-प्रमोद, विलास-समारोह का सरजाम यहाँ-वहाँ कोनों में धूल से मलिन जीर्ण अवस्था में थोड़ा-बहुत अगर बाकी भी था तो उसका कोई अर्थ नहीं। मैं धन के बीच नहीं पैदा हुआ, धन की स्मृति के बीच भी नहीं।

सबसे अलग-थलग इस परिवार में जो स्वच्छन्दता जाग उठी थी वह स्वाभाविक थी, महादेश से दूर-विच्छिन्न द्वीप के पेड़-पालों जीव-जन्तुओं की स्वच्छन्दता

में न होता था। शान्त अवकाश के बीच होकर धीरे-धीरे इसके प्रभाव ने हमारे हृदय में प्रवेश किया था। हो सकता है कि राज्य-सरकार का कोतवाल तब सतर्क न था, या सम्भव है कि उदासीन रहा हो, वह सभा के सदस्यों की खोपड़ी तोड़ने या रस-भंग करने नही आया।

कलकत्ता शहर की छाती पर तब पत्थर नही जड़े गए थे, बहुत-कुछ कच्चा था। तेल की मिल के धुएँ मे आकाश का चेहरा तब तक काला नही पड़ा था। इमारतों के जंगल के बीच-बीच तालाब के पानी पर सूरज का प्रकाश झलकता, तीसरे पहर पीपल की छाया लम्बी होकर पड़ती, नारियल के पत्तों की झालरें हवा में झूलती, बँधे नाले में होकर गंगा का पानी झरने के समान हमारे दक्षिणी बगीचे के तालाब में झरता, बीच-बीच मे गली से पालकी ढोने वालों का 'हैया हो' शब्द कानों में आता, और बड़े रास्तों से साईसों की 'हैयो' की पुकार आती। साँझ को तेल-दीया जलता, उसीकी धुंधली रोशनी मे चटाई बिछाकर मैं बुढ़िया नौकरानी से परियों की कहानी सुनता। इस निस्तब्धप्राय जगत् में मैं सबसे दूर एक कोने में बैठा हुआ आदमी था—शर्मीला खामोश, थिर।

एक और बात थी जिसके कारण मेरा मेल दूसरों से न बैठता था। मैं स्कूल से भागने वाला लड़का, परीक्षा मैंने दी नही, पास हुआ नहीं, मास्टर मेरे भविष्य के बारे में हताश थे। स्कूल के बाहर जो मुक्त विस्तार था वही मेरा मन आवाराओं की तरह फिरता रहता।

इसके पहले न जाने कैसे अचानक मुझे पता चल गया था कि लोग जिस चीज को कविता कहते हैं वैसी छंद में बँधी हुई तुकबन्द कड़ियाँ साधारण लोग इसी मामूली कलम से लिख लिया करते है। तब समय भी ऐसा ही था कि जो लोग ये कड़ियाँ बना सकते थे उन्हें देखकर लोग विस्मित होते। आजकल जो लोग नहीं बना पाते उन्हीकी गिनती असाधारण मे होती है। मैं पयार और त्रिपदी के क्षेत्र में अपने अबाध अधिकार-बोध के अकलात उत्साह से रचना में पागलों की तरह जुट गया। घर के कोने मे, आठ अक्षर दस अक्षर के तरह-तरह के चौकों में बाँट-बाँटकर मेरा छन्द बनाने और बिगाड़ने का खेल चलने लगा। धीरे-धीरे वह लोगों के सामने आया।

यह रचनाएँ चाहे जैसी हों, इनके पीछे एक पृष्ठभूमि थी एक लड़का, जो घरघुमना है, एक कोने मे बैठा रहता है, जिसका सब खेल अपने मन के भीतर होता है। वह समाज के शासन के परे था—स्कूल के शासन से बाहर था। घर

कुएं के पानी से बाग को सींचने की करुण ध्वनि सुनते-सुनते पास ही गंगा के स्रोत में कल्पना को अकारण वेदना के बोझ से लादकर दूर तैरा देता। तब मैंने सोचा भी न था कि एक दिन मुझे अपने मन के अँधेरे और उजाले से निकलकर एकाएक दूसरे के मन की कुहनी का धक्का खाने के लिए बड़े रास्ते पर निकल पड़ना होगा। आखिरकार एक दिन ख्याति ने आकर मुझे दोपहर की निचाट धूप मे बाहर खींच लिया ! गर्मी धीरे-धीरे बढ चली, मेरा कोने का आश्रय बिलकुल टूट गया। ख्याति के साथ-साथ जो ग्लानि आ जाती है वह दूसरो की अपेक्षा मेरे भाग्य में कही ज्यादा थी। ऐसी अनवरत अकुण्ठित निर्मम अप्रतिहत अवमानना जैसी मैंने सही दूसरे किसी साहित्यिक को नही सहनी पड़ी। यह भी मेरी ख्याति को नापने का एक बड़ा मानदड है। यह बात कहने का सुयोग मुझे मिला है कि भाग्य ने प्रतिकूल परीक्षा मे मुझको लाछित किया है, लेकिन पराजय के अगौरव से लज्जित नही किया। इसके अलावा मेरे बुरे ग्रहों ने काले रंग का यह जो पर्दा टाँगा है इसी-के ऊपर मेरे मित्रों का प्रसन्न चेहरा चमक उठा है। उनकी संख्या कम नही है, यह बात मैं आज के इस आयोजन में ही समझ पाया हूँ। इन मित्रों में से कुछ को मैं जानता हूँ बहुतों को नहीं जानता, उन्हीमें से कोई पास से, कोई दूर से इस उत्सव मे सम्मिलित हुआ है, उनके इस उत्साह को देखकर मेरा मन आनन्दित है। आज मुझे ऐसा लग रहा है कि वे मुझे जहाज पर चढाकर घाट पर खड़े हुए हैं—उन्ही-की मंगल-ध्वनि कान मे लिये हुए मेरी नाव दिवालोक के उस पार पहुँचेगी।

मेरे कर्मपथ की यात्रा सत्तर बरस की गोधूलि वेला मे एक उपसहार पर आ पहुँची है। प्रकाश मंद होने के अंतिम क्षणो मे इस जयंती के आयोजन द्वारा देश-वासी मेरे दीर्घ जीवन का मूल्य स्वीकार करेंगे।

फसल जब तक खेत में रहती है तब तक संशय बना रहता है। हिसाबी महाजन केवल खेत की ओर देखकर ही पेशगी रुपया देने में आनाकानी करता है, बहुत-कुछ अपने हाथ मे रोके रखता है। जब गल्ला खत्ती मे आ गया तभी वजन समझकर दाम की बात पक्की हो सकती है।

जो आदमी बहुत दिनो से जिंदा है वह अतीत का ही अंग है। मैं समझ रहा हूँ कि मेरा पिछला वर्तमान इस आज के वर्तमान से बहुत भिन्न था। जो सब कवि अपना समय समाप्त करके दूसरे लोक में पहुँच गए हैं मैं उन्हीके आँगन के पास तिरोहित होने के ठीक पहले की सीमा पर आकर खड़ा हूँ। वर्तमान के चलते हुए रथ के वेग मे किसीको देख पाने की जो अस्पष्टता है वही मेरा इतना समय कट

इस मछली के साथ कवि की तुलना को और भी कुछ आगे तक ले चला जाय। मछली जब तक पानी मे है तब तक उसके लिए थोड़ी-थोड़ी खुराक जुटाना एक नेक काम है, स्वय मछली को उसकी जरूरत होती है। बाद मे जब उसे सूखे में लाकर डाल दिया गया तब फिर जरूरत उसकी नही, और किसी प्राणी की हो जाती है। उसी तरह कवि जब तक किसी स्पष्ट परिणति पर नही पहुँचता तब तक उसका थोड़ा-बहुत उत्साह बढ़ा सकना अच्छा ही होता है—स्वय कवि को उसकी जरूरत होती है। फिर जब उसकी पूर्णता में समाप्ति की एक यति आती है तब फिर इस सदर्भ मे अगर कोई जरूरत रह जाती है तो वह उसकी अपनी नही होती, वह जरूरत उसके देश की होती है।

देश मनुष्य की सृष्टि है। देश मृण्मय नही, चिन्मय है। मनुष्य यदि प्रकाशमान् हो तभी देश प्रकाशित होता है। सुजला-सुफला मलयजशीतला भूमि की बात जितने ही उच्च कण्ठ से रटूँगा उसकी जवाबदेही उतनी ही बढ़ेगी। प्रश्न उठेगा कि प्राकृतिक दान तो उपादान-मात्र है, उसे लेकर मानवी सम्पदा कितनी गढ़ी गई। मनुष्य के हाथ में देश का पानी अगर सूख जाय, फल अगर मर जाय, मलयज अगर महामारी के कीटाणुओं से विभक्त हो उठे, फसल की जमीन अगर बाँझ हो जाय तो काव्य-कथा से देश की लज्जा को ढका न जा सकेगा। देश मिट्टी से नहीं, मनुष्यों से बनता है।

इसीसे देश अपनी ही सत्ता को प्रामाणित करने के लिए दिन-रात बाट देखता है उनकी, जो किसी साधना मे सफल है। वे न भी हों तो पेड़-पौधे, जीव-जन्तु पैदा होते ही है, वर्षा होती ही है, नदी बहती ही है; लेकिन देश मरुभूमि की तरह बालू से ढका रहता है।

इसी कारण से देश जिसमें अपनी मुखर अभिव्यक्ति अनुभव करता है उसको सब लोगो के सामने अपना कहकर चिह्नित करने के उपलक्ष की रचना करना चाहता है। जिस दिन वह ऐसा करता है, जिस दिन वह किसी मनुष्य को आनन्द के साथ अगीकार करता है, उसी दिन मिट्टी की गोद से निकलकर देश की गोद में उस मनुष्य का जन्म होता है।

मेरे जीवन के समाप्ति-पर्व मे इस जयंती के आयोजन में अगर कोई सचाई हो तो वह इस तात्पर्य को लेकर ही हो सकती है। मुझको अपनाकर देश यदि किसी रूप मे अपने को न पाये तो आज का यह उत्सव निरर्थक है। अगर कोई व्यक्ति इस बात मे अहंकार की आशका करके मेरे लिए चिंतित हो उठे तो मैं

लोभ आज जल-स्थल-आकाश में हिस्टीरिया का चीत्कार करता हुआ घूम रहा है।

लेकिन प्राण पदार्थ तो वाष्प-विद्युत् के भूत को वश मे करने वाला लोहे का इंजन नही है। उसका अपना एक छन्द है। उस छन्द में दो-एक मात्रा की खींच-तान चल सकती है, उससे ज्यादा नहीं। दो-चार मिनट कलाबाजी खाना चल सकता है, लेकिन दस मिनट जाते-न-जाते प्रमाणित हो जायगा कि आदमी बाइ-सिकिल का चक्का नही है, उसकी पाँव-पियादे की चाल उसकी पदावली के छन्द मे है। गान की लय तब मीठी लगती है जब वह कान के सजीव छन्द को मानकर चलती है। उसको दुगुन से चौगुन पर चढ़ाने पर वह कला-देह को छोड़कर कौशल-देह लेने के लिए हाँफने लगती है। उसकी तेजी को अगर और बढ़ा दो तो रागिनी पगली गारद के सदर गेट से सिर टकराकर मर जायगी। सजीव आँखें कैमरा तो नहीं हैं। अच्छी तरह देखने में उन्हें समय लगता है। घंटे में बीस-पचीस मील की दौड़ को देखना उनके लिए कुहासे को देखने-जैसा होता है। एक समय हमारे देश मे तीर्थ-यात्रा नामक एक सजीव पदार्थ था। भ्रमण का पूरा स्वाद लेकर वह सम्पन्न होता था। मशीन की गाड़ी के युग मे तीर्थ रह गया, यात्रा नही रही; भ्रमण नही रहा, पहुँचना रह गया; जिसे शिक्षा को छोड़कर परीक्षा पास करना कहते हैं। रेल कम्पनी के कारखाने में ठुँसी हुई तीर्थ-यात्रा की भिन्न-भिन्न दामों की गोलियाँ सजी रहती है, उन्हें बस निगल जाने की देर है—लेकिन बात नहीं बनी, यह बात समझने की भी फुरसत नही है। कालिदास का यक्ष अगर मेघ-दूत को बर्खास्त करके एरोप्लेन-दूत को अलका भेजता तो दो सर्गो तक चलने वाला मंदाक्रांता छन्द दो-चार श्लोकों मे ही असमय मर जाता। मशीन का तैयार किया हुआ विरह तो आज तक बाजार में नही आया।

'मेघदूत' के उस शोकावह परिणाम को देखकर शोक न करने वाले बलवान पुरुष आजकल दिखाई पड़ते है। उनमे से कुछ कहते हैं कि आजकल कविता में जो आवाज सुनाई पडती है वह नाभि-श्वास की आवाज है। उसका समय पूरा होने आया। अगर यह बात सच हो तो इसमे कविता का दोष नही, समय का दोष है। मनुष्य का प्राण सदा-सदा से छन्द में बँधा हुआ है, लेकिन उसके काल का छन्द मशीन के दबाव में पड़कर सम्प्रति टूट गया है।

अंगूर के खेत में किसान खूँटियाँ गाड़ देता है, उन्हीका सहारा लेकर अंगूर की लता चढ़ती है, उसमें फल लगता है। उसी तरह जीवन-यात्रा को सबल और

आज उसको व्यस्त लोग धमकाकर कहते है, रहने दो: अपना सुन्दर। सुन्दर पुरानी चीज है, उस जमाने की चीज है। जैसे-तैसे ले आओ एक मोटी सन की रस्सी—उसको हम रियलिज्म कहेंगे। आज के धक्काड़ दौड़ने वाले लोगों को यही पसंद है। अल्पायु फैशन अचानक बन जाने वाले नवाब की तरह उद्धत है—उसका प्रधान अहंकार यही है कि वह अधुनातन है अर्थात् उसकी बड़ाई गुण को लेकर नही काल को लेकर है।

वेग की यह मोटर-कल पश्चिमी देशों के मर्मस्थान पर है। वह अभी तक पक्की तरह हमारी अपनी चीज नही हुई है। लेकिन तो भी हमारी दौड शुरू हो गई है। हम भी उन्हीकी हवागाडी के पायदान पर कूदकर चढ गए हैं। हम भी छोटे-छोटे बालो वाली छोटे-छोटे कपड़ों वाली साहित्य-कीर्ति के टेकनीक के आधुनिक फैशन को लेकर बड़ी गंभीरता से आलोचना करते है, हम भी अधुनातन लोगों की धृष्टता लेकर पुरानो की मानहानि करने में बड़े खुश होते है।

यही सब सोचकर मैने कहा था कि मैं अपनी इस उम्र की ख्याति का विश्वास नही करता। इस मायामृग का शिकार करने के लिए जंगल-जंगल दौड़ते फिरना जवानी में ही अच्छा लगता है, क्योंकि उस उम्र मे मृग अगर न भी मिले तो मृगया ही यथेष्ट होती है। फूल से फल हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता, तो भी फूल अपने स्वभाव को चंचलता के रूप मे वाणी देने के लिए विवश है। वह अशात होता है, उसके वर्ण-गंध की चेष्टा निरंतर बाहर की ओर होती है। फल का काम भीतर होता है, उसके स्वभाव का प्रयोजन गंभीर शांति है। शाखा से मुक्ति पाने के लिए ही उसकी साधना है—वह मुक्ति अपनी ही आंतरिक परिणति के योग से सम्भव हो सकती है।

मेरे जीवन मे आज उस फल की ऋतु आ पहुँची है जो शीघ्र ही टपक पड़ने की राह देख रहा है। इस ऋतु का सुयोग पूरी तरह ग्रहण करना हो तो बाहर के साथ भीतर की शांति स्थापित करनी चाहिए। वह शांति ख्याति-अख्याति के द्वन्द्व मे ध्वस्त हो जाती है।

ख्याति की बात रहने दो। उसका अधिकांश मिथ्या की भाप से फूला हुआ रहता है। वह आदमी अभिशप्त है, जो उसके फूलने-पिचकने को लेकर बहुत अधिक क्षुब्ध रहता है। भाग्य का परम दान प्रीति है, कवि के लिए यही उसका श्रेष्ठ पुरस्कार है। जो आदमी काम करके देता है उसे ख्याति देकर उसका वेतन

जितनी तरह के सुर हैं सभी उनकी वीणा में बजते हैं। कवि के काव्य मे भी सुरो की असंख्य विविधता होती है। मैं यह नही कहता कि सबमे से उदात्त ध्वनि ही निकलनी चाहिए; लेकिन सबके साथ-साथ ऐसा कुछ होना चाहिए जिसका इंगित ध्रुव की ओर हो, उस वैराग्य की ओर जो अनुराग को ही वीर्यवान् और विशुद्ध करता है। हम देखते हैं कि भर्तृहरि के काव्य में भोग के मनुष्य ने अपना सुर पाया है, लेकिन उसके साथ-ही-साथ काव्य की गहराई मे त्याग का मनुष्य अपना इकतारा लिये बैठा है—इन दोनों सुरों के सामंजस्य से ही रस का वजन ठीक रहता है, काव्य में भी और मानव-जीवन में भी। दीर्घकाल और बहुत जनों को जो सम्पदा दान करने के द्वारा साहित्य स्थायी भाव से सार्थक होता है उसका बोझ कागज की नाव या मिट्टी का गमला तो नही उठा सकता। आधुनिक काल-विलासी अवज्ञापूर्वक कह सकते हैं कि यह सब बातें आधुनिक काल की बातचीत के साथ मेल नही खातीं—अगर ऐसी बात हो तो उस आधुनिक काल के लिए दुःख करना होगा। संतोष की बात यही है कि वह सदा-सर्वदा आधुनिक बना रह सकेगा, इतनी उसकी आयु नहीं है।

कवि यदि क्लांत मन से यह सोचे कि कवित्व के चिरन्तन विषय आधुनिक काल मे आकर पुराने हो गए है तो मैं यही समझूँगा कि आधुनिक काल ही बूढ़ा और रसहीन हो गया। उसके सहज अनुराग का रस चिर-परिचित जगत् में पहुँच नही रहा है इसीसे वह जगत् को अपने भीतर ले नही सका। जो कल्पना अपने चारों ओर अब रस नही पाती वह किसी चेष्टाकृत रचना को दीर्घकाल तक सरस रख सकेगी, ऐसी आशा करना विडम्बना है। जिसकी रसना का स्वाद भर गया है उसे चिर-परिचित अन्न से तृप्ति नही होती, इसीसे यह भी सिद्ध है कि किसी नये अनोखे अन्न से भी उसे हमेशा रस मिल सकेगा, इसकी सभावना नही है।

आज सत्तर बरस की अवस्था में साधारणजनो के निकट मेरा परिचय एक निष्पत्ति पर आ पहुँचा है। इसीसे मैं आशा करता हूँ कि जिन लोगों ने मुझको जानने की कुछ भी चेष्टा की है उन्होंने इतने दिनो मे अतत: यह बात जान ली होगी की मैंने जीर्ण जगत् मे जन्म नही लिया। मैंने आँख खोलते ही जो कुछ देखा उससे मेरी आँखें कभी नही थकी, मेरे विस्मय का अन्त नही हुआ। चराचर को घेरे हुए अनादि काल की जो अनाहत वाणी अनंत काल की ओर मुँह किये, ध्वनित हो रही है मेरे मन-प्राण ने उसके सुर-मे-सुर मिलाया है, मुझे ऐसा लगा

भूमिका

विश्वभारती-ग्रंथ-प्रकाशन-समिति के अध्यक्षों ने मेरी सब गद्य-पद्य-रचनाओं को एकत्र करके विशेष रूप से सजाकर छापने का संकल्प किया है। यह कार्य परिमाण में बृहत् और सम्पादन की दृष्टि से कष्टसाध्य है; इस तरह के आयोजन को हमारे देश के सब श्रेणियो के साहित्य-विचारकों के पूर्णतः मनोनुकूल बना सकना किसी के वश की बात नही है, इसको निश्चित समझकर मैंने अपने को इस दायित्व से मुक्त कर लिया है। जो लोग साहस करके यह भार उठाने को प्रस्तुत है उनके लिए मैं चिन्तित हूँ।

बहुत छोटी उम्र से ही स्वभावत. मेरे लिखने की धारा मेरे जीवन की धारा के साथ-साथ अविच्छिन्न रूप से आगे बढती रही है। चारों ओर की स्थिति और वातावरण के परिवर्तन और तरह-तरह की नई अभिज्ञताओसे रचनाकी परिणति ने तरह-तरह के मोड़ और तरह-तरह के रूप लिये हैं, एक किसी अभिन्नता का हस्ताक्षर उन सबके बीच अंकित होकर निश्चय ही उनकी पारस्परिक आत्मीयता का प्रमाण देता है। जो लोग बाहर से अन्वेषण और चर्चा करते है उनकी विचार-बुद्धि उसे पकड लेती है। लेकिन लेखक के निकट वह स्पष्ट गोचर नही होता। मन की भिन्न-भिन्न ऋतुओं मे जब फूल खिलते है, फल लगते है तब उनका आवेग और यथार्थता ही कवि के निकट एकांत प्रत्यक्ष होती है। इसीमे रह-रहकर ऐसा समय आता है जब फलना कम हो जाता है, जब हवा मे प्राण-शक्ति की प्रेरणा क्षीण हो जाती है। तब यहां-वहां जो फ़सल का चिह्न दिखाई पड़ता है वह पहले की कटी फसल के पडे हुए बीज के ही अकुर होते है। ऐसे निष्फल समय भूलने योग्य होते हैं। यह उञ्छवृत्ति का क्षेत्र है उन लोगों के लिए, जो ऐतिहासिक संग्रह-कर्ता हैं। लेकिन इतिहास का सम्बल और काव्य की सम्पत्ति सजातीय नही हैं।

इतिहास सभी-कुछ याद रखना चाहता है, लेकिन साहित्य बहुत-कुछ भूल जाता है। छापाखाना ऐतिहासिकों का सहायक है। साहित्य में चुन लेने का धर्म

मैं उनके प्रति कृतज्ञता नहीं अपने हृदय का निवेदन किये जाता हूँ। उनके दाहिने साथ के स्पर्श में विराट् मानव का ही स्पर्श मेरे ललाट पर लगा है—मेरा जो कुछ श्रेष्ठ है वह उनके ग्रहण के योग्य हो।

और मेरे अपने देश के लोग जो अत्यधिक निकटता की, अत्यधिक परिचय की अस्पष्टता को चीरकर भी मुझे प्यार कर सके हैं आज के इस अनुष्ठान में उन्हींका बहुत यत्न से रचित यह अर्घ्य सज्जित है। उनके इस प्यार को भी हृदय से ग्रहण करता हूँ।

भूमिका

विश्वभारती-ग्रंथ-प्रकाशन-समिति के अध्यक्षों ने मेरी सब गद्य-पद्य-रचनाओं को एकत्र करके विशेष रूप से सजाकर छापने का संकल्प किया है। यह कार्य परिमाण मे बृहत् और सम्पादन की दृष्टि से कष्टसाध्य है; इस तरह के आयोजन को हमारे देश के सब श्रेणियों के साहित्य-विचारकों के पूर्णतः मनोनुकूल बना सकना किसी के वश की बात नही है, इसको निश्चित समझकर मैंने अपने को इस दायित्व से मुक्त कर लिया है। जो लोग साहस करके यह भार उठाने को प्रस्तुत हैं उनके लिए मैं चिन्तित हूँ।

बहुत छोटी उम्र से ही स्वभावत. मेरे लिखने की धारा मेरे जीवन की धारा के साथ-साथ अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ती रही है। चारों ओर की स्थिति और वातावरण के परिवर्तन और तरह-तरह की नई अभिज्ञताओंसे रचनाकी परिणति ने तरह-तरह के मोड और तरह-तरह के रूप लिये है, एक किसी अभिन्नता का हस्ताक्षर उन सबके बीच अंकित होकर निश्चय ही उनकी पारस्परिक आत्मीयता का प्रमाण देता है। जो लोग बाहर से अन्वेषण और चर्चा करते है उनकी विचार-बुद्धि उसे पकड़ लेती है। लेकिन लेखक के निकट वह स्पष्ट गोचर नही होता। मन की भिन्न-भिन्न ऋतुओ में जब फूल खिलते है, फल लगते है तब उनका आवेग और यथार्थता ही कवि के निकट एकांत प्रत्यक्ष होती है। इसीमे रह-रहकर ऐसा समय आता है जब फलना कम हो जाता है, जब हवा में प्राण-शक्ति की प्रेरणा क्षीण हो जाती है। तब यहाँ-वहाँ जो फसल का चिह्न दिखाई पडता है वह पहले की कटी फसल के पड़े हुए बीज के ही अंकुर होते है। ऐसे निष्फल समय भूलने योग्य होते है। यह उञ्छवृत्तिका क्षेत्र है उन लोगों के लिए, जो ऐतिहासिक संग्रह-कर्ता है। लेकिन इतिहास का सम्बल और काव्य की सम्पत्ति सजातीय नही है।

इतिहास सभी-कुछ याद रखना चाहता है, लेकिन साहित्य बहुत-कुछ भूल जाता है। छापाखाना ऐतिहासिकों का सहायक है। साहित्य मे चुन लेने का धर्म

का नुकसान होता है। मुझे याद है एक बार 'विजया' पत्र मे विपिनचंद्र पाल ने मेरे रचे हुए गीतों की समालोचना की थी। वह समालोचना अनुकूल न थी। उन्होने मेरे जिन गीतों को तलब करके मुजरिम के कटघरे में खड़ा किया था उनमें बहुत लड़कपन था। उनके साक्ष्य ने समस्त रचनाओं को संशय में डाल दिया था। उन्हें वह प्रौढ़ता नही मिली जिसके जोर पर वे गीत-साहित्य की सभा मे अपनी लज्जा ढांक सकें। उन्हें इतिहास की रसद जुटाने के लिए छापेखाने के फोरमैनों के हाथ साहित्य के क्षेत्र में भेजा गया है। उसको अलग करने की कोशिश करते ही इतिहास अपने पुराने अधिकार की दुहाई देकर आपत्ति पेश करता है।

आज अगर मेरी तमाम रचनाओं का समग्र परिचय देने का समय आ गया हो तो उनमें अच्छी, बुरी, मँझोली रचनाएँ अपना-अपना स्थान पायेंगी, यह बात मानी जा सकती है। वे सब मिलकर ही समष्टि की स्वाभाविकता की रक्षा करती है। लेकिन जो रचनाएँ परिणति को नही पहुँची वे कभी किसी समय दिखाई पड़ी थी केवल इसलिए इतिहास की खातिर उनका अधिकार मानना होगा, यह कुछ ठीक बात नही। उन सबको आँख की ओट रखने में ही समस्त रचनाओं का सम्मान है।

अतः मेरी सब रचनाओं का संग्रह करने का मतलब यही है कि जो सब कृतियाँ अततः रचना के मेरे ही आदर्श के अनुसार परिणत हो सकी है उन्हें एकत्र किया जाय। विधाता के हाथ के काम मे अपूर्ण सृष्टि बीच-बीच मे दिखाई देती है, लेकिन दिखाई देती है इसी मारे टिक तो नही जाती। सम्पूर्ण सृष्टि के साथ उनका मेल न बैठने के ही कारण उन्हे जवाब दे दिया जाता है। इस तरह की जवाब दी हुई लाछनधारी रचनाएँ इस ग्रथ मे शुरू से ही अनेक मिलेंगी, अगर पाठक उनकी भीड में से ठेल-ठालकर अपना रास्ता बनाते हुए निकल जायँ तो यह उनके प्रति सद्व्यवहार होगा। पहली बुवाई के समय जिस मिट्टी को वर्षा नही मिली उसके प्यासे पीडित बीज से जो अंकुर सकुचित होकर बाहर निकलता है वह जैसे कुछ कहना चाहता है लेकिन उसके पहले ही मर जाता है, 'संध्या-सगीत' की कविता उसी जाति की है। उसे संग्रह करके रखने का कोई मूल्य नही है। उसका केवल एक मूल्य है और वह है चित्त की चंचलता के आवेग मे बँधे हुए छंदों की जंजीर को तोड़ना।

बहुत दिनों की रचनाएँ जब एक जगह पर जमा की जाती है तब यही भावना मन मे आती है। वे अनेक अवस्थाओ और मन की अनेक स्थितियों की सामग्री

निश्चय ही बहुत-से पैवन्द हैं जिनके ऊपर आगामी काल का विस्मरण-दूत प्रतिदिन अदृश्य स्याही से आसन्न लोप का चिह्न अंकित करता जा रहा है। इस संबंध में मेरे मन में कोई मोह नहीं है और क्षोभ करना भी मैं व्यर्थ समझता हूँ।

यही अगर सच हो तो वे मित्र जो मेरी रचनाओं को रक्षणीय समझते हैं उनकी इच्छा का सम्मान मैं किन शब्दों में करूँ। इस प्रसंग में पृथ्वी की जीवधारा का इतिहास स्मरणीय है। अनेक जीव काल की परिवर्तित गति के साथ ताल रखकर नहीं चल सके, उन बेताला लोगों को प्राण-रंगशाला से निकाल बाहर किया गया। लेकिन सब तो नहीं निकले। बहुत-से हैं, काल के साथ उनका मन नहीं टूटा। आज नये भी उनको अपना कहते हैं और पुरानों ने भी उनको छोड़ नहीं दिया। क्या शिल्प-कला में, क्या साहित्य में, अगर इसके यथेष्ट प्रमाण न होते तो कहना पड़ता कि सृष्टिकर्ता मनुष्य अपने पीछे का रास्ता बराबर जलाता हुआ ही आगे बढ़ा है। लेकिन यह तो सच बात नहीं है। मनुष्य जिस तरह आगे बढ़ता है उसी तरह पीछे भी हटता है, नहीं तो यह चल ही न सके। अगर ऐसा कोई साहित्य हो जिसका अपने पीछे वालों से कोई संबंध नहीं, तो वह कबंध है, अस्वाभाविक है।

इसीसे मैं कहता हूँ कि जो लोग आज मेरी रचना को स्थायी सम्मान का रूप देने में लगे हैं उन्होंने अपनी रुचि और संस्कृति के अनुसार उसके स्थायित्व को उपलब्ध किया है। मनुष्य अपनी इस उपलब्धि का विश्वास करके ही पक्की इमारत के काम में हाथ डालता है—इसमें भूल भी हो सकती है लेकिन भूल न होने की सम्भावना में मनुष्य की जो आस्था है, उस आस्था का ही मूल्य अधिक है। वर्तमान आयोजकों के संबंध में यही बात कहने की है। और अगर मेरी बात कहो, तो मैं मनु का उपदेश मानूँगा, 'नाभिनन्दन् मरणम् नाभिनन्देत् जीवितम्', जिसे जाना हो; जाये, जिसे रहना हो; रहे, मिथ्या-विनय का नाटक मैं नहीं करूँगा। मित्र लोग जो मेरे इतने समय के अध्यवसाय को निश्चित श्रद्धा का मूल्य देने में प्रवृत्त हुए है, मैं भी उसको श्रद्धा करके उस दान में अपना अंतिम पुरस्कार ग्रहण करूँगा। काल उन्हें धोखा न देगा और कवि की भी विडम्बना न करेगा, इस बात में संदेह करने की अपेक्षा विश्वास करना ही सम्प्रति लाभजनक है; क्योंकि काल के दरबार में इसकी अंतिम मीमांसा की सम्भावना अभी दूर है।

अंत में यह बतला देना चाहता हूँ कि जिन लोगों ने इस ग्रंथ के प्रकाशन का भार लिया है उनके दुस्साध्य कार्य पर मैं यथासाध्य दृष्टि रखूँगा और वे मेरे समर्थन का अनुसरण करेंगे।

श्री निकेतन, ३०-६-३६

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

प्रथम खण्ड

आत्म-परिचय

आत्म-परिचय

अपनी दीर्घकालीन कविता-रचना की धारा को जब मैं पीछे लौटकर देखता हूँ तो यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि यह एक ऐसा व्यापार है, जिसके ऊपर मेरा कोई वश न था। जब मैं लिख रहा था तब सोचता था कि मैं ही लिख रहा हूँ; लेकिन आज मैं जानता हूँ कि वह बात सच नहीं है। क्योंकि उन खण्ड-कविताओं से मेरे समस्त काव्य-ग्रंथ का तात्पर्य सम्पूर्ण नहीं हुआ—वह तात्पर्य क्या है पहले मैं यह भी न जानता था। इस प्रकार परिणाम न जानते हुए एक के साथ एक कविता जोड़ता रहा हूँ—उनमें से प्रत्येक के जिस क्षुद्र अर्थ की मैंने कल्पना की थी, आज समग्र की सहायता से मैं निश्चय ही यह समझ सका हूँ कि उस अर्थ का अतिक्रमण करके एक अविच्छिन्न तात्पर्य उनमें से प्रत्येक के बीच बहता आ रहा था। इसीसे बहुत दिन बाद मैंने एक रोज लिखा था :

ए की कौतुक नित्य नूतन
ओगो कौतुकमयी !
आमि याहा-किछु चाहि बलिबारे
बलिते दितेछ कइ।
अन्तर माझे बसि अहरह
मुख हते तुमि भाषा केड़े लह,
मोर कथा लये तुमि कथा कह
मिशाये आपन सुरे।
की बलिते चाइ सब भुले जाइ,
तुमि या बलाओ आमि बलि ताइ,
संगीत स्रोते कूल नाहि पाइ—
कोथा भेसे जाइ दूरे।

विश्व-विधि का एक नियम यह देखता हूँ कि जो आसन्न है, जो उपस्थित है, उसको वह छोटा नहीं करने देती, उसको यह बात नहीं जानने देती कि वह एक

सोपान-परम्परा का अग है। उसको समझा देती है कि यह अपने-आपमें पर्याप्त है। फूल जब खिल उठता है तब मन मे यही आता है कि जैसे फूल ही पेड़ का एक-मात्र लक्ष्य हो—उसका सौदर्य, उसकी सुगन्ध ऐसी होती है कि लगता है जैसे वह वनलक्ष्मी की साधना का चरम धन हो। लेकिन यह बात छिपी रह जाती है कि वह फल लगने का केवल एक उपलक्ष्य है—वह वर्तमान के गौरव में ही प्रसन्न रहता है, भविष्य उसे अभिभूत नही करता। और फिर फल को देखकर लगता है कि जैसे वह सफलता का अत हो, लेकिन तब यह बात छिपी रह जाती है कि वह अपने गर्भ मे भावी वृक्ष के बीज को पका रहा है। इस प्रकार प्रकृति फूल में फूल की चरमता, फल मे फल की चरमता की रक्षा करते हुए भी उनसे परे एक परिणाम को अनजाने ही आगे बढ़ाती रहती है।

काव्य-रचना के सबध मे भी मैं यही विश्व-विधान देखता हूँ—कम-से-कम मैंने अपने भीतर इसी रूप मे उसकी उपलब्धि की है। जब जो कुछ लिख रहा था तब उसीको मैंने परिणाम समझा था। इसीलिए उतने को ही सम्पन्न करने के काम मे मैं इतना परिश्रम दे सका और इतना आनंद पा सका। मैं ही इस चीज को लिख रहा हूँ और किसी एक विशेष भाव का सहारा लेकर लिख रहा हूँ, इसके सबध मे कोई सदेह न था। लेकिन आज मैं समझ रहा हूँ कि वह सब लिखना केवल उपलक्ष्य था—जिस अनागत की मूर्ति गढ़कर उन्होने खड़ी की थी उस अनागत को वे पहचानती भी न थी। उनके रचयिता में और भी जो एक रचयिता है वह कौन है जिसके सम्मुख वह भावी तात्पर्य प्रत्यक्ष वर्तमान रहता है। फूंक बांसुरी के एक-एक छेद मे से एक-एक सुर निकाल रही है और अपने कृतित्व का प्रचार ऊँचे स्वर मे कर रही है लेकिन वह कौन है जो उन बिखरे हुए सुरों को एक रागिनी मे बाँध रहा है। फूंकने से सुर तो निकलता है लेकिन वह फूंकना तो बांसुरी नही बजाता। उस बांसुरी को जो बजा रहा है उसके सामने तो सब राग-रागनियाँ हैं, उससे तो छिपा हुआ कुछ भी नही।

बलितेछिलाम बसि एक धारे
आपनार कथा आपन जनारे,
शुनाते छिलाम घरेरर दुयारे
घरेर काहिनी यत;
तुमि से भाषा रे दहिया अनले
डुबाये भासाये नयनेर जले

नवीन प्रतिमा नव कौशले
गड़िले मनेर मतो।

इस श्लोक का मतलब शायद यह है कि मैं जो कुछ लिखता जा रहा था वह एक सादी बात थी, उसमें खास कुछ भी न था—लेकिन उस सीधी-सादी बात मे, मेरी उस अपनी बात मे एक सुर आकर मिल जाता है जिससे वह बड़ा हो उठता है, व्यक्तिगत न रहकर सारे विश्व का हो उठता है। वह जो सुर है वह तो मेरे अभिप्राय मे न था। अपने पथ पर मैंने एक चित्र आँका था जरूर, लेकिन उसके साथ-साथ जो एक रग फैल गया वह रग और उस रंग की तूलिका तो मेरे हाथ में न थी।

नूतन छन्द अन्धेर प्राय
भरा आनन्दे छुटे चले याय,
नूतन वेदना बेजे उठे ताय
नूतन रागिणी भरे।
ये कथा भाविनि बलि सेइ कथा
ये व्यथा बुझि ना जागे सेइ व्यथा,
जानि ना एनेछि काहार वारता
कारे शुना बार तरे।

मैं क्षुद्र व्यक्ति जब अपनी एक क्षुद्र बात कहने के लिए चंचल हो उठा था तब न जाने किसने मेरा हौसला बढ़ाकर कहा, "कहो-कहो, अपनी बात ही कहो। उसी बात के लिए लोग टकटकी लगाए देख रहे हैं।" यह कहकर उन्होने श्रोताओं की ओर देखकर आँखें मूँद ली, स्नेहसिक्त कौतुक के साथ जरा-सा हँसे और मेरी ही बात के भीतर से न जाने कितनी अपनी बात कह ले गए।

के केमन बोझ अर्थ ताहार,
केह एक बले, केह बले आर,
आमारे शुधाय वृथा बार-बार—
देखे तुमि हास बुझि।
के गो तुमि, कोथा रयेछ गोपने
आमि मरितेछि खुँजि।

बात क्या सिर्फ इतनी है कि कवि-कर्म के कोई विधाता कवि का अतिक्रमण करके उसकी लेखनी चलाते है ? नही ऐसी बात नही है। इसके साथ-ही-साथ मैंने

भी देखा है कि जीवन जो गठित हो रहा है, उसका सब सुख-दुःख, उसके समस्त योग-वियोग की विच्छिन्नता को न जाने कौन एक व्यक्ति अखण्ड तात्पर्य में गूँथे दे रहा है। मैं नही जानता कि मैं सब समय उनके अनुकूल काम करता रहा हूँ, लेकिन उन्होंने मेरी सारी बाधा-विपत्तियों को, मेरे समस्त टूटने-फूटने को बराबर जोड़-बटोरकर खड़ा कर दिया है। केवल इतना ही नहीं, मेरा स्वार्थ, मेरी प्रवृत्ति मेरे जीवन को जिस अर्थ में सीमाबद्ध करती है उस सीमा को वे बार-बार तोड़ देते हैं—वे गहरी वेदना के द्वारा, विच्छेदन के द्वारा, विपुल के साथ, विराट् के साथ उसको जोड़ देते हैं—वह जब एक दिन बाजार के लिए बाहर निकला था तब उसने विश्व-मानव के बीच अपनी सफलता नही चाही थी—उसने अपने घर के सुख, घर की सम्पदा के लिए ही कौड़ियाँ बटोरी थीं। लेकिन कौन उसे उस बँधे हुए रास्ते से उस छोटे सुख-दुःख से जबरदस्ती खींचकर गिरि-पर्वत अधित्यका-उपत्यका की दुर्गमता के बीच खींचे ले जा रहा है।

ए की कौतुक नित्य-नूतन
ओगो कौतुकमयी !
जे दिके पान्थ चाहे चलिबारे
चलिते दितेछ कई ?
ग्रामेर ये पथ धाय गृह पाने,
चाषिगण फिरे दिवा अवसाने,
गोठे धाय गोरु, वधू चल आने
शतबार यातायाते—
एकदा प्रथम प्रभात वेलाय
से पथे बाहिर हइनु हेलाय,
मनेछिल दिन काजे ओ खेलाय
काटाये फिरिब राते।
पदे पदे तुमि भुलाइले दिक,
कोथा याब आजि नाहि पाइ ठिक,
क्लान्त हृदय भ्रान्त पथिक
एसेछि नूतन देशे।
कखनो उदार गिरिर शिखरे
कभु वेदनार तमो गह्वरे।

चिनि ना ये पथ से 'पथेर' परे
चले छि पागल वेशे।

यह जो कवि हैं जिन्होंने हमारा सब-कुछ भला-बुरा, हमारे सब अनुकूल और प्रतिकूल उपकरण लेकर मेरे जीवन की रचना करते रहे हैं उन्हीको मैने अपने काव्य में जीवन-देवता का नाम दिया। उन्होंने केवल मेरे इह लोक के जीवन की समस्त खण्डता को एकता देकर विश्व के साथ उसका सामंजस्य स्थापित किया है, मैं ऐसा नहीं समझता। मैं जानता हूँ कि अनादि काल से विचित्र-विस्मृत अवस्था से होकर वे मुझे इस वर्तमान प्रकाश के बीच ले आए हैं—उसी विश्व के बीच से प्रवाहित अस्तित्व-धारा की विराट् स्मृति उनका सहारा लेकर अनजान में ही मेरे भीतर रह गई है। इसीलिए मैं इस जगत् के लता-वृक्षों, पशु-पक्षियों के साथ ऐसी एक पुरातन एकता का अनुभव कर पाता हूँ, इसीलिए इतना बड़ा यह रहस्यमय प्रकाण्ड जगत् अनात्मीय और भीषण नहीं जान पड़ता।

आज मने हय सकलेरि माझे
तोमारेइ भालो बेसेछि;
जनता वाहिया चिर दिन धरे
शुधु तुमि आमि एसेछि।
चेये चारि दिक पाने
की ये जेगे ओठे प्राणे—
तोमार-आमार असीम मिलन
येन गो सकल खाने।
कत युग एइ आकाशे यापिनु
से कथा अनेक भुले छि,
ताराय ताराय ये आलो काँपिछे
से आलोके दोहे दुलेछि।
तृण रोमाञ्च धरणीर पाने
आश्विने नव आलोके
चेये देखि यबे आपनरा मने
प्राण भरि उठे पुलके
मने हय येन जानि
एइ अकथित वाणी—

मूक मेदिनीर मर्मर माझे
जा गिछे ये भाव खानि।
एइ प्राणे-भरा माटिर भितरे
कत युग मोरा ये पेछि,
कत शरतेर सोनार आलोके
कत तृणे दोहे कँपेछि
लक्ष बरष आगे ये प्रभात
उठे छिल एइ भुवने
ताहार अरुण किरण कणिका
गाँथ नि कि मोर जीवने ?
से प्रभाते कोन् खाने
जेगेछिनु के वा जाने ?
की मूरति-माझे फुटाले आमारे
से दिन लुकाये प्राणे ?
हे चिर-पुरानो, चिरकाल मोरे
गड़िछ नूतन करिया।
चिर दिन तुमि साथे छिले मोर-
र'बे चिर दिन धरिया।

तत्त्व-विद्या पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। द्वैतवाद-अद्वैतवाद का कोई विवाद उठाने में निरुत्तर हो जाऊँगा। मैं केवल अनुभव की दृष्टि से कहता हूँ कि मुझमें मेरे अन्तर देवता की अभिव्यक्ति का एक आनन्द रहता है—वही आनन्द, वही प्रेम मेरे समस्त अंग-प्रत्यंग को, मेरे बुद्धिमन को, मेरे निकट प्रत्यक्ष इस विश्व-जगत् को, मेरे अनादि अतीत और अनन्त भविष्य को भरे रहता है। यह लीला तो मैं कुछ समझता नहीं, लेकिन मुझमें निरन्तर यही एक प्रेम की लीला चलती रहती है। मेरी आँखों को प्रकाश जो अच्छा लगता है, शाम-सवेरे मेघ की छटा जो अच्छी लगती है, तृण-तरु-लता की श्यामलता जो अच्छी लगती है, प्रिय-जनों की जो मुख-छवि अच्छी लगती है—सब-कुछ उसी प्रेम-लीला की तरंग-माला है। उसी जीवन के सब सुख-दुःख सब आलोक-अंधकार की छाया खेलती रहती है। मुझमें यह जो सृष्टि होती जा रही है और वे जो यह सृष्टि कर रहे हैं, इन दोनों के बीच जो एक आनन्द का सम्बन्ध है, जो एक चिरंतन प्रेम का बन्धन

है। उसे जीवन की सब घटनाओं के बीच से उपलब्ध करने पर सुख में दु.ख में एक शान्ति मिलती है। जब मैं इस बात को समझता हूँ कि मेरे आनन्द के प्रत्येक उच्छ्वास को वे अपने पास खीच लेते हैं, मेरी प्रत्येक दुःख-वेदना को उन्होंने स्वयं ही ग्रहण कर लिया है तब यह बात मेरी समझ में आती है कि कुछ भी व्यर्थ नही हुआ, सब-कुछ एक जगत्व्यापी सम्पूर्णता की दिशा मे कृतार्थ हुआ है।

हमारा पहलवान जमादार शोभाराम रह-रहकर डंड पेलता, खूब वजनी मुदगर भांजता, बैठा-बैठा भांग घोटता, कभी बड़े मजे से पत्ती समेत मूली खाता और हम लोग उसके कान के पास जाकर चिल्ला उठते,'राधाकृष्ण'; वह जितना ही 'हाँ-हाँ' करके दोनों हाथ उठाता हम लोगों की जिद उतनी ही बढ़ जाती; अपने इष्ट देवता का नाम सुनने के लिए वही उसकी चाल थी।

तब शहर में न कहीं गैस थी, न बिजली की बत्ती। बाद में जब केरोसीन की रोशनी आई तो उसका तेज देखकर हम लोग अवाक् रह गए। शाम को फर्राश आकर हर कमरे में रेंडी के तेल का दीया जला जाता। हमारे पढ़ने के कमरे में दो बत्ती वाला एक चिराग जलता।

मास्टर मोशाय टिमटिमाती रोशनी में प्यारी सरकार की फर्स्ट बुक पढ़ाते। पहले जम्हाई आती, फिर नींद आती, और फिर आँखों का रगड़ना शुरू होता। बार-बार हमें सुनना पड़ता कि मास्टर मोशाय का दूसरा छात्र सतीन ऐसा सोने का टुकड़ा है कि कुछ न पूछो, खूब जी लगाकर पढ़ता है, नींद आने पर आँख में नसवार मल लेता है। और मैं ! वह बात कहने से क्या फायदा। सब लड़कों में अकेले मूर्ख रह जाने-जैसी बुरी बात भी मुझे जगाये न रख पाती। रात को नौ बजने पर जब नींद के मारे आँख बंद हो-हो जाती तब छुट्टी मिलती। बाहर के हिस्से से हवेली के भीतर जाने के सँकरे रास्ते में झिलमिली लगी हुई थी और ऊपर से एक टिमटिमाती रोशनी की लालटेन झूलती रहती थी। मैं चलता और मन कहता, न जाने कौन मेरे पीछे आ रहा है। पीठ सिहर उठती। उन दिनों बात-बात में भूत-प्रेत रहता, लोगों के मन के कोने-कोने में भूत-प्रेत रहता। कोई नौकरानी जब कभी हठात् चुड़ैल का नकुवाता हुआ स्वर सुन पाती तो धड़ाम से पछाड़ खाकर गिर पड़ती। यह चुड़ैल ही सबसे बुरी थी, उसे सबसे ज्यादा लालच लगती थी मछली की। घर के पश्चिमी कोने में घनी पत्तियों वाला बादाम का पेड़ था, एक पैर उसकी डाल पर और दूसरा पैर तीसरे तल्ले की कार्निस पर रखकर यह कौन खड़ा रहता है। ऐसे लोग भी तब बहुत थे जो कहते थे कि उन्होंने देखा है और इस बात को मान लेने वाले लोग भी कम न थे। दादा के एक मित्र जब इस गप्प को हँसकर उड़ा देते तो घर के नौकर-चाकर सोचते कि इस आदमी में धर्म-ज्ञान बिलकुल नहीं है, जब एक रोज गर्दन मरोड़ देगी तब सारी विद्या निकल जायगी ! उस समय की हवा में आतंक ने चारों तरफ अपना ऐसा जाल फैला रखा था कि मेज के नीचे पाँव रखने में सिहरन मालूम होती।

ब्लाउज लेकर जिसका चलन हुआ है उसीकी पहली शुरुआत बड़ी भाभी ने की थी।

छोटी लड़कियों ने तब तक चोटी लटकाना और फ्रॉक पहनना नहीं शुरू किया था। कम-से-कम हमारे घर में। छोटी लड़कियों में तब तक पेशवाज का ही चलन था। बेथुन स्कूल जब पहले-पहले खुला तब मेरी बड़ी दीदी की उम्र कम थी। वहाँ पर लड़कियों के पढ़ने-लिखने का रास्ता सुगम करने वाले पहले दल में थी वह। गोरा-चिट्टा उनका रंग था। इस देश में उसका जोड़ न मिलता। मैंने सुना है कि पालकी से स्कूल जाते समय एक बार पुलिस ने उनको पेशवाज पहने चुराई हुई अंग्रेज लड़की समझकर पकड़ लिया था।

मैं पहले ही कह आया हूँ कि उन दिनों छोटे-बड़े के बीच आना-जाही के लिए पुल न था, लेकिन इन सब पुराने कायदों की भीड़ में ज्योति दादा बिलकुल विशुद्ध नया मन लेकर आये थे। मैं उनसे बारह बरस छोटा था। मुझे इसीका आश्चर्य है कि उम्र की इतनी बड़ी दूरी के बावजूद मुझ पर उसकी नजर कैसे पड़ी। और भी आश्चर्य की बात यह है कि बातचीत में उन्होंने कभी अपने बड़प्पन के मारे मेरा मुँह बंद करने की कोशिश नहीं की। इसीलिए कोई भी बात सोचने में मुझे साहस का अभाव न होता। आज बच्चों के बीच ही में रहता हूँ। पांच तरह की बातें कहता हूँ और उनका बंद मुँह देखता हूँ। बात पूछने में उन्हें डर लगता है। मैं समझ सकता हूँ, यह लोग सब उन्हीं बूढ़ों के जमाने के बच्चे हैं जिस जमाने के बड़े लोग बात कहते थे और छोटे लोग गूंगों की तरह बैठे रहते थे। बात पूछने का साहस नये जमाने के बच्चों का है और बूढ़ों के जमाने के बच्चे सब-कुछ सिर झुकाकर मान लेते थे।

छत वाले कमरे में पियानो आया और आया [illegible] किया हुआ वह बाजार का फर्नीचर। छाती फूल उठी। [illegible] इसमें आधुनिक नवाबी की सस्ती अमीरी देखी।

अब मेरे गाने का फुहारा फूटा। ज्योति [illegible] नये-नये ढंग से झमाझम सुर बनाते चले [illegible]। [illegible] फौरन इन सुरों को शब्दों में बाँधकर [illegible]।

दिन खतम होने पर छत पर पड़ती [illegible]। [illegible] एक तश्तरी में बेले की मोटी-सी [illegible] एक गिलास में बरफ का पानी [illegible]।

बडी भाभी नहा-धोकर, बाल बाँधकर तैयार होकर बैठती। ज्योति दादा एक पतली चादर शरीर पर डाले हुए आते, वायलिन पर छड़ी लगाते और मैं ऊँचे स्वर मे गाना शुरू करता। गले मे जो कुछ सुर भगवान् ने दिया था वह तब तक वापस नही लिया था। सूरज डूबते हुए आसमान् के नीचे इस छत से उस छत तक मेरा गाना फैलता चला जाता। दूर समुद्र से हू-हू करके दक्षिण पवन उठता और आकाश तारो मे भर जाता।

बडी भाभी ने छत को बिलकुल बगीचा बनाकर रख दिया था। लोहे की छडो पर लम्बे-लम्बे पाम की कतारें, आस-पास चमेली, गंधराज रजनीगंधा, कनेर, कनकचम्पा। छत को चोट पहुँचाने की बात उनके मन में ही न आई, सभी मस्तमौला लोग थे।

अक्षय चौधरी अक्सर आते। उनके गले मे सुर नही है यह बात वह भी जानते थे, दूसरे लोग और भी ज्यादा जानते थे, लेकिन उनके गाने की ज़िद किसी तरह न थमती। खासतौर पर उन्हें विहाग गाने का बडा शौक था। आँखें बद करके गाते थे, सुनने वालो के चेहरे का भाव देख न पाते। हाथ के पास कोई आवाज़ करने वाली चीज़ मिल जाती तो दाँत से होठ दबाकर पटापट आवाज करते हुए उसीसे वायाँ तबले का काम लेते। मलट की जिल्द बँधी हुई कोई किताब मिल जाती तो फिर और कुछ न चाहिए। अपने-आपमें मगन आदमी थे, कुछ पता न चलता कि कब उनका छुट्टी का दिन है, और कब काम का।

शाम को महफिल बर्खास्त होती। मैं हमेशा से रात को जागने वाला लड़का रहा हूँ। सब लोग सो जाते, मैं ब्रह्म दैत्य के चेले की तरह इधर-उधर फिरता रहता। सारे मुहल्ले मे सन्नाटा छा जाता। चाँदनी रात में छत पर पेड़ों की कतारो की छाया स्वप्न की अल्पना-जैसी लगती। छत के बाहर शीशम का सिर हवा मे हिल उठता और पत्तियाँ झिलमिल करती रहती। पता नही क्यो, सबसे ज्यादा मेरी आँख मे खुबती सामने की गली के सोते हुए मकान की छत पर एक छोटी-सी ढलुआँ बरसाती। खड़े-खड़े न जाने किसकी ओर उँगली से इशारा करती रहती।

रात का एक बजता, दो बजता। सामने के बड़े रास्ते से आवाज़ आती, "बोलो हरि, हरि बोल"।

जीवन-स्मृति

शिक्षारम्भ

हम तीन लड़के एक साथ बड़े हो रहे थे। मेरे दोनों साथी मुझसे दो साल बड़े थे। उन्होंने जब गुरु महाशय के यहाँ पढ़ाई शुरू की, मेरी शिक्षा भी उसी समय शुरू हुई, लेकिन उसकी बात मुझे याद भी नहीं है।

केवल इतना याद आता है, "जल पड़े पाता नड़े।" तब तक 'कर, खल' आदि हिज्जे के तूफान को काटकर हम लोग किनारे लग चुके थे। उन दिनों मैं पढ रहा था, "जल पड़े पाता नड़े।" मेरे जीवन की यही आदिकवि की प्रथम कविता है। उस दिन का आनन्द आज भी जब याद आता है कि कविता में तुक नाम की चीज क्यों इतनी जरूरी होती है। तुक है इसीलिए बात खत्म होकर भी ख़त्म नहीं होती—उसका वक्तव्य जब समाप्त हो जाता है तब भी उसकी झंकार समाप्त नहीं होती—तुक को ही लेकर कान के संग मन का खेल चलता रहता है। इसी तरह बार-बार उस दिन मेरी समस्त चेतना में पानी बरसने लगा, पत्ते हिलने लगे।

इसी बचपन की और एक बात मेरे मन में बैठी हुई है। हमारे एक बहुत पुराने खजाची थे, कैलाश मुखर्जी नाम था उनका। वह हमारे घर के एक आत्मीय-जैसे थे। बड़े दिल्लगीबाज आदमी थे। सबके साथ उनकी हँसी-दिल्लगी चलती रहती थी। घर में हाल के आए हुए जमाई को अपने हँसी-मजाक से वह तंग कर डालते। मरने के बाद भी उनकी यह दिल्लगीबाजी कम नहीं हुई, ऐसा लोग कहते हैं। एक समय हमारे बड़े लोग प्लैंचेट की मदद से परलोक के साथ सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा में लगे हुए थे। एक दिन उनके प्लैंचेट की पेंसिल की रेखा में कैलाश मुखर्जी का नाम दिखाई दिया। उनसे पूछा गया, 'तुम जहाँ हो वहाँ की व्यवस्था कैसी है, जरा बताओ तो।' जवाब आया, 'जो बात मैंने मरकर जानी है उसको आप लोग जिन्दा रहते हुए धोखेधड़ी से जान लेना चाहते हैं? सो नहीं होने का।'

हुए हाथों पर कलम की बहुत-सी स्लेटें इकट्ठी करके धर दी जातीं। इस प्रकार की धारणा-शक्ति का अभ्यास बाहर से भीतर की ओर संचारित हो सकता है या नहीं यह मनस्तत्त्वविदों के सोचने की बात है।

इस तरह बहुत शिशु वयस में ही मेरी पढ़ाई शुरू हुई। नौकरों के बीच जिस तरह की किताबें प्रचलित थीं उन्हींको लेकर मेरी साहित्य-चर्चा का सूत्र-पात हुआ। उनमें चाणक्य श्लोक का बंगला अनुवाद और कृत्तिवास की रामायण ही मुख्य हैं। वही रामायण पढ़ने की एक दिन की तस्वीर मेरे मन में स्पष्ट रूप से आ रही है।

उस दिन बादल छाये हुए थे, घर के बाहरी हिस्से में रास्ते के किनारे-किनारे जो लम्बा बरामदा चला गया था मैं उसीमें खेल रहा था। याद नहीं क्यों, सत्य ने मुझको डराने के लिए हठात् *'पुलिसमैन-पुलिसमैन'* की गुहार लगाई। पुलिसमैन के कर्तव्य के सम्बन्ध में बड़ी मोटी-सी एक धारणा मेरे मन में थी। मैं जानता था, किसी को अपराधी कहकर उनके हाथ में देते ही, जिस तरह मगर अपने आरी-जैसे दाँतों में शिकार को फँसाकर पानी के भीतर खींच ले जाता है, उसी तरह अभागे को पकड़कर अतल-अगाध थाने में गायब हो जाना ही पुलिस-कर्मचारी का स्वाभाविक ढंग है। इसी प्रकार की निर्मम शासन-विधि से छुटकारा निरपराध बालक को कहाँ मिलेगा यह न सोच पाने के कारण मैं फौरन घर के भीतर दौड़ा। वह लोग मेरा पीछा कर रहे हैं इस अंधे भय से मेरी समस्त पीठ में एक सनसनी-सी दौड़ गई। जाकर माँ को अपनी आसन्न विपत्ति की सूचना दी, लेकिन उससे माँ में किसी विशेष उत्कंठा का संचार हुआ हो ऐसा कोई लक्षण नहीं दिखाई दिया। लेकिन मैंने बाहर जाना निरापद नहीं समझा। दीदी माँ की रिश्ते की एक काकी कृत्तिवास की जो रामायण पढ़ती थीं वही मार्बल कागज चढ़ी हुई फटे-चिथे मलट वाली मैली-सी किताब मैं गोद में लेकर माँ ने कमरे के दरवाजे के पास बैठकर पढ़ने लगा। सामने अन्तःपुर के आँगन में चारों तरफ एक चौकोर बरामदा था, उसी बरामदे में मेघाच्छन्न आकाश से तीसरे पहर की ढलती हुई रोशनी आ रही थी। रामायण के किसी करुण वर्णन से मेरी आँखों से आँसू टपक रहे हैं यह देखकर दीदी माँ जबरदस्ती मेरे हाथों से किताब छीन ले गईं।

जाता।

हमसे जो लोग बड़े थे उनकी गति-विधि, वेश-भूषा, आहार-विहार, आमोद-प्रमोद बातचीत सब-कुछ हमसे बहुत दूर थी। उसका आभास हमको मिलता था, लेकिन सामीप्य नही। आजकल के लड़को ने बड़े लोगों को छोटा कर दिया है, कही भी उनको कोई बाधा नही है और माँगने पर भी उनको सब-कुछ मिल जाता है। हम लोग इतनी आसानी से कुछ भी न पाते थे। छोटी-से-छोटी चीजें भी हमारे लिए दुर्लभ थी, बड़े होने पर कभी मिलेंगी इसी आशा मे उन सबको दूर भविष्यत् के हाथो मे समर्पित करके हम बैठे हुए थे। उसका फल यह हुआ था कि उन दिनों जो कुछ भी मिल जाता उसका रस पूरा-पूरा हम गार लेते थे, उनके छिलके से लेकर गुठली तक कुछ भी फेंका न जाता। आजकल के सम्पन्न घरो के बच्चों को देखता हूँ, उनको सहज ही सब-कुछ मिल जाता है इसीलिए वह उसके बारह आने को आधा दाँत मारकर ही छोड़ देते है —उनकी पृथ्वी का अधिकांश उनके लेखे अपव्यय में नष्ट हो जाता है।

घर के बाहरी हिस्से के दुतल्ले मे दक्षिण-पूर्वी कोने के कमरे में नौकरों के बीच हमारा दिन कटता।

हमारा एक नौकर था, उसका नाम था श्याम। श्याम वर्ण दोहरे शरीर का लड़का था, सिर पर लम्बे-लम्बे बाल। खुलना जिले में उसका घर था। वह मुझको कमरे के एक निर्दिष्ट स्थान मे बैठाकर मेरे चारो ओर खड़िया से एक घेरा बना देता और गंभीर चेहरा बनाकर तर्जनी दिखाकर कह जाता कि इस घेरे के बाहर तुम निकले नही कि भारी विपत्ति मे फँसे। यह विपत्ति आधि-भौतिक है कि आधिदैविक, मै स्पष्ट समझ न पाता; लेकिन मन में डर जरूर समा जाता। घेरे के बाहर निकलते ही सीता का कैसा सर्वनाश हुआ था यह मैंने रामायण मे पढा था इसलिए उस घेरे को नितात अविश्वासी के समान उड़ा नही पाता था।

खिड़की के नीचे ही एक पक्का तालाब था। उसके पूरब मे दीवार से लगा हुआ एक बड़ा-सा चीनी वटवृक्ष था—दक्षिण की ओर नारियल के पेड़ों की पंक्ति थी। घेरे का बंदी मैं खिड़की की साँकल खोलकर प्रायः सारा दिन उस तालाब को किताब मे किसी छपी हुई तस्वीर की तरह देखते-देखते काट देता। सवेरा होते ही देखता, पड़ोसी लोग एक-एक करके नहाने आ रहे है। उनमे से कौन कब आयगा यह मैं जानता था। प्रत्येक के स्नान की विशेषता तक से मैं परिचित था।

रहा है।

हमें घर के बाहर जाना मना था, यहाँ तक कि घर के भीतर भी हम सब जगह जहाँ जी चाहे जा-आ नही सकते थे। इसीलिए मैं विश्व-प्रकृति को लुक-छिपकर देखता था। 'बाहर' कहकर जो एक अनंत-प्रसारित पदार्थ था वह मेरे लिए अप्राप्य था, लेकिन उसका रूप, शब्द, गंध खिड़की-दरवाजे की अनेक दरारों और संधियो के बीच से इधर-उधर से आकर मुझे छू जाता और मैं चौंक पड़ता। यह जैसे ईंट-पत्थर की बाधाओ के बीच से तरह-तरह के इशारे करके मेरे साथ खेलने की चेष्टाएँ करता। वह मुक्त था, मैं बंदी था—मिलन सम्भव नही था इसीलिए प्रणय का आकर्षण प्रबल था। आज वह खड़िया से खीची हुई लक्ष्मण-रेखा पुँछ गई है लेकिन तो भी घेरा मिटा नही है। दूर अब भी दूर है, बाहर अब भी बाहर ही है। बड़ा होकर जो कविता लिखी थी वही याद आ रही है—

खाँचार पाखि छिल सोनार खाँचाटिते,
बनेर पाखि छिल बने।
एकदा कि करिया मिलन हम दोहें,
की छिल विधातार मने।
बनेर पाखि बले, 'खाँचार पाखि' आय,
बनेते याइ 'दोहे मिले।'
खाँचार पाखि बले, 'बनेर पाखि' आय,
खाँचाय थाकि निरिबिले।
बनेर पाखि बले, 'ना'
आमि शिकले धरा नाहि दिब।'
खाँचार पाखि बले, 'हाय',
आमि केमने बने बाहिरिब।'

हमारी हवेली के भीतर की छत की मुँडेर मेरे सिर से ऊपर थी। जब ज़रा खड़ा हुआ और नौकरों का शासन थोड़ा शिथिल हो गया, जब घर में नई बहू आई, और अवकाश के संगी के रूप मे मुझे उसके निकट प्रश्रय मिलने लगा, तब किसी-किसी दिन दोपहर को उस छत पर पहुँच जाता। उस समय घर में सब लोगों का खाना-पीना खत्म हो जाता, गृह-कर्म थम जाता; अन्त:पुर विश्राम मे निमग्न होता, गीली साड़ियाँ छत की कानिस से झूलती रहती, आँगन के कोने मे पड़े हुए झूठे भात पर कौवों की सभा जुटी होती। इसी निर्जन अवकाश में,

कोई तो दोनों कानों में उंगली ठूँसकर झट-झट कई डुबकियाँ लगाकर चला जाता, कोई डुबकी न लगाकर गमछे में पानी लेकर अपने सिर पर डालता रहता, कोई पानी के ऊपरी हिस्से की गंदगी को हटाने के लिए बार-बार दोनों हाथों से पानी काटकर एकाएक फुर्ती से डुबकी मारता, कोई ऊपर की सीढ़ी से ही, बेधड़क छपाक से पानी के भीतर कूद पड़ता, कोई पानी में उतरते-उतरते एक लंबी-साँस के साथ कई श्लोक दुहरा जाता, कोई बहुत व्यस्त भाव से किसी प्रकार स्नान पूरा करके घर लौटने के लिए उत्सुक दिखाई पड़ता, किसी में लेश-मात्र भी व्यस्तता न होती, बड़े आराम से धीरे-धीरे स्नान करके, देह पोंछकर, कपड़ा उतारकर, धोती की चुन्नट को दो-तीन बार फटकारकर, बगीचे से कुछ फूल चुनकर, मृद-मंद दोलायमान गति से स्नान-स्निग्ध शरीर के आनंद को हवा में बिखेरते हुए घर की ओर उनकी यात्रा होती। इसी तरह दोपहर हो जाती, एक बज जाता। धीरे-धीरे तालाब का घाट सूना हो जाता, निस्तब्ध। केवल हंस और बगुले पूरे समय डुबकी मारकर छोटे-छोटे घोंघे चुनकर खाते और चोंच हिलाते हुए बड़े व्यस्त भाव से पीठ के पंख साफ करते रहते।

पुष्करिणी के निर्जन हो जाने पर उसी बरगद की छाँह मेरे मन पर पूरी तरह अधिकार कर लेती। उसकी जड़ के चारों तरफ फैली हुई बहुत-सी सोरें एक विचित्र अन्धकारमयी जटिलता की सृष्टि करती थीं। उसी कुहासे के बीच, संसार के उसी एक अस्पष्ट कोने में जैसे भ्रम के कारण विश्व का नियम ठिठक-सा गया हो। संयोग से उसी जगह जैसे स्वप्न-युग का एक अद्भुत साम्राज्य विधाता की आँख बचाकर आज भी दिन की रोशनी के बीच बाकी रह गया है। मन की आँखों से मैं उस जगह पर किसको देखता और उनके क्रिया-कलाप कैसे होते, आज स्पष्ट भाषा में बतला सकना असम्भव है। इसी वट को सामने रखकर एक दिन मैंने लिखा था—

निशिदिश दाँड़िये आछो माथार्यं लये जट,
छोटो छेलेटि मने कि पड़े ओ गो प्राचीन वट।

लेकिन हाय वह वट अब कहाँ है! जो तालाब इस वनस्पति के अभीष्ट देवता का दर्पण था वह भी अब नहीं है जो लोग स्नान करते थे उनमें से भी अनेक इसी अन्तर्हित वटवृक्ष की छाया का ही अनुसरण कर गए हैं। और वही बालक आज बड़ा होकर अपने चारों ओर नाना प्रकार की जटाएँ छितराकर भीषण जटिलताओं के बीच सुदिन और दुर्दिन की धूप-छाँह का लेखा-जोखा कर

रहा है।

हमें घर के बाहर जाना मना था, यहाँ तक कि घर के भीतर भी हम सब जगह जहाँ जी चाहे जा-आ नहीं सकते थे। इसीलिए मैं विश्व-प्रकृति को लुक-छिपकर देखता था। 'बाहर' कहकर जो एक अनंत-प्रसारित पदार्थ था वह मेरे लिए अप्राप्य था, लेकिन उसका रूप, शब्द, गंध खिड़की-दरवाजे की अनेक दरारों और संधियों के बीच से इधर-उधर से आकर मुझे छू जाता और मैं चौंक पड़ता। वह जैसे ईंट-पत्थर की बाधाओं के बीच से तरह-तरह के इशारे करके मेरे साथ खेलने की चेष्टाएँ करता। वह मुक्त था, मैं बंदी था—मिलन सम्भव नहीं था इसीलिए प्रणय का आकर्षण प्रबल था। आज वह खड़िया से खींची हुई लक्ष्मण-रेखा पुँछ गई है लेकिन तो भी घेरा मिटा नहीं है। दूर अब भी दूर है, बाहर अब भी बाहर ही है। बड़ा होकर जो कविता लिखी थी वही याद आ रही है—

खाँचार पाखि छिल सोनार खाँचाटिते,
  बनेर पाखि छिल बने।
एकदा कि करिया मिलन हल दोंहें,
  की छिल विधातार मने।
बनेर पाखि बले, 'खाँचार पाखि' आय,
  बनेते याइ 'दोंहे मिले।'
खाँचार पाखि बले, 'बनेर पाखि' आय,
  खाँचाय थाकि निरिबिले।
बनेर पाखि बले, 'ना'
आमि शिकले धरा नाहि दिव।'
खाँचार पाखि बले, 'हाय',
आमि केमने बने बाहिरिब।'

हमारी हवेली के भीतर की छत की मुँडेर मेरे सिर से ऊपर थी। जब जरा खड़ा हुआ और नौकरों का शासन थोड़ा शिथिल हो गया, जब घर में नई बहू आई, और अवकाश के संगी के रूप में मुझे उसके निकट प्रश्रय मिलने लगा, तब किसी-किसी दिन दोपहर को उस छत पर पहुँच जाता। उस समय घर में सब लोगों का खाना-पीना खत्म हो जाता, गृह-कर्म थम जाता; अन्तःपुर विश्राम में निमग्न होता, गीली साड़ियाँ छत की कार्निस से झूलती रहती, आँगन के कोने मे पड़े हुए झूठे भात पर कौवों की सभा जुटी होती। इसी निर्जन अवकाश में,

दीवारों की दरार के भीतर से इस पिंजरे के पंछी के साथ उस बन के विहग की परस्पर चोंच में चोंच डालकर बातें होतीं। खड़ा होकर देखता रहता—दिखाई पड़ती हमारी हवेली के भीतर वाले बगीचे के नारियल के पेड़ों की कतार। उन्हीके बीच से दिखाई पड़ता 'सिंगी-बागान तालाब' और उसी तालाब के किनारे हमको दूध देने वाली तारा ग्वालिन की गोशाला थी, और दूर पर दिखाई पड़तीं पेड़ों की फुनगियों से मिली हुई कलकत्ता शहर की तरह-तरह की छोटी-बड़ी, ऊँची-नीची छतों की कतारें, जो दोपहर की धूप में अपने निखार को छिटकाती हुई पूर्व-दिगंत की पाण्डुवर्ण नीलिमा के बीच दौड़ती चली गई हैं। उन सब दूर-दूर के घरों की छतों पर बना हुआ एक-एक कमरा दूर से ही दिखाई पड़ता, ऐसा लगता कि जैसे वे अपनी निश्चल तर्जनी उठाकर आँखें बंद करके अपने भीतर का रहस्य संकेतों की भाषा में मुझको बतलाने की चेष्टा कर रहे हों। भिखारी जिस तरह महल के बाहर खड़े होकर राज-भंडारों में बंद संदूकों में एक-से-एक रत्न-माणिक की कल्पना करता है मैं भी उसी तरह उन अनजान घरों को ऊपर से नीचे तक कैसे-कैसे खेल-तमाशों और कैसी स्वाधीनता से भरा हुआ समझता था, यह मैं बतला नहीं सकता। सिर के ऊपर आकाश-व्यापी तीक्ष्ण प्रकाश था, उसीके दूरतम प्रदेश से उन कोठों की सूक्ष्म तीक्ष्ण पुकार मेरे कानों में पहुँचती और 'सिंगी-बागान' के पास की गली से दोपहर में सोये हुए निस्तब्ध घरों के सामने से बिसाती लय-सुर के साथ 'लो चूड़ी लो, खिलौना लो' की हाँक लगा जाता—और उससे मेरा मन उदास हो उठता।

पितृदेव अक्सर यों ही इधर-उधर घूमा करते, कभी घर पर न रहते। तीसरे तल्ले पर उनका कमरा बंद रहता। साँकल खोलकर, हाथ अन्दर डालकर सिटकिनी खींचकर दरवाजा खोलता, और उनके कमरे के दक्षिणी हिस्से में एक सोफा था—उसी पर चुपचाप बैठकर पढ़ते हुए मेरी दोपहर कटती। एक तो बहुत दिन का बंद कमरा, दूसरे प्रवेश निषिद्ध, फलस्वरूप उसमें रहस्य की एक भारी गन्ध थी। उसके बाद ही सामने की सूनी खुली हुई छत पर चिलचिलाती हुई धूप फैली होती, उससे भी मन उदास हो जाता। इसके अलावा एक और आकर्षण था। तब तक शहर के सब घरों में पानी का नल हो गया था। तब तक नई महिमा की उदारता से बंगाली मुहल्ले में भी उनकी कृपणता शुरू नहीं हुई थी। शहर के उत्तर और दक्षिण में उनकी कृपा समान रूप से थी। उसी पानी के नल के सतजुग में तीसरे तल्ले पर भी मेरे पिता के नहाने के कमरे में पानी

पहुँचता था। झंझरी खोलकर समय न होने पर भी मैं जी खोलकर नहा लेता था। वह नहाना आराम के लिए नहीं, सिर्फ अपनी इच्छा की लगाम छोड़ देने के लिए होता। एक ओर मुक्ति थी और दूसरी ओर बंधन की आशंका, इन्हीं दो के मेल से कम्पनी के पानी-कल की धारा मेरे मन पर पुलक-शर बरसाती।

बाहर का सम्पर्क मेरे लिए कितना ही दुर्लभ क्यों न हो, बाहर का आनन्द शायद किसी कारण मेरे लिए सहज था। उपकरण बहुत होने से मन कुंठित हो जाता है, वह केवल बाहर की ओर ही आँख लगाये बैठा रहता है और यह भूल जाता है कि आनन्द की लहर में बाहर की अपेक्षा भीतर का आयोजन ही अधिक बड़ा है। शिशु-काल में मनुष्य की पहली शिक्षा यही है। तब उसका सम्बल अल्प और तुच्छ होता है लेकिन आनन्द-लाभ के लिए उससे अधिक और किसी चीज की उसको जरूरत नहीं होती। दुनिया में जो अभागे बच्चे खेल की चीजें कम पाते हैं उनका खेल धूल-मिट्टी हो जाता है।

घर के भीतर हम लोगों का जो बाग था उसको बाग कहना बात को बहुत-कुछ बढ़ाकर कहना होगा। एक बड़ा नीबू (पोमेलो), एक बेर का पेड़, एक विलायती आमड़ा और एक पाँत नारियल के पेड़ों की, यही उसका स्वरूप था। बीच में था एक गोल पक्का चबूतरा। उसकी दरारों में से घास और तरह-तरह की वनस्पतियों ने अनधिकार प्रवेश करके अपनी विजय-पताका गाड़ रखी थी। जो फूल के पौधे अनादर पाने पर भी मरना नहीं चाहते वही माली के नाम को कलंक से बचाते हुए निरभिमान भाव से यथा-शक्ति अपना कर्तव्य पूरा करते रहते। उत्तर के कोने में एक ढेंकीघर था, वहाँ गृहस्थी के कार्यों के बीच बीच अन्त:पुरिकाएँ जुटातीं। कलकत्ता में जनपदीय जीवन की सम्पूर्ण पराजय स्वीकार करके यह ढेंकीघर न जाने किस दिन चुपचाप मुँह ढाँककर अन्तर्धान हो गया। आदि मानव का स्वर्गोद्यान हमारे इस बगीचे से अधिक सुसज्जित था, मैं ऐसा विश्वास नहीं करता। क्योंकि आदि-मानव का स्वर्ग-लोक आवरणहीन था—आयोजनों द्वारा उसने अपने को ढक नहीं लिया था। ज्ञान-वृक्ष का फल खाने के बाद से जब तक कि वह उस फल को पूरी तरह हजम नहीं कर लेता तब तक मनुष्य की साज-सज्जा की आवश्यकताएँ बढ़ती ही जा रही हैं। हवेली के भीतर का यह बगीचा हमारा वही स्वर्ग का बगीचा था—मेरे लिए वही काफी था। मुझे अच्छी तरह याद है, शरद काल की भोर वेला में नींद टूटते ही मैं इस बगीचे में पहुँच जाता। घास-पत्ती में से एक शिशिर में पगी हुई गंध आती और स्निग्ध

बचपन के दिनों की ओर जब देखता हूँ तब सबसे ज्यादा यही बात मन मे आती है कि तब यह दुनिया और यह जीवन रहस्य से भरा हुआ था। सब जगह-जैसा ऐसा कुछ था जो अकल्पनीय था और कब उसे देखा जा सकेगा उसका कोई ठिकाना नही, यही बात रोज मन में जागती। प्रकृति जैसे हाथ की मुट्ठी बन्द करके हँसती हुई पूछती, 'बतलाओ तो इसमें क्या है।' क्या नही हो सकता, यह मैं निश्चयपूर्वक कह न पाता।

मुझे अच्छी तरह याद है, दक्षिण के बरामदे के एक कोने में शरीफे का एक बीज गाड़कर मैं रोज उसमें पानी देता। उस बीज से पेड़ भी हो सकता है यह बात सोचकर मेरे मन में बड़ा विस्मय और कुतूहल जागता। शरीफे के बीज से आज भी अकुर निकलता है, लेकिन उसके साथ-साथ मन में विस्मय अब अकुरित नही होता। यह शरीफे के बीज का दोष नही, मन का ही दोष है। गुणदादा के बगीचे के क्रीड़ा-शैल से जो पत्थर चोरी करके हम अपने पढ़ने के कमरे के एक कोने मे नकली पहाड़ बनाने में जुट गए थे—उसीके बीच-बीच फूलों के पौधो के बीज गाड़कर उनकी अतिशय सेवा का ऐसा उपद्रव किया था कि वे अगर चुप थे तो इसीलिए कि पेड़-पौधे थे, और मर जाने मे उनको देर न लगती। इस पहाड के प्रति हमारे मन मे कैसा आनन्द और कैसा विस्मय था, उसको बतला पाना सम्भव नही। हमारे मन में विश्वास था कि हमारी सृष्टि गुरुजनो के लिए भी निश्चय ही आश्चर्य की सामग्री होगी, उस विश्वास की परीक्षा लेने के लिए हम लोग जिस रोज गये उसी रोज हमारे कमरे के कोने का पहाड़ अपने पेड़-पौधो समेत न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गया। स्कूल के कमरे का कोना पहाड़ बनाने के लिए उपयुक्त स्थान नही है, इसकी शिक्षा इस प्रकार अकस्मात् और कठोर रूप में पाकर हमे बहुत दुःख हुआ था। हमारे खेल-तमाशे के साथ बड़ों की इच्छा का ऐसा अन्तर होगा, इसे याद करके कमरे से हटाये गए पत्थरो का बोझ हमारे मन पर आकर बैठ गया।

उन दिनों इस पृथ्वी नाम की वस्तु का रस कैसा निबिड़, कैसा गहरा था, यही बात बार-बार मन में आती है। क्या मिट्टी, क्या पानी, क्या पेड़-पौधे, क्या आकाश, सब जैसे उन दिनों हमसे बात करते—मन को किसी तरह उदासीन न रहने देते। पृथ्वी को केवल ऊपर से हम देखते है, उसके भीतरी स्तर को नही देख पाते, इस बात का आघात न जाने कितने दिन तक मेरे मन को लगता रहा, मैं बतला नही सकता। किसी उपाय से धरती के ऊपर वाले इस मटमैले रंग के

नवीन सूर्य को लेकर हमारी पूरब की दीवार के ऊपर से नारियल के पत्तों की काँपती हुई झालर के नीचे प्रभात आकर अपना मुँह आगे बढ़ा देता।

हमारे घर के उत्तरी हिस्से में और एक खण्ड भूमि पड़ी हुई है, आज तक हम लोग उसको गोलघर कहते हैं। इस नाम से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में वहाँ पर साल-भर का अनाज गोल-गोल ढेर बनाकर रखा जाता होगा—तब शहर और गाँव छोटी उम्र के भाई-बहन की तरह बहुत-कुछ एक-सा चेहरा लेकर सामने आते थे, आज दीदी के साथ भाई का मेल खोज पाना ही कठिन है।

छुट्टी के रोज सुयोग पाकर मैं इस गोलघर में पहुँच जाता। मैं खेलने के लिए जाता था, यह कहना ठीक न होगा। खेल से अधिक इस जगह का ही खिंचाव मेरे लिए ज्यादा था। इसका कारण क्या था, यह बतलाना कठिन है। शायद घर के एक कोने मे एक निभृत खाली पड़ी हुई जगह होने के कारण ही मेरे लिए उसमें न जाने कैसा एक रहस्य था। वह हमारे रहने की जगह न थी, व्यवहार में आने वाला घर न था, काम की जगह भी वह न थी, वह तो घर के बाहर था, दैनंदिन प्रयोजन की कोई छाप उस पर न थी, वह एक शोभा-हीन अनावश्यक परती जमीन थी, कोई वहाँ फूल के पौधे भी नही लगाता था, इसीलिए उस उजाड़ जगह के बारे मे जो मनचाही कल्पना कर लेने में बच्चे के मन को कोई बाधा न होती। रखवालों के शासन में जरा-सी साँस पाकर जिस दिन किसी तरह उस जगह पहुँच पाता वह दिन छुट्टी-जैसा मालूम होता।

घर में और भी एक जगह थी, वह कहाँ थी, मैं आज तक पता नही लगा पाया हूँ। मेरी समवयस्का, खेल की संगिनी एक लड़की उसको 'राजा की हवेली' पुकारती थी। कभी-कभी उसके मुंह से मैं सुनता, "आज मैं वहाँ गई थी।" लेकिन ऐसा सुयोग एक दिन भी नही हुआ कि मैं भी उसके साथ जा पाता। वह बड़ी अद्भुत जगह थी, वहाँ खेल जैसा अद्भुत होता था खेल की सामग्री भी वैसी ही अनूठी रहती। ऐसा लगता है कि वह पास है, पहले या दूसरे तले पर कहीं एक जगह थी, लेकिन किसी तरह वहाँ जा न पाता था। कितनी बार उस लड़की से मैंने पूछा था, "राजा की हवेली क्या हमारे घर के बाहर है?" उसने कहा था, "नही, इसी घर में है।" मैं विस्मित होकर बैठकर सोचता, घर का एक-एक कोना तो मैंने देखा है लेकिन वह जगह कहाँ है। राजा कौन है यह मैंने किसी दिन पूछा भी नही, राजत्व कहाँ है वह आज तक अनजान रह गया है—केवल इतना जान पाया कि हमारे घर मे ही वह 'राजा की हवेली' है।

बचपन के दिनों की ओर जब देखता हूँ तब सबसे ज्यादा यही बात मन मे आती है कि तब यह दुनिया और यह जीवन रहस्य से भरा हुआ था। सब जगह-जैसा ऐसा कुछ था जो अकल्पनीय था और कब उसे देखा जा सकेगा उसका कोई ठिकाना नहीं, यही बात रोज मन में जागती। प्रकृति जैसे हाथ की मुट्ठी बन्द करके हँसती हुई पूछती, 'बतलाओ तो इसमें क्या है।' क्या नही हो सकता, यह मैं निश्चयपूर्वक कह न पाता।

मुझे अच्छी तरह याद है, दक्षिण के बरामदे के एक कोने में शरीफे का एक बीज गाड़कर मैं रोज उसमें पानी देता। उस बीज से पेड़ भी हो सकता है यह बात सोचकर मेरे मन मे बड़ा विस्मय और कुतूहल जागता। शरीफे के बीज से आज भी अंकुर निकलता है, लेकिन उसके साथ-साथ मन में विस्मय अब अंकुरित नही होता। यह शरीफे के बीज का दोष नही, मन का ही दोष है। गुणदादा के बगीचे के क्रीड़ा-शैल से जो पत्थर चोरी करके हम अपने पढ़ने के कमरे के एक कोने में नकली पहाड़ बनाने में जुट गए थे—उसीके बीच-बीच फूलो के पौधों के बीज गाड़कर उनकी अतिशय सेवा का ऐसा उपद्रव किया था कि वे अगर चुप थे तो इसीलिए कि पेड़-पौधे थे, और मर जाने में उनको देर न लगती। इस पहाड़ के प्रति हमारे मन में कैसा आनन्द और कैसा विस्मय था, उसको बतला पाना सम्भव नही। हमारे मन में विश्वास था कि हमारी सृष्टि गुरुजनो के लिए भी निश्चय ही आश्चर्य की सामग्री होगी, उस विश्वास की परीक्षा लेने के लिए हम लोग जिस रोज गये उसी रोज हमारे कमरे के कोने का पहाड़ अपने पेड़-पौधों समेत न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गया। स्कूल के कमरे का कोना पहाड़ बनाने के लिए उपयुक्त स्थान नही है, इसकी शिक्षा इस प्रकार अकस्मात् और कठोर रूप मे पाकर हमें बहुत दुःख हुआ था। हमारे खेल-तमाशे के साथ बड़ों की इच्छा का ऐसा अन्तर होगा, इसे याद करके कमरे से हटाये गए पत्थरों का बोझ हमारे मन पर आकर बैठ गया।

उन दिनों इस पृथ्वी नाम की वस्तु का रस कैसा निबिड़, कैसा गहरा था, यही बात बार-बार मन में आती है। क्या मिट्टी, क्या पानी, क्या पेड़-पौधे, क्या आकाश, सब जैसे उन दिनों हमसे बात करते—मन को किसी तरह उदासीन न रहने देते। पृथ्वी को केवल ऊपर से हम देखते हैं, उसके भीतरी स्तर को नहीं देख पाते, इस बात का आघात न जाने कितने दिन तक मेरे मन को लगता रहा, मैं बतला नही सकता। किसी उपाय से धरती के ऊपर वाले इस मटमैले रंग के

मलाट को खोलकर फेंका जा सकता है, इसके कितने ही प्लैन मैंने मन में ठहराये थे। मैं सोचता कि अगर एक के बाद एक कई बाँस ठोक-ठोककर गाड़ दिये जायँ तो इस तरह बाँसों के गड़ जाने पर धरती के गहरे-से-गहरे स्तर का परिचय एक तरह से पाया जा सकता है। माघोत्सव के उपलक्ष्य में हमारे आँगन के चारों तरफ लकड़ी के खम्भों की कतार गाड़कर उसमें झाड़ लटकाये जाते। माघ की प्रतिपदा से ही इसके लिए आँगन की मिट्टी कटनी शुरू हो जाती। सभी जगह उत्सव के उपक्रम का आरम्भ बच्चों के लिए अत्यन्त कुतूहलपूर्ण होता है लेकिन मेरे लिए विशेष रूप से इस मिट्टी काटने में एक खिंचाव था। हर साल ही मैंने मिट्टी को काटे जाते देखा है—देखा है कि गड्ढा बड़ा होते-होते धीरे-धीरे पूरा आदमी उस गड्ढे के भीतर समा गया है, तो भी उसमें किसी बार ऐसा कुछ दिखाई नहीं दिया जो किसी राजा या मन्त्री के पुत्र की पाताल-यात्रा सफल कर सके, तब भी हर बार मुझको ऐसा लगता कि जैसे किसी रहस्य-मंजूषा का ढक्कन उठाया जा सकता है। मुझे ऐसा लगता कि बस जरा सा और खोदने से ही काम हो जायगा—लेकिन साल के बाद साल बीतते गए, वह 'बस जरा-सा' और किसी बार खोदा नहीं गया। परदे को थोड़ा-सा खींचा तो गया, लेकिन उठाया नहीं गया। मैं सोचता, बड़े लोग तो इच्छा करने से ही सब-कुछ करा सकते हैं, तब क्यों वह लोग नीचे तक पहुँचे बिना इस तरह बीच में ही थमकर बैठ जाते हैं—हम जैसे बच्चों की आज्ञा अगर मानी जाती तो पृथ्वी का गूढ़तम संवाद इस प्रकार उदासीन भाव से मिट्टी के नीचे दबा न रहने पाता और, जहाँ आकाश की नीलिमा है उसीके पीछे आकाश का समस्त रहस्य है, यह विचार भी मन को धपरा देता। जिस दिन 'बोधोदय'[1] पढ़ाने के उपलक्ष्य मे पंडित महाशय ने कहा, आकाश का यह नीला गोलक, उस तक पहुँचने में किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है, तब मन में कैसा एक असम्भव आश्चर्य जागा था। उन्होंने कहा था, "सीढ़ी के ऊपर सीढ़ी लगाकर ऊपर उठते जाओ, तुम्हारे सिर के लिए कहीं कोई रुकावट नहीं है।" मैंने सोचा कि सीढ़ी के बारे में वे अनावश्यक कृपणता कर रहे हैं। मैंने केवल सुर चढ़ाकर कहना शुरू किया, और सीढ़ी, और सीढ़ी, और सीढ़ी, बाद को जब पता चला कि सीढ़ी की संख्या बढ़ाने से कोई लाभ नहीं तब मैं स्तम्भित होकर बैठकर सोचने लगा और मेरे मन में आया कि यह एक ऐसा

---

१. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर-प्रणीत।

आश्चर्यजनक संवाद है जो पृथ्वी पर वे ही जानते है जो मास्टर मोशाइ हैं, दूसरा कोई नहीं जानता।

नार्मल स्कूल

मैं जब ओरियण्टल सेमीनरी में पढता था तब केवल मात्र छात्र होकर रहने का जो हीनता-बोध है उसको मिटाने का एक उपाय मैंने ढूंढा था। अपने बरामदे के एक खास कोने में मैंने भी एक क्लास खोल रखी थी। रेलिंग ही मेरे छात्र थे। घड़ी हाथ में लेकर और चौकी पर उनके सामने बैठकर मैं मास्टरी करता। उन रेलिंगो में कौन अच्छा लड़का है और कौन बुरा वह भी बिलकुल तय हो गया था। यहाँ तक कि नेक रेलिंग और बदमाश रेलिंग, समझदार रेलिंग और बुद्धू रेलिंग उन सबकी मुखश्री का अन्तर मैं जैसे स्पष्ट रूप से देख पाता। दुष्ट रेलिंगों पर बार-बार मेरी लाठी पड़ने से उनकी ऐसी दुर्दशा हो गई थी कि अगर उनमें जान होती तो वे जान देकर छुटकारा पा लेते। लाठी की चोट से उनकी शक्ल जितनी ही बिगड़ती जाती उनके ऊपर मेरा गुस्सा उतना ही बढता जाता। मैं समझ ही न पाता था कि किस उपाय से उनको यथेष्ट दण्ड दिया जा सकता है। अपने उस नीरव क्लास पर मैंने कैसी भयंकर मास्टरी की है, इसकी गवाही देने के लिए आज कोई बचा नही है। उस समय के मेरे उन काठ के बने छात्रों के स्थान पर आज लोहे के रेलिंग भरती हो गए है—मेरे बाद के लोगों में उनकी मास्टरी का भार आज भी किसी ने ग्रहण नही किया है और करता भी तो उस समय की शासन-प्रणाली से आज कोई फल न होता।···मैंने खूब देखा है, शिक्षकों की दी हुई थोड़ी-सी भी विद्या सीखने में बच्चे बड़ा विलम्ब करते हैं, लेकिन शिक्षकों की भाव-भंगी सीख लेने में उनको कोई कष्ट नही होता। शिक्षादान की क्रिया में जो सब अविचार, अधैर्य, क्रोध, पक्षपात था, दूसरे शिक्षणीय विषयों की अपेक्षा कहीं अधिक सहज रूप मे मैंने उन्हें अपना लिया था। संतोष की बात इतनी ही है कि काठ के रेलिंग-जैसे नितात मौन और अचल पदार्थ को छोड़कर और किसी चीज के ऊपर उस मत्र बर्बरता का प्रयोग करने का उपाय उस दुर्बल अवस्था मे मेरे हाथ न था; लेकिन रेलिंग-कक्षा के साथ छात्रों की कक्षा का अन्तर काफी होते हुए मुझमें और संकीर्ण-चित्त शिक्षकों के मनोविज्ञान में लेश मात्र भी अन्तर न था।

मेरा ख्याल है मैं ओरियण्टल सेमीनरी में बहुत दिन न रहा। उसके बाद

नार्मल स्कूल में भरती हुआ। तब मेरी उम्र बहुत कम थी। एक बात मुझे याद आती है। विद्यालय का कार्य शुरू होने के पहले गैलरी में सब लड़के बैठकर गाने के सुर मे तरह-तरह की कविताओ का पाठ किया करते थे। शिक्षा के साथ-साथ लडको के मनोरंजन का भी थोडा-बहुत आयोजन होना चाहिए, इसके पीछे यही भाव था। लेकिन गाने सब अंग्रेजी मे होते थे, उनके सुर भी वैसे ही होते थे—मैं कुछ समझ न पाता था कि हम कौन-सा मंत्र पढ रहे हैं और कौन-सा अनुष्ठान कर रहे हैं। हर रोज इसी एक निरर्थक घिसे-पिटे कार्य में योग देना हमारे लिए सुखकर न था। तो भी स्कूल के कर्त्ता-धर्ता उन दिनों की किसी एक थियरी का सहारा लेकर खूब निश्चिन्त थे कि वे लड़को के आनन्द का आयोजन कर रहे हैं; लेकिन प्रत्यक्ष रूप से लडको की ओर देखकर उसके फलाफल का विचार करना बिलकुल निरर्थक समझते थे। जिस प्रकार उनकी थियरी के अनुसार आनन्द पाना लड़को का एक कर्त्तव्य था, उसी प्रकार न पाना अपराध था। इसीलिए जिस अंग्रेजी किताब से उन्होंने अपनी थियरी ली थी उसीसे सब अंग्रेजी गाने लेकर वे बहुत निश्चिन्तता अनुभव करते थे। हमारे मुंह मे वह अंग्रेजी किस भाषा का रूप ले लेती थी, इसकी आलोचना शब्द-तत्त्वविदों के लिए निस्संदेह मूल्यवान होगी। केवल एक लाइन मुझे याद आ रही है—

कलोकी पुलोकी सिंगिल मेलालिं मेलालिं मेलालिं

बहुत सोचने-विचारने पर इसके मूल का थोड़ा-बहुत उद्धार कर सका हूँ—लेकिन 'कलोकी' किसका रूपान्तर है यह मैं आज तक समझ नही सका। बाकी अंश मेरी समझ में यह था—

Full of glee, singing merrily merrily merrily.

धीरे-धीरे नार्मल स्कूल की स्मृति जहाँ धुँधलके को पार करके 'अधिक साफ' हुई वहाँ उसका कोई अंश तनिक भी मधुर नही। लड़को के साथ अगर मैं मिल-जुल पाता तो विद्या सीखने का दुःख उतना असह्य न जान पड़ता। लेकिन वह किसी तरह सम्भव नही हुआ। अधिकांश लड़को का संस्पर्श इतना अशुचि और अपमानजनक था कि छुट्टी के समय मैं नौकर को लेकर दुतल्ले के रास्ते की ओर की एक खिड़की के पास सबसे अलग बैठकर काट देता। मन-ही-मन हिसाब लगाता, एक साल, दो साल, तीन साल—और न जाने कितने साल इसी तरह काटने होंगे। शिक्षकों में एक की बात मुझे याद आती है। वह ऐसी कुत्सित भाषा का व्यवहार करते थे कि उनके प्रति अश्रद्धा से मैं उनके किसी प्रश्न का उत्तर न

देता। वर्ष-भर उनकी क्लास में मैं सब लड़कों के पीछे चुपचाप बैठा रहता। जब पढ़ाई चलती होती उस समय मैं पृथ्वी की अनेक दुरूह समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा किया करता। एक समस्या मुझे याद है। अस्त्रहीन होने पर भी शत्रु को किस प्रकार युद्ध में हराया जा सकता है, यही मेरी गहरी चिंता का विषय था। उस क्लास की पढ़ाई-लिखाई की गुंजन-ध्वनि के बीच बैठकर मैं बराबर इसी चीज के बारे में सोचा करता, यह आज भी मुझे याद है। मैं सोचता, कुत्ते, बाघ आदि हिंस्र जन्तुओं को खूब अच्छी तरह लिखा-पढ़ाकर पहले उन्हें युद्ध-क्षेत्र में अगर पाँतें बनाकर खड़ा कर दिया जाय तो लड़ाई की महफिल बड़े मजे में जम सकती है, फिर अपने बाहु-बल से काम में जुटने पर विजय प्राप्त करना बिलकुल असाध्य न होगा। मन-ही-मन इस अत्यन्त सहज ढंग की रण-सज्जा का चित्र मेरी कल्पना में उभरता तो युद्ध-क्षेत्र में अपने पक्ष की विजय बिलकुल सुनिश्चित दिखाई पड़ती। जब हाथ में कार्य न था तब काम के अनेक अद्भुत सहज उपाय मैंने ढूँढ निकाले थे। जब काम करने का समय आया तो देखता हूँ कि जो कठिन था वह अब भी कठिन ही है, जो दुस्साध्य था वह अब भी दुस्साध्य ही है। इसमें कुछ असुविधा अवश्य है, किन्तु उसको सहज बनाने की चेष्टा करने पर असुविधा और सात गुनी बढ़ जाती है।

इसी तरह उस क्लास में जब एक साल कट गया तब मधुसूदन वाचस्पति के सामने हमारी बंगला की वार्षिक परीक्षा हुई। मुझे सब लड़कों से ज्यादा नम्बर मिले। हमारी क्लास के शिक्षक ने अधिकारियों को जाकर बतलाया कि परीक्षक ने मेरे साथ पक्षपात किया है। मेरी परीक्षा दुबारा हुई। इस बार स्वयं सुपरिन्टेण्डेण्ट परीक्षक के पास चौकी लेकर बैठे। सौभाग्यवश इस बार भी मुझे उच्च स्थान मिला।

कविता-रचना का आरम्भ

मेरी उम्र तब सात-आठ साल से ज्यादा न होगी। मेरे एक भाजे श्रीयुत ज्योतिप्रकाश उम्र में मुझसे काफी बड़े थे। वह उन दिनों अंग्रेजी साहित्य में प्रवेश करके खूब उत्साह के साथ 'हैमलेट' की स्वगत-उक्तियों का पाठ किया करते थे। मेरे-जैसे बच्चों को कविता लिखना सिखाने के लिए उन्हें एकाएक क्यों उत्साह हुआ, मैं नहीं कह सकता। एक रोज दोपहर के समय अपने कमरे में मुझे ले जाकर उन्होंने कहा, "तुमको पद्य लिखना होगा।" यह कहकर उन्होंने मुझको पयार छंद

में चौदह अक्षरों के योगायोग की रीति-पद्धति समझा दी।

अब तक मैंने पद्य नाम की चीज को सिर्फ छपी हुई किताबों में देखा था। कहीं कट-कुट नहीं, सोचना-विचारना नहीं, किसी जगह मर्त्यजनोचित दुर्बलता का कोई चिह्न न दिखाई पड़ता था। यह पद्य स्वयं अपनी चेष्टा से लिखा जा सकता है, ऐसी कल्पना करने का भी साहस मुझको न होता था। एक दिन हमारे घर में चोर पकड़ा गया। बहुत डरते-डरते, लेकिन तो भी बड़े कौतूहल के साथ मैं उसको देखने गया। मैंने देखा कि वह बिलकुल साधारण आदमी-जैसा ही है। ऐसी हालत में दरवान ने जब उसको मारना शुरू किया तो मेरे मन में बड़ी गहरी पीड़ा हुई। पद्य के सम्बन्ध में भी मेरी ऐसी ही दशा हुई। थोड़े से शब्दों को अपने हाथ में लेकर उनका जोड़-तोड़ मिलाने से जब वही प्यार हो गया तो पद्य-रचना की महिमा के सम्बन्ध में मेरा मोह और टिक न सका। आज देखता हूँ पद्य बेचारे के ऊपर भी मार सही नहीं जाती। बहुत बार दया भी आती है, लेकिन मारे बिना काम भी नहीं चलता; हाथ खुजलाने लगता है। चोर की पीठ पर भी कितने लोगों के कितने लात-घूँसे न पड़े होंगे।

भय जब एक बार टूट गया तब फिर मुझे कौन रोक सकता था। किसी कर्मचारी की कृपा से मैंने एक नीले कागज की बही जुटाई। उसमें अपने हाथ से पेंसिल से बहुत-सी छोटी-बड़ी लाइनें खींचकर बड़े-बड़े कच्चे अक्षरों में मैंने पद्य लिखना शुरू किया।

हिरन का बच्चा नये सींग निकलने के समय जिस तरह इधर-उधर धक्का मारता चलता है, नूतन काव्योद्गम को लेकर मैंने भी उसी तरह उत्पात मचाना शुरू किया। विशेषतः मेरे दादा ने मेरी इन सब रचनाओं का गर्व अनुभव करते हुए श्रोताओं को इकट्ठा करने के उत्साह में लोगों की नाक में दम कर दिया। मुझे याद आता है, एक दिन इकतल्ले पर हमारी जमींदारी कचहरी के कर्मचारियों के सामने कवित्व की घोषणा करके हम दोनों भाई बाहर निकल रहे थे, उसी समय उन दिनों के 'नेशनल पेपर' के एडिटर श्रीयुत नवगोपाल मित्र ने सबको छोड़कर केवल हमारे घर में पदार्पण किया था। दादा ने फौरन उनको गिरफ्तार करके कहा, "नवगोपाल बाबू, रवि ने कविता लिखी है, सुनिए न!" सुनाने में देरी नहीं हुई। काव्य-ग्रंथावली का बोझ तब तक भारी नहीं हुआ था। कवि-कीर्ति अनायास ही उन दिनों कवि के कुरते की हर पाकेट में फिरती रहती थी। तब मैं स्वयं ही लेखक था, मुद्रक था, प्रकाशक था, ये तीनों ही रूप एक में

मिले हुए थे। केवल विज्ञापन देने के काम में मेरे दादा मेरे सहयोगी थे। मैंने कमल पर एक कविता लिखी थी, वही मैंने ड्योढ़ी के सामने खड़े होकर उत्साहित उच्च कंठ से नवगोपाल बाबू को सुना दी। उन्होंने कुछ हँसकर कहा, "बहुत अच्छी बनी है, लेकिन उस 'द्विरेफ' शब्द का क्या मतलब है।"

'द्विरेफ' और 'भ्रमर' दोनों ही तीन अक्षरों के थे, भ्रमर शब्द का इस्तेमाल करने से छंद का कोई अनिष्ट न होता। मुझे याद नहीं है कि मैंने वह दुरूह शब्द कहाँ से पाया। सारी कविता में उसी शब्द पर मेरी आशा, मेरा भरोसा सबसे ज्यादा था। दफ्तरखाने के कर्मचारियों के बीच निश्चय ही उस शब्द का विशेष फल मुझे मिला था। लेकिन नवगोपाल बाबू को उससे मैं तनिक भी डिगा न पाया। यहाँ तक कि वह हँस पड़े। मुझे पक्का विश्वास हो गया कि नवगोपाल बाबू समझदार आदमी नहीं हैं। उनको फिर कभी मैंने कविता नहीं सुनाई। उसके बाद मेरी उम्र बहुत बढ़ी; लेकिन कौन समझदार है और कौन नहीं; इसकी परख करने की प्रणाली में कोई खास परिवर्तन हुआ हो ऐसा मुझे नहीं लगता। जो हो, नवगोपाल बाबू हँसे जरूर, लेकिन 'द्विरेफ' शब्द मधुपान-मत्त भ्रमर के ही समान अपने स्थान पर अविचलित रहा।

पितृ देव

मेरे जन्म के कई साल पहले से पिताजी प्रायः देशाटन में ही लगे रहते थे। यह भी कह सकते हैं कि बचपन में वे हमारे लिए अपरिचित थे। बीच-बीच में वे कभी अकस्मात् घर आ जाते, अपने साथ बाहरी नौकर लेकर आते, उनसे दोस्ती करने के लिए मेरे मन में बड़ी उत्सुकता जागती। एक बार लेनू नाम का एक पंजाबी छोकरा उनके साथ आया था। उसने हम लोगों से जैसा आदर पाया वह स्वयं रणजीतसिंह के लिए भी कम न ठहरता। एक तो वह अ-बंगाल, ऊपर से पंजाबी—इसी चीज ने हमारे मन को चुरा लिया था। पुराणों के भीम-अर्जुन के प्रति जैसी श्रद्धा थी, इस पंजाबी जाति के प्रति भी मेरे मन में वैसा ही कुछ संभ्रम का भाव था। ये लोग योद्धा होते हैं—किसी-किसी लड़ाई में ये लोग हारे ज़रूर हैं; लेकिन उसको भी हमने इनके शत्रुओं का अपराध ही माना है। उसी जाति के लेनू को अपने घर में पाकर मैंने खूब गर्व का अनुभव किया था। भाभी के कमरे में शीशे से ढका हुआ एक खिलौना जहाज था, उसमें चाभी देते ही रंगीन कपड़े की लहरें फूल उठतीं और जहाज आॅरगन बाजे के साथ झूले की तरह हिलने-काँपने

लगता। बहुत अनुनय-विनय करके इस अद्भुत वस्तु को भाभी से मांगकर मैं अक्सर बीच-बीच में इस पंजाबी को चकित कर दिया करता। घर में पिंजरे में बंद था इसलिए जो कुछ विदेश का था, जो कुछ दूर देश का था, वही मेरे को बड़ी जोर से खींचता। इसीलिए लेनू को लेकर मैं बहुत व्यग्र हो जाया करता। इसी कारण से ग्राब्रिएल नाम का एक यहूदी अपनी घुण्डीदार यहूदी पोशाक पहनकर जब इत्र बेचने आता तो मेरे मन में एक बड़ी सिहरन-सी होती, और झोले-झोली वाला, ढीला-ढाला, मैला पायजामा पहने हुए लम्बा-तड़ंगा काबुली वाला भी मेरे लिए भय-मिश्रित रहस्य की सामग्री था।

जो हो, पिता जब आते तो हम केवल दूर-दूर से उनके नौकरों-चाकरों के बीच घूम-घूमकर अपना कौतूहल मिटाते। उनके पास पहुँचना संभव न होता।

मुझे अच्छी तरह याद है, हम लोगों के बचपन में एक बार कभी अंग्रेज सरकार के चिरतन जूजू रूसियों द्वारा भारत-आक्रमण की आशंका लोगों के मुंह से अक्सर सुनाई पड़ती थी। किसी हितैषिणी आत्मीया ने मेरी माँ को इस आसन्न विप्लव की संभावना के बारे में नमक-मिर्च लगाकर बतलाया था। पिता उन दिनों पहाड़ पर थे। तिब्बत पार करके हिमालय के न जाने किस दर्रे से होकर रूसी लोग सहसा धूमकेतु के समान सामने आ जायेंगे, यह कौन बतला सकता है। इसको लेकर माँ के मन में बड़ा उद्वेग हुआ। घर में किसी ने निश्चय ही उनकी इस व्यग्रता का समर्थन नहीं किया। इसीलिए माँ ने वयस्क लोगों की सहायता पाने की चेष्टा में हताश होकर अंततः इस बालक का आश्रय लिया। मुझसे कहा, "रूसियों की खबर देते हुए पिता को एक चिट्ठी लिखो तो !" माँ के उद्वेग को वाणी देते हुए पिता के पास वही मेरी पहली चिट्ठी थी। चिट्ठी कैसे लिखी जाती है, क्या करना होता है, मैं कुछ न जानता था। दफ्तरखाने के महानंद मुंशी की शरण में गया। लिखा मैंने ठीक ही था इसमें संदेह नहीं, लेकिन ज़मींदारी दफ्तर की सरस्वती जिस जीर्ण कागज़ के शुष्क पद्म-दल पर विहार करती है, भाषा में उसीकी गंध लिपटी हुई थी। इस चिट्ठी का जवाब मुझे मिला था। उसमें पिता ने लिखा था—डरने की कोई बात नहीं है, मैं खुद ही रूसियों को मार भगाऊँगा। इस प्रबल आश्वासन-वाणी से भी माँ का रूसियों का भय दूर हुआ हो ऐसा नहीं लगा—लेकिन पिता के संबंध में मेरा साहस खूब बढ़ गया। उसके बाद से मैं रोज़ ही उनको चिट्ठी लिखने के लिए महानंद के दफ्तर में हाजिर होने लगा। बालक के उपद्रव से अस्थिर होकर कई दिन महानंद ने खुद ही मजमून लिख दिया। लेकिन डाक-महसूल के

लिए क्या हो ? मैं सोचता था कि महानंद के हाथ मे चिट्ठी देते ही उसके सबध मे मुझे और कुछ सोचने की जरूरत नही है—चिट्ठी अनायास यथास्थान जा पहुँचेगी। कहने की जरूरत नही कि महानंद की उम्र मुझसे कही ज्यादा थी यह चिट्ठियाँ हिमालय की चोटी तक नही पहुँची।

बहुत दिनो बाहर रहने के बाद पिता कुछ दिनो के बाद जब कलकत्ता आते तो उनके प्रभाव से जैसे सारा घर भर उठता और गूँजने लगता। मैं देखता कि बड़े ...ग चोगा पहनकर, साफ-सुथरे होकर, मुँह मे पान होने पर उसे बाहर ही थूक-कर उनके सामने जाते थे। सभी लोग बहुत सावधान होकर चलते थे। रसोई मे पीछे कही त्रुटि न हो इस भय से माँ स्वयं रसोईघर मे जाकर बैठती। बुड्ढा कीनू हरकारा अपनी तमगे वाली पगड़ी और साफ अचकन पहनकर दरवाजे पर हाजिर रहता। हम लोग पीछे बरामदे में दौड़-भाग, धौल-धप्पा करके उनके आराम मे विघ्न न डालें इसके लिए पहले से ही हमको सावधान कर दिया जाता था। हम धीरे-धीरे चलते थे, धीरे-धीरे बोलते थे, जोर से बोलने का हमको साहस नही होता था।

एक बार पिता हम तीन लोगों का उपनयन कराने के लिए आये। वेदान्त-वागीश[1] के साथ बैठकर उन्होंने वैदिक मंत्रों में से उपनयन का अनुष्ठान स्वयं चुन लिया। कई रोज तक दालान में बैठकर बेचाराम बाबू[2] ने हर रोज हम लोगो से ब्राह्म धर्म ग्रंथ में संगृहीत उपनिषद् के मंत्रों की विशुद्ध रीति से बार-बार आवृत्ति करवा ली। यथासंभव प्राचीन वैदिक पद्धति से ही हम लोगो का उपनयन हुआ। सिर मुँडाकर, कान में कुंडल पहनकर हम तीनों ब्राह्मण-बटुक तीसरे तल्ले के एक कमरे मे तीन दिन के लिए बंद कर दिए गए। उसमे हम लोगों को बड़ा मजा आया। हम लोगों ने एक-दूसरे के कान का कुण्डल पकडकर बड़ी खीच-तान की। बायें हाथ का तबला कमरे के एक कोने में पड़ा हुआ था—बरामदे मे खड़े होकर जब हम देखते कि नीचे के तल्ले पर कोई नौकर चला जा रहा है तो उस तबले को धपाधप पीटने लगते—वह मुँह ऊपर उठाकर हम लोगों को देखता और फौरन सिर नीचा करके अपराध की आशंका से भाग खड़ा होता। वस्तुतः गुरु-गृह में ऋषि-बालकों के जिस कठोर संयम में दिन काटने की बात कही जाती है, हमारे

---

१. आनन्दचन्द्र भट्टाचार्य (बाद मे, वेदान्तवागीश)।
२. बेचाराम चट्टोपाध्याय।

दिन ठीक वैसे नहीं कटते थे। मेरा विश्वास है कि प्राचीन काल के तपोवन का अन्वेषण करने पर हमारे-जैसे लड़के न मिलते ऐसी बात नहीं है, वह सब-के-सब बहुत अच्छे-भले लडके थे इसका कोई प्रमाण नहीं है। शारद्वत और शार्गरव की उम्र जब दस-बारह साल की थी तब उन्होंने केवल वेद-मंत्र का उच्चारण करके अग्नि में आहुति डालते हुए दिन काटे थे, यह बात अगर किसी पुराण में लिखी हो तो उस पर आदि से अंत तक विश्वास करने के लिए हम बाध्य नहीं हैं—क्योंकि शिशु-चरित्र नामक पुराण सब पुराणों से अधिक पुराना है। उसके समान प्रामाणिक शास्त्र किसी भाषा मे लिखा नही गया।

नूतन ब्राह्मण होने के बाद गायत्री-मंत्र का जाप करने की एक अजब सनक मन में सवार हुई। मैं विशेष यत्न से एकाग्र मन होकर वह मंत्र जपने की चेष्टा करता। मंत्र ऐसा नही था कि उस उम्र में मै उसका तात्पर्य ठीक से ग्रहण कर सकता। मुझे अच्छी तरह याद है मैं 'भूर्भुव:स्व:' इस अंश को लेकर अपने मन को खूब दौड़ाने की चेष्टा करता। क्या समझता, क्या सोचता यह स्पष्ट रूप से बतलाना कठिन है; लेकिन इसमें सदेह नही कि बात का मतलब समझना आदमी के लिए सबसे बड़ी चीज नही है। शिक्षा का सबसे बड़ा अंग समझा देना नहीं है, मन पर चोट लगाना है। इस आघात के भीतर से जो चीज बज उठती है उसकी व्याख्या करने के लिए अगर किसी लड़के को कहा जाय तो वह बिलकुल बच्चों-जैसी कोई बात होगी। लेकिन वह मुंह से जो कुछ कह पा रहा है उसके कहीं अधिक उसके मन में बज रहा है जो लोग विद्यालय की शिक्षकता करके केवल परीक्षा के द्वारा फल का निर्णय करना चाहते हैं उन्हें इस चीज की कोई खबर नहीं होती। मुझे याद आता है, बचपन में मैं बहुत-सी चीजें नही समझता था, लेकिन उनसे मेरे मन में बड़ी हलचल-सी पैदा हो जाती थी। मैं जब बहुत छोटा था मूलाजोड़ में गगा के किनारे बगीचे मे बादलों के छाये होने के समय बड़े दादा छत पर एक दिन 'मेघदूत' का पाठ कर रहे थे, उसको समझने की मुझको जरूरत नही हुई और समझना संभव भी नहीं था—उनका आनंदमय आवेगपूर्ण छंद-उच्चारण ही मेरे लिए काफी था। बचपन मे जब मैं अंग्रेजी नही के बराबर जानता था तब बहुत-सी तस्वीरों वाली एक किताब Old Cuniosity Shop लेकर मैंने आदि से अंत तक पढ़ी थी। पन्द्रह आना बात मैं समझ नही सका था—बिलकुल धुंधली-सी न जाने कैसी एक तस्वीर मन के विविध रंगों से रँगकर मैंने खड़ी की थी। अगर मैं परीक्षक के हाथ में पड़ता तो निश्चय ही बड़ा-सा एक सुन्ना मुझे मिलता।

लेकिन मेरे लिए वह पढना उतना बड़ा शून्य न था। एक बार बचपन मे पिता के साथ बोट मे घूमते समय उनकी किताबों मे एक बड़ी पुरानी फोर्ट विलियम की प्रकाशित 'गीतगोविन्द' की प्रति मुझे मिली थी। बँगला-अक्षरों मे छपी हुई। छद के अनुसार उसके पदों का भाव नही किया गया था, गद्य के समान एक लाइन के साथ दूसरी लाइन जुड़ी हुई थी। मैं तब सस्कृत बिलकुल भी न जानता था। बगला अच्छी जानता था इसीलिए बहुत-से शब्दों का अर्थ समझ लेता था। उस 'गीत-गोविन्द' को मैंने कितनी बार पढ़ा है, बतला नही सकता। जयदेव जो कुछ कहना चाहते हैं वह कुछ भी मैंने नही समझा, लेकिन छंद और कथा को मिलाकर मेरे मन मे जिस चीज की सृष्टि हुई वह मेरे लिए सामान्य नही। मुझे याद है, "निभृत निकुंज गृहम् गतया निशि रहसि निलीय वसन्तम्"—यह लाइन मेरे मन मे एक अद्भुत सौन्दर्य का उद्रेक करती—छद की झंकार की दृष्टि से "निभृत निकुंज गृहम्" यही एक बात मेरे लिए काफी थी। वह पुस्तक गद्य के ढग पर छपी हुई थी इसलिए जयदेव के विभिन्न छंदों को स्वय अपनी चेष्टा से खोज लेना पड़ता—यही मेरे लिए सबसे बड़े आनंद का काम था। जिस दिन मैं "अहह कल-यामि वलयादि मणिभूषणम् हरि विरह दहन वहनेन बहुदूषणम्"—इस पद को ठीक तरह से यथा-स्थान यति देकर पढ़ सका, उस दिन मैं कितना खुश हुआ था! जयदेव सम्पूर्ण तो खैर क्या समझता, असम्पूर्ण समझने का जो अभिप्राय होता है उतना भी मैं न समझता था, लेकिन तो भी सौन्दर्य से मेरा मन इस तरह भर उठा था कि आदि से अन्त तक पूरा 'गीत-गोविन्द' मैंने एक कापी मे नकल कर लिया था। और कुछ बड़े होने पर 'कुमार संभव' का यह श्लोक

मन्दाकिनी निर्झरशीकराणां
वोढा मुहुः कम्पित देवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातै-
रासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः॥

पढकर एक दिन मन जैसे पागल हो उठा था। और कुछ नही समझा, केवल "मंदाकिनीनिर्झरशीकर" और "कंपितदेवदारुः" इन्ही दो को लेकर मेरा मन खो-सा गया था। समस्त श्लोक का रस लेने के लिए मन व्याकुल हो उठा। जब पंडित महाशय ने पूरे का मतलब समझा दिया तो मन खराब हो गया। हिरन की खोज में लगे हुए किरात के सिर पर जो मोर का पंख है हवा उसीको चीर रही है, यह सूक्ष्मता मेरे मन को बहुत पीड़ा देने लगी। जब पूरा नही समझता था तभी अच्छा

था।

जिन लोगों को अपना बचपन अच्छी तरह याद होगा वही इस बात को समझेंगे कि शुरू से लेकर आखिर तक सब-कुछ स्पष्ट रूप से समझ लेना ही सबसे बड़ा लाभ नहीं है। हमारे देश के कथावाचक इस बात को समझते थे इसीलिए उनके कथा कहने में बड़े-बड़े कान भर देने वाले संस्कृत के शब्द रहते हैं और ऐसी दार्शनिक बातें भी बहुत-सी रहती हैं जिन्हें श्रोता लोग कभी स्पष्ट रूप से समझ नहीं पाते; लेकिन हां उनका आभास जरूर पा जाते हैं—इस आभास पाने का मूल्य कम नहीं है। जो लोग शिक्षा का हिसाब जमा-खर्च की खतौनी करके रखते हैं वही हर चीज को बहुत खींच-तान करके देखते हैं कि जो कुछ दिया गया वह समझा गया कि नहीं। बच्चे और वे जो बहुत शिक्षित नहीं हैं, ज्ञान के जिस स्वर्ग-लोक में रहते हैं वहां मनुष्य न समझकर ही पाता है—उस स्वर्ग से जब पतन होता है तभी समझकर पाने के दुःख के दिन आते हैं। लेकिन यह बात भी पूरी तरह सच नहीं है संसार में न समझकर पाने का रास्ता ही सदा सबसे बड़ा रास्ता है। वह रास्ता एकदम बंद हो जाने से दुनिया के हाट-बाजार बंद नहीं हो जाते यह सच है; लेकिन समुद्र की लहरों पर जाने का फिर कोई ढंग नहीं रह जाता, पर्वत के शिखर पर चढ़ना असंभव हो उठता है।

इसीलिए मैं कह रहा था गायत्री-मंत्र का कोई तात्पर्य मैं उस उम्र में समझता होऊं ऐसी बात नहीं है; लेकिन मनुष्य के अंतर में ऐसा कुछ है जो पूरा-पूरा न समझने से भी चलता है। इसीलिए मुझे एक दिन की बात याद आती है—एक रोज अपने पढ़ने के कमरे में पक्की मेज के एक कोने में बैठकर गायत्री का जाप करते-करते सहसा मेरी दोनों आँखें भर आईं और आंसू टपकने लगे। आंसू क्यों टपक रहे हैं यह मैं स्वयं तनिक भी न समझ सका। इसलिए कठिन परीक्षक के हाथ में पड़ने पर मैं मूर्ख के समान ऐसा-वैसा कोई एक कारण बतला देता जिसका गायत्री-मंत्र से कोई संबंध नहीं है। सच बात तो यह है कि अंतर के अंतःपुर में जो व्यापार चलता रहता है सब समय उसकी खबर बुद्धि के क्षेत्र में नहीं पहुँचती।

हिमालय-यात्रा

जनेऊ के उपलक्ष्य में सिर मुंडाने पर बड़ी चिन्ता मुझे यह हुई कि स्कूल कैसे जाऊँगा। गो-जाति के प्रति फिरंगियों के लड़कों का आंतरिक आकर्षण चाहे जैसा हो, ब्राह्मणों के प्रति तो उनकी भक्ति न थी। अतः घुटी हुई खोपड़ी पर वे और

कुछ बरसायें या न बरसायें हँसी-दिल्लगी तो बरसायेंगे ही।

ऐसी दुश्चिन्ता के समय एक रोज तीसरे तल्ले के कमरे मे मेरी पुकार हुई। पिता ने पूछा, "मैं उनके साथ हिमालय जाना चाहता हूँ या नही।" "चाहता हूँ" यह बात अगर मैं चिल्लाकर आसमान को फाड़कर कह सकता तो वह मन के भाव के उपयुक्त उत्तर होता। कहाँ बंगाल एकेडमी और कहाँ हिमालय।

घर से यात्रा के लिए निकलते समय पिता ने अपनी पुरानी रीति के अनुसार घर के सब लोगों को अपने साथ दालान मे बिठाकर उपासना की। गुरुजनो को प्रणाम करके मैं पिता के साथ गाड़ी पर चढ़ा। अपनी उम्र-भर मे यही पहली बार मेरे लिए पोशाक बनी थी। किस रंग का कैसा कपड़ा होगा इसके सम्बन्ध में पिता ने स्वयं आदेश दिया था। सिर के लिए जरी के काम की एक गोल मखमल की टोपी बनी थी। वह मेरे हाथ मे थी, क्योंकि मुड़े सिर पर टोपी पहनने में मुझे मन-ही-मन आपत्ति थी। गाड़ी मे बैठते ही पिता ने कहा, "लगा लो!" पिता के साथ कपड़े-लत्ते की सफाई-सुथराई में किसी प्रकार की कोई त्रुटि सम्भव न थी। लज्जित होकर मुझे सिर पर टोपी लगानी ही पड़ी। रेलगाड़ी में ज़रा-सा मौका मिलने पर टोपी उतारकर रख लेता; लेकिन पिता की दृष्टि एक बार भी न चूकती और मुझे फौरन टोपी को सिर पर रख लेना पड़ता।

छोटी-बड़ी सब बातों में पितृदेव की समस्त परिकल्पना और कार्य बिलकुल ठीक ढंग से होता है। वह अपने मन मे कोई चीज धुंधली रख ही न सकते थे और उनके कामों में भी जैसे-तैसे कुछ भी कर लेने की गुंजाइश न रहती थी। उनके प्रति दूसरों का और दूसरों के प्रति उनका समस्त कर्तव्य अत्यन्त सुनिर्दिष्ट था। हमारा जातिगत स्वभाव काफी ढीला-ढाला है। थोड़ा-बहुत इधर-उधर होने को हम लोग विचार के योग्य समझते ही नहीं। इसीलिए उनके साथ व्यवहार में हम सबको बहुत भयभीत और सतर्क रहना पड़ता। उन्नीस-बीस होने से कुछ खास क्षति नही भी हो सकती; लेकिन उससे व्यवहार में थोड़ी-सी भी गड़बड़ी होती है वही उनको अखरता। वह जो कुछ संकल्प करते उसके प्रत्येक अंग-प्रत्यग को मन की आँखों से स्पष्टरूपेण प्रत्यक्ष कर लेते। इसीलिए किसी काम-काज में कौन-सी चीज कहाँ पर ठीक रहेगी, कौन कहाँ बैठेगा, किसके ऊपर किस काम का कितना भार रहेगा सब-कुछ आदि से अन्त तक वह अपने मन में ठीक कर लेते और फिर किसी चीज मे थोड़ा-सा भी इधर-उधर न होने देते। इसके बाद वह काम हो जाने पर बहुत-से लोगों से उसका विवरण सुनते। प्रत्येक के वर्णन को मिलाकर और

अपने मन में उसका जोड़-तोड़ बैठाकर वह उस घटना को स्पष्ट रूप में देखने की चेष्टा करते। इस सम्बन्ध में हमारे देश का जातिगत धर्म बिलकुल भी उनका न था। उनके संकल्प में, चिन्ता मे, आचरण मे और अनुष्ठान में तिल-भर भी शिथिलता की गुंजाइश न रहती। इसीलिए हिमालय-यात्रा में जितने दिन मैं उनके पास रहा, एक ओर मुझको बहुत स्वाधीनता थी दूसरी ओर समस्त आचरण अलघ्य रूप मे निर्दिष्ट था। जिस जगह पर वह छूट देते वहाँ कभी कोई बाधा न डालते और जहाँ नियम से बाँधते वहाँ रत्ती-भर सांस न रखते।

यात्रा के आरम्भ में पहले कुछ दिन बोलपुर मे रहने की बात थी। कुछ दिन आगे पिता-माता के साथ सत्य वहाँ गया था। उससे भ्रमण-वृत्तान्त जो सुना था, उन्नीसवी शताब्दी का किसी भद्र घर का लड़का कभी उसका विश्वास ही न कर सकता। लेकिन तब तक मैंने संभव-असंभव की सीमा-रेखा को ठीक से पहचान रखना सीखा ही न था। कृत्तिवास, काशी-रामदास इसमें मेरी कोई सहायता न करते। रग-बिरगी बच्चों की किताबों और तस्वीरों से भरे हुए बच्चों के पत्रों ने सच-झूठ के बारे मे हमको पहले से सावधान नही कर दिया था। संसार में कड़े नियमो का जो एक उत्पात है उसे हम सबको स्वयं ठोकर खाकर सीखना पड़ा था।

सत्य ने कहा था, विशेष दक्षता न रहने पर रेलगाड़ी मे चढना एक भयंकर संकट है—पाँव फिसला और जान की खैर नही। उसके बाद जब गाडी चलना शुरू करती है तो अपनी सारी ताकत लगाकर बैठना चाहिए, नहीं तो ऐसा जबरदस्त धक्का लगता है कि आदमी कही का कही फिक जाय; पता-ठिकाना भी न लगे उसका। मैं स्टेशन पहुँचा तो मन मे काफी डर समाया हुआ था। लेकिन जब मैं गाडी मे बहुत आसानी से चढ गया तो मेरे मन में संदेह हुआ कि शायद अभी गाडी पर चढने की असल क्रिया पूरी होने को बाकी है। फिर जब गाडी बहुत सहज ढंग से चल पड़ी और तब भी कही किसी विपत्ति का आभास नही मिला तो मन में बडा दुःख हुआ।

गाड़ी भागती रही, पेड़ों की कतार की हरी-नीली किनारी से लगा हुआ लम्बा-चौड़ा मैदान और छाया से ढके हुए गाँव रेलगाड़ी के दोनों ओर चित्रो के दो झरनों के समान तेजी से भागने लगे कि जैसे मरीचिका की बाढ आ रही हो। शाम को हम लोग बोलपुर पहुँचे। पालकी पर चढकर मैंने आँख बंद कर ली। कल सवेरे बोलपुर में सारा विस्मय इकबारगी मेरी जगी हुई आँखों के सामने खुल

आयगा, यही मेरी इच्छा थी—साँझ के झुरमुट में कुछ-कुछ आभास अगर मुझे मिल गया तो कल के अखण्ड आनन्द मे रसभग होगा।

मैं भोर में उठकर कांपते हुए हृदय से बाहर आकर खडा हुआ। मेरे पूर्ववर्ती भ्रमणकारी ने मुझसे कहा था, पृथ्वी के अन्य स्थानों और बोलपुर मे एक बड़ा अन्तर यह है कि कोठी से रसोईघर जाने के रास्ते मे किसी प्रकार का कोई आवरण न होने पर भी शरीर में धूप-वर्षा कुछ भी नही लगती। इस अद्भुत रास्ते को खोजने के लिए मैं बाहर निकला। पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य न होगा कि आज तक वह रास्ता मुझे नही मिला।

हम सब शहराती लड़के हैं, कभी धान का खेत देखा नही और ग्वाल-बाल की कहानियां किताबों मे पढ़कर उनका खूब मनोहर रूप अपनी कल्पना के पर्दे पर आंक रखा था। सत्य से मैंने सुना था कि बोलपुर के मैदान के चारों तरफ धान के खेत लहराते हैं और वहां ग्वाल-बाल के साथ खेलना एक रोज की घटना है। धान के खेत से चावल इकट्ठा करके भात पकाकर चरवाहों के साथ इकट्ठे बैठकर खाना, यह खेल का विशेष अंग है।

व्याकुल होकर चारों ओर देखा। हाय रे, उस मरु-प्रान्तर मे धान का खेत कहां। ग्वाल-बाल संभव है चरागाहों मे कही रहे हों, लेकिन वह ग्वाल-बाल ही हैं इस रूप मे उनको पहचानने का कोई उपाय न था।

जो नही देखा उसका खेद मिटने में देर नहीं लगी—जो देखा वही मेरे लिए काफी साबित हुआ। यहाँ नौकरो का शासन न था। उस प्रान्तर-लक्ष्मी ने दिगंत में नीली रेखाओं का एक घेरा मात्र खीच रखा था, उससे मेरे अबाध सचरण में कोई विघ्न न होता।

मैं तब बहुत छोटा था, लेकिन तो भी पिता ने कभी मुझको जहाँ जी चाहे घूमने से नही रोका। बोलपुर के मैदान में जगह-जगह वर्षा की जल-धारा ने बालू-मिट्टी को काटकर सतह के नीचे से लाल कंकड़ और तरह-तरह के पत्थर जड़ी हुई छोटी-छोटी टेकड़ियाँ, गुहा-गह्वर, नदी-नाले की रचना कर दी थी जिससे बालखिल्यों के देश की भूमि का वृत्तात सामने आ जाता था। यहां इस तरह के गड्ढों को 'खोयाई' कहते है। मैं यहाँ से अपने कुर्त्ते के पल्ले मे तरह-तरह के पत्थर बटोरकर पिता के सामने उपस्थित करता। उन्होने मेरे इस अध्यवसाय को तुच्छ कहकर एक दिन भी उसकी उपेक्षा नही की। वह बहुत हौसला बढ़ाते हुए कहते, "कैसे सुन्दर है, वाह, यह सब तुम्हें मिले कहां!" मैं कहता, "ऐसे और

भी न जाने कितने है हजारों, मैं रोज ला सकता हूँ !" वह कहते, "ऐसा हो तो क्या कहना, उन पत्थरों से तुम मेरे इस 'पहाड़' को सजा दो।"

एक तालाब खोदने की कोशिश की गई थी, लेकिन उसकी मिट्टी को बहुत सख्त जानकर काम को बीच ही में छोड़ दिया गया। उसी अधूरे गड्ढे की मिट्टी दाहिनी तरफ पहाड़ का अनुकरण करते हुए ऊँचा-सा स्तूप तैयार हुआ था। वहां पर सवेरे मेरे पिता चौकी पर उपासना में बैठते। उनके सामने पूरब के क्षितिज से सूर्योदय होता। इसी पहाड़ को पत्थर से सजाने के लिए उन्होंने मुझे प्रेरित किया था—मेरा उत्साह बढाया था। बोलपुर छोड़कर आते समय इस पत्थर के ढेर को संग लेकर नही आ सका इसका बहुत बडा दुःख मेरे मन मे था। बोझा होने मात्र से उसको ढोने की जो जिम्मेदारी आ जाती है और महसूल देना पडता है, उसकी बात तब मैं न समझता था। मैंने संचय किया है इसीलिए उसके साथ अपने संबंध की रक्षा कर पाऊँगा ऐसा कोई अधिकार नही है, यह बात आज भी ठीक से समझ मे नही आती। मेरी उस दिन की एकाग्र मन की प्रार्थना पर विधाता ने यदि मुझे वर दिया होता कि "इन पत्थरो का बोझ तुम हमेशा-हमेशा ढोओगे" तो उस बात को लेकर मैं आज इस तरह हँस न पाता।

गड्ढे के बीच मे एक जगह बहुत ढेर-सा पानी जमा होता था। यह पानी अपने चारों ओर की मेड़ लाँघकर झिर-झिर करके बालू के बीच से बहता। बहुत छोटी-छोटी मछलियाँ उस जल-कुण्ड के मुख के पास उस स्रोत को तैरकर पार करने की धृष्टता करती। मैंने पिता से जाकर कहा, "बड़ी सुन्दर जल की धारा देखकर आ रहा हूँ, वहाँ से हम लोगो के नहाने और पीने के लिए पानी लाया जाय तो बहुत अच्छा हो।" उन्होने मेरे उत्साह में योग देते हुए कहा, "ठीक तो कहते हो, बहुत अच्छा होगा।" और आविष्कार करने वाले को पुरस्कृत करने के लिए वही से पानी ले आने की व्यवस्था कर दी। मैं जब-तब उसी टूटे-फूटे तालाब की ऊँची-नीची जगहों में किसी अनूठी वस्तु की खोज में फिरता रहता। इस क्षुद्र अज्ञात राज्य का मैं लिविंग्सटन था। वह जैसे किसी दूरबीन के उल्टे तरफ का देश हो। नदी-पहाड़ जैसे छोटे-छोटे थे, बीच-बीच में यहाँ-वहाँ जंगली जामुन, जगली खजूर आदि भी वैसे ही नाटे-बौने थे। मेरी खोजी हुई छोटी नदी की मछलियाँ भी वैसी ही थी—और खोजने वाले के बारे में तो कुछ कहना ही नहीं।

पिता कदाचित् मेरी सावधानता-वृत्ति को उन्नत करने के लिए मेरे पास दो-चार आने पैसे रखकर कहते कि हिसाब रखना होगा, और अपनी सोने की

घड़ी को चाबी देने का भार भी उन्होंने मुझ पर ही रखा। इसमें जिस क्षति की संभावना थी उसकी चिन्ता उन्होंने नहीं की; मुझको दायित्व की दीक्षा देना ही उनका अभिप्राय था। सवेरे जब वह घूमने के लिए बाहर निकलते तो मुझको साथ ले लेते। रास्ते में भिखारी को देखकर उसे भीख देने के लिए मुझको कहते। अंत में उनके सामने जमा-खर्च का हिसाब मिलाते समय किसी तरह भी न मिलता। एक दिन तो पूंजी बढ़ गई। उन्होंने कहा, "लगता है तुम्हीको अपना कैशियर बनाना पड़ेगा, तुम्हारे हाथ में मेरे रुपये बढ़ जाते हैं।" मैं बड़े नियमित रूप से यत्नपूर्वक उनकी घड़ी में चाबी देता। यत्न जरा ज्यादा जोर से ही करता, कुछ ही दिनों में घड़ी मरम्मत के लिए कलकत्ता भेजनी पड़ी।

उम्र बढ़ने पर जब काम की जिम्मेदारी मिली और उसका हिसाब पिताजी के सामने देना पड़ता, उस दिन की बात मुझे याद आ रही है। उन दिनों वे पार्क स्ट्रीट में रहते थे। हर महीने की दूसरी और तीसरी तारीख को मुझे हिसाब पढ़कर सुनाना होता। तब वह खुद न पढ़ पाते थे। पिछले महीने और पिछले साल के साथ तुलना करके आय-व्यय का सारा विवरण उनके सामने रखना पड़ता। पहले तो वह मोटी-मोटी रकमें सुन लेते और मन-ही-मन उसको जोड़-घटा लेते। किसी रोज अगर उन्हें मन-ही-मन हिसाब में कुछ असंगति मालूम होती तो छोटी-छोटी रकमें सुननी पड़तीं। किसी-किसी दिन ऐसा भी हुआ है कि हिसाब में जहां कहीं कोई कमजोरी रहती वहां मैं उनकी नाराजगी बचाने के लिए उसको दबा गया हूं, लेकिन कभी वह दबा नहीं रह सका। हिसाब का मोटा नक्शा वह अपने मन की पटिया पर आंक लेते। जहां कहीं कोई दरार पड़ती वहीं वह उसे पकड़ लेते। इसीलिए महीने के वह दो दिन विशेष चिन्ता के दिन होते। मैं पहले ही कह आया हूं कि मन में सब चीजों को स्पष्ट करके देख लेना उनका स्वभाव था—वह चाहे हिसाब की रकम हो या प्राकृतिक दृश्य हो या अनुष्ठान का आयोजन हो। शांतिनिकेतन का नया मंदिर आदि बहुत-सी चीजें उन्होंने अपनी आंखों से न देखी थीं। लेकिन जो कोई शांतिनिकेतन देखकर उनके पास गया है उनमें से एक-एक के मुंह से विवरण सुनकर उन्होंने उन अप्रत्यक्ष वस्तुओं को मन में पूरी तरह आंके बिना छोड़ा नहीं। उनकी स्मरण-शक्ति और धारणा-शक्ति असाधारण थी। इसलिए जो कुछ एक बार मन में ग्रहण कर लेते उससे कभी किसी हालत में उनका मन इधर-उधर न होता।

भगवत् गीता में पिताजी को पसन्द आने वाले श्लोक चिह्नित थे। उन्हीं

सबको बंगला अनुवाद समेत कापी करने के लिए उन्होंने मुझको दिया था। घर पर मैं नगण्य बालक था, यहाँ मेरे ऊपर इन सब बड़े-बड़े कामों का भार रखा गया, इसका गौरव मैं खूब बढ़ा-चढ़ाकर अनुभव करने लगा।

इस बीच उस छिन्न-विच्छिन्न नीली बही को विदा करके मैंने एक जिल्द-बँधी हुई लेट्स डायरी पा ली थी। अब तक कापी कागज और बाह्य उपकरणों द्वारा कवित्व की इज्जत बनाए रखने की ओर मेरी दृष्टि जा चुकी थी। सिर्फ कविता लिखना नहीं, अपनी कल्पना के सम्मुख अपने को कवि के रूप में खड़े करने की चेष्टा जन्म ले चुकी थी। इसीलिए बोलपुर में जब कविता लिखता तो बगीचे के एक कोने में एक छोटे-से नारियल के पेड़ के नीचे मिट्टी पर पाँव फैलाकर बैठे हुए कापी भरना मुझको बहुत अच्छा लगता। ऐसा अनुभव होता कि हाँ, यह ठीक कवियों-जैसी बात है। तृणहीन, कंकड़-पत्थर की सेज पर बैठकर धूप की गर्मी में 'पृथ्वीराज की पराजय' नामक एक वीर-रसात्मक काव्य मैंने लिखा था। उसका प्रचुर वीर रस भी उक्त काव्य को विनाश के हाथों से बचा नहीं सका। उसका उपयुक्त वाहन वह जिल्द बँधी हुई लेट्स डायरी भी अपनी बड़ी बहन उस नीली बही के पीछे-पीछे कहाँ चली गई उसका पता-ठिकाना किसी को नहीं मालूम।

बोलपुर से निकलकर साहेबगंज, दानापुर, इलाहाबाद, कानपुर आदि स्थानों में रुकते-रुकाते हम लोग अमृतसर पहुँचे।

रास्ते में एक घटना घटी थी जो आज भी मुझे अच्छी तरह याद रह गई है। किसी एक बड़े स्टेशन पर गाड़ी रुकी। टिकट-चेकर ने आकर हमारे टिकट देखे। एक बार मेरे चेहरे की ओर ताका। कुछ संदेह उसके मन में हुआ लेकिन बोलने का साहस न कर सका। थोड़ी देर बाद और एक आदमी आया—दोनों हमारे डब्बे के दरवाज़े के सामने आपस में कुछ खुस-फुस करके चले गए। तीसरी बार शायद खुद स्टेशन-मास्टर आया। मेरे हाफ़ टिकट की जाँच करके उसने पिता से पूछा, "इस लड़के की उम्र क्या बारह साल से ज्यादा नहीं है ?" पिता ने कहा, "नहीं।" तब मेरी उम्र ग्यारह साल थी। उम्र को देखते हुए मेरी बाढ़ निश्चय ही कुछ ज्यादा थी। स्टेशन-मास्टर ने कहा, "इसके लिए पूरा किराया देना होगा।" मेरे पिता की दोनों आँखें जलने लगीं। उन्होंने बक्से में से उसी दम नोट निकालकर उसे दे दिए। किराये के रुपये काटकर जब वह बाकी रुपये लौटाने के लिए आया तो उन्होंने वह रुपये लेकर फेंक दिए और रुपये प्लेटफार्म के पत्थर के

फर्श पर जा पड़े और झन-झन करके बज उठे। स्टेशन-मास्टर बहुत लज्जित होकर चला गया—रुपया बचाने के लिए झूठ बात बोलेंगे इस संदेह की क्षुद्रता ने उसका सिर नीचा कर दिया।

अमृतसर का गुरु-दरबार मुझे सपने की तरह याद आता है। मैं कई रोज सवेरे-सवेरे पिताजी के साथ पैदल तालाब के बीच बने हुए उस सिख-मंदिर में गया। वहाँ बराबर भजन चलता रहता। मेरे पिता उन सिख उपासकों के बीच बैठकर कभी-कभी सहसा सुर-में-सुर मिलाकर उनके भजन में योग देते—अन्य भाषा-भाषी के मुँह से अपना यह वंदना-गान सुनकर वे लोग अत्यंत उत्साहित होकर उनका सम्मान करते। लौटते समय पिताजी मिश्री के टुकड़े और हलुआ ले आते।

एक बार पिताजी ने गुरु दरबार के एक गवैये को घर लाकर उससे भजन सुने थे। मैं समझता हूँ कि उसको जो पुरस्कार दिया गया था उससे कम पाकर भी वह खुश ही होता। इसका नतीजा यह हुआ कि हमारे घर पर गाना सुनाने वाले उम्मीदवार इतने ज्यादा आने लगे कि उनका रास्ता रोकने के लिए कड़े बन्दोबस्त की जरूरत पड़ी। घर में आने की सुविधा न पाकर उन्होंने सरकारी रास्ते पर आकर आक्रमण शुरू किया। हर रोज सवेरे पिता मुझको साथ लेकर घूमने के लिए निकलते। इसी समय क्षण-क्षण पर सहसा हमारे सामने तानपूरा कंधे पर रखे हुए गवैये आ खड़े होते। जो पक्षी शिकारी से अपरिचित नहीं है जिस तरह वह किसी के कंधे पर बंदूक की नली देखकर चौंक उठता है, रास्ते पर दूर कहीं किसी कोने में तानपूरे के तूंबे को देखकर हमारी भी वही हालत होती। लेकिन शिकार इतना सयाना हो गया था कि उनके तानपूरे की आवाज बिलकुल उल्टा काम करती—वह हमें और भी दूर भगा देती, शिकारी हमारे ऊपर अपना जाल न फेंक पाता।

साँझ होने लगती तो पिता बगीचे के सामने बरामदे मे आकर बैठ जाते। तब उन्हें ब्रह्म-संगीत सुनाने के लिए मेरी पुकार होती। चाँद ऊपर उठ रहा है, पेड़ों की छाया मे से चाँदनी आकर बरामदे में गिर रही है—मैं विहाग मे गाना गा रहा हूँ :

> तुमि बिना के प्रभु संकट निवारे
> के सहाय भव-अंधकारे—

वह निस्तब्ध होकर, सिर झुकाये हुए, हाथ जोड़कर गोद मे रखे बैठे सुनते

रहते—शाम की वह तस्वीर आज भी मुझे याद आ रही है।

मैं पहले कह चुका हूँ कि मेरी लिखी हुई दो पारमार्थिक कविताएँ श्रीकंठ बाबू से सुनकर पिताजी हँसे थे। उसके बाद बड़े होने पर फिर एक रोज मैं उसका बदला लेने में समर्थ हुआ। उस बात का यहाँ उल्लेख करने को मेरा जी चाह रहा है।

एक बार माघोत्सव में सवेरे और शाम मैंने बहुत-से गाने तैयार किये थे। उनमें एक गाना था—"नयन तोमारे पाय न देखिते, रयेछ नयने नयने।"

पिताजी उस समय चिन्सुरा में थे। वहाँ पर मुझे और ज्योति दादा को बुला भेजा गया। हारमोनियम पर ज्योति दादा को बैठाकर उन्होंने मुझसे नये गीत एक के बाद एक गाने के लिए कहा। कोई-कोई गीत मुझे दो बार भी गाना पड़ा।

गाना खत्म होने पर उन्होंने कहा, "देश का राजा अगर देश की भाषा जानता और साहित्य का आदर करने की उसे समझ होती तो कवि को उसने पुरस्कार दिया होता। राजा की ओर से जब इसकी कोई संभावना नहीं है तब मुझीको यह काम करना पड़ेगा।" यह कहकर उन्होंने पाँच सौ रुपये का एक चैक मेरे हाथ में दिया।

पिताजी मुझको अंग्रेजी पढ़ाने के ख़याल से Peer Panly's Tales-जैसी कई किताबें अपने साथ ले गए थे। मुझे पढ़ाने के लिए उनमें से बेंजामिन फ्रैंकलिन का जीवन-वृत्तांत उन्होंने चुन लिया। उन्होंने सोचा था, जीवनी बहुत-कुछ कहानी-जैसी लगेगी और उसको पढ़कर मेरा लाभ होगा। लेकिन जब पढ़ाने बैठे तो उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। बेंजामिन फ्रैंकलिन बहुत ही समझदार, सुबुद्ध आदमी था। उसकी हिसाबी-किताबी व्यावहारिक धर्म-नीति की संकीर्णता मेरे पिताजी को कष्ट पहुँचाती। वे कहीं-कहीं पढ़ाते-पढ़ाते फ्रैंकलिन की घोरतर सांसारिक विज्ञता के दृष्टांतों और उपदेश-वाक्यों से बहुत खिन्न हो उठते और उनका प्रति-वाद किये बगैर उनसे न रहा जाता।

इसके पहले 'मुग्धबोध' कंठस्थ करने के अलावा संस्कृत पढ़ाई की और कोई चर्चा न हुई थी। पिताजी ने मुझको एकबारगी 'ऋजु पाठ' द्वितीय भाग पढ़ाना शुरू किया और उसके साथ-साथ उपक्रमणिका के शब्द-रूप कंठस्थ करने के लिए दिये। बंगला हम लोगों को इस तरह पढ़नी पड़ी थी कि उसीसे हमारी संस्कृत शिक्षा का काम बहुत-कुछ आगे बढ़ गया था। एकदम शुरू से ही वह मुझे यथा-

साध्य संस्कृत में रचना करने के लिए उत्साहित करते। मैं जो कुछ पढ़ता उसीके शब्दों को उलट-पलटकर लम्बे-लम्बे समासों मे बाँधकर जहाँ-तहाँ अपनी इच्छा से अनुस्वार लगाकर देव-भाषा को दानवों के योग्य बना देता। लेकिन पिताजी ने एक दिन भी मेरे इस अद्भुत दुस्साहस का उपहास नही किया।

इसके अलावा वह सरल अंग्रेजी में लिखे हुए प्राक्टर के ज्योतिष ग्रन्थ से अनेक विषय मौखिक रूप से ही मुझे समझा देते, मैं उन्हें बंगला मे लिखता।

अपने पढ़ने के लिए उन्होंने जो किताबें साथ ली थी उनमें एक ऐसी थी जो मेरी आँख मे बहुत गड़ती। दस-बारह खण्डो में जिल्द बाँधा हुआ बृहदाकार गिबन का रोम। उसको देखकर ऐसा न लगता था कि उसमे कुछ भी रस है। मैं मन-ही-मन सोचता, मुझे तो दबाव में पड़कर बहुत-सी चीजे पढ़नी पड़ती है क्योंकि मैं लड़का हूँ, बचने का उपाय नहीं है—लेकिन ये तो न पढ़ना चाहे तो न पढ़ें तब क्यो यह कष्ट उठाते हैं।

अमृतसर में हम लोग प्रायः महीने भर रहे। वहाँ से चैत्र महीने के अंत मे डलहौजी पहाड़ की यात्रा की गई। अमृतसर मे समय अब नही कट रहा था। हिमालय का आह्वान हमको अस्थिर कर रहा था।

जब हम लोग डाँड़ी में बैठकर पहाड़ पर चढ़ रहे थे उस समय पहाड़ की घाटी और मैदान मे तरह-तरह की चैती फसल की पंक्ति-पंक्ति और स्तर-स्तर मे सौंदर्य दहक रहा था। हम लोग सवेरे ही दूध-रोटी खाकर बाहर निकल जाते और तीसरे पहर डाक बंगले को लौटते। सारे दिन हमारी इन दो आँखों के लिए आराम न था—मुझे यही डर लग रहा था कही ऐसा न हो कि कोई चीज छूट जाय। जहाँ पहाड़ के किसी कोने मे, रास्ते के किसी मोड़ पर पल्लव-भाराच्छन्न-समुदाय घनी छाया किये खड़ा है और ध्यानमग्न वृद्ध तपस्वियो की गोद के पास लीलामयी मुनि-कन्याओ के समान दो-एक झरनो की धारा उस छायातल से होकर, काई से ढके हुए काले पत्थरो के शरीर को धोती हुई, घने ठंडे अंधकार के निभृत नेपथ्य से कल-कल करती हुई झर रही है, वही डाँडी वाले डाँडी उतारकर आराम करते। मैं लुब्ध भाव से मन-ही-मन सोचता, इन सब जगहों को छोड़कर हमे जाना क्यो पड़ रहा है। यही रुक जाते तो क्या था।

नये परिचय की यही एक बड़ी सुविधा है। मन तब तक यह नही जान पाता कि ऐसी चीजें और भी बहुत-सी हैं। यह जान पाते ही हिसाबी मन तन्मयता के खर्च मे कटौती करने की चेष्टा करता है। जब मन हर चीज को नितांत दुर्लभ

मानकर ग्रहण करता है तभी वह अपनी कंजूसी को अलग करके पूरा मूल्य देता है। इसीलिए मैं हर रोज कलकत्ता के रास्तों से गुजरते हुए कल्पना किया करता हूँ कि मैं विदेशी हूँ। तभी समझ पाता हूँ कि देखने की चीजें बहुत-सी हैं, जिन्हें मैं देख नही पाता तो केवल इसलिए कि मन उनका मूल्य चुकाने के लिए तैयार नही है। इसी कारण देखने की भूख मिटाने के लिए लोग विदेश जाते हैं।

पिताजी ने अपने कैश-बाक्स को रखने की जिम्मेदारी मुझे दे दी थी। इसके लिए मैं ही योग्यतम व्यक्ति हूँ, ऐसा मानने के लिए कोई कारण न था। रास्ते के खर्च के लिए उसमे बहुत रुपये रहते। किशोरी चाचाजी के हाथ में देकर वे निश्चिन्त रह सकते थे लेकिन मेरे ऊपर जिम्मेदारी डालना ही उनका उद्देश्य था। डाकबगले पर पहुँचकर एक दिन मैंने वह बक्सा उनके हाथ मे न देकर कमरे की मेज पर रख दिया था, इसके लिए उन्होंने मुझको डाँटा था।

डाक बगले पर पहुँचकर पिताजी बाहर चौकी पर बैठते। साँझ झुक आने पर पहाड़ के स्वच्छ आकाश मे तारे अद्‌भुत स्पष्ट दिखाई पड़ते और पिताजी उन ग्रह-नक्षत्रो को मुझे पहचनवाकर उनके संबंध में मुझे बतलाते।

बकरोटा मे हमारा घर एक पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी पर था। वह वैसाख का महीना था, लेकिन ठंड बहुत ज्यादा थी; इतनी कि रास्ते के जिस हिस्से मे धूप न पडती थी वहाँ तब तक बर्फ जमी होती थी।

यहाँ भी किसी विपत्ति की आशका से पिताजी ने किसी दिन मुझे अपनी इच्छानुसार पहाड़ मे घूमने-फिरने से नही रोका।

हमारे घर के नीचे एक मैदान में लम्बा-चौडा कैल का जंगल था। उसी जंगल में मैं अकेला अपनी लोहे के मूठ वाली लाठी लेकर प्रायः घूमने जाता। वनस्पति विराट् दैत्यों के समान अपनी लम्बी-चौड़ी छाया लिये खड़े हैं। उनका इतने सौ वर्षों का प्रशस्त प्राण है, लेकिन एक अभी कल का अति क्षुद्र मानव-शिशु निसंकोच उनके शरीर को रगड़ता हुआ घूमता फिर रहा है और वह लोग एक बात भी नही कह सकते। वन की छाया के बीच प्रवेश करने-मात्र से मानो उनका एक विशेष स्पर्श मुझे मिलता। जैसे साँप के शरीर की-सी एक घनी शीतलता हो और जंगल की जमीन पर फैले हुए सूखे पत्तों के ऊपर छाया और आलोक का खेल ऐसा लग रहा था कि जैसे किसी दैत्याकार आदिम सरीसृप के शरीर की विचित्र रेखावली हो।

मेरे सोने का कमरा एक किनारे था। रात मे बिस्तर पर लेटकर काँच की

खिड़की के भीतर से तारों की धुँधली रोशनी में पर्वत-शिखरो की पीताभ तुषार-दीप्ति देखने को मिलती। किसी-किसी रोज़ मालूम नहीं कितनी रात गए मैं देखता कि पिताजी शरीर पर एक लाल शाल डाले हाथ में एक मोमबत्ती लिये चुपचाप घूम रहे हैं। काँच से घिरे हुए बाहर के बरामदे मे बैठकर उपासना करने जा रहे हैं।

फिर और एक नींद के बाद में यकायक देखता कि पिताजी मुझको ठेलकर जगा रहे हैं। रात का अँधेरा अब भी पूरी तरह दूर नहीं हुआ है। उपक्रमणिका मे से "नरः नरौ नराः" कंठस्थ करने के लिए मेरा यही समय निर्दिष्ट था। सर्दी के समय कम्बलों की सुखद गर्मी में से इस प्रकार उठाकर बाहर कर दिया जाना बड़ा कष्ट पहुँचाता।

सूर्योदय के समय जब पिताजी अपनी सवेरे की उपासना के अंत मे एक कटोरा दूध पी चुकते तो मुझे अपने पास खड़ा करके उपनिषदो के मंत्र-पाठ द्वारा और एक बार उपासना करते।

इसके बाद मुझे लेकर बाहर घूमने निकल जाते। उनके संग मैं क्या घूम पाता, अनेक वयस्क लोगों के भी बस की बात यह न थी। मैं रास्ते के बीच में ही उनका साथ छोड़कर कोई बटिया पकड़कर अपने घर पहुँच जाता।

पिताजी के लौटने पर करीब घंटे भर तक अंग्रेजी की पढाई चलती; उसके बाद दस बजे बर्फीले ठंडे पानी से स्नान। इससे किसी तरह छुट्टी न मिल सकती थी, किसी नौकर की हिम्मत न थी कि उनके आदेश के विरुद्ध घडे मे गरम पानी मिला दे। मुझे उत्साहित करने के लिए वह बतलाते कि अपने यौवन-काल मे वह भी कैसे दु.सह ठंडे पानी से नहाया करते थे।

दूध पीना मेरे लिए एक और तपस्या थी। मेरे पिता ढेरो दूध पीते थे। मैं इस पैतृक दुग्धपान-क्षमता का अधिकारी हो पाता कि नही, कहना कठिन है। लेकिन मै पहले ही बतला चुका हूँ किन कारणो से मेरा खान-पान का अभ्यास बिलकुल उल्टी दिशा में चला था। उनके साथ मुझे बराबर दूध पीना पड़ता। मैंने नौकरों की शरण ली। वह लोग मेरे प्रति दया करके या अपने प्रति ममता-वश कटोरे में दूध की अपेक्षा फेन की मात्रा बढ़ा देते।

दोपहर को खाने के बाद पिताजी एक बार फिर मुझे पढाने के लिए बैठते; लेकिन वह मेरे लिए असाध्य होता। भोर वेला की टूटी हुई नींद अपने अकाल व्याघात का बदला लेती। मैं नींद के मारे बार-बार ढुलक-ढुलक जाता। मेरी

हालत समझकर पिताजी मुझे छुट्टी दे देते और उनके छुट्टी देते ही नींद न जाने कहाँ भाग जाती। फिर मैं होता और देवातात्मा नगाधिराज हिमालय।

मैं रोज ही दोपहर को लाठी हाथ में लेकर अकेले एक पहाड से दूसरे पहाड पर चला जाता, पिताजी कभी इसके बारे मे कोई चिन्ता या उद्वेग व्यक्त न करते। उनके जीवन के अंतिम दिनों तक मैंने यही देखा है कि वह किसी तरह हम लोगों की स्वतंत्रता में बाधक नही होना चाहते थे। उनकी रुचि और मत के विरुद्ध मैंने बहुत-से काम किये हैं—वह चाहते तो डाँटकर उनका निवारण कर सकते थे, लेकिन कभी उन्होंने ऐसा किया नही। जो कर्तव्य है वह हम अपनी इच्छा से करेंगे, इसके लिए वह इंतजार करते। सत्य को और सुन्दर को हम बाहर से ग्रहण करें, इससे उनके मन को तृप्ति न मिलती। वे जानते थे कि जब तक सत्य से प्यार नहीं किया जायगा तब तक उसे ग्रहण ही नही किया जा सकता। वे यह भी जानते थे कि एक बार सत्य से दूर चले जाने पर भी किसी दिन सत्य के पास लौटा जा सकता है; लेकिन कृत्रिम शासन में सत्य को निरुपाय होकर अथवा अंधे ढग से मान लेने पर सत्य के पास लौटने का रास्ता बंद हो जाता है।

अपने यौवनारम्भ मे एक बार मैंने सोचा था कि मैं बैलगाड़ी से ग्राण्ड ट्रंक रोड पकडकर पेशावर तक जाऊँगा। मेरे इस प्रस्ताव का किसी ने अनुमोदन नही किया और इसमे आपत्ति की बातें अनेक थी। लेकिन अपने पिताजी से मैंने जैसे ही यह बात कही उन्होंने जवाब दिया, "यह तो बड़ी अच्छी बात है। रेलगाड़ी से घूमना भी कोई घूमना है।" यह कहकर वह मुझे बतलाने लगे कि उन्होंने किस-किस तरह पैदल और घोडागाड़ी आदि सवारियों से भ्रमण किया है। इसमें मुझ पर कोई कष्ट या विपत्ति पड़ सकती है, इसकी चर्चा भी उन्होने नहीं की।

और एक बार जब मैं आदि समाज के सेक्रेटरी पद पर अभी हाल ही में नियुक्त हुआ था, मैंने पार्क स्ट्रीट वाले मकान में जाकर पिताजी को बतलाया था कि "आदि ब्राह्म समाज की वेदी पर ब्राह्मण को छोड़कर अन्य किसी वर्ण के आचार्य नही बैठते, यह मुझे अच्छा नही लगता।" उन्होंने फौरन मुझसे कहा, "ठीक तो कहते हो। अगर तुमसे हो सके तो जरूर इसका प्रतिकार करना।" उनका आदेश मिल जाने पर मैंने देखा कि प्रतिकार करने की शक्ति मुझमें नही है। मैं केवल अपूर्णता देख पाता हूँ मगर पूर्णता की सृष्टि नहीं कर सकता। आदमी कहाँ हैं। ठीक आदमियों को बुला सकूं ऐसा जोर कहाँ है। तोड़कर उसकी जगह कुछ गढ़ूँ, इसका उपकरण कहाँ है। जब तक ठीक आदमी स्वयं आकर न

जुटें तब तक एक बँधा-रुका नियम ही ठीक है, ऐसा उनका विचार था। लेकिन क्षण-भर के लिए भी किसी विघ्न की बात उठाकर उन्होंने मुझे मना नहीं किया। जिस तरह वे पहाड़ों में मुझे अकेले घूमने देते थे, उसी तरह उन्होंने सत्य के पथ पर भी सदा मुझे अपना गतव्य निर्णय करने की स्वाधीनता दी है। मैं भूल करूँगा इसका उन्हें कोई डर न था, कष्ट पाऊँगा इसकी उन्हें चिन्ता न थी। उन्होंने हमारे सामने जीवन का आदर्श रखा था; लेकिन शासन का डण्डा कभी नहीं उठाया।

पिताजी के साथ मैं बहुत बार घर के बारे में बातें करता। घर से किसी की चिट्ठी आते ही मैं उन्हें दिखलाता। निश्चय ही उन्हें मुझसे ऐसी बहुत-सी तस्वीरें मिलती, जो किसी दूसरे से मिलनी कठिन थी।

बड़े दादा या मँझले दादा के पास से कोई चिट्ठी आने पर वे मुझे पढ़ने के लिए देते। उनको किस तरह चिट्ठी लिखनी होगी, इसकी शिक्षा इसी तरह मुझे मिली थी। बाहर के इन सब कायदे-कानूनों के बारे में शिक्षा देना वे विशेष आवश्यक समझते थे।

मुझे अच्छी तरह याद है, मँझले दादा की किसी चिट्ठी में था कि वे 'कर्म-क्षेत्र की गलफाँसी' के मारे एड़ी, रगड़-रगडकर मर रहे हैं—उस जगह के कई वाक्य लेकर पिताजी ने मुझसे उनका अर्थ पूछा था। मैंने जिस तरह अर्थ किया था वह उनके मन के अनुकूल न था—उन्होंने दूसरा अर्थ किया। लेकिन मेरी ऐसी धृष्टता थी कि मैंने उस अर्थ को स्वीकार करना न चाहा। उसे लेकर बड़ी देर तक उनके साथ मेरी बहस चलती रही और कोई होता तो निश्चय ही उसने मुझे डाँटकर चुप कर दिया होता; लेकिन उन्होंने धैर्य के साथ मेरे सब प्रतिवादों को सहते हुए मुझे समझाने की चेष्टा की थी।

मेरे साथ वह बहुत-सी हँसी-दिल्लगी की बातें करते। उनके मुँह से मैं तब रईसी-अमीरी की बहुत-सी कहानियाँ सुनता। ढाका के कपड़े की किनारी से उनका शरीर छिलता है इस कारण उन दिनों के शौकीन लोग किनारी फाड़कर फेंक देते थे तब कपड़ा पहनते थे—यह सब कहानियाँ उन्हीं के मुँह से मैंने सुनी हैं। ग्वाला दूध में पानी मिलाता है इस कारण दूध की देख-रेख के लिए नौकर नियुक्त हुआ, फिर उसके काम की देख-रेख के लिए दूसरा आदमी नियुक्त हुआ। इस तरह देख-रेख करने वालों की संख्या जितनी ही बढ़ती गई दूध उतना ही पनीला और कौए की आँख-जैसा स्वच्छ नीला होता गया—और जवाब तलब

किये जाने पर ग्वाले ने बताया कि निगरानी करने वाले अगर और बढ़ाये गए तो अगत्या दूध में घोंघे, झिनुक और चिंगड़ी मछली दिखाई देंगी। पहली बार उनके मुंह से यह कहानी सुनकर मुझे बहुत मजा आया था।

इस तरह कई महीने बीत जाने पर पिताजी ने अपने अनुचर किशोरी चाचा जी के साथ मुझको कलकत्ता भेज दिया।

अहमदाबाद

भारती का दूसरा साल शुरू हुआ तो मँझले दादा ने प्रस्ताव किया कि वह मुझे विलायत ले जायँगे। पिताजी ने जब अपनी सम्मति दे दी तो अपने भाग्य-विधाता की इस एक और अयाचित कृपा पर मैं विस्मित हो उठा।

विलायत यात्रा के पहले मँझले दादा मुझे अहमदाबाद ले गये। वह जज थे। मेरी बड़ी भाभी और बच्चे तब इंग्लैंड में थे—इसलिए घर एक तरह से खाली था।

शाही बाग जज की कोठी थी। यह बादशाही जमाने का महल है, बादशाह के लिए ही बना था। गर्मी के दिनों में क्षीण स्वच्छ साबरमती नदी इस महल की दीवार को छूती हुई अपनी बालू की शय्या के किनारे बह रही थी। उसी नदी के किनारे की ओर महल के सामने वाले हिस्से में एक बड़ी-सी खुली हुई छत थी। मँझले दादा कचहरी चले जाते। उस बड़े से मकान में मुझे छोड़कर और कोई न रहता। शब्द के नाम पर सिर्फ कबूतरों का मध्याह्न कूजन सुनाई पड़ता। तब मैं जैसे किसी अकारण कौतूहल से सूने कमरों में घूमता फिरता। एक बड़े कमरे की दीवार में लगी हुई आलमारियों में मँझले दादा की किताबें सजी हुई थीं। उनमें बड़े-बड़े अक्षरों में छपा हुआ बहुत-सी तस्वीरों वाला एक टेनिसन का काव्य-ग्रन्थ भी था। वह ग्रन्थ भी तब मेरे लिए इस राजमहल के समान ही नीरव था। मैं सिर्फ उसकी तस्वीरों में बार-बार चक्कर लगाता रहता। वाक्य एकदम न समझता होऊँ ऐसी बात न थी—लेकिन मेरे लिए वे वाक्य न होकर बहुत-कुछ कूजन के समान ही थे। लायब्रेरी में और भी एक किताब थी, वह था डाक्टर हेबर्लिन द्वारा संकलित श्रीरामपुर का छपा हुआ पुराना संस्कृत-काव्य-संग्रह। इन संस्कृत कविताओं को समझ पाना मेरे लिए असम्भव था। लेकिन वाक्यों की ध्वनि और छंदों की गति मुझको बहुत दिनों तक दोपहर के समय 'अमरु शतक' के मृदंग की थाप-जैसे गम्भीर श्लोकों के चक्कर लगवाती रही। इस शाहीबाग के महल की सबसे ऊपर

की मंजिल में एक छोटे-से कमरे में मैं रहता था। एक छत्ता-भर मधुमक्खियाँ ही मेरे इस कमरे की साझीदार थीं। रात को मैं उसी निर्जन कमरे में सोता—किसी-किसी दिन उस अँधेरे कमरे में दो-एक मधुमक्खियाँ छत्ते से निकलकर मेरे बिस्तर पर आ गिरतीं—जब मैं करवट बदलता तो उन्हें भी बहुत अच्छा न लगता और मेरे लिए भी उनका तीखापन काफी अप्रिय होता। शुक्ल पक्ष की गहरी रात में उसी नदी की ओर की बड़ी छत पर अकेले घूमते रहना भी मेरा एक [illegible] था। इसी छत पर रात के समय घूमते हुए मैंने स्वयं अपने दिए हुए सुर में अपने पहले गीतों की रचना की। उनमें 'बलि ओ आमार गोलापबाला' गीत अब भी मेरे काव्य-ग्रन्थ में अपना स्थान रखता है।

मैं अंग्रेजी में बहुत ही कच्चा था इसलिए सारा दिन डिक्शनरी लेकर तरह-तरह की अंग्रेजी किताबें पढ़ना मैंने शुरू किया। बचपन से ही मेरा एक अभ्यास था, पूरी-पूरी बात न समझ पाने पर भी उससे मेरे पढ़ने में कोई बाधा न होती। थोड़ा-बहुत जो कुछ समझता उसीको लेकर अपने मन में कोई एक अन्दाज खड़ी करके मेरा काम अच्छा खासा चल जाता। इस अभ्यास के भले-बुरे दोनों तरह के फल मैं आज तक भोग रहा हूँ।

विलायत

इस तरह अहमदाबाद और बम्बई में महीने छः महीने बिताकर हमने विलायत की यात्रा की। मैंने अशुभ क्षण में विलायत की यात्रा की चिट्ठियाँ पहले आत्मीय स्वजनों को और फिर भारती में भेजनी शुरू कर दी थीं। आज उन सबको गायब कर देना मेरे वश की बात नहीं है। इन चिट्ठियों में अधिकांशतः लड़कपन की बहादुरी दिखाई देती है। अवज्ञा प्रकट करके, आघात करके, तर्क करके रचना की आतिशबाजी छोड़ने का यह एक प्रयास था। श्रद्धा करना, ग्रहण करना, प्रवेश-लाभ करना इनकी शक्ति ही सबसे बड़ी शक्ति है और विनय द्वारा ही सबसे अधिक अधिकार फैलाया जा सकता है—यह बात कच्ची उम्र के मन समझना न चाहता था। अच्छा लगना, प्रशंसा करना, यह जैसे पराजय है—दुर्बलता हो—इसलिए केवल खोंचा मारकर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने की यह चेष्टा आज मेरे लिए हास्यकर ही होती यदि अक्सर उसके उद्धतपन और असत्य मेरे लिए कष्ट का कारण न होते।

यह कहा जा सकता है कि बचपन से ही बाहर की पृथ्वी के [illegible]

न था। ऐसी हालत में एकाएक सत्रह साल की उम्र में विलायत के जन-समुद्र में पड़ जाने पर एक बार अच्छी तरह डूबने और पानी पी जाने की आशंका थी। लेकिन मेरी मंझली भाभी उन दिनों बच्चों को लेकर ब्राइटन में रहती थीं—उनके आश्रय में पहुँचकर विदेश का पहला धक्का मेरे शरीर में नहीं लगा।

जाड़े का मौसम आ गया था। एक दिन रात को मैं आग के पास बैठकर गप-शप कर रहा था कि बच्चों ने आकर उत्तेजना के स्वर में कहा, "बरफ गिर रही है।" बाहर जाकर देखा—कड़ाके की सर्दी, आकाश में धवल चाँदनी छिटकी हुई, पृथ्वी सफेद बर्फ से ढकी हुई। मैंने हमेशा से पृथ्वी का जो रूप देखा था वह रूप यह न था—यह तो जैसे एक सपना था या ऐसा ही कुछ—पास की सब चीजें जैसे बहुत दूर चली गई थीं, कि जैसे शुभ्रकाय निश्चल तपस्वी गहरे ध्यान में डूबा हुआ हो। अकस्मात् घर से बाहर होते ही ऐसा अद्भुत विराट् सौन्दर्य मैंने और कभी नहीं देखा।

भाभी के यत्न और बच्चों के विचित्र उत्पात-उपद्रव के आनन्द में दिन अच्छी तरह कटने लगे। बच्चे मेरे अद्भुत अंग्रेजी उच्चारण को सुनकर खूब मुस्कराते। उनके और सब खेलों में मुझे कोई बाधा न थी, उनके इसी खेल में मैं पूरे मन से योग न दे पाता था। Warm शब्द में a का उच्चारण o की तरह है और Worm शब्द में o का उच्चारण a की तरह है—यह चीज किसी तरह सहज ज्ञान से जानने की नहीं है, यह मैं कैसे उन बच्चों को समझाता। अभागा मैं उनकी हँसी का निशाना बना जरूर, लेकिन सच तो यह है कि उसका असल निशाना बनना चाहिए अंग्रेजी उच्चारण-विधि को। इन दो छोटे बच्चों को बहलाने के लिए, उन्हें हँसाने के लिए मैं हर रोज तरह-तरह के उपाय ढूंढ निकालता। बच्चों को बहलाने की इस आविष्कार-बुद्धि की जरूरत उसके बाद भी अनेक बार पड़ी है—अब भी वह जरूरत मिटी नहीं है। लेकिन उस शक्ति का वैसा प्राचुर्य मैं अब अपने भीतर अनुभव नहीं करता। बच्चों को अपने हृदय दे देने का मौका वही पहली बार मुझे अपने जीवन में मिला था—इसीलिए दान का आयोजन ऐसे विचित्र ढंग से पूर्ण होकर व्यक्त हुआ।

लेकिन मैंने समुद्र के इस पार के कमरे से निकलकर समुद्र के उस पार के कमरे में जा पहुँचने के लिए तो यात्रा की नहीं थी। बात थी कि पढ़ूंगा-लिखूंगा, बैरिस्टर बनकर अपने देश लौटूंगा। लिहाजा मैं ब्राइटन के एक पब्लिक स्कूल में भरती हो गया। विद्यालय के अध्यक्ष मेरे चेहरे की तरफ देखते ही बोल उठे,

"वाह-वाह, तुम्हारा सिर तो बहुत शानदार है।" (What a Splendid Head You Heaue) यह छोटी-सी बात जो मेरे मन में रह गई है उसका कारण यही है कि घर में मेरा घमंड तोड़ने के लिए जो लोग बराबर लगे रहते थे उन्होंने विशेष रूप से मुझे यह बात समझा दी थी कि मेरा मस्तक और चेहरा दुनिया के बहुत-से लोगों की तुलना मे किसी तरह मध्यम श्रेणी मे गिना जा सकता है। मैं आशा करता हूँ कि पाठक इसे मेरा गुण ही समझेंगे कि मैंने उनकी बात पर पूरी तरह विश्वास कर लिया था और मैं अपने संबंध में सृष्टिकर्ता की तरह-तरह की कृपणता का दुःख अनुभव करते हुए मौन रहता था। इस तरह धीरे-धीरे उनके मत के साथ विलायत वालों के मत का पार्थक्य दो-एक बातो मे देखकर बहुत बार मैंने गंभीर होकर सोचा है कि हो सकता है दोनों देशों के सोचने के ढग और आदर्श बिलकुल भिन्न हो।

ब्राइटन के इस स्कूल की एक चीज देखकर मैं विस्मित हुआ था—छात्र लोग मेरे साथ जरा भी कठोर व्यवहार न करते थे। बहुत बार वह लोग मेरी जेब में संतरा, सेब वगैरह फल ठूँसकर भाग जाते। मैं विदेशी था, शायद इसीलिए मेरे प्रति उनका ऐसा आचरण था। मैं तो ऐसा ही समझता हूँ।

इस स्कूल में भी मेरी पढ़ाई ज्यादा दिन नही चली—यह स्कूल का दोष न था। उन दिनों तारक पालित महाशय इंगलैण्ड में थे। उन्होंने समझ लिया कि इस तरह मेरा कुछ नहीं बनेगा। उन्होंने मँझले दादा से कहकर सबसे पहले मुझे लंदन ले जाकर एक घर मे अकेला छोड़ दिया। वह घर रीजेण्ट पार्क के सामने ही था। उन दिनों बहुत तेज सर्दी पड़ रही थी। सामने के बाग के पेड़ों में एक भी पत्ता न था—बरफ से ढकी हुई आड़ी-तिरछी पतली-पतली डालें लिये हुए वह कतार-के-कतार पेड़ आकाश की ओर देखते हुए बस खड़े थे—उन्हे देखकर मेरी हड्डियाँ तक जैसे सर्दी से काँप जाती। हाल के आये हुए प्रवासी के लिए सर्दी के दिनों में लंदन-जैसा निर्मम स्थान और कोई नही है। आस-पास कोई परिचित नही, रास्ता भी ठीक से पहचाना हुआ नही। अकेले घर में चुपचाप बैठकर बाहर की तरफ ताकते रहने के दिन एक बार फिर जीवन में लौट आए, लेकिन बाहर तब मनोरम न था, उसकी भौहें चढी हुई थीं, आसमान का रंग धुला-धुला-सा था, रोगनी मुर्दे की आँख की पुतली की तरह बुझी-बुझी-सी थी, दसों दिशाएँ जैसे हर ओर से तम को दबा रही हो, संसार मे उदार आमंत्रण नही है। घर में असबाब नही के बराबर था। संयोग से न जाने क्यों एक हारमोनियम था। दिन जब जल्दी से ही अँधेरा

हो जाता तो यही बाजा अकेले बैठा बजाता रहता। कभी-कभी भारतवर्ष के कुछ लोग मुझसे मिलने के लिए आते। उनसे मेरा परिचय बहुत थोड़ा ही था। लेकिन जब वह लोग विदा लेकर उठकर चले जाते तो मेरी इच्छा होती थी कि उनका कोट पकड़कर फिर उन्हें घर के भीतर खींच लूं।

इस घर में रहते समय एक सज्जन मुझे लैटिन पढ़ाने के लिए आते थे। वह बहुत ही दुबले-पतले आदमी थे—शरीर पर का कपड़ा बहुत फटा-पुराना शीत-काल के नग्न पेडों की ही तरह, जैसे वह भी अपने को सर्दी के हाथ से बचा न पाते हों। उनकी उम्र कितनी थी मैं ठीक नहीं जानता; लेकिन यह तो उनको देखने से ही पता चल जाता था कि वह अपनी उम्र से ज्यादा बूढ़े हो गए हैं। किसी-किसी रोज मुझको पढ़ाते समय उन्हें जैसे बात ही खोजे न मिलती और वह लज्जित हो उठते। उनके परिवार के सब लोग उन्हें पागल समझते थे। एक विचार उनके मन में अच्छी तरह बैठ गया था। वह कहते कि दुनिया के किसी-किसी युग में एक ही समय में भिन्न-भिन्न देशों के मानव-समाज में एक ही भाव दिखाई देता है, निश्चय ही सभ्यता के स्तर-भेद के अनुसार उसका वायुमण्डल एक ही रहता है। यह नहीं कि आपस के मिलने-जुलने से एक ही भाव सब जगह फैल जाता है, जहाँ यह मिलना-जुलना नहीं होता वहाँ भी यह बात पाई जाती है। अपने इस मत को प्रमाणित करने के लिए वह तथ्य संग्रह कर रहे थे और लिख रहे थे। इधर घर में अन्न नहीं, देह पर कपड़ा नहीं। उनकी लड़कियों को उनके विचार के प्रति तनिक भी श्रद्धा न थी और सम्भवतः वह इस पागलपन के लिए हमेशा उनको बुरा-भला कहती रहती थीं। किसी-किसी दिन उनके चेहरे को देखकर समझ में आता कि उन्हें कोई अच्छा प्रमाण मिला है और उनका लिखना बहुत काफी आगे बढ़ा है। मैं उस दिन उसी विषय की बात उठाकर उनके उत्साह को और भी बढ़ाता। और फिर किसी-किसी दिन वह बहुत दुखी होकर आते—कि जैसे जो भार उन्होंने ग्रहण किया है उसको अब और उठा नहीं पा रहे हैं। उस दिन पढ़ाई में पग-पग पर बाधा खड़ी होती, दोनों आँखें न जाने किस शून्य की ओर ताकती रहतीं, मन को किसी तरह वह प्रथम पाठ्य लैटिन व्याकरण की ओर खींचकर न ला पाते। इस भाव के बोझ से और लिखने की जिम्मेदारी से झुके हुए, उस भूख के मारे व्यक्ति को देखकर मुझे बहुत ही पीड़ा होती। मैं अच्छी तरह समझता था कि इनसे मुझे अपनी पढ़ाई में प्रायः कोई सहायता न मिलेगी; लेकिन तो भी मेरा मन किसी तरह उन्हें विदा कर देने के लिए तैयार न होता। जितने दिन मैं उस घर में

रहा वे दिन उसी तरह लैटिन पढ़ने का छल करते हुए कटे। विदा लेते समय जब उनका वेतन चुकाने लगा तो उन्होंने करुण स्वर में मुझसे कहा, "मैंने तुम्हारा वक्त बरबाद करने के सिवा और क्या किया है, कोई काम तो मैंने किया नही, मैं वेतन तुमसे न ले सकूंगा।" मैंने बड़ी-बड़ी मुश्किल से उन्हे वेतन लेने पर राजी किया था। मेरे उन लैटिन-शिक्षक ने अपनी बात प्रमाण के साथ मेरे सामने नही रखी थी, लेकिन आज तक मैं उस बात का अविश्वास नही कर पाता। अब भी मेरा यही विश्वास है कि सब आदमियो के मन के साथ मन का एक अखण्ड गहरा सबध रहता है, एक जगह पर उसकी जिस शक्ति की कोई क्रिया होती है दूसरी जगह भी वह रहस्यमय ढंग से फैले बिना नही रहती।

वहाँ से पालित महाशय मुझे बार्कर नाम के एक शिक्षक के घर पर ले गए। वे अपने घर पर ही छात्रों को परीक्षा के लिए तैयार करते थे। उनके घर पर उनकी नेक पत्नी को छोड़कर और कुछ न था, जो मन को आकर्षित करता। ऐसे शिक्षक को छात्र क्यो मिल जाते है यह तो मैं समझ सकता हूँ, इसीलिए कि उसमे बेचारे छात्रों की पसंद का सवाल नहीं पैदा होता—लेकिन ऐसे आदमी को पत्नी कैसे मिल जाती है, यह सोचकर मेरा मन व्यथित हो उठता है। बार्कर की पत्नी की सान्त्वना की सामग्री थी एक कुत्ता—लेकिन जब बार्कर की इच्छा अपनी पत्नी को दण्ड देने की होती तो वह उस कुत्ते को ही कष्ट देते। इस तरह इस कुत्ते को लेकर मिसेज बार्कर ने अपनी वेदना का क्षेत्र और भी विस्तृत कर लिया था।

ऐसी हालत मे जब बड़ी भाभी ने डेवनशायर में टॉर्की नगर से मुझको बुला लिया तो मैं बड़ी खुशी से दौड़कर वहाँ पहुँचा। वहाँ पर पहाड़ में, समुद्र में, फूल-बिछे मैदानों में, चीड़ के वनों की छाया में दो खिलण्डरे शिशु-संगियों के साथ मेरे दिन कितने मजे से कटे यह मैं कैसे बतलाऊँ। दोनों आँखें जब मुग्ध हों, मन में आनंद हिलोरें ले रहा हो और अवकाश से भरे हुए पूरे-पूरे दिन निष्कंटक सुख का भार लिये हुए प्रतिदिन अनंत निस्तब्ध नीले आकाश के समुद्र में जाकर मिल जाते हों, तब भी मन में कविता लिखने की प्रेरणा क्यों नही आती, यह बात सोच-सोच-कर रोज मेरे मन को ठेस लगती थी। इसीलिए एक रोज हाथ में कापी लेकर, सिर पर छाता लगाकर नीले सागर में उठते हुए ज्वार के समय में कवि का कर्तव्य पूरा करने को पहुँचा। जगह मैंने अच्छी चुनी थी—क्योंकि वह न तो छन्द थी, न भाव। एक ऊँची चट्टान, चिर आतुर, समुद्र की ओर शून्य में झुकी हुई थी—सामने को फेन-रेखांकित तरल नीलिमा के झूले पर दिन का आकाश झूलता हुआ, तरंगों

के मधुर गान में मुस्कराता हुआ, सो रहा था—पीछे चीडों की पाँतों की सुगंधित छाया वन-लक्ष्मी के आलस्य-स्खलित आँचल के समान बिखरी हुई थी। उसी चट्टान पर बैठकर मैंने 'भग्नतरी' नाम की एक कविता लिखी थी। समुद्र के पानी ने अगर वहीं आकर उसे डुबो दिया होता तो संभव है कि आज मैं बैठे-बैठे सोच सकता कि चलो, अच्छा ही हुआ। लेकिन वह रास्ता बंद हो गया है। दुर्भाग्य से आज भी वह सशरीर गवाही देने के लिए मौजूद है। ग्रंथावली से वह निर्वासित है, लेकिन जासूसी करने पर उसको खोज निकालना बहुत कठिन न होगा।

लेकिन कर्त्तव्य का प्यादा निश्चिन्त होकर नहीं बैठा। दुबारा पुकार हुई—और मैं फिर लंदन लौट गया। इस बार डाक्टर स्काट नामक एक भद्र गृहस्थ के घर में मुझे आश्रय मिला। एक रोज शाम के वक्त अपना बोरिया-बधना लेकर मैं उनके घर में दाखिल हुआ। घर में केवल डाक्टर हैं, जिनके बाल पक गए हैं। उनकी गृहिणी हैं और उनकी बड़ी लड़की। दो छोटी लड़कियाँ भारतवर्षीय अतिथि के आगमन की आशंका से घबराकर किसी संबंधी के घर भाग गई हैं। शायद उनको जब खबर मिली कि मेरी ओर से किसी सांघातिक विपत्ति की जल्दी कोई आशंका नहीं है तो वे दोनों फिर लौट आईं।

थोड़े ही दिनों में मैं इनके घर का-सा आदमी हो गया। मिसेज स्काट मुझे अपने लड़के-जैसा चाहती। उनकी लड़कियाँ जिस तरह दिल लगाकर मेरी देख-भाल करती वह किसी गहरे दोस्त के यहाँ भी मुश्किल था।

इस परिवार में रहते हुए मैंने एक बात समझी—मनुष्य की प्रकृति सब जगह एक-सी ही होती है। हम लोग बराबर कहते रहते हैं, और मैं भी ऐसा ही समझता था कि हमारे देश में पति-भक्ति की अपनी एक विशेषता है जो यूरोप में नहीं है। लेकिन मैं तो अपने देश की साध्वी गृहिणियों की तुलना मिसेज स्काट से करने पर दोनों में कोई खास अंतर नहीं पाता। उनका मन पति की सेवा में पूरी तरह रमा हुआ था। मध्यवित्त गृहस्थ का घर, नौकर-चाकर भी नहीं थे, लगभग सब काम अपने हाथ से ही करना होता—इसीलिए पति का एक-एक छोटे-से-छोटा काम भी मिसेज स्काट अपने हाथ से करतीं। शाम के वक्त [illegible] करके घर लौटेंगे, उसके पहले ही वह पति की [illegible] आग [illegible] और वहीं उनके रोंयेंदार जूते खुद अपने [illegible]। डा[illegible] अच्छा लगता है और क्या नहीं लगता, [illegible] प्रिय [illegible] चीज उनकी पत्नी एक क्षण के लिए भ[illegible] लेकर

ऊपर की मंजिल से लेकर नीचे रसोई, सीढ़ी, यहां तक कि दरवाजों में लगे हुए पीतल के कुण्डों तक को धो-मांजकर चमाचम कर देतीं। और फिर लोकाचार के अनेक काम तो जैसे हैं ही। गृहस्थी के सब कामों को खत्म करके शाम के वक्त वह हम लोगों की पढ़ाई-लिखाई, गाने-बजाने में पूरी तरह हाथ बँटातीं, अवकाश के समय सबके दिल-बहलाव का इन्तजाम करना, यह भी तो गृहिणी के कर्तव्य का ही अंग है।

लड़कियों को लेकर किसी-किसी दिन शाम के वक्त मेज चलाई जाती। हम कुछ लोग मिलकर एक तिपाई को हाथ लगाये बैठे रहते और तिपाई सारे घर में पागल की तरह दौड़ती फिरती। धीरे-धीरे यह हाल हो गया कि हम लोग जिस चीज में हाथ लगाते वही हिलने लगती। मिसेज स्काट को यह चीज बहुत अच्छी भी न लगती थी। वह कभी-कभी बहुत गम्भीर होकर सिर हिलाकर कहतीं, "मुझे लगता है, यह ठीक बात नहीं है।" लेकिन तो भी वह हम लोगों के इस खिलवाड़ को कभी रोकती नहीं, सह लेती इस अनाचार को। एक रोज डाक्टर स्काट की लम्बी टोपी पर हाथ रखकर जब हम उसको चलाने लगे तो वह घबराई हुई भागी आई और बोली, "नहीं-नहीं, वह टोपी तुम लोग नहीं चला सकते।" उनके पति की टोपी के साथ एक क्षण के लिए भी शैतान का सम्पर्क हो, यह वे न सह सकीं।

इन सब चीजों में जोएक बात मुझे साफ दिखाई देती थी वह थी अपने पति के प्रति उनकी भक्ति। अपने को विसर्जित कर देने वाली उस मधुर नम्रता को याद करके मैं स्पष्ट रूप से यह समझ सका कि स्त्री के प्रेम की स्वाभाविक परिणति भक्ति होती है। जहां उनके प्रेम को अपने विकास में कोई बाधा नहीं होती, वहां वह अपने-आप भक्ति पर ही आकर रुकता है। जहां भोग-विलास के आयोजन बहुत होते हैं, जहां आमोद-प्रमोद ही दिन-रात घेरे रहते हैं, वहां यह प्रेम विकृत हो जाता है, वहां स्त्री की प्रकृति अपने पूर्ण आनन्द को नहीं प्राप्त होती।

कई महीने इस तरह कट गए। मँझले दादा के देश लौटने का समय आ गया। पिताजी ने लिख भेजा था, मुझको भी उन्हीं के संग लौटना होगा। इस प्रस्ताव से मैं खुश हो उठा। भीतर-ही-भीतर देश का आलोक, देश का आकाश मुझे पुकार रहा था। विदा लेते समय मिसेज स्काट ने मेरे दोनों हाथ पकड़कर रोते-रोते कहा, "तुम्हें अगर इस तरह चले ही जाना था तो तुम इतने थोड़े दिनों को आए ही क्यों?"—लंदन का वह घर अब नहीं है—इस डाक्टर-परिवार का कौन परलोक और कौन इहलोक में कहां चला गया, इसकी कोई खबर मुझे नहीं; लेकिन

वह घर मेरे मन मे आज भी वैसे-का-वैसा प्रतिष्ठित है।

एक बार जाड़े के दिनों में टनब्रिजवेल्स शहर के रास्ते से गुजरते हुए मैंने एक आदमी को राह के किनारे खड़े देखा। उसके फटे जूतों के भीतर से पैर दिखाई पड़ रहा था, पैर मे मोजा न था। भीख माँगना मना है इसलिए उसने मुझसे कुछ कहा नही, बस थोड़ी देर मेरे चेहरे की ओर ताकता रहा। मैंने उसको जो सिक्का दिया वह उसकी आशा से कही ज्यादा था। मैं कुछ दूर आगे बढ़ गया तो वह भागा हुआ आया और बोला, "महाशय, आपने भूल से मुझे एक गिन्नी दे दी है।" कहकर वह सिक्का उसने मुझे लौटा देना चाहा। यह घटना शायद मुझे याद भी न रहती लेकिन ऐसी ही एक और भी घटना हुई थी। शायद टॉर्की स्टेशन पर जब मैं पहली बार पहुँचा तो कुली ने मेरा सामान ले जाकर बग्घी पर चढ़ा दिया। रुपयों की थैली खोलने पर मुझे पैनी-जैसी कोई चीज नही मिली, बस एक-आध क्राउन था—वही उसके हाथ में देकर मैंने गाड़ीवान को चलने के लिए कहा और गाड़ी चल पड़ी। थोड़ी देर बाद देखता हूँ कि वही कुली गाड़ी के पीछे-पीछे भागा आ रहा है और आकर गाड़ीवान को गाड़ी रोकने के लिए कह रहा है। मैंने मन-ही-मन सोचा कि वह मुझे अनजान विदेशी समझकर कुछ माँगने आ रहा है। गाड़ी रुकने पर उसने मुझसे कहा, "आपने शायद पैनी समझकर मुझको आधा क्राउन दे दिया है।"

जितने रोज मैं इंग्लैण्ड में रहा किसी ने वहाँ मुझे धोखा नही दिया, यह मैं न कह सकूँगा—लेकिन वह याद रखने की चीज नही है और उसको बड़ा करके देखना अन्याय होगा। मेरे मन मे यह बात खूब अच्छी तरह बैठ गई है कि जो आदमी अपना विश्वास नही खोता वही दूसरे का विश्वास करता है। हम बिलकुल विदेशी थे, अपरिचित थे, जब चाहे धोखा देकर भाग सकते थे—लेकिन तब भी वहाँ दूकानों में, बाजारो में किसी ने हम पर कोई संदेह नही किया।

जितने दिन मैं विलायत में रहा शुरू से लेकर आखिर तक एक प्रहसन मेरे प्रवास के साथ जुड़ा रहा। भारतवर्ष के एक ऊँचे अंग्रेज अफसर की विधवा स्त्री के साथ मेरा परिचय हुआ था। वह प्यार से मुझे 'रूबी' कहकर बुलाती थी। उनके पति की मृत्यु पर उनके एक भारतवर्षीय मित्र ने अंग्रेजी मे एक विलाप-गान की रचना की थी। उसके भाषा-नैपुण्य और कवित्व-शक्ति के सम्बन्ध में अधिक कुछ मैं नही कहना चाहता। मेरे दुर्भाग्य से उस कविता में ऐसा एक उल्लेख था कि वह बिहाग रागिनी मे गाई जायगी। एक दिन उन्होंने मुझको पकड़ा, "इस गाने

को तुम विहाग में गाकर मुझको सुनाओ।" मैंने बहुत भलमनसी में आकर उनके अनुरोध की रक्षा की थी। उस अद्भुत कविता के साथ विहाग सुर का मेल कितना हास्यास्पद था, इसे समझाने के लिए मुझे छोड़कर दूसरा कोई वहाँ न था। वह महिला हिन्दुस्तानी सुर मे अपने पति की शोक-गाथा सुनकर खूब खुश हुई। मैंने सोचा, चलो यही बात खत्म हुई—लेकिन खत्म नही हुई।

निमन्त्रण-सभाओ में अक्सर ही मेरी भेंट उस विधवा रमणी से होती। खाने के बाद जब सब निमन्त्रित स्त्री-पुरुष जमा होते तो वे मुझसे वही विहाग गाने के लिए अनुरोध करती—और लोग सोचते, भारतीय संगीत का शायद एक अनूठा नमूना सुनने को मिलेगा। सब मिलकर बड़े विनयपूर्वक अनुरोध मे योग देते, महिला की जेब से वही छपा हुआ कागज बाहर आता—मेरे कान की लवें जलने लगती। मैं सिर झुकाए-झुकाए झेंपते हुए गले से गाना शुरू करता और स्पष्ट रूप से इस बात को समझ लेना कि इस शोक-गाथा का फल मुझे छोड़कर और किसी के लिए इतना शोचनीय नही। गाना खत्म होने पर दबी हुई हँसी के बीच मे सुनता, "Thank you very much. How interesting!" और तब उस जाड़े में भी मेरा शरीर पसीना-पसीना होने लगता। इस सज्जन की मृत्यु मेरे लिए इतनी बड़ी एक दुर्घटना बन जायगी, यह मेरे जन्म के समय या उनकी मृत्यु के समय कौन सोच सकता था।

इसके बाद जब मैं डाक्टर स्काट के घर मे रहकर लदन यूनिवर्सिटी मे पढने लगा तो कुछ दिन के लिए उन महिला के साथ मेरा मिलना-जुलना बन्द हो गया था। लंदन से बाहर थोड़ी दूर पर उनका मकान था। उसी मकान मे आने के लिए वह अक्सर मुझे चिट्ठी भेज-भेजकर अनुरोध करती। मैं शोक-गाथा के डर से किसी तरह राजी न होता। आखिरकार एक दिन उनका अनुरोध से भरा हुआ एक तार मुझे मिला। तार जिस वक्त मिला, मैं कालेज जा रहा था। इधर, कलकत्ता लौटने का समय भी पास आ गया था। मैंने सोचा, यहाँ से जाने के पहले उस विधवा के अनुरोध को पूरा करूँगा।

कालेज से मैं घर न जाकर सीधा स्टेशन गया। वह दिन बड़ा मनहूस था। खूब सर्दी थी, वर्फ गिर रही थी, कुहरे से आसमान ढका हुआ था। मुझे जिस स्टेशन जाना था, वही इस लाइन का अन्तिम स्टेशन था—लिहाजा मैं निश्चिन्त होकर बैठ गया। गाडी से कब उतरना होगा, यह पता लगाने की भी मैंने कोई जरूरत न समझी।

यहाँ सात बजे पहुँचने की बात थी वहाँ पहुँचते-पहुँचते साढ़े नौ बज गए। गृहस्वामिनी ने कहा, "यह क्या रवी, क्या मामला है ?" मैंने अपने अद्भुत भ्रमण का वृत्तांत बहुत गर्वपूर्वक उन्हें सुनाया हो, ऐसी बात नहीं है।

तब तक वहाँ के निमन्त्रित लोग डिनर समाप्त कर चुके थे। मेरे मन में धारणा थी कि जब मेरा अपराध स्वेच्छा से किया अपराध नहीं था तो उसके लिए मुझे गुरुतर दण्ड भी नहीं सहना पड़ेगा—विशेषकर जब कि एक स्त्री कर्ता-धर्ता है। लेकिन हिन्दुस्तान में काम किये हुए बड़े अंग्रेज अफसर की विधवा स्त्री ने मुझसे कहा, "आओ रवी, एक प्याला चाय पियो।"

मैं कभी चाय नहीं पीता, लेकिन पेट की आग बुझाने में वह प्याली थोड़ी-बहुत सहायता कर सकती है। यह सोचकर मैंने दो-एक गोल बिस्कुटों के साथ वह कड़ी चाय ज्यों-त्यों निगल ली। बैठक में आकर मैंने देखा, बहुत-सी बूढ़ी औरतें जमा हैं। उनमें एक सुन्दरी युवती भी थी, वह अमेरिकन थी और इस समय गृहस्वामिनी के युवक भतीजे के साथ विवाह के पहले का उसका पूर्वराग चल रहा था। घर की गृहिणी ने कहा, "चलो अब नाच शुरू किया जाय।" मेरा नाचना व्यर्थ था और शरीर और मन की अवस्था भी नृत्य के अनुकूल न थी। लेकिन दुनिया में जो बड़े भलेमानुस लोग होते हैं वे असम्भव को भी सम्भव कर दिखाते हैं। तभी तो उन्हीं युवक-युवती के लिए आयोजित इस नृत्य-सभा में मैंने दस घण्टे के उपवास के बाद दो टुकड़े बिस्कुट खाकर तीन काल-उत्तीर्ण प्राचीन रमणियों के साथ नृत्य किया।

लेकिन मेरे कष्टों का अन्त अब भी नहीं हुआ। निमन्त्रण-कर्त्री ने मुझसे पूछा, "आज तुम रात कहाँ गुजारोगे ?" इस सवाल के लिए मैं बिलकुल तैयार न था और जब ठगा-सा उनके मुँह की तरफ ताकता रह गया तो उन्होंने कहा, "रात के दो पहर बीत जाने पर यहाँ की सराय बन्द हो जाती है, इसलिए और देर न करके इसी दम तुम्हें वहाँ चले जाना चाहिए।" सौजन्य का एकदम अभाव न था—सराय मुझको खुद नहीं खोजनी पड़ी। लालटेन लेकर एक नौकर ने मुझे सराय में पहुँचा दिया।

मैंने सोचा, कौन जाने शाप में वरदान छिपा हो—सम्भव है यहाँ खाने की व्यवस्था हो। मैंने पूछा, आमिष हो, निरामिष हो, बासी हो, कुछ भी खाने को मिलेगा क्या ? उन्होंने कहा, पीने के लिए जितना चाहो मिल सकता है, खाना नहीं है। तब मैंने सोचा, निद्रादेवी का हृदय कोमल है, वह खाना भले न दे सकें,

मैंने देखा, सारे स्टेशन दाहिनी तरफ पड़ रहे थे। लिहाजा मैं दाहिनी तरफ की खिड़की से सटकर गाड़ी के लैम्प की रोशनी में एक किताब पढ़ने लगा। थोड़ी ही देर में सांझ हो गई और अँधेरा छाने लगा—बाहर कुछ भी दिखाई न पड़ता था। लदन से जो कुछ यात्री आये थे वे सब अपने-अपने स्टेशन पर एक-एक करके उतर गए।

गतव्य स्टेशन के ठीक पहले वाले स्टेशन को छोड़कर गाड़ी चली। एक बार किसी जगह गाड़ी रुकी। खिड़की से मुँह निकालकर मैंने देखा, चारों तरफ अँधेरा था। आदमी नही, रोशनी नही, प्लेटफार्म नही, कुछ भी नही। जो लोग भीतर रहते हैं वही असली बात नही जान पाते रेलगाड़ी क्यों अ-स्थान, अ-समय रुक जाती है, रेल की सवारियाँ कैसे जान सकती है। लिहाजा मैंने फिर पढने में मन लगाया। थोड़ी देर बाद गाड़ी पीछे हटने लगी—मन-ही-मन मैंने समझ लिया कि रेलगाड़ी के चरित्र को समझने की चेष्टा करना व्यर्थ है। लेकिन जब मैंने देखा कि मैं जिस स्टेशन को छोड़कर गया था उसी स्टेशन पर गाड़ी आकर रुक गई है तो फिर मैं उदासीन न रह सका। स्टेशन के एक आदमी से मैंने पूछा, अमुक स्टेशन कब आयगा ? उसने कहा वही से तो यह गाड़ी अभी-अभी चली आ रही है। घबराकर मैंने पूछा, कहाँ जा रही है ? उसने कहा, लंदन। मैंने समझा, शटल गाड़ी है यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ, यही काम है इसका। अचकचाकर मैं वही उतर पड़ा। पूछा, उत्तर की गाड़ी कब मिलेगी ? उसने कहा, आज रात नही। मैंने पूछा, आस-पास कही कोई सराय है ? उसने कहा, पाँच मील के घेरे मे कोई भी नही।

सवेरे दस बजे खाना खाकर निकला था। इस बीच पानी भी नहीं छुआ, लेकिन जब वैराग्य छोड़कर दूसरा कोई रास्ता न हो तो निवृत्ति ही सबसे सीधी पड़ती है। मोटे ओवरकोट के बटन गले तक अच्छी तरह बन्द करके स्टेशन के लैम्पपोस्ट के नीचे बेंच पर बैठकर एक किताब पढने लगा। वह किताब थी स्पेन्सर की Data of Ethics अभी हाल में ही प्रकाशित हुई थी। जब कोई दूसरा चारा न था तब मैंने यही कहकर अपने मन को समझाया कि इस तरह की किताब मनोयोगपूर्वक पढने के लिए ऐसा भरपूर अवकाश और कभी न मिलेगा।

थोड़ी देर बाद पोर्टर ने आकर कहा, आज एक स्पेशल है—आध घण्टे में आ जायगी। यह सुनकर मन मे ऐसी स्फूर्ति जगी कि फिर मैं Data of Ethics में जी न लगा सका।

मेरी जो इच्छा होगी वही लिखूँगा—क्या लिखूँगा इसका खयाल नही था, लेकिन मैं ही लिखूँगा यही एक-मात्र प्रेरणा थी। ये छोटे-छोटे गद्य-लेख एक समय 'विविध प्रसंग' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए थे—प्रथम सस्करण के बाद ही उन्हें समाधि दे दी गई, द्वितीय सस्करण के रूप मे नई जिन्दगी का पट्टा उन्हें नहीं दिया गया।

मेरा खयाल है कि इन्ही दिनो मैंने 'बउ ठाकुरानीर हाट' के नाम से एक बड़ा उपन्यास लिखना शुरू किया था।

इस तरह कुछ समय गगा के किनारे कट जाने के बाद ज्योति दादा ने कुछ दिनो के लिए चौरंगी मे अजायबघर के पास दस नम्बर सदर स्ट्रीट में मकान लिया था। मैं उनके साथ था। यहाँ भी थोडा-थोडा करके 'ठाकुरानीर हाट' और वैसे ही थोड़ा-थोड़ा करके 'सध्या-सगीत' लिख रहा था। तभी एकाएक मुझमें न जाने कैसा उलट-पलट हो गया।

एक दिन तीसरे पहर के बाद मैं जोड़ासाँको वाले मकान की छत पर घूम रहा था। दिन ढलने की उदासी मे सूर्यास्त की आभा के जुड़ जाने से उस रोज की आसन्न संध्या मेरे लिए विशेष रूप से मनोहर हो उठी थी। मैं मन-ही-मन सोचने लगा, परिचित जगत् के ऊपर से यह जो तुच्छता का आवरण यक-ब-यक उठ गया यह क्या केवल साँझ के धुँधलके का जादू है? नही ऐसा कभी नही हो सकता। मैं स्पष्ट देख रहा था, इसका असल कारण यह है कि मुझमे ही साँझ आ गई है—मुझको ही उसने ढक लिया है। दिन के प्रकाश मे मैं ही जब बहुत उत्कट हो उठता था तब जो कुछ भी मै देखता-सुनता उस सबको मैं खुद समेट लेता, ढक लेता। अब वही मै दूर हट आया हूँ इसीलिए संसार को उसके स्वरूप मे देख रहा हूँ। वह स्वरूप कभी तुच्छ नही कहा जा सकता—वह आनंदमय है, सुन्दर है। फिर मैं बीच-बीच मे अपने-आपको स्वेच्छा से दूर हटाकर संसार को दर्शक के समान देखने की चेष्टा करता और तब मेरा मन खुश हो उठता। मुझे याद है मैंने एक दिन घर के किसी आत्मीय को समझाने की कोशिश की थी कि दुनिया को किस तरह से देखने पर उसे ठीक से देखा जा सकता है और उसके साथ-साथ खुद अपना बोझ भी हल्का हो सकता है—और मैं इसमे तनिक भी सफल हो सका था, यह भी जानता हूँ। इसी समय मुझे अपने जीवन का एक बोध मिला जिसे मैं आज तक नही भूल सका हूँ।

सदर स्ट्रीट का रास्ता जहाँ पर जाकर खत्म हो गया है वहीं पर शायद फ्री

विस्मृति अवश्य देंगी। लेकिन उस रात उन्होंने भी अपनी गोद में, जो सारी दुनिया को समेटे हुए हैं, मुझे जगह न दी। बलुए पत्थर के फर्श वाले उस कमरे में सनसनाती सर्दी थी; एक पुरानी खाट और एक जरा-जीर्ण मुँह धोने की मेज—यही कमरे का कुल असबाब था।

सवेरे इंग-भारती विधवा ने नाश्ते के लिए मुझे बुला लिया। अंग्रेजी दस्तूर के हिसाब से जिसे ठंडा खाना कहते है उसीका आयोजन था। अर्थात् पिछली रात के भोज का बचा-खुचा आज ठंडा-ठंडा खाया गया। इसीका अगर थोड़ा-बहुत हिस्सा कल गर्म या कुनकुनी शक्ल में मिलता तो दुनिया में किसी का कोई बड़ा नुकसान न होता—और मेरा नृत्य बंशी में फँसी हुई मछली के नृत्य-जैसा दयनीय न होता।

खाने के बाद निमन्त्रणकर्त्री ने कहा, "जिन्हें गाना सुनाने के लिए मैंने तुमको बुलवाया था वह बीमार है, बिस्तर पर पड़ी है, कमरे के बाहर खड़े होकर तुम्हें गाना होगा।" सीढ़ी पर मुझे खड़ा कर दिया गया। बन्द दरवाजे की तरफ उँगली से इशारा करते हुए गृहिणी ने कहा, "उसी कमरे मे हैं वह।" मैं उसी अदृश्य रहस्य की ओर मुँह किये खड़ा-खड़ा शोक का गान विहाग रागिनी में गाने लगा। उसके बाद रोगिणी की क्या हालत हुई इसकी खबर मुझे न तो लोगो से मिली और न अखबारो से।

लंदन लौटकर दो-तीन दिन मैंने बिस्तर पर पड़े-पड़े अपनी निरंकुश भलमनसी का प्रायश्चित्त किया। डाक्टर की लड़कियों ने कहा, "तुम्हारी दुहाई है, हम तुम्हारे पैर पड़ती है,इस निमन्त्रण-काण्ड को हमारे देश के आतिथ्य का नमूना मत समझना। यह तुम्हारे हिन्दुस्तान के नमक का गुण है।

प्रभात-संगीत

मैं गंगा के किनारे बैठकर संध्या-संगीत के अलावा कुछ-कुछ गद्य भी लिखता। पर वह भी कोई बँधा हुआ लिखना नही था—वह भी ऐसा ही था, जो मन चाहे लिखना। बच्चे जिस तरह खेल में पतंग उड़ाते हैं, यह भी कुछ-कुछ वैसा ही था। मन के राज्य में जब बसंत आता है तब छोटी-छोटी अल्पायु वाली रंगीन भावनाएँ उड़ने लगती हैं, उनकी ओर किसी का ध्यान भी नही जाता। उन्ही को पकड़ रखने का ग्यान मुझे अवकाश के दिनो में आया था। असल बात यह है कि उन दिनों मैं इसी सनक की डगर पर चल पड़ा था—मन छाती फुलाकर कहता था,

मेरी जो इच्छा होगी वही लिखूंगा—क्या लिखूंगा इसका खयाल नहीं था, लेकिन मैं ही लिखूंगा यही एक-मात्र प्रेरणा थी। ये छोटे-छोटे गद्य-लेख एक समय 'विविध प्रसंग' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए थे—प्रथम संस्करण के बाद ही उन्हें समाधि दे दी गई, द्वितीय संस्करण के रूप में नई जिन्दगी का पट्टा उन्हें नहीं दिया गया।

मेरा खयाल है कि इन्हीं दिनों मैंने 'बउ ठाकुरानीर हाट' के नाम से एक बड़ा उपन्यास लिखना शुरू किया था।

इस तरह कुछ समय गंगा के किनारे कट जाने के बाद ज्योति दादा ने कुछ दिनों के लिए चौरंगी में अजायबघर के पास दस नम्बर सदर स्ट्रीट में मकान लिया था। मैं उनके साथ था। यहां भी थोड़ा-थोड़ा करके 'संध्या-संगीत' लिख रहा था। तभी एकाएक मुझमें न जाने कैसा उलट-पलट हो गया।

एक दिन तीसरे पहर के बाद मैं जोड़ासांको वाले मकान की छत पर घूम रहा था। दिन ढलने की उदासी में सूर्यास्त की आभा के जुड़ जाने से उस रोज की आसन्न संध्या मेरे लिए विशेष रूप से मनोहर हो उठी थी। मैं मन-ही-मन सोचने लगा, परिचित जगत् के ऊपर से यह जो तुच्छता का आवरण यक-ब-यक उठ गया यह क्या केवल सांझ के धुंधलके का जादू है? नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। मैं स्पष्ट देख रहा था, इसका असल कारण यह है कि मुझमें ही सांझ आ गई है—मुझको ही उसने ढक लिया है। दिन के प्रकाश में मैं ही जब बहुत उत्कट हो उठता था तब जो कुछ भी मैं देखता-सुनता उस सबको मैं खुद समेट लेता, ढक लेता। अब वही मैं दूर हट आया हूँ इसीलिए संसार को उसके स्वरूप में देख रहा हूँ। वह स्वरूप कभी तुच्छ नहीं कहा जा सकता—वह आनंदमय है, सुन्दर है। फिर मैं बीच-बीच में अपने-आपको स्वेच्छा से दूर हटाकर संसार को दर्शक के समान देखने की चेष्टा करता और तब मेरा मन खुश हो उठता। मुझे याद है मैंने एक दिन घर के किसी आत्मीय को समझाने की कोशिश की थी कि दुनिया को किस तरह से देखने पर उसे ठीक से देखा जा सकता है और उसके साथ-साथ खुद अपना बोझ भी हल्का हो सकता है—और मैं इसमें तनिक भी सफल हो सका था, यह भी जानता हूँ। इसी समय मुझे अपने जीवन का एक बोध मिला जिसे मैं आज तक नहीं भूल सका हूँ।

सदर स्ट्रीट का रास्ता जहां पर जाकर खत्म हो गया है वहीं पर शायद फ्री

स्कूल के बाग के पेड़ दिखाई पड़ते थे। एक दिन सवेरे बरामदे में खड़ा होकर मैंने उसी ओर देखा। उस समय उन पेड़ों की पत्तियों के बीच से सूरज उड़ रहा था। देखते-देखते एक पल में मेरी आँखों से जैसे एक पर्दा-सा हट गया। मैंने देखा, विश्व-ससार एक अद्भुत महिमा से ढका हुआ है और सभी जगह आनन्द और सौन्दर्य हिलोरें ले रहा है। मेरे हृदय की परत-परत में एक जो विषाद का आवरण था उसे जैसे एक पल में चीरकर मेरा समस्त अन्तरतम एकबारगी विश्व के आलोक से भर उठा। उसी दिन 'निर्झरेर स्वप्नभंग' कविता निर्झर के समान ही फूटकर बह चली थी। लिखना समाप्त हो गया, लेकिन तो भी संसार के आनन्द रूप पर पर्दा नहीं पड़ा। तब यह हुआ कि मेरे लिए फिर कोई भी और कुछ भी अप्रिय नहीं रहा। उसी दिन या उसके अगले दिन एक घटना घटी, जिससे स्वयं मुझे आश्चर्य हुआ। एक आदमी था जो कभी-कभी मुझसे इस तरह के सवाल पूछा करता, "अच्छा श्रीमान्, आपने क्या ईश्वर को कभी अपनी आँखों से देखा है?" मुझे मानना पड़ता कि नहीं देखा है—तब वह कहता, "मैंने देखा है।" मैं अगर पूछता, "देखकर कैसा लगा?" तो वह जवाब देता, "आँखों के सामने बिजबिजाते रहते हैं।" ऐसे आदमी के साथ दार्शनिक आलोचना में समय बिताना सदा प्रीतिकर नहीं हो सकता। विशेषतः उन दिनों मैं प्रायः लिखने की झोंक में रहता। लेकिन आदमी भला था इसलिए मैं रोक-टोक न पाता, सब-कुछ सह लेता।

इस बार दोपहर को जब यह आदमी आया तो मैंने बहुत आनन्दित होकर उससे कहा, "आओ, आओ।" वह कैसा अबोध और अद्भुत ढंग का आदमी था कि जैसे उसके बाहरी आवरण सब खुल गए हों। मैं जिसको देखकर खुश हुआ और जिसकी अभ्यर्थना मैंने की वह उसके भीतर का आदमी था—उससे मेरा विरोध नहीं है, आत्मीयता है। उसे देखकर जब मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ, मन में यह विचार नहीं आया कि मेरा समय नष्ट होगा तो मुझे बहुत खुशी हुई—मुझे लगा कि जैसे मेरा यह मिथ्या जाल कट गया है, इतने दिन मैंने इस प्रसंग में बार-बार अपने को जो कष्ट दिया वह बिलकुल असंगत और अनावश्यक था।

मैं बरामदे में खड़ा रहता, रास्ते से जो भी कुली-मजूर चलते-फिरते दिखाई पड़ते उनका चलना-फिरना, शरीर का गठन, चेहरा-मोहरा, सब-कुछ मुझे बहुत अद्भुत लगता, सभी जैसे संसार-सागर के ऊपर लहरों की तरह बहे चले जा रहे हैं। मैं बचपन से केवल आँख से देखने का अभ्यस्त था, आज जैसे मैंने एकाएक पूरी चेतना से देखना शुरू किया। मैं जब सड़क पर एक युवक को दूसरे युवक के कंधे पर

हाथ रखकर हँसते-हँसते सहज भाव मे जाते देखता तो मेरा मन उसे एक सामान्य घटना के रूप में ग्रहण न कर पाता—विश्व-जगत् की अछोर गहराई में जो अशेष रस का उत्स चारों ओर हँसी का झरना बिखेर रहा है मैं जैसे उसीको देख पाता।

कोई साधारण काम करते समय मनुष्य के अंग-प्रत्यंग में जो गति-वैचित्र्य दिखाई पड़ता है उस पर मैंने कभी इसके पहले ध्यान न दिया था—अब क्षण-क्षण पर समस्त मानव-देह की गति का संगीत मुझे मुग्ध कर लेता। इन सबको मैं अलग-अलग करके समग्र रूप मे देखता। इसी क्षण पृथ्वी पर सर्वत्र अनेकानेक बस्तियो मे अनेकानेक कार्य-प्रयोजनों मे करोड़ो आदमी लगे हुए हैं, चल रहे हैं, फिर रहे हैं—इस ससार-व्यापी समग्र मानव के शरीर की चचलता को व्यापक भाव से एक रूप मे देखकर मुझे एक महान् सौन्दर्य-नृत्य का आभास मिलता। मित्र के साथ मित्र हँस रहा है, बच्चे को लेकर माँ दुलरा रही है, एक गाय दूसरी गाय के पास खडी होकर उसका शरीर चाट रही है, इनमें जो एक अंतहीन अपरिमेयता है वही मेरे मन को विस्मय के आघात से जैसे पीडा पहुँचाने लगी। इस समय मैंने जो लिखा था ·

> हृदय आजि मोर कॅमने गेल खुलि,
> जगत आसि सेथा करिछे कोलाकुलि—

यह कवि-कल्पना की अत्युक्ति न थी। वस्तुत. मैंने जो कुछ अनुभव किया था उसे व्यक्त करने की शक्ति मुझमें न थी।

कुछ समय तक मेरी ऐसी ही बेसुध आनन्द की अवस्था रही। इसी समय ज्योति दादा और दूसरो ने तय किया कि वे लोग दार्जिलिंग जायेंगे। मैंने सोचा, मेरे लिए भी यही अच्छा है—सदर स्ट्रीट मे शहर की भीड़-भाड़ में मैंने जो कुछ देखा उसीको हिमालय के उदार शैल-शिखर पर और भी अच्छी तरह, और भी गहरे पैठकर देख सकूँगा। कम-से-कम इतना मैं जान सकूँगा कि इस दृष्टि से हिमालयअपने-आपको कैसे व्यक्त करता है।

लेकिन सदर स्ट्रीट के उस तुच्छ घर की ही जीत हुई। हिमालय के ऊपर चढकर जब मैंने ताका तो यकायक पाया कि अब वह दृष्टि नही है। बाहर से मै असल चीज कुछ पा सकूँगा, यह सोचना ही शायद मेरा अपराध था। नगाधिराज चाहे जितने बड़े, जितने गगनचुबी क्यो न हो, वे कुछ भी उठाकर हाथ पर नही धर सकते लेकिन जो देने वाला है वह गली में ही एक क्षण में विश्व-संसार दिखा

सकता है।

मैं देवदार के जगलों में घूमा, झरनों के किनारे बैठा, उसके जल में स्नान किया, काचनश्रृंगा की मेघ-मुक्त महिमा की ओर ताकता बैठा रहा—लेकिन जहाँ मैंने यह समझा था कि पाना सरल होगा वही मुझे खोजने पर भी कुछ नहीं मिला। परिचय मिला, लेकिन और कुछ देख नही पाया। रत्न देख रहा था सहसा वह बन्द हो गया और अब मैं डिबिया देख रहा था। लेकिन डिबिया के ऊपर कैसी ही मीनाकारी क्यों न हो उसको गलती से खाली डिबिया-मात्र मानने की आशंका नही रही।

प्रभात-सगीत का गान थक गया और बस उसकी सुदूर प्रतिध्वनि के रूप में मैंने 'प्रतिध्वनि' नाम की एक कविता दार्जिलिंग मे लिखी थी। वह ऐसी दुरूह हो गई थी कि एक बार दो मित्रों ने बाजी लगाकर उसके अर्थ-निर्णय का भार लिया था। हताश होकर उनमे से एक व्यक्ति उसका अर्थ मुझसे समझ लेने के लिए चुपके से मेरे पास आया था। मेरी सहायता से वह बेचारा बाजी जीत सका हो ऐसा मुझे नही लगता। इसमें अच्छी बात इतनी ही थी कि दोनों में से किसी को हारा हुआ रुपया देना नही पडा। हाय रे, जिस दिन मैंने कमल पर और वर्षा-कालीन सरोवर पर कविता लिखी थी उस साफ-सुथरी रचना का दिन कितनी दूर चला गया।

कुछ समझाने के लिए तो कोई कविता लिखता नही। हृदय की अनुभूति कवि के भीतर से आकर लेने की चेष्टा करती है इसलिए कविता सुनकर जब कोई कहता है "समझा नही" तो बड़ी मुश्किल होती है। कोई अगर फूल सूँघकर कहे "कुछ समझा नहीं" तो उसको यही कहना पड़ता है कि इसमे समझने के लिए कुछ भी नही है, यह तो केवल गंध है। जवाब सुनता हूँ, "यह तो मैं भी समझता हूँ लेकिन खामखाह यह गंध क्यों। इसका मतलब क्या है ?" इसके जवाब में या तो आदमी चुप हो जाय या खूब घुमा-फिराकर यह कहे कि प्रकृति के भीतर का आनन्द इस प्रकार गंध के रूप मे प्रकट हो रहा है। लेकिन मुश्किल यही है कि आदमी को जो बात लेकर कविता लिखनी होती है उस बात का मतलब होता है और इसीलिए तो छंद-बंध आदि अनेक उपायो से बात कहने की स्वाभाविक पद्धति को उलट-पुलटकर कवि को बहुत कौशल करना पड़ता है जिससे बात का भाव बड़ा होकर यथासंभव बात के अर्थ को ढक ले सके। यह भाव दर्शन भी नहीं है, विज्ञान भी नही है, कोई काम की चीज भी नही है, वह तो आँख के पानी और

मुँह की हँसी की तरह केवल भीतर का चेहरा है। उसके साथ तत्त्व-ज्ञान, विज्ञान या और कोई बुद्धिसाध्य चीज मिला सको तो मिलाओ, लेकिन वह बहुत गौण रहता है। डोंगी में बैठकर नदी पार करते समय तुम अगर मछली पकड़ सको तो यह तुम्हारी बहादुरी होगी, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वह नदी पार करने की नाव मछली पकड़ने की डोंगी है—उस नाव में मछली नहीं भेजी जा रही है, इसके लिए माँझी को गाली देना अन्याय होगा।

मेरी 'प्रतिध्वनि' कविता बहुत पहले की लिखी हुई है—उस पर किसी की नजर नहीं पड़ती इसीलिए मुझे किसी के सामने उसकी जवाबदेही नहीं करनी पड़ती। वह भली-बुरी जैसी भी हो यह बात मैं जोर देकर कह सकता हूँ कि जान-बूझकर पाठकों को धोखा देने के लिए यह कविता नहीं लिखी गई और न चकमा देकर कोई गंभीर तत्त्व-कथा ही उसमें डाल देने की कोशिश की गई है।

असल बात यह है कि हृदय में एक जो व्याकुलता जागी थी उसीने अपने को व्यक्त करना चाहा था। जिस चीज के लिए व्याकुलता थी उसका और कोई नाम न खोज पाने पर मैंने उसको प्रतिध्वनि कहा था .

ओगो प्रतिध्वनि
बुझि आमि तोरे भालोबासि
बुझि आर कारेओ बासि ना।

विश्व के केन्द्र-स्थल में वह किस गाने की ध्वनि जाग रही है—प्रिय मुख से, विश्व की समस्त सुन्दर सामग्रियों से टकराकर जिसकी प्रतिध्वनि हमारे भीतर आ रही है। हम लोग शायद किसी वस्तु को नहीं बल्कि उसी प्रतिध्वनि को प्यार करते है; क्योंकि यह बात देखी गई है कि एक समय हम जिस चीज की तरफ ताकते भी नहीं दूसरे समय वही चीज हमारे समस्त तन को बेसुध कर देती है।

इतने दिन तक संसार को केवल बाहरी दृष्टि से देखता रहा था इसीलिए उसका समग्र आनन्द-रूप नहीं देख सका। एक दिन अचानक मेरे हृदय के एक गहरे केन्द्रस्थल से जैसे एक आलोक-रश्मि मुक्त होकर जब सारे विश्व पर छा गई तब उस संसार को केवल घटना-पुंज के रूप में देखना संभव नहीं रहा और मैंने उसको ऊपर से नीचे तक परिपूर्ण रूप में देखा। इसीसे एक अनुभूति मेरे मन में आई थी कि हृदय की किसी एक गहरी गुफा से सुर की धारा आकर देश-काल पर बिखर गई है—और प्रतिध्वनि के रूप में समस्त देश-काल से टकराकर वही आनद-स्रोत में लौटी जा रही है। उस असीम की ओर मुड़े हुए मुँह की प्रतिध्वनि

भी हमारे मन को सौन्दर्य से व्याकुल करती है। गुणी जब पूर्ण हृदय के उद्गम से गाना छेड़ देता है तो वह भी एक आनंद है और जब उसी गाने की धारा फिर उसके हृदय को लौटती है तो वह एक दुगुना आनंद होता है। विश्व-कवि का काव्य-गान जब आनंदमय होकर उन्हीके चित्त में लौट जाता है तब उसीको अपनी चेतना के ऊपर से बह जाने देकर हम लोग संसार के अंतिम परिणाम को जैसे अनिर्वचनीय रूप में जान पाते हैं। जहाँ हमें यह उपलब्धि होती है वहीं हमारी प्रीति जगती है, वहाँ हमारा मन भी उस असीम की ओर अभिमुख आनंद-स्रोत के खिंचाव से पागल होकर उसी दिशा में अपने को छोड़ देना चाहता है। सौन्दर्य की व्याकुलता का तात्पर्य यही है। जो सुर असीम से निकलकर सीमा की ओर आता है वही सत्य है, वही मंगल है, वह नियम से बँधा हुआ है, उसका आकार निर्दिष्ट है, उसीकी जो प्रतिध्वनि ससीम से असीम की ओर पुनः लौटती है वही सौन्दर्य है, वही आनंद है। उसको धरने-उठाने-छूने की परिधि में ले आना असंभव है। इसीलिए वह इस तरह घर छुड़वाकर आवाराओं की तरह भटकाती है। 'प्रतिध्वनि' कविता में मेरे मन की यही अनुभूति रूपक और गान में व्यक्त होने की चेष्टा कर रही है। उस चेष्टा का फल स्पष्ट हो उठेगा ऐसी आशा नहीं की जा सकती; क्योंकि चेष्टा स्वयं अपने-आपको स्पष्ट रूप से नहीं जानती थी।

और कुछ उम्र बढ़ने पर मैंने प्रभात-संगीत के संबंध में एक पत्र लिखा था, उसका एक अंश यहाँ उद्धृत करता हूँ :

'जगते केह नाइ सबाइ प्राणे मोर—'

वह एक वयस् की विशेष स्थिति है। जब हृदय पहले-पहल जाग्रत होकर दोनों बाँहें बढ़ा देता है तब ऐसा लगता है कि जैसे वह समस्त संसार को अपने भीतर समेट लेना चाहता है—जिस तरह से वह बच्चा, जिसके दाँत नये-नये निकले हैं, समझता है कि वह समस्त विश्व-संसार को अपने गाल में ठूँस सकता है।

"धीरे-धीरे यह बात समझ में आती है कि मन सचमुच क्या चाहता है और क्या नहीं चाहता। तब तक परिव्याप्त हृदय-वाष्प [illegible] सीमा का सहारा लेकर जलना और जलाना शुरू करता है। एकबार [illegible] की माँग कर बैठने से कुछ भी नहीं [illegible] में किसी [illegible] जी-जान से लगने पर ही असीम के [illegible] का [illegible] [illegible]त-संगीत मेरी अन्तर-प्रकृति का पह[illegible] है [illegible] किसी बात का कोई सोच-विचार

प्रथम उच्छ्वास का एक साधारण-सा व्याप्त आनंद क्रमशः हमको विशेष परिचय की ओर ठेल ले जाता है—जैसे गड्ढे का पानी धीरे-धीरे नदी बनकर बाहर निकलना चाहता है—और तब पूर्वराग अनुराग में परिणत हो जाता है। वस्तुतः एक प्रकार से अनुराग पूर्वराग की अपेक्षा सकीर्ण होता है। वह एक ग्रास में सब-कुछ न लेकर धीरे-धीरे खण्ड-खण्ड करके चखता रहता है। तब प्रेम एकाग्र होकर अंश में समग्र का, सीमा में असीम का उपभोग कर पाता है। तब उसका चित्त प्रत्यक्ष-विशेष के बीच होकर अप्रत्यक्ष-अशेष में अपने-आपको प्रसारित कर देता है। तब वह जो कुछ पाता है वह केवल उसके अपने मन का एक अनिर्दिष्ट भावानंद नहीं होता—बाहर के साथ, प्रत्यक्ष के साथ एकाकार होकर उसके हृदय का भाव सर्वांगीण सत्य हो उठता है।

मोहित बाबू की ग्रंथावली में प्रभात-संगीत की कविताओं को 'निष्क्रमण' नाम दिया गया है; क्योंकि वह हृदय के अरण्य से निकलकर विश्व में पहली बार आने की वार्ता है। इसके बाद सुख-दुःख आलोक-अंधकार के बीच होकर गुजरने वाले संसार-पथ के यात्री इस हृदय के साथ एक-एक करके खण्ड-खण्ड करके नाना सुरों और नाना छंदों में विचित्र भाव से विश्व का मिलन होता है। अंतत: इस चित्र-विचित्र बँधे हुए घाट के भीतर से परिचय की धारा बहती-बहती निश्चय ही फिर कभी एक बार असीम व्याप्ति में जा पहुँचेगी, लेकिन वह व्याप्ति अनिर्दिष्ट आभास की व्याप्ति नहीं पूर्ण सत्य की परिव्याप्ति होगी।

बचपन से ही विश्व-प्रकृति के साथ मेरा खूब ही सहज और गहरा संबंध था। हवेली के भीतर वाले नारियल के सभी पेड़, उनमें से एक-एक, मेरे निकट परम सत्य थे। नार्मल स्कूल से चार बजे लौटकर गाड़ी से उतरते ही मैंने देखा कि हमारे घर की छत के पीछे घने कजरारे बादल घिरे हुए हैं—मन उसी क्षण एक गहरे उल्लास में आकर जैसे खुल गया। उस क्षण की बात आज भी मैं भूल नहीं सका। सवेरे जागने के साथ ही समस्त पृथ्वी का जीवनोल्लास अपने खेल के संगी के रूप में मेरे मन को पुकारकर बाहर निकाल लेता, दोपहर को समस्त आकाश और प्रहर जैसे तीव्र होकर अपनी गहराई में मुझे डुबो देता और रात का अँधेरा मायापथ का जो गुप्त दरवाजा खोल देता उससे सम्भव-असंभव की सीमा को लाँघकर मेरा मन परियों की कहानियों के अद्भुत राज्य के सात समुद्र तेरह नदी पार करके दूर कहीं निकल जाता। इसके बाद एक रोज जब यौवन के पहले उन्मेष में हृदय अपनी खुराक की माँग करने लगा तब बाहर के साथ जीवन

के सहज योग मे बाधा उपस्थित हुई। तब व्यथित हृदय को घेरकर मन ने भीतर-ही-भीतर घूमना शुरू किया—चेतना तब अपने भीतर ही आवद्ध हो गई। इस प्रकार रुग्ण हृदय के कारण भीतर के साथ बाहर का जो सामंजस्य टूट गया, मैंने जिस तरह अपना सदा-सदा का सहज अधिकार खो दिया, संध्या-संगीत में उसी-की वेदना व्यक्त होना चाहती है। आखिरकार एक दिन वह बंद दरवाजा न जाने किस धक्के से एकाएक टूट गया और तब मैंने जो कुछ खो दिया था उसे फिर पा लिया। सिर्फ पा ही नही लिया, वियोग के व्यवधान के बीच होकर और भी अधिक पूर्ण रूप मे पा लिया। सहज को दुरूह करके जब पाया जाता है तभी पाना सार्थक होता है। इसीलिए अपने बचपन के विश्व को प्रभात-संगीत में जब मैंने फिर पाया तब और भी अधिक पाया। इस प्रकार प्रकृति के साथ सहज मिलन, विच्छेद और पुनर्मिलन के बीच होकर जीवन का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ। समाप्त हुआ कहना झूठ होगा। यह अध्याय एक बार फिर और भी कुछ विचित्र रूप में शुरू होकर, एक बार और भी कुछ दुरूहतर समस्या के बीच होकर वृहत्तर परिणति की ओर पहुँचने लगा। जीवन मे व्यक्ति विशेष अपना एक अध्याय पूरा करने आया है—एक-एक पर्व में उसके चक्र का घेरा बढ़ता जाता है—हर घेरा अलग-सा जान पड़ता है, लेकिन गौर से देखा जाय तो केन्द्र एक ही रहता है।

जिन दिनों मैं सध्या-संगीत लिख रहा था उन दिनों खण्ड-खण्ड गद्य 'विविध प्रसंग' के नाम से प्रकाशित हो रहा था। और जब 'प्रभात-संगीत' लिख रहा था या शायद उसके कुछ बाद से उस प्रकार के गद्य-लेख 'आलोचना' नामक ग्रंथ मे संगृहीत होकर छपे थे। इन दो गद्य-ग्रंथो मे जो अंतर आ गया था उसे पढ़कर देखने पर लेखक के मन की गति का निर्णय करना कठीन न होगा।

जहाज का ढाँचा

अखबार मे न जाने कौन-सा एक विज्ञापन देखकर एक दिन दोपहर को ज्योति दादा नीलाम में गए और वहाँ से लौटकर खबर दी कि उन्होंने सात हजार रुपया देकर जहाज का ढाँचा खरीदा है। अब उसके ऊपर इंजन लगाकर, कमरा बनाकर एक पूरा जहाज बनाना होगा।

देश के लोग कलम चलाते हैं, जबान चलाते हैं लेकिन जहाज नहीं चलाते, शायद इसी बात का क्षोभ उनके मन में था। एक दिन उन्होंने देसी दियासलाई जलाने की कोशिश की थी, तीली बहुत बार घिसने पर भी जली नही, देसी करघा

चलाने के लिए भी उनका उत्साह था, लेकिन वह करघा केवल एक अंगोछा पैदा करके हमेशा के लिए बंद हो गया। उससे बाद स्वदेशी के सिलसिले मे जहाज चलाने के विचार से उन्होने आव देखा न ताव, जहाज का एक ढांचा खरीद लिया; वह ढांचा एक दिन भर उठा सिर्फ इंजन या कमरे मे नही—ऋण से और सर्वनाश से भी। लेकिन तब भी यह वात ध्यान मे रखनी होगी कि इन सब चेष्टाओं की हानि चाहे उन्होने अकेले ही उठाई हो, लेकिन उसका जो भी लाभ था वह निश्चय ही देश के खाते मे आज भी जमा है। दुनिया मे इस तरह के बेहिसाबी अव्यावहारिक लोग ही बार-बार देश के कर्मक्षेत्र मे निष्फल अध्यवसाय की बाढ़ लाते रहते हैं, यह बाढ़ अकस्मात् आती है और वैसे ही अकस्मात् चली जाती है, लेकिन हर बार परत की परत उर्वर मिट्टी जो छोड़ जाती है वही देश की धरती को प्राण देती है—उसके बाद जब फसल का दिन आता है तब उनकी बात किसी को याद नही रहती, लेकिन सारी जिन्दगी जो हानि ही उठाते रहे है, मृत्यु के बाद की इस हानि को भी वे अनायास ही स्वीकार कर सकेंगे।

एक ओर विलायती कम्पनी और दूसरी ओर वह अकेले—उन दोनो मे वाणिज्य-नौ युद्ध उत्तरोत्तर कैसा प्रचण्ड हो उठा था शायद आज भी खुलना-बारीशाल के लोगों को याद होगा। होड़ के मारे एक के बाद दूसरा जहाज तैयार हुआ, हानि-पर-हानि बढती गई और आय का अंक धीरे-धीरे क्षीण होते-होते टिकट के मूल्य में आकर पूरी तरह लुप्त हो गया—बारीशाल-खुलना की स्टीमर लाइन में सतयुग आना शुरू हुआ। इतना ही नही कि यात्री भाड़ा दिये बिना आने-जाने लगे, बिना पैसे मिठाई खाना भी उन्होने शुरू किया। ऊपर से बारीशाल के स्वयंसेवक लोग स्वदेशी-कीर्तन गाकर कमर बाँधकर यात्री बटोरने में लग गए, लिहाजा जहाज मे यात्रियों का तो अभाव नही रहा, लेकिन बाकी सारे अभाव बढते चले गए, कम कौन कहे। अंक शास्त्र मे स्वदेश-हितैषिता का उत्साह घुसने की राह नही पाता—कीर्तन चाहे जितना जमे, उत्तेजना चाहे जितनी बढ़े, गणित अपना पहाड़ा भूल नही सकता—लिहाजा तीन तिरिक के नौ ठीक ताल पर टिड्डे की तरह कूद-कूदकर ऋण के रास्ते पर आगे बढ़ने लगा।

अव्यावहारिक भावुक लोगों का एक अभिशाप यह है कि लोग उन्हें झट पहचान लेते है, लेकिन वे लोग आदमी को नही पहचान पाते और वह जो पहचान नही पाते इतना सीखने-भर के लिए बहुत खर्च लगता है और उससे भी ज्यादा देर लगती है; और वह शिक्षा इस जीवन मे उनके काम नही आ पाती। यात्री

लोग जब मुफ्त मिठाई खा रहे थे तब ज्योति दादा के कर्मचारी तपस्वी की तरह उपवास कर रहे हों, इसका कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ा। लिहाजा यात्रियों के लिए भी जल-पान की व्यवस्था थी, कर्मचारी भी उससे वंचित न थे; लेकिन सबसे बड़ा लाभ रहा ज्योति दादा का—वह था उनका इस सब हानि को स्वीकार करना।

उन दिनों खुलना-बारीसाल नदी-पथ की प्रतिदिन की इस जय-पराजय की खबर और चर्चा के मारे हमारी उत्तेजना का अन्त न था। आखिरकार एक रोज खबर आई कि उनका 'स्वदेशी' नामक जहाज हावड़ा ब्रिज से टकराकर डूब गया है। इस प्रकार जब उन्होंने अपने साध्य की सीमा को अच्छी तरह पूरा-पूरा लांघ लिया, अपने पास कुछ भी बाकी नहीं रखा, तभी उनके व्यवसाय की इतिश्री हुई।

मृत्यु-शोक

इसी बीच घर में एक के बाद एक की मृत्यु-घटनाएं घटी। इसके पहले कभी मैंने मृत्यु को अपनी आंखों से नही देखा था। मां की जब मृत्यु हुई तब मेरी उम्र कम थी। बहुत दिनों से वह रोग मे पड़ी थी, कब उनके लिए जीवन-सकट उपस्थित हुआ, यह मैं जान भी न सका। अब तक जिस कमरे मे हम लोग सोते थे उसी कमरे में अलग एक पलंग पर मां सोती थी। लेकिन उनके रोग के समय एक बार कुछ दिनों के लिए उन्हें बोट पर गगा मे घुमाने के लिए ले जाया गया। उसके बाद लौटकर वह अंतःपुर के तीसरे तल्ले वाले कमरे में रहने लगी। जिस रात उनकी मृत्यु हुई हम लोग सो रहे थे, उस समय रात के कितने बजे थे, मुझे पता नहीं। एक पुरानी नौकरानी घबराई हुई हम[illegible] में आई और चीख

मिलता था—उस दिन प्रभात के आलोक में मृत्यु का जो रूप मैंने देखा वह सुख की नींद-जैसा ही प्रशांत और मनोहर था। जीवन से जीवन के अंत का अंतर स्पष्ट रूप से दिखाई न पड़ता था। लेकिन जब उनकी लाश लेकर लोग घर के सदर दरवाजे से बाहर चले गए और हम उनके पीछे-पीछे श्मशान की ओर चले तभी जैसे शोक की आँधी ने एकबारगी आकर मन के भीतर को इसी एक हाहाकार से भर दिया कि अब इस घर के इस दरवाजे से माँ फिर कभी अपने जीवन-भर की इस गृहस्थी के बीच आकर अपने आसन पर न बैठेंगी। साँझ हो गई, हम लोग श्मशान से लौट आए, गली के मोड़ पर आकर तीसरे तल्ले पर पिता के कमरे की ओर मैं ताकता रहा—वह तब भी अपने कमरे के सामने बरामदे में चुपचाप उपासना पर बैठे हुए थे।

घर में जो छोटी बहू थीं, उन्होंने मातृहीन बच्चों का भार लिया। उन्होंने हम लोगों को खिलाकर, पहनाकर, सदा अपने पास रखकर हम लोगों का जो कुछ अभाव हुआ था उसे भुला रखने के लिए दिन-रात चेष्टा की। जो क्षति पूरी न होगी, जिस विच्छेद का प्रतिकार नहीं है, उसको भूलने की क्षमता प्राण-शक्ति का एक प्रधान अंग है—बचपन में वही प्राण-शक्ति नई और प्रबल रहती है, तब वह किसी आघात को गंभीरता से ग्रहण नहीं करती, स्थायी रेखाओं में आँककर नहीं रखती। इसीलिए जीवन में पहली बार जब मृत्यु ने अपनी काली छाया डालते हुए प्रवेश किया, तब वह अपनी कालिमा को चिरंतन न करके छाया के ही समान एक दिन निःशब्द पैरों से चली गई। बाद को बड़े होने पर जब वसंत-प्रभात में मुट्ठी-भर अधखिले बड़े-बड़े बेले के फूल चादर की खूँट में बाँधकर मैं पागल की तरह फिरा करता था—उन्हीं कोमल चिकनी कलियों से जब माथे को सहलाता तो हर रोज मुझे अपनी माँ की शुभ्र उँगलियों की याद तो आती—मैं स्पष्ट रूप से देख पाता कि उन सुंदर उँगलियों की पोर में जो स्पर्श था वही स्पर्श प्रतिदिन इन बेले के फूलों में निर्मल होकर प्रस्फुटित हो आया है, जगत् में उसका अंत नहीं है—इसीलिए हम भूलते भी हैं और याद भी रखते हैं।

लेकिन २४साल की उम्र में मृत्यु से मेरा जो परिचय हुआ वह स्थायी परिचय था। वह उसके बाद के प्रत्येक वियोग के शोक के साथ मिलकर आँसुओं की माला को और लम्बा करके गूँथता रहा है। शिशु वयस का छोटा-सा जीवन बड़ी-बड़ी मृत्यु को भी अनायास किनारे सरकाकर आगे बढ़ जाता है—लेकिन उम्र बढ़ने पर मृत्यु को इतने सहज ढंग से चकमा देकर आगे बढ़ जाना संभव नहीं होता।

इसीलिए उस दिन के समस्त दुःसह आघात को अच्छी तरह छाती फैलाकर लेना पडा था।

तब तक मैं नही जानता था कि जीवन मे कही कोई छोटी-सी दरार भी है, मैं समझता था कि पूरा जीवन हास्य-रुदन से बिलकुल घना बुना हुआ है। उसको लाँघकर और कुछ दिखाई न पडता इसीलिए उसको बिलकुल चरम जानकर मैंने ग्रहण किया था। ऐसे समय में न जाने कहाँ से मृत्यु ने आकर इस अत्यत प्रत्यक्ष जीवन के एक हिस्से में जब क्षण-भर में दरार डाल दी तब मन में न जाने कैसा विस्मय हुआ था। चारो ओर पेड़-पौधे, मिट्टी-पानी, चाँद-सूरज, ग्रह-तारे उसी तरह निश्चित सत्य के समान विराज रहे थे, लेकिन उन्हीके बीच उन्हींके समान जो निश्चित सत्य था—यहाँ तक कि देह, प्राण, हृदय, मन के सहस्रमुख स्पर्श से जिसको उन सबसे अधिक सत्य जानकर मैंने अनुभव किया था वही निकट का व्यक्ति जब इतनी आसानी से एक पल में स्वप्न की तरह शून्य में मिल गया तब सारे ससार की ओर ताककर मन में ऐसा लगा, यह कैसा अद्भुत आत्म-खण्डन है! जो है और जो नही रहा, इन दोनों के बीच कैसे मेल बैठाऊँ!

जीवन के इस रन्ध्र मे होकर जो एक अतल-स्पर्श अंधकार ज्योतित हो गया, वही मुझे दिन-रात अपनी ओर खीचने लगा। मैं घूम-फिरकर केवल उसी जगह आकर खडा हो जाता और उसी अंधकार की ओर ताकता रहता और खोजता रहता—जो चला गया उसके स्थान पर क्या है। शून्यता को मनुष्य किसी प्रकार भीतरी मन से विश्वास नही करता। जो नही है वही मिथ्या है, जो मिथ्या है वही नही है। इसीलिए जो कुछ मैं नही देख रहा हूँ उसमे देखने की चेष्टा, जो नही पा रहा हूँ उसमे पाने की खोज किसी तरह थमना नही चाहती। पेड़-पौधों को अंधकार की दीवार से घेरने पर उनकी समस्त चेष्टा जिस तरह अंधकार को जैसे भी हो प्रकाश मे सिर ऊँचा करने के लिए पैर की उँगलियो पर जोर देकर बार-बार यथाशक्ति खड़ी हो उठती है—उसी तरह मृत्यु ने जब मन के चारों ओर अचानक एक "नही है"—अंधकार की दीवार खडी कर दी तब समस्त मन-प्राण दिन-रात दुस्साध्य चेष्टा करके उसीके भीतर से केवल 'है"—आलोक के संसार में बाहर आने का प्रयत्न करने लगा। लेकिन जब अंधेरे मे कुछ भी सूझ न रहा हो तब उस अंधकार को ही पार करने का रास्ता खोजना, इसके बराबर दुःख और क्या हो सकता है।

तो भी इसी दुःसह दुःख के भीतर से मेरे मन में हर क्षण एक आकस्मिक

आनंद की हवा बहने लगी, उससे मुझे स्वयं आश्चर्य होता। निश्चय ही, जीवन बिलकुल अविचलित नहीं है; दुःख की इस वाणी से ही मन का बोझ हल्का हो गया। हम लोग निश्चल सत्य की पथरीली दीवार मे हमेशा के लिए बन्दी नही है, इस विचार से मैं भीतर-ही-भीतर प्रसन्न होने लगा। जिसे पकड़ा था उसको छोड़ना ही पड़ा, इस चीज को क्षति की ओर से देखने पर मुझे जिस प्रकार वेदना हुई थी उसी प्रकार उसी क्षण उसको मुक्ति की ओर से देखने पर मुझे एक उदात्त शांति का बोध हुआ। संसार का विश्व-व्यापी विपुल भार जीवन-मृत्यु के हानि-लाभ से अपने-आपको सहज ही नियमित करके चारो ओर केवल प्रवाहित होता रहा है, वह भार बँधकर किसी को कही चाँपे न रखेगा—एकेश्वर जीवन की निष्ठुरता किसी को भी न सहनी पड़ेगी—यह बात एक अद्भुत नये सत्य के रूप में उस दिन मैंने पहली बार जानी थी।

इसी वैराग्य के भीतर से प्रकृति का सौन्दर्य और भी गहरे रूप मे रमणीय हो उठा था। कुछ दिनों के लिए जीवन के प्रति मेरी अंधी आसक्ति एकदम चली गई थी शायद इसीलिए चारों ओर के आलोकित नीले आकाश मे पेड़-पौधों का हिलना मेरी आँसुओं से धुली हुई आँखों में और भी अधिक माधुर्य की वर्षा करता। ससार को समग्र रूप मे और सुन्दर रूप मे देखने के लिए जिस दूरी की जरूरत है मृत्यु ने वही दूरी पैदा कर दी थी। मैंने निर्लिप्त भाव से अलग खड़े होकर मृत्यु की वृहत् पटभूमि पर संसार के चित्र को देखा और समझा कि वह बहुत ही मनोहर है।

उसी समय और भी कुछ दिनो के लिए मेरे मन की स्थिति और बाहर का आचरण कुछ वैरागी-जैसा दिखाई दिया था। संसार की लोक-लौकिकता को परम सत्य मानकर उसीके अनुशासन में बराबर चलने के विचार से मुझे हँसी आती। ये सब चीजें जैसे मुझे छूती ही न थी। कौन मेरे बारे मे क्या सोचेगा, यह चिन्ता कुछ दिनों तक मुझे बिलकुल न सताती थी। धोती के ऊपर शरीर पर सिर्फ एक मोटी चादर और पैर में चट्टी पहनकर कितनी ही बार मे थैकर के यहाँ किताब खरीदने गया हूँ। खाने-पीने की व्यवस्था भी बहुत-कुछ बेढंगी-सी थी। कुछ दिनो तक मैं जाड़ा, गर्मी, बरसात हर मौसम मे तीसरे तल्ले के बाहर वाले बरामदे में सोता था, वहाँ आकाश के तारो से मेरी आँखें चार हो पाती और भोर के आकाश से मेरा साक्षात्कार होने में देर न लगती।

ये सारी चीजें वैराग्य की कृच्छ्र-साधना हो ऐसी बात न थी। यह तो जैसे

मेरे लिए छुट्टी का समय था, बेंत हाथ में लिये हुए संसार रूपी गुरु महाशय को जब मैंने नितांत खोखला पाया तो पाठशाला के प्रत्येक छोटे-छोटे शासन को भी चकमा देकर मैं मुक्ति का आनंद लेने की ओर प्रवृत्त हुआ। किसी रोज सवेरे नींद से उठते ही अगर देखूँ कि पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण यक-ब-यक आधा हो गया है, तो क्या बहुत सावधानी से सरकारी रास्ता पकड़कर चलने की इच्छा होगी। ऐसा अगर हो तो निश्चय ही मैं हरिसन रोड के चौमंज़िले मकानों को यों ही फलांगता चलूं और मैदान में हवा खाने के समय अगर आक्टरलोनी मानूमेण्ट सामने आ पड़े तो उसके भी बगल से निकलने की प्रवृत्ति न हो और मैं पांव से उसको भी लांघकर पार हो जाऊं। सचमुच यही हाल था—पाँव के नीचे से जीवन का खिंचाव कम होते ही मैंने बँधा रास्ता एकदम छोड देने का ढंग निकाल लिया था।

मकान की छत पर अखण्ड गहरे अंधकार में मृत्यु-राज्य में किसी शिखर पर फहराती हुई एक पताका, उसके काले पत्थर के तोरण-द्वार पर अंकित कोई एक अक्षर या किसी एक चिन्ह को देखने के लिए मैं जैसे सारी-सारी रात ऊपर अंधे की तरह दोनों हाथों से टटोलता रहता। और फिर सवेरे के वक्त जब मेरे उसी बाहर बिछे हुए बिस्तर पर भोर का प्रकाश आकर पड़ता तो मैं आँखें मलकर देखता कि जैसे मेरे मन के चारो ओर का आवरण घुलता जा रहा है, कुहासा फट जाने पर पृथ्वी, नदी, पहाड़, अरण्य जिस तरह झलमला उठते हैं उसी तरह जीवन-लोक की सब तरफ फैली हुई तस्वीर मेरी आंखों को ओस से नहाई हुई नई और सुन्दर दिखाई पड़ी है।

यह रचना सबसे पहले अगस्त १९११ से जुलाई १९२२ तक (भाद्र १३१८ से श्रावण १३१९ तक) 'प्रवासी' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई थी। जुलाई १९१२ में इसका पुस्तक रूप में प्रकाशन हुआ। पुस्तक का चित्रांकन गगनेन्द्रनाथ ठाकुर ने किया था। सन् १९६० में 'विश्वभारती' ने इसका पुनर्मुद्रण किया। इसका अंग्रेज़ी अनुवाद 'माई रेमिनिसेंसेज' नाम से मैकमिलन द्वारा प्रकाशित हुआ है।

द्वितीय खण्ड

पत्र-धारा

छिन्न पत्र

: १३ :

लदन

१० अक्तूबर १८९०

आदमी क्या लोहे की मशीन है जो ठीक नियम के अनुसार चलेगा ? आदमी का मन इतना विचित्र है और उसका कारखाना इतना फैला हुआ है, इतनी दिशाओं में उसकी गति है और इतनी तरह के उसके अधिकार है कि उसे इधर-उधर होना ही पड़ेगा। वही उसके जीवन का लक्षण है, उसके मनुष्यत्व का चिह्न, उसकी जड़ता का प्रतिवाद। यही दुविधा, यही दुर्बलता जिसमे नही है उसका मन अत्यंत संकीर्ण, कठोर और जीवन-विहीन होता है। जिस चीज को हम लोग प्रवृत्ति कहते है और जिसके प्रति हम सदा कटु भाषा का प्रयोग करते है वही तो हमारे जीवन की गति-शक्ति है—वही अनेक प्रकार के सुख-दुःख, पाप-पुण्य के बीच से हमें अनंत की ओर विकसित करती रहती है। नदी अगर पग-पग पर कहे, "समुद्र कहाँ है, यह तो मरुभूमि है, वह तो जंगल है, वह तो बालू का मैदान है, मुझे जो शक्ति ठेले लिये जा रही है वह शायद मुझे भुलावा देकर और कहीं लिये जा रही है"—ऐसा होने पर जिस प्रकार का भ्रम उसे होगा बहुत-कुछ वैसा ही भ्रम हमें भी प्रवृत्ति पर बिलकुल अविश्वास करने से होता है। हम लोग भी प्रतिदिन विचित्र संशयों के बीच होकर बहते चले जाते है, अपना अंत हम लोग नही पाते, लेकिन जिन्होने हमारे अनंत जीवन में प्रवृत्ति नाम की प्रचण्ड गति-शक्ति दी है वही जानते हैं कि उसके माध्यम से वह हमें किस तरह चलायेंगे। हमसे सदा यही एक बड़ी भूल होती है कि हम लोग समझते है कि हमारी प्रवृत्ति जिस जगह पर हमे ले आई है वही हमें छोड़कर चली जायगी, उस समय हम नही जान पाते कि वह उन सब चीजों के बीच से हमे खींचकर निकाल लेगी। जो शक्ति नदी को मरुभूमि के बीच ले आती है वही शक्ति उसे समुद्र में ले जाती है,—जो भ्रम में डालती है वही भ्रम से निकाल भी लेती है—इसी तरह हम

लोग चलते हैं। जिसमें यह प्रवृत्ति अर्थात् जीवनी-शक्ति की प्रबलता नहीं है, जिसके मन का रहस्यमय विचित्र विकास नहीं हुआ है, वह सुखी हो सकता है, सज्जन हो सकता है और उसकी उस संकीर्णता को लोग मनोबल कह सकते हैं, लेकिन अनंत जीवन का पाथेय उसके पास अधिक नहीं है।

: १४ :

पतिसर
१८९१

अपनी बोट कचहरी से बहुत दूर ले आकर एक सूनी जगह में बांध दी है। यहाँ कहीं शोर-गुल नहीं है, चाहे भी तो नहीं मिल सकता, संभव है कि दूसरी फुटकर चीज़ों के साथ बाजार में मिल जाता हो। मैं इस वक्त जहाँ हूँ वहाँ पर लोगों के चेहरे बहुत नहीं दिखाई पड़ते। चारों तरफ बस धू-धू करता हुआ मैदान; खेतों की फ़सल कट गई है, सिर्फ कटे धान की खूंटियों से सारा मैदान भरा पड़ा है। कल एक बार सारे दिन के बाद सूर्यास्त के समय इन खेतों में घूमने के लिए निकला था। सूर्य लाल होते-होते पृथ्वी के क्षितिज में जाकर डूब गया। चारों ओर कैसा सुन्दर लग रहा था, कैसे बतलाऊँ तुम्हें! बहुत दूर पर दिगंत की सीमा-रेखा के पास पेड़-पौधों का एक घेरा था; वह जगह ऐसी माया-मयी हो उठी, नीला और लाल रंग मिलकर सब-कुछ ऐसा धुंधला-धुंधला-सा दिखाई देने लगा कि ऐसा जान पड़ा मानो यही संध्या का घर है, यहीं पहुँचकर वह शिथिल भाव से अपना रंगीन आँचल उतार देती है, बड़े यत्न से अपने संध्या-तारे को बाल लेती है, अपनी निभृत निर्जनता में माँग में सेंदुर डालकर दुल्हन की तरह किसी की प्रतीक्षा में बैठी रहती है, बैठी-बैठी पैर से पैर जोड़कर तारों की माला गूँथती रहती है और गुन-गुन स्वर में सपने बुनती रहती है। समस्त अपार मैदान पर एक छाया फैली पड़ी है—एक कोमल विषाद, आँसू उसे नहीं कह सकते, निर्निमेष आँख के बड़े-बड़े कोयों के नीचे जैसे एक गहरा डबडबाया हुआ-सा भाव। ऐसा सोचा जा सकता है—धरती माँ संसार में अपने बच्चे-कच्चे, कोलाहल और गृहस्थी के काम लिये बैठी है; जहाँ जरा-सी दरार है, थोड़ी-सी निस्तब्धता है, थोड़ा-सा खुला हुआ आकाश है, वहीं उसके विशाल हृदय का अंतर्निहित वैराग्य और विषाद फूट पड़ता है, वहीं उसका दीर्घ निश्वास सुनाई पड़ता है। भारत में जैसा बाधाहीन स्वच्छ आकाश मिलता है, दूर-दूर तक फैली

हुई समतल भूमि मिलती है, ऐसी यूरोप मे कहीं मिलती है या नहीं, मुझे संदेह है। मानो इसीलिए हमारी जाति विशाल पृथ्वी के उस असीम वैराग्य को खोज सकी है; इसीलिए हमारी पूरवी मे हाटोडी मे समूचे विशाल जगत् के हृदय का हाहाकार जिस प्रकार व्यक्त हुआ है, वह सबके घर की चीज नही। पृथ्वी का जो अंश है जो कर्मपटु है, स्नेहशील है, सीमाबद्ध है; उसका भाव हमारे मन मे अपना प्रभाव फैलाने का वैसा अवसर नही पाता। पृथ्वी का जो भाव निर्जन है, विरल है, असीम है, उसीने हमे उदासीन कर दिया है। इसीलिए सितार मे जब भैरवी की मींड़ खींची जाती है तो हमारा भारतीय हृदय भी जैसे उसके साथ मसोस उठता है। कल शाम के वक्त सूने मैदान में पूरवी बज रही थी, पाँच-छः कोस मे अकेला मैं एक प्राणी घूम रहा था और एक और प्राणी पगड़ी बाँधे हाथ मे लाठी लिये बड़े संयत भाव से बोट के पास खड़ा था। मेरे बाईं तरफ छोटी-सी नदी दोनों तरफ के ऊँचे कगारो के बीच होकर टेढ़ी-मेढ़ी बहती हुई थोडा आगे जाकर ही आँख से ओझल हो गई है, पानी मे लहर की रेखा तक नही है, केवल संध्या की आभा भरती हुई-सी हँसी की तरह ज़रा देर के लिए दिखाई पड़ी। जैसा लम्बा-चौड़ा मैदान है वैसी ही लम्बी-चौड़ी निस्तब्धता, केवल एक चिड़िया है जो मिट्टी मे रहती है, वही चिड़िया जैसे-जैसे अँधेरा घना होने लगा वैसे-वैसे मुझे अपने सूने स्थान के पास बराबर आते-जाते देखकर व्याकुल संदेह के स्वर में टी-टी करके चीखने लगी। धीरे-धीरे यहाँ के कृष्ण पक्ष के चाँद का प्रकाश हल्का-सा फैलने लगा। बराबर नदी के किनारे-किनारे खेत मे से होकर एक सँकरी पगडण्डी चली गई है, वही मैं सिर झुकाए चलता-चलता सोच रहा था।

: ३६ :

सियालदह
अक्तूबर १८९१

आज बड़ा अच्छा दिन है। घाट पर एक-एक दो-दो करके नावें लग रही है, बाहर से प्रवासी पूजा की छुट्टी में अपना पोटला-पोटली, बोरिया-बक्चा लादकर तरह-तरह की उपहार-सामग्री लिये हुए एक वर्ष के बाद अपने घर लौट रहे हैं। मैंने देखा, एक बाबू ने घाट के पास नाव के आते ही पुराने कपड़े बदलकर एक नई चुन्नटदार धोती पहनी, कुर्ते के ऊपर सफेद रेशम का एक चाइना कोट पहना और एक तह की हुई चादर बड़े जतन से कंधे के ऊपर डालकर, छाता कंधे पर

रखकर गाँव की तरफ चले। धान के खेत थर-थर काँप रहे हैं। आकाश में उजले-उजले बादलों के स्तूप हैं, उन्हीके ऊपर आम और नारियल के पेड़ सिर उठाये खड़े हैं, नारियल के पत्ते हवा में सरसरा रहे हैं, मैदान में दो-एक कांस फूलने लगे है—सब मिलाकर बड़ा सुख देने वाला दृश्य है। बाहर से जो आदमी अभी-अभी अपने गाँव लौटा है उसके मन का भाव, घर के लोगों से मिलने की उसकी उत्कंठा और शरद का यह आकाश, यह पृथ्वी, सवेरे की यह हल्की-सी ठंडी हवा—और पेड़-पौधे, तृण-गुल्म, नदी की तरंग, सबके भीतर का एक अविश्राम सघन कंपन सब-कुछ मिलकर झरोखे मे बैठे हुए इस अकेले युवक को सुख-दु:ख से प्रायः विभोर किये दे रहा था। खिडकी के पास अकेले बैठकर आँख खोलकर देखने पर मन मे नई-नई साधें जगती हैं—नई साध उन्हें कहना ठीक नही, पुरानी साधें नई-नई आकृति धारणा करने लगती हैं। परसों मैं इसी तरह बोट की खिड़की के पास चुपचाप बैठा था, डोंगी मे एक माँझी गाना गाते-गाते निकल गया, बहुत अच्छे स्वर में गा रहा हो, ऐसा भी नही। अचानक मुझे याद आया कि बहुत दिन हुए बचपन में हम लोग बोट से पद्मा नदी में आ रहे थे। एक बार रात के प्रायः दो बजे नींद टूट जाने से बोट की खिडकी उठाकर मुंह निकालकर मैंने देखा कि शान्त नदी पर चाँदनी फैली हुई है, छोटी डोंगी मे एक छोकरा अकेला डांड चला रहा है, ऐसे मीठे गले से वह गा रहा था जैसा मीठा गाना मैंने और कभी नही सुना। यकायक मेरे मन मे इच्छा जागी, काश कि एक बार फिर ठीक उसी दिन से मुझे जीवन मिल जाय! और एक बार परीक्षा करके देखा जाय, इस बार उसको शुष्क अतृप्ति करके किनारे न रखूंगा—कवि का गान गले में लेकर एक छप-छप करती हुई डोंगी में बैठकर ज्वार के समय कूद पड़ूं, गीत गाऊँ, जाकर देख आऊँ कहाँ क्या है, अपने को भी एक बार जनाऊँ और दूसरों को भी एक बार जानूं, एक बार जीवन मे यौवन से उच्छ्वसित होकर हवा की तरह हू-हू करते हुए घूम आऊँ, और फिर घर लौटकर अपना परिपूर्ण,प्रफुल्ल वार्धक्य कवि के समान व्यतीत करूँ। कोई बहुत ऊँचा आइडियल यह नही है। संसार का हित करना इससे कही बडा आइडियल हो सकता था, लेकिन मैं सब-कुछ मिलाकर जिस तरह का आदमी हूँ वह चीज मेरे मन मे जागती ही नही। उपवास करके बिना सोये, आकाश की ओर निहारते हुए, सदा मन-ही-मन वितर्क करते हुए अपनी बात-बात मे पृथ्वी को और मानव-हृदय को वंचित करते हुए, अपनी इच्छा से रचे हुए इस दुर्भिक्ष के लिए मैं इस दुर्लभ जीवन का त्याग नहीं करना

चाहता। पृथ्वी सृष्टिकर्ता की एक चाल और शैतान का एक फन्दा है, इस बात को ध्यान मे न लाकर पृथ्वी को विश्वासपूर्वक प्यार करके, प्यार पाकर, मनुष्य की तरह जीकर मैं अगर मनुष्य की तरह मर सकूँ तो मेरे लिए यही बहुत है—देवता के समान हवा हो जाने की चेष्टा करना मेरा काम नही है।

: ४५ :

बोलपुर
शनिवार २ मई, १८९२

दुनिया मे बहुत-से पैराडॉक्स है। उन्हीमे एक यह भी है कि जहाँ भी विराट् दृश्य है, असीम आकाश है, निविड मेघ है, गहरा भाव है अर्थात् जहाँ भी अनन्त का आविर्भाव है वही उसका उपयुक्त संगी एक आदमी है—बहुत-से आदमी बड़े क्षुद्र और बकवादी होते है। असीमता और एक अकेला आदमी दोनों परस्पर समकक्ष है, दोनों अपने-अपने सिंहासन पर आमने-सामने बैठने के अधिकारी है। बहुत-से आदमी एक जगह जुटने पर वह सब एक-दूसरे को छाँट-छूँटकर बहुत छोटा कर देते हैं। एक आदमी अगर अपनी समस्त अंतरात्मा को विस्तृत करना चाहे तो उसके लिए इतनी अधिक जगह की जरूरत होती है कि आस-पास पाँच-छ लोगो की गुंजाइश नही रहती। बहुत-से लोगो को जुटाने पर एक-दूसरे के अनुरोध से अपने को छोटा करना होता है, जहाँ जितनी बडी दरार होती है वहाँ उतना ही सिर नीचा करना पड़ता है। भीड़ मे आदमी दोनो बाँहे फैलाकर अंजुली जोड़कर प्रकृति के इस अगाध-अनत विस्तार को ग्रहण नही कर पाता।

: ६४ :

सियालदह
२० अगस्त १८९२

रोज सवेरे आँख खुलते ही मै अपनी बाईं ओर पानी और दाहिनी ओर नदी का किनारा सूरज की किरणों मे नहाया हुआ देखता हूँ। बहुधा तस्वीर देखने पर मन मे यह जो बात आती है "अहा, यहाँ अगर मैं रह पाता!" ठीक वही इच्छा यहाँ आकर तृप्त होती है, ऐसा लगता है कि मैं एक दमकती हुई तस्वीर के बीच रह रहा हूँ, यथार्थ जगत् की कोई कठोरता यहाँ पर मानो नही है। बचपन मे रॉबिन्सन क्रूसो, पाल वर्जिनी आदि पुस्तको मे पेड़-पालो-समुद्र की तस्वीर देखकर

मन बहुत उदास हो जाता है—यहाँ की धूप में मेरी वही बचपन की स्मृति जाग उठती है। इसका ठीक मतलब क्या है, मैं पकड़ नहीं पाता; इसके साथ कौन-सी एक आकांक्षा जुड़ी हुई है, मैं ठीक से समझ नहीं पाता। यह जैसे इसी विराट् धरती के प्रति रंगों का एक खिंचाव है। कभी जब मैं इस पृथ्वी के साथ एकाकार हुआ था, जब मेरे ऊपर हरी घास उगती, शरद् का प्रकाश पड़ता, सूरज की किरणों में मेरे दूर-दूर तक फैले हुए हरे-भरे अंग के एक-एक रोम-कूप से यौवन की सुगंधित गर्मी उठती रहती, मैं दूर-दूरांतर, देश-देशांतर के जल-स्थल-पर्वत को समेटे हुए उज्ज्वल आकाश के नीचे निस्तब्ध भाव से लेटा रहता—तब शरद् के सूर्य का आलोक मेरे वृहद् सर्वांग में जो एक आनंद-रस, एक जीवनी-शक्ति, अति-अव्यक्त अर्ध-चेतन और महा-प्रकांड भाव में संचारित होती रहती, वही कुछ-कुछ याद आता है। मेरे मन का यह जो भाव है सो जैसे इसी सतत अंकुरित, मुकुलित, पुलकित सूर्य-सनाथा आदिम पृथ्वी का भाव है। जैसे मेरी इसी चेतना का प्रवाह पृथ्वी की प्रत्येक घास और पेड़ की एक-एक जड़ और शिरा-शिरा में धीरे-धीरे प्रवाहित हो रहा है, समस्त शस्य-क्षेत्र रोमांचित हो रहे हैं और नारियल के पेड़ की एक-एक पत्ती जीवन के आवेग से थर-थर काँप रही है। इस पृथ्वी के ऊपर मेरा जो एक आंतरिक आत्मीय वत्सलता का भाव है, इच्छा होती है कि उसे ठीक से व्यक्त करूँ—लेकिन लगता है कि उसे बहुतेरे ठीक-ठीक समझ न पायेंगे, उन्हें न जाने कैसा अटपटा-सा मालूम होगा।

: ६६ :

नाटोर

२ दिसम्बर १८९२

कल मैं माँ—के यहाँ गया था। सवेरे-शाम हम सब साथ-साथ घूमने गए। दोनों ओर खेत, बीच में से रास्ता, मुझे बहुत अच्छा लगा था। बंगाल के साँय-साँय करते हुए सूने खेत और उसके आस-पास के पेड़-पालों के बीच सूर्यास्त—कैसी एक विशाल शांति और कोमल करुणा। हमारी और आपकी इस पृथ्वी और उस बहुत दूर के आकाश के साथ कैसा एक स्नेह-भार-विनत मौन-म्लान मिलन। अनंत में जो एक विराट् चिर विरह का विषाद है वह इस साँझ की परित्यक्ता पृथ्वी के ऊपर पड़ते हुए उदास आलोक में अपने को थोड़ा-सा व्यक्त कर देता है; समस्त जल, स्थल, आकाश में कैसी एक मुखर नीरवता है। बड़ी देर तक चुपचाप

संकट के देखते रहने से मन में आता है कि अगर यह चराचर-व्याप्त नीरवता अपने-आपको और धारण न कर सके, यदि सहसा उसकी अनादि भाषा विदीर्ण होकर व्यक्त हो पाय तो कैसा एक गहरा, गंभीर, शांत, सुन्दर, करुण संगीत पृथ्वी से लेकर नक्षत्र-लोक तक बज उठे। सचमुच यही हो रहा है। हम थोड़ा-सा ध्यान लगाकर, स्थिर होकर चेष्टा करें तो संसार के सपूर्ण सकलित आलोक और रंगो की वृहद् हारमनी को मन-ही-मन एक विपुल सगीत के रूप मे अनूदित कर सकते हैं। इस जगत्-व्यापी दृश्य-प्रवाह की अविरल कपन-ध्वनि को केवल एक बार आँख मूंदकर मन के कान से सुनने की जरूरत है। लेकिन मैं इस सूर्योदय और सूर्यास्त के बारे में कितनी बार लिखूंगा ! नित्य नये रूप मे अनुभव तो किया जा सकता है, लेकिन नित्य नये रूप मे मैं उसे व्यक्त कैसे करूँ ?

: ७६ .

कटक

मार्च १८९३

ऐसे भी लोग होते है जो कुछ न करके भी आशातीत फल देते है; सु---ऐसा ही आदमी है। वह अच्छी तरह पास करेगा, प्राइज पायगा, लिखेगा, बड़ा काम करेगा या अच्छी नौकरी करेगा, यह सब जैसे उतना आवश्यक नहीं जान पड़ता---ऐसा लगता है कि जैसे कुछ न करके भी उसमें एक चरितार्थता है। अधिकांश लोगों के लिए अकर्मण्य रहना शोभा नही है। उनकी अपदार्थता फूट उठती है, लेकिन सु--- चाहे कुछ भी न करे लेकिन कोई उसे अयोग्य कहकर उससे घृणा न कर सकेगा। काम-काज की व्यस्तता मनुष्य के लिए आवरण के समान है। सभी कामनप्लेस लोगों के लिए वह अत्यत आवश्यक है---उससे उनका दैन्य, उनकी असमर्थता ढक जाती है--- लेकिन जो स्वभावत: परिपूर्ण प्रकृति के लोग होते है वे कर्म के आवरण से मुक्त होने पर भी एक प्रकार की शोभा और संभ्रम की रक्षा कर पाते हैं। सु---के जैसी सोलह आना शिथिलता और किसी लड़के में देखने पर निश्चय ही असह्य जान पड़ती, लेकिन सु---के आलस्य मे एक मिठास है। वह इसलिए नही कि मैं उसे प्यार करता हूँ --- उसका प्रधान कारण यह है कि चुपचाप बैठे रहकर भी उसका मन काफी परिणत होता जा रहा है और अपने आत्मीय स्वजनों के प्रति उसमें तनिक भी उदासीनता नहीं है। जिस आलस्य में मूढ़ता और दूसरे के प्रति अवहेलना धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते गोल-गोल गाल और चिपचिपे तेल की जैसी ही उठती है

वही असल में घृणा के योग्य है। सु—एक सहृदय और सजग आलस्य के चलते जैसे मीठे रस में पगा जा रहा है। जिस पेड़ में सुगंधित फूल खिलते हैं उसमें अगर खाने योग्य फल न भी लगें तो कोई बात नहीं। सु—को जो सब लोग प्यार करते है वह उसके किसी काम के कारण नहीं, क्षमता के कारण नहीं, चेष्टा के कारण नहीं—उस सामजस्य और सौन्दर्य के कारण जो उसकी प्रकृति में है।

. ८० .

सियालदह
८ मई १८९३

कविता मेरी बहुत दिनों की प्रेयसी है—शायद जब मैं रथी की उम्र का था तभी से मेरे सग उसकी मँगनी हुई थी। तब से हमारे तालाब के किनारे वाले बर-गद की छाँह, हवेली के भीतर का बाग, भीतर वाले इकतल्ले के अनजाने कमरे और बाहर की सारी दुनिया, नौकरानियों के मुँह से सुनी हुई परी-कहानियाँ और लोक-गीतों की कड़ियाँ मेरे मन में एक विराट् माया-लोक रच रही थी। तब के मन के उस धुँधले-धुँधले भाव को व्यक्त करना बहुत कठिन है लेकिन इतना अच्छी तरह कह सकता हूँ कि तभी से कवि-कल्पना के साथ माला की अदला-बदली हो गई थी। लेकिन वह लड़की सुलक्षणा नहीं है, यह स्वीकार करना ही होगा, और चाहे जो हो सौभाग्य लेकर वह नहीं आती। सुख नहीं देती, यह तो न कह सकूँगा लेकिन हाँ स्वस्ति से उसका निश्चय ही कोई सम्पर्क नहीं है। वह जिसका वरण करती है उसको घना आनन्द देती है लेकिन कभी-कभी अपने कठोर आलिंगन में लेकर वह हृत्पिंड का सारा लहू निचोड़ लेती है। जिस आदमी को वह चुनती है उस अभागे के लिए संसार में जड़ जमाकर, गृहस्थ होकर, स्थिर होकर, निश्चिन्त होकर बैठना बिलकुल असंभव कर देती है। लेकिन मेरा असली जीवन उसीके हाथ बंधक रखा हुआ है। मैं चाहे 'साधना' लिखूँ, चाहे जमींदारी देखूँ, जैसे ही मैं कविता लिखना शुरू करता हूँ वैसे ही मैं अपने चिरतन वास्तविक 'स्व' के भीतर प्रवेश करता हूँ—मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि यही मेरा स्थान है। जीवन में ज्ञात रूप से और अज्ञात रूप से बहुधा मिथ्याचार किया जाता है, लेकिन कविता में कभी मैंने झूठ का सहारा नहीं लिया—यही मेरे जीवन के सभी गहरे सत्यों का एक-मात्र आधार है।

: ८५ :

कलकत्ता
३१ जून १८९३

इस वार की डायरी में प्रकृति का गुण-गान नहीं करूँगा—मन-नामक एक उद्‌भ्रान्त चंचल पदार्थ को किसी प्रकार हमारे शरीर में प्रविष्ट कराने से कैसा एक उत्पात मच गया है, इसी पर मैंने विचार किया है। सच तो यह है कि पहले इतनी ही बात थी कि हम खायँगे, पहनेंगे, जिन्दा रहेंगे—हम जो विश्व का आदि कारण खोजते है, अपनी इच्छा से अत्यत कठिन किसी एक भाव को व्यक्त करने का प्रयास करते हैं और उसके साथ ही यह जरूरत भी अनुभव करते हैं कि उसके हर पद मे मेल हो, तुक हो, सिर से पैर तक कर्ज मे डूबे रहकर भी महीने-महीने घर की कौड़ी खर्च करके 'साधना' प्रकाशित करते हैं, इसकी क्या जरूरत थी? उधर नारायणसिंह को देखो, खूब मोटे-मोटे टिक्कड़ बनाकर, घी चुपड़कर, उसके साथ दही मिलाकर प्रेमपूर्वक भोजन करके, दो-एक चिलम तम्बाकू खीचकर दोपहर में कैसा निश्चित सो रहा है और सवेरे-शाम दुनिया के छोटे-मोटे दो-चार ठो काम करके रात में चैन से आराम करता है। जीवन व्यर्थ हुआ, विकल हुआ, स्वप्न में भी उसे कभी इसका विचार नही आता, संसार की उन्नति काफी तेजी से नही हो रही है इसके लिए वह कभी अपने को जिम्मेदार नही समझता। जीवन की सफलता की बात का कोई मतलब नही है—प्रकृति का एक-मात्र आदेश है 'जिंदा रहो'। नारायणसिंह उसी आदेश को अपना लक्ष्य बनाकर निश्चिन्त है। और जिस अभागे के वक्ष मे मन नाम का जन्तु गड्ढा खोदकर घुसा बैठा है, उसके लिए कही आराम नही है, उसके लिए कभी कुछ भी काफ़ी नही होता, अपने चारों ओर की स्थिति के साथ उसका सामंजस्य नष्ट हो गया है—वह जब पानी मे रहता है तब धरती के लिए लालायित रहता है और जब धरती पर रहता है तब पानी में तैरने के लिए उसके भीतर 'असीम आकांक्षा' जागती है। इस हठीले असंतुष्ट मन को प्रकृति की अगाध शांति मे विसर्जित करके अगर थोड़ी देर स्थिर होकर बैठा जा सके तभी त्राण है, असल बात यही है।

: ९२ :

साजादपुर
३० आषाढ़ १८९३

आजकल कविता लिखना मेरे लिए गोपन—निषिद्ध सुख-सभोग-जैसा हो गया है—इधर आगामी मास की 'साधना' के लिए एक लाइन भी नही लिखी गई, उधर बीच-बीच में सम्पादक कोचता रहता है, निकट ही आश्विन-कार्तिक की 'साधना' का युग्म अक खाली हाथ मेरे मुँह की ओर ताककर मुझको खरी-खोटी सुना रहा है और मैं हूँ कि अपनी कविता के अत.पुर मे भागा फिर रहा हूँ। रोज सोचता हूँ, आज का दिन गया तो क्या—इसी तरह कितने ही दिन कट गए। मैं ठीक से समझ नही पाता कि मेरा असली काम क्या है। कभी-कभी सोचता हूँ कि मैं छोटी-छोटी कहानियाँ बहुत-सी लिख सकता हूँ और बुरा भी नही लिखता—लिखते समय सुख भी मिलता है। कभी-कभी सोचता हूँ कि मेरे दिमाग मे ऐसे बहुत-से भाव उदित होते हैं जो कविता मे ठीक ढंग से व्यक्त करने के योग्य नही होते, उन सबको डायरी आदि नाना रूपो में लिखकर रख देना अच्छा है, शायद उसमे फल भी है, आनद भी। कभी-कभी सामाजिक विषयों को लेकर अपने देश-वासियों के साथ झगडा करना बहुत जरूरी हो जाता है, जब दूसरा कोई नही करता तो मुझीको इस अप्रिय कर्तव्य का निर्वाह करना पडता है—और फिर कभी-कभी यह विचार मन मे आता है, 'चूल्हे में जाय ! दुनिया खुद अपने चर्खे मे तेल दे लेगी, तुक बैठाकर, छंद जोड़कर छोटी-छोटी कविता लिखना ही मेरे लिए ठीक है, सब छोड-छाड़कर अलग अपने कोने में बैठकर यही काम किया जाय।' मदगर्विता युवती जिस प्रकार अपने बहुत-से प्रणयी-जनों को लेकर किसी को अपने हाथ से नही जाने देना चाहती, मेरी भी कुछ-कुछ वैसी ही स्थिति है। म्यूजों में से किसी को मैं निराश नही करना चाहता—लेकिन उससे काम बहुत बढ जाता है और शायद 'लंबी-दौड' मे किसी को भी मै पूरी तरह अपने अधिकार मे नही ला पाता। साहित्य-विभाग मे भी कर्तव्य-बुद्धि का अधिकार है, लेकिन अन्य विभागों की कर्तव्य-बुद्धि में और उसमे कुछ अंतर है। किससे दुनिया का सबसे ज्यादा उपकार होगा, साहित्य के कर्तव्य-ज्ञान मे यह सोचने की जरूरत नही है, सोचने की चीज इतनी ही है कि मै कौन-सी चीज सबसे अच्छी तरह कर सकता हूँ। कदाचित् जीवन के सब विभागो मे यही बात है। मेरी समझ मे जितना कुछ आता

हूँ उससे मुझको तो यही लगता है कि कविता पर ही मेरा सबसे अधिक अधिकार है। लेकिन मेरी भूख की आग विश्व-राज्य और मनोराज्य सब जगह अपनी लपटें फैलाना चाहती है। जब मैं गीत-रचना शुरू करता हूँ तो खयाल आता है कि अगर इसी काम में लगा रहूँ तो क्या बुरा है, और जब किसी अभिनय में लगता हूँ तो ऐसा नशा धर दबाता है कि सोचता हूँ और क्या चाहिए, इसमें भी तो एक आदमी अपना जीवन लगा सकता है। और जब 'बाल-विवाह' या 'शिक्षा का हेर-फेर'-जैसी चीज़ों में पड़ता हूँ तो खयाल होता है कि यही जीवन का सर्वोच्च कार्य है। और अगर लाज-शर्म को किनारे रखकर सच बात कहनी हो तो यह भी स्वीकार करना होगा कि वह जो चित्र-विद्या नाम की एक विद्या है उसके प्रति भी मैं सदा हताश प्रेमी की तरह लुब्ध आँखों से देखता रहता हूँ—लेकिन उसे पाने की आशा अब नहीं है, साधना करने की उम्र निकल गई। अन्य विद्याओं की तरह उसको भी सहज ही पा लेने का ढंग नहीं है—बिलकुल धनुष तोड़ने-जैसी शर्त है उसकी—तूलिका घसीट-घसीटकर हैरान हुए बिना उन्हें प्रसन्न नहीं किया जा सकता। अकेले कविता को लेकर बैठे रहना ही मेरे लिए सबसे अच्छा है—लगता है कि उन्होंने अपने-आपको सबसे ज्यादा मेरी पकड़ में आने दिया है, मेरी बचपन की पुरानी अनुरागिनी संगिनी।

. ११३ .

सियालदह
९ अगस्त १८९४

नदी बिलकुल किनारे तक भर उठी है। दूसरा पाट प्राय. दिखाई नहीं देता। पानी कहीं कल-कल करके बह रहा है और कहीं जैसे कोई चंचल जल को दोनों हाथों से दाब-दाबकर सबको समान रूप से फैलाये दे रहा हो। आज मैंने देखा, छोटा-सा एक मरा हुआ पक्षी लहर के साथ बहता चला आ रहा है—उसकी मृत्यु का इतिहास खूब समझ में आ रहा है। किसी गाँव के किनारे बाग में आम की शाखा पर उसका घोंसला था। शाम के वक्त अपने घोसले में लौटकर अपने संगियों के नरम-गरम पंखों के साथ पंख मिलाकर वह अपनी थकी देह लिये सो रहा था। एकाएक रात में पद्मा ने जरा-सा अपना रास्ता बदला और पेड़ के नीचे की मिट्टी धँसी। नीड़-च्युत पक्षी हठात् एक क्षण के लिए जागा और फिर उसे जागना नहीं पड़ा। मैं जब शहर से दूर कस्बे में रहता हूँ तब मुझे लगता है कि एक विराट् सर्व-

ग्रामी रहस्यमयी प्रकृति के लेखे मुझमें और दूसरे जीवों में कोई विशेष अंतर नहीं होता ! शहर मे मनुष्य-समाज अत्यंत प्रधान हो उठता है; वहां पर निष्ठुर होकर अपने सुख-दुःख के आगे दूसरे किसी प्राणी के सुख-दुःख को गिनता ही नहीं। यूरोप में भी मनुष्य इतना जटिल और इतना प्रधान है कि वह जन्तु को और भी बड़ा जन्तु समझता है। भारतीय लोग मनुष्य से जन्तु और जन्तु से मनुष्य होने को कुछ भी नहीं समझते, इसीलिए हमारे शास्त्रों में सब प्राणियों के प्रति दया एक असम्भव अतिरंजना कहकर त्यागी नहीं गई। कस्बे में विश्व-प्रकृति के साथ देह का घनिष्ठ संस्पर्श होने से मेरा वही भारतीय स्वभाव जाग उठता है। एक पक्षी के कोमल पंखों से घिरे हुए स्पन्दित क्षुद्र वक्ष में भी जीवन का आनंद कितना प्रबल है, यह मैं अचेतन रूप से भी भूल नहीं पाता।

१८८५ और १८९५ के बीच लिखे गए पत्र। प्रथम आठ पत्र कवि ने अपने मित्र श्रीशचन्द्र मजुमदार को लिखे थे। बाकी संख्या ९ से १५२ तक के पत्र कवि की भानजी इन्दिरा देवी को सम्बोधित थे। पुस्तक रूप मे इनका प्रथम प्रकाशन सन् १९१२ मे हुआ। इसका नवीन संस्करण 'छिन्न पत्रावली' नाम से सन् १९६१ मे हुआ है, जिसमे २५२ पत्र हैं।

इस संग्रह के अंश अंग्रेजी मे 'ग्लिम्प्सेज फ्राम बेंगाल' नाम से अनूदित हुए हैं।

भानुसिंह की पत्रावली

: २८ :

शांतिनिकेतन

आज दोपहर को जब मैं खाने बैठा तो उस वक्त शांतिनिकेतन—लेकिन ठहरो यह तो मैंने बतलाया ही नहीं कि मैं क्या खा रहा था—खूब ही मोटी एक रोटी —लेकिन यह मत सोचना कि वह सब-की-सब मैं ही खा रहा था। रोटी को अगर पूर्णिमा का चाँद मान लिया जाय तो मेरा टुकड़ा दूज के चाँद से बड़ा न होगा। इस रोटी के साथ कुछ दाल थी और चटनी थी और एक तरकारी भी थी। खैर बैठे-बैठे रोटी चबा रहा था, उस वक्त—ठहरो, मैंने तुम्हें नहीं बतलाया कि यह रोटी, दाल, चटनी आई कहाँ से ?—तुम जानते होगे, मेरे यहाँ करीब पच्चीस गुजराती लड़के हैं—अकस्मात् उनकी इच्छा हुई कि मुझे खाना खिलायें। इसीसे आज सवेरे जब मैं अपना लिखना खत्म करके स्नानघर की ओर जा रहा था उसी समय क्या देखता हूँ कि एक गुजराती लड़का थाल हाथ में लेकर मेरे दरवाजे पर हाजिर है। जो हो, नीचे के कमरे में टेबुल पर बैठा-बैठा रोटी के टुकड़े तोड़ रहा हूँ और खा रहा हूँ और उसके साथ-साथ मुँह में थोड़ी-थोड़ी चटनी भी डालता जा रहा हूँ तभी—ठहरो, मैंने तुम्हें बतलाया नहीं कि खाना कैसा बना था। रोटी काफी सख्त-सी थी, अगर मुझीको पूरी-की-पूरी खुद ही चबाकर खानी पड़ती तो वह मेरे अकेले के वश की बात न होती, इसके लिए मुझे मजदूर बुलाने पड़ते ! लेकिन तोड़ने में जितनी सख्त थी; मुँह के भीतर पहुँचकर उतनी सख्त न थी। इतना ही नहीं, रोटी मीठी थी; दाल-तरकारी से मीठी रोटी खाना हमारे कायदे में नहीं लिखा हुआ है, लेकिन खाकर मैंने देखा कि अगर खाई जाय तो ऐसा कोई अपराध न होगा। वही रोटी खा रहा हूँ कि तभी—ठहरो, इसमें एक बात बतलाना तो मैं भूल ही गया, दो ठो पापड़ भी थे, वह दोनों, जैसा कि मैं अक्सर कहा करता हूँ, बड़े सुखाद्य थे यानी खाने में बड़े अच्छे लगते थे। सुनकर तुम्हें शायद आश्चर्य होगा और मुमकिन है तुम मुझे मन-ही-मन पेटू ठहरा दो—और जब मैं काशी जाऊँ तो शायद सवेरे-शाम मुझे चटनी के साथ सिर्फ पापड़-ही-पापड़

खिलाओ। लेकिन तो भी मैं सच बात न छिपाऊँगा, मैं दो पापड़ पूरे-के-पूरे खा गया। खैर, वही पापड़ मच-मच की आवाज के साथ खा रहा हूँ कि तभी—ठहरो याद करूँ कि उस समय कौन वहाँ पर था। तुम सोचते होगे कि तुम्हारी भाभी तुम्हारे भानु दादा का पापड़ खाना देखकर अवाक् होकर हतबुद्धि होकर टेबिल के कोने पर बैठकर मन-ही-मन ठाकुरजी का नाम जप रही होगी, ऐसी बात नहीं है—वह उस वक्त कहाँ थी मैं जानता भी नहीं। और कमल! वह भी उस वक्त न जाने कहाँ बैठा धूप खा रहा था मुझे कुछ पता नहीं? हाँ तो मैंने देखा कि टेबुल पर एक मुझको छोड़कर दूसरा कोई नहीं है। खैर दो पापड़ के बाद जब मैं चवन्नी-भर रोटी का लगभग पौने चार आना खत्म कर चुका उसी समय—हाँ-हाँ एक बात बतलाना भूल गया—मैं लिख आया हूँ कि खाते समय कोई नहीं था, यह बात सच नहीं है। भौंदा कुत्ता मेरे मुँह की तरफ नजर जमाए ताक रहा था, उस-की जीभ से राल टपक रही थी और वह सोच रहा था कि अगर मैं आदमी होता तो सवेरे से लेकर रात तक इसी तरह मुच-मुच, मुच-मुच करके सिर्फ पापड़ खाता, इतिहास भी न पढ़ता, भूगोल भी न पढ़ता—शिशु महाभारत, चारुपाठ किसी की कोई परवाह न करता। खैर जब दो ठो पापड़ और कुछ रोटी और चटनी खा चुका तब—लेकिन दाल नहीं खाई, उसमें गरी पड़ी हुई थी और कुएँ का काफी पानी मिलाकर उसे तैयार किया गया था जिससे दाल की अपेक्षा कुएँ के पानी का ही स्वाद उसमें ज्यादा था, और तरकारी भी नहीं खाई, क्योंकि—मैं आम तौर पर तरकारी वगैरह ज्यादा नहीं खाता। खैर जो हो, जब रोटी और पापड़ खाना प्रायः समाप्त हुआ तभी डाक के हरकारे ने मेरे हाथ में लाकर काशी की मुहर वाली एक चिट्ठी दी :

शांतिनिकेतन

तुम सोचते हो—बस तुम्हीं लोगों का मजा है इसीसे अपने स्कूल के प्राइज के मजे की सूची तुमने मुझको लिख भेजी है, लेकिन इतनी आसानी से तुम मुझे हार नहीं मनवा सकते। यहाँ हम लोगों को भी मजा है और बहुत काफी मजा है। अच्छा यह तो बताओ, तुम्हारे प्राइज में कितने लोग जमा हुए थे?—पचास आदमी! लेकिन हमारे यहाँ मेले में कुछ नहीं तो दस हजार लोग जमा हुए ही थे। तुम लिखते हो कि एक छोटी लड़की अपनी दीदी के पास गई और खूब जोर से चिल्लाई जिससे तुम्हारी सभा खूब जमी—हमारे यहाँ मैदान में जो शोर-गुल हुआ था उसमें कितनी ही तरह की आवाजें मिली हुई थीं, अनगिनती छोटे बच्चों

का रोना, बड़ों की चीख-पुकार, डुगडुगी का बाजा, बैलगाड़ी की चरर-मरर, जात्रा-दल की चिल्ल-पों, आतिशबाजी की सों-सों, पटाखों की फट-फट, पुलिस-चौकीदार की होई-होई—हँसी, रोना, गाना, शोर-गुल, झगड़ा आदि-आदि। पौष की सात तारीख को मैदान में खूब बड़ी हाट लगी थी—उसमें लाख के खिलौने, फलों के मुरब्बे, मिट्टी की गुड़ियें, तेल की पकौड़ी, तली हुई चिनिया बादाम-जैसी एक-से-एक अद्भुत चीजें बिक रही थीं। एक-एक पैसा देकर लड़की-लड़के सब हिंडोले पर बैठे, चदोवे के नीचे नीलकंठ मुखर्जी का कंस-वध जात्रा का गाना हो रहा था—वहाँ पर बिलकुल ठसाठस भीड़ थी। उसके बाद पौष की नवीं तारीख को हमारी लड़कियों ने एक बार फिर मेला किया था—जिसमें उन्होंने समोसे और आलूदम की दूकान लगाई थी—एक-एक आलूदम एक-एक पैसे का बिकता। सुकेशी बहू ने चिनिया बादाम की गुड़िया बनाई थी, वह एक-एक छ:-छ: आने की बिक गई। कमल ने मिट्टी का एक घर बनाया था—उसमें फूँस की छाजन थी, चारों ओर मिट्टी की दीवार थी, आँगन में शिवजी स्थापित थे—वह कोई खरीदना न चाहता था इसलिए कमल ने जबरदस्ती तीन रुपये में मेरे हाथ बेच दिया। जरा सोचो तो—कैसा गजब का मजा है? छोटी-छोटी लड़कियाँ पुराने कपड़े का एक टुकड़ा फाड़कर उसके चारों तरफ सिलाई करके मेरे पास ले आईं और बोलीं, "यह रुमाल है, इसका दाम आठ आना है आपको लेना होगा"—कहकर उन्होंने उसे मेरी जेब में ठूँस दिया। ऐसा गजब का मजा है। उन लोगों के बाजार में इस तरह के सब एक-से-एक गजब के मजे हुए—तुम लोगों ने जो सब प्राइज पाये, उसका कहीं इससे मुकाबला हो सकता है। उसके बाद मजे की बात यह हुई कि मेला जब उखड़ा तो रात-भर दल-के-दल लोग चिल्ला-चिल्लाकर बेसुरा गाते हुए ठीक मेरे सोने के कमरे के सामने वाले रास्ते से जाने लगे—इन सब मजों में जरा भी नींद न आई—नीचे जितने कुत्ते थे सभी एक-साथ जोर-जोर से चिल्लाने लगे, ऐसा मजा। ऊपर से, कलकत्ता की बहुत-सी लड़कियाँ अपने छोटे-छोटे बच्चों को ले आई थीं—उसमें किसी को खाँसी आ रही थी, किसी को बुखार। निश्चय ही तुम्हारे प्राइज में ऐसी धूम-धाम, शोर-गुल, सर्दी-खाँसी, हारी-बीमारी, आठ आने में रुमाल बेचना वगैरह न हुआ होगा—इसलिए मेरी ही जीत रही।

: ३६ :

शांतिनिकेतन

तुम्हारी आज की चिट्ठी पाकर बड़ी शर्म लगी। बतलाऊँ, क्यों ? इसके पहले तुम्हारी एक चिट्ठी मिली थी—उसका जवाब दूंगा-दूंगा सोच रहा था कि तभी तुम्हारी यह चिट्ठी आ पहुँची, आज तुम्हारे सामने मुझे हार माननी पड़ी। मैं इतना बड़ा लेखक हूँ, बड़े-बड़े पाँच वॉल्यूम काव्य-ग्रंथ मैंने लिखे हैं—ऐसा जो मैं —उपाधि-समेत जिसका नाम होना चाहिए श्री रवीन्द्रनाथ शर्मा रचना-लवणांबुधि या साहित्य-अजगर या वागक्षौहिणी-नायक या रचना-महामहोपद्रव या काव्यकलाकल्पद्रुम या—झट से मुझे ध्यान में नही आ रहा है बाद को सोचकर कहूँगा—नन्ही-सी एक लडकी, जिसे 'सत्ताईस' साल की उम्र पाने में कम-से-कम पैंतीस साल साधना करनी होगी, उसीके आगे मुझे हार माननी पड़ी—Two goals to nil ! ऊपर से तुमने जो सब डरावने भ्रमण-वृत्तांत लिखे हैं, अपनी इस डेस्क पर बैठकर उसका मुकाबला मैं कैसे करूँ ? इसीसे आज सवेरे मैं सोच रहा था, पारुल-वन के सामने से जो रेल का रास्ता गया है वहाँ जाकर रात को खड़ा रहूँगा—और फिर छाती पर से पैसेंजर ट्रेन निकल जाने के बाद अगर तब भी हाथ चलता रहा तो उसी क्षण वही बैठकर अगर मैं चिट्ठी लिख सकूँ तब तुम्हें हरा सकूंगा। इसके बारे में अभी मैंने बहू के साथ परामर्श नही किया है, एण्ड्रयूज साहब को भी नही बतलाया है। मुझे न जाने क्यो मन-ही-मन संदेह हो रहा है कि वह लोग शायद राय न देंगे। इसके अलावा मेरे मन में भी अभी कुछ धुकधुकी है, सोचता हूँ कि अगर गाडी की चपेट से अँगूठे मे कुछ घाव न लगा तो अनंत-काल तक तुम्हारी उन दो चिट्ठियों की जीत रही आयगी, इसलिए अभी रहने दो।

इधर हाल मे हमारे यहाँ कोई भयकर घटना नही घटी। आँधी-तूफान थोड़ा-बहुत हुआ है; लेकिन उससे हमारे घर की छत नही टूटी, हममें से किसी के सिर पर छोटा-सा कोई वज्र भी नही गिरा। बंदूक लेकर, छरा-छुरी लेकर, देश-भर में जगह-जगह डकैती हो रही है, लेकिन हमारा भाग्य इतना खोटा है कि आज तक उन्होने यों उनके किसी दूर के संबधी ने भूलकर भी हमारे आश्रम मे पदार्पण नही किया। नही-नही, मै गलत कह रहा हूँ। एक लोमहर्षक घटना अभी कुछ दिन हुए घटी है। वह मैं तुम्हें बतलाऊँ। हमारे आश्रम के सामने से निचाट मैदान में होकर एक लम्बा रास्ता बोलपुर स्टेशन तक गया है। उसी रास्ते के पश्चिम मे

एकदुमंजिली इमारत है। इस इमारत की पहली मंजिल एक में बंगाली रमणी अकेली रहती हैं। उनके साथ बस कुछ दास-दासियाँ, बैरा, ग्वाला, पाचक-महाराज रहते हैं और ऊपर की मंजिल में एण्ड्रूज साहब नाम के एक अंग्रेज रहते है। सारे घर में इनको छोड़कर और कोई नही है। उस दिन रात को बादल छाये हुए थे, बादलों के पीछे से चाँद की मद्धिम किरणें फैल रही थी। तभी जब रात को साढे ग्यारह बजे थे, जब सिर्फ दस-बारह लोगों को लेकर एकाकिनी रमणी विश्राम कर रही थी तभी घर में वह कौन आदमी दाखिल हुआ? कौन अपरिचित युवक? उसका घर कहाँ है? उसका क्या षड्यंत्र है? हठात् उस निस्तब्ध निद्रित घर की निःशब्दता को चौंकाते हुए उसने पूछा—"स्कूल कहाँ है?" एकाएक जागने से उस रमणी का दिल धड़क रहा था, उसने प्राय. रुँधे हुए कण्ठ से कहा, "स्कूल उधर पश्चिम की ओर है।" तब युवक ने पूछा, "हैडमास्टर का घर कहाँ है?" रमणी ने कहा, "मैं नहीं जानती।"

इसके बाद दूसरा अध्याय। वह युवक उसी कुम्हलाई हुई चाँदनी में उसी झींगुर-झंकृत निशीथ में एक बार फिर आश्रम के बजरी-बिछे रास्ते पर होकर आश्रम के कुत्तों के तिरस्कार की उपेक्षा करके दूसरी एक निस्सहाय अबला के घर में दाखिल हुआ। उस घर में उस समय उस रमणी का पूर्णवयस्क एक पति-भर था, दूसरा कोई न था। वहाँ भी पहले की तरह वही दो प्रश्न पूछे गए। उस प्रश्न की आवाज से, बुझते हुए दीये से आलोकित वह प्रायः निर्जन कक्ष आतंक से निस्तब्ध रह गया। वह आदमी उतनी दूर हैडमास्टर को खोजते-खोजते यहाँ क्यों आया? उसके साथ किसकी दुश्मनी है? उस रात स्वामी-सनाथा वह एक रमणी और स्वामी से दूर दूसरी अबला, न जाने अपने सरल कोमल हृदय में कैसी-कैसी आशंका का बोझ लिये हुए सो गई। दूसरे दिन सवेरे हैडमास्टर मे मे मास्टर निकाल देने पर जो अंश बचेगा वह क्या कहीं ढूँढ़े से मिलेगा—उन्हें शायद यही आशंका रही होगी।

इसके बाद तीसरा अध्याय। अगले दिन पहली स्त्री ने मुझसे कहा, "तात, आधी रात को एक युवक—इत्यादि।" सुनकर मेरी पाठिका विस्मय न करेंगी कि मैं आश्रम छोड़कर भागा नही, यहाँ तक कि मैंने म्यान से तलवार भी न निकाली। चाहता भी तो तलवार न थी, बस एक कागज काटने की छुरी थी। अपने साथ में कोई पैदल या घुड़सवार सिपाही न लेकर खोज करने निकला, किस अपरिचित युवक ने कल आधी रात "हैडमास्टर कहाँ है?" कहकर अबला रमणी की निद्रा

भग की ?

और फिर उपसंहार। युवक दिखाई पड़ा तो उससे सवाल पूछा गया। उसके जवाब से पता चला—वह यहाँ अपने किसी रिश्तेदार लड़के को भरती करना चाहता है। इति समाप्त।

२६ आषाढ़ १३२६।

ये पत्र हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर फणिभूषण अधिकारी की सुपुत्री 'रानू' को लिखे गए थे। रानू अब मार्टिन-बर्न्स के सर बीरेन मुखर्जी की धर्म-पत्नी हैं और लेडी रानू मुखर्जी के नाम से विख्यात हैं। ये ५६ पत्र 'विचित्रा' मासिक में (श्रावण १३३४ से आषाढ़ १३३५ तक) जुलाई १९२७ से जून १९२८ तक धारा-वाहिक रूप मे प्रकाशित हुए थे। पुस्तक रूप में इनका प्रथम प्रकाशन सन् १९३० में हुआ था।

राह पर और राह के अगल-बगल

: ८ :

कल सवेरे कोलम्बो पहुँचूंगा। जब मैं यूरोप में घूमता फिर रहा था तब मैंने बहुत बार आज के इस दिन की तसवीर मन-ही-मन आँकी थी—जहाज भारतवर्ष के पास आ गया है, उज्ज्वल आकाश ने वक्ष फैला दिया है; शकुन्तला में जिस तरह बालक भरत सिंह के अयाल को पकड़कर खेलता है उसी तरह जाड़े के दिनों का निर्मल सूर्य तरंगित नील समुद्र को छेड़ रहा है और वे नारियल के घने जंगल ऐसे दिखाई पड़ रहे हैं कि जैसे मिट्टी हाथ उठाकर दूर से बुला रही हो। वही कल्पना का चित्र अब सामने आ गया है। कल लक्काडिव के बहुत पास होकर जहाज आया—मुझे-जैसे श्यामल तट-भूमि का कंठ-स्वर सुनाई पड़ा। उस पेड़ों के घिरे हुए दिगंत के किनारे-किनारे मनुष्य की प्रतिदिन की जीवन-यात्रा चल रही है, यह बात जैसे नये और गहरे विस्मय के साथ मेरे मन को छू गई। मैं जानता हूँ कि जो लोग वहाँ पर मिट्टी को पकड़े बैठे हैं वे स्वयं उसके आनंद, उसके सौन्दर्य, उसके सौभाग्य को स्पष्ट समझ रहे हों ऐसी बात नहीं है। अभ्यास हमारी चेतना को म्लान कर देता है लेकिन तब भी जो सत्य है, सत्य ही रहता है। शांतिनिकेतन दूर से मेरे लिए जितना कुछ है, पास से ठीक उतना नहीं भी हो सकता—लेकिन उससे क्या सिद्ध होता है। दूर की दृष्टि से हम जो समग्र रूप से किसी चीज को देख पाते हैं वही बड़ा देखना है, पास की दृष्टि में मन छोटी-मोटी चीजों में उलझकर समष्टि को स्पष्ट रूप से देखने नहीं देता, वही हमारी शक्ति की अपूर्णता है। इसी कारण हम लोग अपनी समस्त आयु लेकर जो जीवन-यापन करते हैं उसको हम लोग पूरी तरह जान ही नहीं पाते। जो नहीं मिलता उसके लिए भुनभुनाते हैं, जो खो देते हैं उसके लिए रोते हैं, इस तरह जो पाते हैं उस सबको देखने और जाँचने का अवकाश ही हमें नहीं मिलता। असल बात यह है कि शांतिनिकेतन के आकाश और अवकाश से लगा-लिपटा मेरा जो जीवन है उसमें सचमुच एक सम्पूर्ण रूप है जो कलकत्ता के बिखरे जीवन में नहीं है। उस

सम्पूर्ण रूप के अन्तर्गत जो भाँति-भाँति के अभाव और त्रुटियाँ हैं ये केवल उसीमें हो ऐसी बात नहीं, वे अप्रासंगिक हैं, पर्वत के शरीर के गड्ढों की तरह जो व्यर्थ हो पर्वत की उच्चता का प्रतिवाद करते हैं। शांतिनिकेतन के भीतर से मैंने मोटे रूप से अपने को किस प्रकार व्यक्त किया है उसीसे प्रमाणित होता है कि शांति-निकेतन मेरे लिए क्या है—बीच-बीच में मैंने क्या शिकायतें की हैं, किस तरह छटपटाया हूँ उससे नहीं। मैं ही नहीं, शांतिनिकेतन में अनेक लोगों ने अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार एक सुसंगति के बीच अपनी अभिव्यक्ति का सुयोग पाया है। अगर मैं यह कहूँ कि यह जो हुआ है सो केवल मेरे कारण हुआ है, तो यह बात सुनने में अहंकार से भरी हुई जान पड़ेगी, लेकिन यह झूठ बात नहीं है। *मैं अपनी इच्छा से या कर्म-प्रणालीसे किसी को बहुत कसकर नहीं बाँधता,* यह भी मैं नहीं कहता कि उसके कारण मुझे कोई असुविधा नहीं होती—उसके चलते मैंने स्वयं बहुत दुःख पाया है, लेकिन तो भी मैं मोटे रूप में इसीको लेकर गर्व करता रहा हूँ। अधिकांश कर्मवीर इसमें डिसिप्लिन की शिथिलता देखते हैं—अर्थात् जो नहीं है उस ओर से देखकर, जो है उस ओर से देखकर नहीं। स्वाधीनता और कर्म के सामंजस्य से संगठित यह जो व्यवस्था है, यह मेरी एक सृष्टि है—मेरे अपने स्वभाव से इसका उद्भव हुआ है। मैं जब विदा लूँगा, जब संसद्, परिषद् और नियमावली रह जायगी, *तब यह चीज भी न रहेगी। अनेक प्रतिवादों और* अभियोगों से लड़कर मैं इतने दिनों तक इसे बचाये रख सका हूँ—लेकिन जो विज्ञ हैं और अभिज्ञ हैं वे इस बात पर विश्वास नहीं करते। इसके बाद स्कूल-मास्टर की सनक लेकर वे लोग रेखागणित के अत्यंत शुद्ध नियमों से घेरे बनायेंगे—शांतिनिकेतन के आकाश और मैदान तथा शाल-वृक्षों से घिरे हुए रास्ते दुखी होकर यह सब देखेंगे और गहरी-गहरी साँसें लेंगे। तब उनकी नालिश क्या किसी कवि के पास पहुँचेगी।

: १३ :

भ्रमण समाप्त करके शांतिनिकेतन लौट आया हूँ। आज नववर्ष का दिन है। मंदिर का काम पूरा कर आया हूँ। बाहर का कोई न था, बस हम सब आश्रम के ही लोग थे।

अब मेरे जीवन का नया अध्याय आरम्भ हुआ। इसको अंतिम अध्याय भी कहा जा सकता है। इस परिशिष्ट भाग में समस्त जीवन के तात्पर्य को यदि मैं

संहत रूप से स्पष्ट न कर सकूँ तो मुझे अपूर्णता के बीच से विदा लेनी होगी। मेरी वीणा में बहुत ज्यादा तार है—उन सब तारों को निर्दोष ढग से मिलाना बड़ा कठिन है। मेरे जीवन की सबसे कठिन समस्या मेरी कवि-प्रकृति है। हृदय की सब अनुभूतियों की माँग मुझे माननी पड़ी—किसी को भी ढीला करने से मेरी इन हजार सुरों के गाने की महफिल पूरी तरह न जमती। तो भी यह सच है कि जिन्हे अनेक प्रकार की अनुभूतियो को लेकर चलना पड़ता है उनके लिए जीवन के पथ पर रथ को सीधे-सीधे हाँककर चलना जरा भी आसान नही होता—यह तो इक्के में दस वाहनो को जोतकर चलाने-जैसी बात है। वे सब अगर घोड़े भी होते तो भी किसी तरह इक्के को चलाया जा सकता था। मुश्किल यही है कि इनमे कोई ऊँट है, कोई हाथी, कोई घोड़ा और कोई धोबी का गधा—जो लादी ढोता है। जो इन सबको एक मे जोतकर एक लगाम से एक चाल से चला सकें ऐसे वीर कितने होगे। लेकिन मैं अगर शुद्ध कवि होता तो इस चीज के लिए मेरे मन में कोई चिन्ता ही न होती, यहाँ तक कि जब हड्डी तोड देने वाले गड्ढे के सामने पहुँचकर सब वाहन चारों पैर उठाकर भाग चलते तब भी मैं ठठाकर हँस सकता—ऐसे दुस्साहसी कवि ससार मे समय-समय पर दिखाई पडते है जो गर्व से कह सकते हैं, 'स्वधर्मे निधनम् श्रेय.'। लेकिन मेरा स्वधर्म क्या है, यही आज तक तय न हो सका। इतना मै रोज ही समझ पाता हूँ कि कवि-धर्म मेरा एक-मात्र धर्म नही है—रसबोध और उस रस को रसात्मक वाक्य मे व्यक्त करने से ही मेरा काम खत्म नही हो जाता। अस्तित्व के अनेकानेक विभागो में मेरी जवाबदेही है—सब हिसाबो को एक चरम अंक मे मिलाऊँ कैसे। अगर न मिला सकूँ तो इस समस्या को बहुत कठिन जानकर परीक्षक मुझे पास तो न कर देगा—जीवन की परीक्षा में तो आज के विश्वविद्यालयों की सहायता नही मिलती। मेरे अपने भीतर इन भाँति-भाँति के विरोधों की विषम कठिनाई है इसीसे मेरे भीतर मुक्ति के लिए ऐसा निरंतर और ऐसा प्रबल विलाप रहता है। इति।

१ वैशाख १९३४

: १६ :

बहुत दिनों से मैंने न कोई काम-जैसा काम किया, न पढ़ाई-जैसी पढ़ाई। इसीलिए भीतर-ही-भीतर मन आत्म-संतोष के बोझ से अत्यंत पीड़ित रहता है।

सूने दिन के समान बोझ जीवन में दूसरा नहीं है, विशेषतः तब जबकि जीवन की मियाद पूरी होने आ रही है। अपने को जितना ही छोटा कर रहा हूँ उतना ही उसका बोझ बड़ा करके मुझे सहना पड़ रहा है। हर रोज मैं मन-ही-मन अपने को लांछित करता हूँ, लगता है कि अँधेरे में टटोल-टटोलकर मैं अपने को कहीं खोज नहीं पाता—कहाँ किस तुच्छता में वह जाकर डूब गया है, कुछ पता नहीं चलता। असावधानी से रोज ही मैं अपनी अधिकांश चीजें खोता हूँ, कागज, कलम, घड़ी, चश्मा, कापी इत्यादि। अपने को भी अकस्मात् खोकर उसका कहीं मुझे कोई अता-पता नहीं मिलता। मरने की अपेक्षा यह खोना और भी ज्यादा नुकसान की चीज होती है। इच्छा होती है कि एक बार तेजी से दौड़कर इन खोये हुए मुतहे अकर्मण्य दिनों से भाग जाऊँ। जिस दीये ने सारी रात स्वच्छ प्रकाश दिया है, भोर की वेला उसकी सूखी बिना तेल की बत्ती क्या अपने धुएँ को अपने में बंदी करे। इति।

१८ माघ १३३५

: २३ :

मेरी यहाँ की सबसे बड़ी दैनिक खबर है तस्वीर बनाना। रेखाओं के इन्द्र-जाल ने मेरे मन को पूरा-पूरा बाँध लिया है। इस असमय की अपरिचिता के प्रति मेरे पक्षपात से कविता जैसे मेरा मुहल्ला छोड़कर ही चली गई है। किसी जमाने में कविता लिखता था यह बात ही भूल गया हूँ। यह चीज मन को जो इतना आकर्षित करती है इसका प्रधान कारण है इसकी अभावनीयता। कविता का विषय अस्पष्ट रूप से ही सही, शुरू से ही मन में आता है। उसके बाद शिव की जटा से गोमुखी में होकर जिस तरह गंगा उतरती है उसी तरह काव्य का झरना कलम की नोक पर अपने तट की रचना करता है और छंद प्रवाहित होते रहते हैं। मैं जो सब चित्र बनाने की चेष्टा करता हूँ उसकी प्रणाली इससे ठीक उल्टी है—कलम की नोक पर पहले रेखाओं का आभास दिखाई पड़ता है और फिर वह जितनी ही आकृतियाँ धारण करती है उतना ही मस्तिष्क में पहुँचता रहता है। इस रूप-सृष्टि के विस्मय से मन पागल हो उठता है। मैं अगर पक्का आर्टिस्ट होता तो शुरू से ही संकल्प करके चित्र बनाता, मन की चीज बाहर खड़ी होती—उसमें भी एक आनन्द है। लेकिन जब रूप-सृष्टि अपनी बहिर्वर्ती रचना से मन को

अभिभूत करती है तब जैसे उसमें और भी ज्यादा नशा होता है। उसका फल यह हुआ है कि बाहर के और सब दायित्व दरवाजे के बाहर से झाँककर चले जाते हैं। अगर पुराने दिनो की तरह कर्म के दायित्व से पूरी तरह मुक्त रहता तो पद्मा के किनारे बैठकर काल की स्वर्ण-तरी के लिए केवल चित्रों की फसल उगाता। अब तरह-तरह के दायित्वो की भीड़ को ठेल-ठालकर उसके लिए बस थोड़ी-सी जगह बना सकता हूँ उससे मन सतुष्ट नही होता। वह चाहता है कि आकाश पूरे-का-पूरा उसीको मिल जाय। मेरा भी यही आग्रह है, किन्तु ग्रहो के चक्रान्त से तरह-तरह की बाधाएँ आ जुटती है—ससार का हित-साधन उनमे सबसे प्रधान है। इति।

२१ कार्तिक १९३५

: २७ :

और बात पीछे होगी। सबसे पहले तुम्हें बता दूँ कि तुमने जो चाय भेजी थी वह बहुत अच्छी थी। इतने दिन मैंने जो लिखा नही वह अपने स्वभाव की विशेषतावश। जैसे मैं चित्र बनाता हूँ वैसे ही चिट्ठी लिखता हूँ। एक तो यह होता है कि जो कुछ दिमाग मे आये वह लिखकर छुट्टी पाऊँ, रोज की जीवन-यात्रा में छोटी-बड़ी जो सब बातें हुआ करती हैं उनके साथ उसका कोई मेल नही होता। मेरे चित्र भी वैसे ही होते हैं। कोई एक रूप जब मैं एकाएक अपने मन में देखता हूँ तो फिर मुझे इसकी चिन्ता नही होती कि चारों ओर की किसी चीज के साथ उसका कोई सादृश्य या सलग्नता है या नही। मेरे भीतर हर वक्त कुछ-न-कुछ बनता-बिगड़ता रहता है, चलता-फिरता रहता है, कुछ-न-कुछ जोड़-तोड़ लगी ही रहती है, कोई भाव कोई चित्र तरह-तरह का रूप धारता है—उसीसे मेरी कलम का कार-बार चलता है। इसके पहले मेरा मन आकाश की ओर कान लगाये रहता था, हवा से सुर आता था, वह बातें सुनता, आजकल वह रूप के राज्य मे है; रेखाओं की भीड़ मे। पेड़-पालो की ओर ताकता हूँ, उनके भीतर तक देख पाता हूँ—स्पष्ट समझ पाता हूँ कि संसार आकार की महायात्रा है। वही आकार की लीला मेरी कलम मे भी आना चाहती है। आवेग नही, भाव नही, विचार नही, रूप का समावेश। आश्चर्य यही है कि उसमें बड़ा गहरा आनंद मिलता है। जबरदस्त नशा। आजकल रेखाएँ मुझको पकड़कर बैठ गई हैं। उनके हाथ से मैं अपने को

छुड़ा नही पाता। केवल उनका परिचय पाता हूँ नई-नई भंगिमाओं के बीच। उनके रहस्यो का अंत नही है। जो विधाता चित्र बनाते है उनके मन की बात इतने दिनो बाद मैं समझ पा रहा हूँ। असीम-अव्यक्त, रेखा-रेखा मे अपनी नई-नई सीमा की रचना कर रहे है—आयतन में उसकी सीमा है, लेकिन वैचित्र्य में वह अनंत है। और कुछ नही, सुनिर्दिष्टता में ही यथार्थ सम्पूर्णता है। अमिता जब सुमिता को पाती है तभी वह चरितार्थ होती है। चित्र में जो आनंद है वह सुपरि-मिति का आनंद है। मैं रेखा के संयम मे सुनिर्दिष्ट को स्पष्ट करके देखता हूँ—मन कह उठता है, हाँ, देखा—वह चाहे फिर कोई चीज हो जिसे मैंने देखा हो, पत्थर का एक टुकड़ा, एक गधा, काँटे का एक पेड़, एक बुढ़िया, जो भी हो। जहाँ भी निश्चित देख पाता हूँ वही मैं असीम को छू लेता हूँ, आनंदित हो उठता हूँ! लेकिन इन सब बातों के चक्कर में यह बात भूलने से काम न चलेगा कि तुम्हारी चाय खूब अच्छी लगी। इति।

१३ अग्रहायण १३३५

: ३२ :

उस दिन एकाएक कभी, न जाने क्यो, बचपन की एक तस्वीर साफ-साफ मेरे मन मे जाग उठी। जाड़े की सुबह थी और शायद साढ़े पाँच बजे थे। हल्का-हल्का अँधेरा है। हमेशा के अभ्यास के अनुसार भोर मे उठकर बाहर आ गया। शरीर पर बहुत थोड़े कपड़े है बस एक कुर्ता और पाजामा। इस प्रकार गरीबों-जैसा ही हमारा बचपन कटा है। भीतर-भीतर सर्दी लग रही थी—इसीसे कोने का एक कमरा, जिसे हम लोग तोशाखाना कहते थे, जहाँ नौकर रहते थे—वही गया। आधे अँधेरे मे ज्योति-दा का नौकर चिन्ते लोहे की अंगीठी में लकड़ी के कोयले जलाकर उसके ऊपर झँझरी रखकर ज्यो-दा के लिए तोस बना रहा था। रोटी पर मक्खन के पिघलने की लुभावनी खुशबू से कमरा भरा हुआ था। उसके साथ था चिन्ते के गुन-गुन स्वर में मधुकान का गाना और थी उसी लकड़ी की आग से निकलती हुई हल्की-सी सुखद गर्मी। मेरी उम्र तब शायद नौ साल होगी। मैं पानी मे बहते हुए सवार की तरह था—संसार के प्रवाह में ऊपर-ऊपर हल्के-फुल्के ढंग से तिरता फिरता था—कही कोई सोर न थी—कि जैसे मैं किसी का न होऊँ। सवेरे से लेकर रात तक नौकरों के हाथ मे ही रहना होता। किसी से

भी थोड़ा-सा भी स्नेह पाने की आशा न थी। ज्यो-दा का व्याह हो चुका था, उनकी चिंता करने वाले लोग थे, उनके लिए सबेरे से ही रोटी का तोस बनने लगता। मैं था संसार-सरिता के रेतीले कछार का जीव, उपेक्षा के छोर पर वहाँ फूल न था, फल न था, फ़सल न थी, बस अकेले बैठकर सोचने के लिए आकाश था। और ज्यो-दा पद्मा के जिस किनारे थे वह हरा-भरा किनारा था—दूर से ही वहाँ का कुछ सौरभ आता, कुछ गान आता, चलते-फिरते जीवन की एकाध तस्वीर दिखाई पड़ती। मैं समझ लेता कि वहीं पर जीवन-यात्रा सच्ची है। लेकिन उस पार जाने के लिए नाव न थी इसीलिए सुनसान में बैठकर बस आकाश की ओर ताकता रहता। बचपन में यथार्थ जगत् से दूर था इसीलिए मैं तभी से सुदूर प्यासा हूँ। अकारण वह तस्वीर बहुत स्पष्ट होकर मन में जाग उठी। फिर मैंने सोचकर देखा कि तब मैं ही छाया के समान था, मेरे संसार में वस्तु न थी, घर में आत्मीयता न थी, बाहर बन्धुत्व न था। ज्योति दादा बड़े घने-गहरे रूप में सत्य थे, उनका संसार बहुत घने रूप में उनका अपना था। उस दिन सोचना असम्भव था कि यह जो कुछ देख रहा हूँ या जो कुछ घटित हो रहा है उसमें कुछ हेर-फेर भी हो सकता है। पूर्णता का चेहरा दिखाई पड़ता, किसी तरह सोच न पाता कि उसका कभी कोई अंत होगा। तब का वह रोटी-मक्खन-सुरभित प्रभात, जो जीवन की पूर्णता का प्रतीक था, मेरे समूचे जीवन में तब उसके बराबर कुछ भी न था। लेकिन वह सवेरा कहाँ गया, वह गुन-गुन गाने वाला चिन्ते नौकर कहाँ गया—और ज्यो-दा, वह भी अपना सब-कुछ लिये-दिये कहाँ गये। आज वह जाड़े की सुबह का उपेक्षित रवि जहाज़ पर चढ़कर विराट् जगत् की ओर जा रहा है। उस दिन का जो सबसे बड़ा सत्य था उसका अब कोई चिह्न नहीं है और सबसे बड़ी जो छाया थी वह आज अद्भुत ढंग से विराट् हो उठी है। एक बार फिर मन में आ रहा है कि आज के दिन का सब-कुछ जैसे इसी तरह बराबर चलेगा, परिवर्तन की बात सोची जा सकती है, लेकिन किन्हीं बड़ी दरारों की बात मैं कल्पना में नहीं ला पाता, तब भी चलते-चलते ऐसा एक खास दिन आता है, रात आती है जब सीधे-सपाट रास्ते के बीच एकाएक बड़ा-सा एक गड्ढा दिखाई देता है, सोच ही नहीं पाता कि ऐसी दरार जीवन में कैसे सह सकूँगा। फिर उसके ऊपर से भी काल का रथ अनायास पार हो जाता है और फिर उस रथ का चिह्न भी मिट जाता है। बड़ी पुरानी बात है, लेकिन बड़ी अद्भुत बात है, एक धारा चल रही है जो सदा से है लेकिन तो भी पग-पग पर नहीं है—'समस्त' नाम की कोई एक बड़ी चीज़

है लेकिन तो भी उसका प्रत्येक अंग ठहरता नहीं—एक ओर वह माया है और दूसरी ओर वह सत्य है। इति।

१४ मार्च १९३४

: ३६ :

प्लैटिनम की अगूठी के बीचोंबीच हीरा-आकाश के दिगंत को घेरकर बादल जमा है। उनके बीच की दरार से धूप हरी-भरी धरती पर पड़ रही है। आज अब और वृष्टि न होगी—हू-हू करके हवा चल रही है, सामने पपीते के पेड़ के पत्ते काँप रहे हैं, और भी ऊपर उत्तर के मैदान में मेरी पचवटी के नीम की डाल-डाल थिरक रही है और उसके पीछे ताड़ का पेड़ अकेला खड़ा है कि जैसे उस पर बहुत फटकार पड़ी हो। इस वक्त ढाई बजे हैं। फिर से मेरा दृश्य-परिवर्तन हो रहा है—उदयन वाले दुतल्ले पर बैठक में पश्चिमी किनारे पर जो नहाने का कमरा था उसका प्रमोशन होकर वही बैठने का कमरा हो गया है—उसके पास की छोटी छत पर नहाने का कमरा बना। वहीं-सी एक मेज जमाये बैठा हूँ—पीछे दक्षिण का आकाश है, सामने उत्तर का। आषाढ़ का स्नान-निर्मल स्निग्ध मध्याह्न दोनों दिशाओं की इन खुली हुई खिड़कियों से मेरे इस निर्जन कमरे में आकर खड़ा हो गया है। मैं मन-ही-मन सोच रहा हूँ कि क्यों ऐसे दिन में बहुत पहले के एक दिन का आभास चित्त-आकाश के किसी दिशा-प्रान्तर में, किसी अदृश्य चरवाहे की तरह बाँसुरी में मुलतानी बजा रहा है। अर्थात् ऐसा दिन जैसे वर्तमान के किसी दायित्व को स्वीकार नहीं करता, इसके लिए जरूरी कुछ भी नहीं है—जो दिन बीत गए यह उन्हींकी तरह वर्तमान भविष्यत् के बंधनों से मुक्त वैरागी है—किसी के प्रति उसकी कोई जवाबदेही नहीं है। लेकिन यह अतीत वस्तुतः कभी न था, जो था वह वर्तमान था—उसका प्रत्येक क्षण पीठ पर बोझा लादे कतार बाँधे चला था, उसका हिसाब देना पड़ा है। 'बीताकल' नाम का जो अतीत है, वह आज ही है, कल वह था ही नहीं। वह स्वप्न-रूपिणी है, वर्तमान के बाईं बगल बैठी है मधुर होने में उसका कुछ नहीं जाता। इसीलिए वर्तमान काल में जब किसी दिन का विशुद्ध सुन्दर चेहरा देखता हूँ तभी कहता हूँ कि वह अतीत का साज-सिंगार करके आया है—प्रेयसी से कहता हूँ कि तुम मानो मेरी जन्म-जन्मांतर की पहचानी हुई हो, अर्थात् ऐसे समय की पहचानी हुई हो जो समय के लिए

अतीत है— जिस काल में स्वर्ग है, जिस काल में सतयुग है, जो काल कभी पकड में नही आता। आज का यह जो सोने-पन्ने छाया आलोक में जडा हुआ, गहरे अवकाश के मधु से भरा हुआ मध्याह्न दूर-दूर तक फैले हुए हरे मैदान पर मुग्ध भाव से लेटा है इसकी अनुभूति में एक वेदना यही है कि इसको पाया नही जा सकता, छुआ नही जा सकता, समेटा नही जा सकता—अर्थात् यह है लेकिन नही है। इसीसे हम इसको सुदूर अतीत की भूमिका में देखते हैं। उस अतीत की जो माधुरी है वह विशुद्ध है, उस अतीत में जो खो गया और जिसके लिए हम उसांसे भरते है उसके साथ ऐसा और भी बहुत-कुछ खो गया जो सुन्दर न था, सुखकर न था, लेकिन वह अतीत नही। वह तो विनष्ट हो गया—जो सुन्दर है और सुख देने वाला है वही चिर अतीत है, वह कभी नही मरता, लेकिन तो भी उसमें अस्तित्व का कोई भार नहीं होता। आज का यह दिन वैसा ही है—यह है तो भी नही है, इस दोपहर पर विश्व भारती का कोई अधिकार नही है—यह गौड-सारंग का आलाप है, जब समाप्त हो जायगा तब हिसाब की बही में कोई आंकडा न रख जायगा।

: ४२ :

फूल पेड़ की डाल में लगता है, वही उसका आश्रय है। लेकिन आदमी उसे नाम देकर अपने मन में स्थान देता है। हमारे देश मे बहुत-से फूल हैं जो पेड मे लगते हैं, आदमी उन सबको मन के भीतर जगह नही देता। फूल के प्रति ऐसी उपेक्षा दूसरे किसी 'देश में नही दिखाई पड़ती। हो सकता है कि कोई नाम हो लेकिन वह नाम अव प्रसिद्ध है। कुछ थोड़े-से फूलों का नाम हुआ है केवल सौरभ की शक्ति से—अर्थात् उदासीन व्यक्ति उनकी ओर दृष्टि न भी डाले तो भी वे आगे आकर सौरभ द्वारा अपने को जना देते है। हमारे साहित्य में वही फूल बँधे-टके रूप में आते हैं। उनमें से बहुतो का मैं नाम ही जानता हूँ, परिचय की चेष्टा भी नही है। काव्य की नामावली मे रोज ही वार-वार पढ़ता आता हूँ जुही, सेवती। छंद मिलने से ही खुश रहता हूँ लेकिन कौन फूल जाति का है और कौन सेवती का यह प्रश्न पूछने का उत्साह भी नही होता। जाति कहते हैं चमेली को। बड़ी छानवीन के बाद इतना पता चला है, लेकिन सेवती किसको कहते हैं आज तक बहुत प्रश्न करने पर भी जवाव नही मिला। शांतिनिकेतन मे एक पेड़ है उसे

कोई-कोई पियाल कहते हैं, लेकिन संस्कृत काव्य में विख्यात पियाल का पता भला कितने लोगों को होगा। दूसरी तरफ देखो नदी के संबंध में हमारे मन में उदासीनता नहीं है, बहुत ही छोटी-छोटी नदियों को भी प्यारा-सा नाम देकर हमने अपने मन में स्थान दिया है—कपोताक्षी, मयूराक्षी, इच्छामती। इसके साथ हमारा रोज के व्यवहार का संबंध होता है। पूजा के फूलों को छोड़कर और किसी फूल के साथ हमारा आवश्यक प्रयोजन का संबंध नहीं है। फैशन का संबंध है अल्पायु सीजनल फूलों के साथ—उनकी परिचर्या का भार माली के हाथ में होता है—फूलदान में उन्हें ढंग से सजा दिया जाता है। इसीको कहते हैं—तामसिकता अर्थात् मैटीरियलिज्म—स्थूल प्रयोजन के बाहर चित्त की जड़ता। इस नामहीन फूल के देश में कवि की कैसी दुर्दशा है जरा सोचो, फूलों के राज्य में उसकी लेखनी का संचरण अत्यंत संकीर्ण होता है। पक्षियों के संबंध में भी यही बात है। कौवा, कोयल, पपीहा, मैना को अस्वीकार करना संभव नहीं, लेकिन कितने ही ऐसे पक्षी हैं जिनका नाम साधारण लोग भी नहीं जानते, लेकिन यही उदासीनता हमारे सब संकटों का मूल है—अपने देश के लोगों के बारे में हमारी उदासीनता भी इसी स्वभाववश प्रबल है। परीक्षा पास करने के लिए इतिहास के पाठ की उपेक्षा की ही नहीं जा सकती—हमारा देश-प्रेम भी उसी पोथी की भूल से तैयार है, देशवासियों के प्रति प्रेम की उत्सुकता से नहीं। हमारी दुनिया कितनी छोटी है जरा सोचो, उसमें कितनी चीजें छूट जाती है। इति।

१३ सितम्बर १९३४

: ४७ :

इतना कल लिखा था तभी पुकार हुई। लड़कियाँ आज शाम को ऋतुरंग का अभिनय करेंगी। उनको अभ्यास करना होगा। वे लता-वत् अंग-भंगिमा को रेखाओं में बाँधकर गाने के सुर में उतारती हैं। मन-ही-मन सोचता हूँ, इसका मतलब क्या है। हमारे दिन दाग-धब्बे से भरे हुए फटे-चिथे, कटे-पिटे होते हैं, उनमें इसकी संगति कहाँ है? लोकहितव्रती संन्यासी हैं वे कहते हैं यथार्थ जगत् में दुःख-दैन्य-श्रीहीनता का अंत नहीं है, उसके बीच इस विलास को क्यों उतारो। वे जानते हैं कि 'दरिद्रनारायण' तो नाच सीखते नहीं, वे तो बस बहुत-से धन्धे लेकर इधर-उधर छटपटाते फिरते हैं, उसमें छन्द नहीं होता। यह लोग यही बात भूल

जाते हैं कि दरिद्र शिव का आनंद नाच में है। प्रतिदिन का दैन्य ही यदि अकेला सत्य होता तो यह नाच हमको एकदम अच्छा न लगता, हम इसको पागलपन कहते। लेकिन जब हम इस समग्र रूप-लीला को देखते हैं तो हमारा मन कहता है कि यह चीज बिलकुल सत्य है—छिन्न-विच्छिन्न मलिन रूपसे चारों ओर जो कुछ दिखाई पड़ता है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक गहरे और घने रूप में। पर्दे पर रोज ही चलते हुए हाथों की छाप पड़ती है, दाग लगता है, धूल लगती है, परिपूर्णता का चेहरा ही झूठा पड़ता है—उसीको यथार्थ कहते हैं। लेकिन पर्दे के पीछे सत्य है, उसका छन्द नहीं टूटता, वह अम्लान है, अपरूप है। अगर ऐसा न होता तो गुलाब का फूल कहाँ से खिलता, किस गहरे सूनेपन में कहाँ बजती है वह बाँसुरी जिसकी आवाज सुनकर मनुष्य के कंठ में युग-युग से गान चला आ रहा है और ऐसा जान पड़ा है कि कलह-कोलाहल की अपेक्षा मनुष्य के इस गान में ही चिरतन की लीला है। अंग-अंग में जब नृत्य दिखाई पड़ा तब उस मैले, सटे हुए पर्दे का एक कोना उठ गया—'दरिद्रनारायण' हठात् वैकुण्ठ में लक्ष्मी के दाहिने बैठे दिखाई पड़े। उसको ही असत्य कहना हो तो कहो, मैं उठकर चला जाऊँगा; लेकिन मन तो इसे स्वीकार नहीं करता। दरिद्रनारायण को वैकुण्ठ के सिंहासन पर ही बैठाना होगा, उन्हें लक्ष्मी से अलग न करूँगा। हमारे पुराणों में शिव के रूप में ईश्वर का दरिद्रवेश दिखलाया गया है और अन्नपूर्णा ही उनका ऐश्वर्य है, इन दो के मिलन में ही विश्व का सत्य है। सन्त लोग जब इस मिलन को स्वीकार नहीं करना चाहते तभी कवियों के साथ उनका झगड़ा होता है। तब मैं भी शिव-भक्त कवि कालिदास की दुहाई देकर उसी युगल मूर्ति का आवाहन अपने सब अनुष्ठानों के नांदी पाठ में करूँगा जो 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' है, जिनमें अभाव भी है और उस अभाव की पूर्णता की भी सनातन लीला है।

: ५६ :

निर्मल नील आकाश, कच्चे सोने के रंग की धूप, पतली रेशमी चादर से ढके हुए छोटे-छोटे पहाड़ों के ऊपर नगाधिराज हिमालय की तुषारकिरीट महिमा, महादेव का ध्यानोद्दीप्त शुभ्र ललाट। हमारे पास की अधित्यका के वनों में राशि-राशि चिकनी-चमकीली हरीतिमा को पारस छू गया है, पत्ते-पत्ते में सोने का

रोमाच जाग उठा है, नील-निस्तब्धता के ऊपर पक्षियों की मिश्रित काकली नीलाम्बरी कपड़े पर जरी के काम की तरह झिलमिला रही है। अभी खाना खाकर उठा हूँ, एक आम, कुछेक लीचियाँ, पहाड़ी गायों के मक्खन और पहाड़ी मधुमक्खियों के मधु मे लिपटा हुआ टोस्ट। खुले हुए दरवाजे के कमरे में आकर बैठा हूँ। अमित आलोक मे मेरा मन डूब गया है, मेरी उड़ती हुई भावनाएँ धुँधले बैंगनी कुहासे मे खो गई हैं, कर्तव्य-बुद्धि जैसे नशा पीकर भोलानाथ हो बैठी है। ईर्ष्या नही होती ? इसलिए तो लिखा मैंने।

कालिम्पोङ, १४ मई, शनिवार १९३८

चिट्ठी-पत्री

१

(मृणालिनी देवी को लिखित)

ॐ

भाई छुटि,

आज मुझे घर से निकले ठीक एक महीना हुआ। मैंने देखा है कि अगर काम की भीड़ हो तो मैं किसी तरह एक महीना बाहर काट सकता हूँ। उसके बाद से मन घर की ओर खिचने लगता है। कल शाम को यहाँ पर अच्छी-खासी आँधी-सी आ रही थी। हवा के गर्जन ने बड़ी देर तक सोने नहीं दिया। तुम्हारे यहाँ भी शायद यह आँधी आ चुकी होगी। कल दिन के समय भी खूब वर्षा हुई थी। नदी का पानी भी काफी बढ़ गया है। धान के खेत सब डूब गए है—पानी और एक फुट बढ़ते ही हमारे बाग़ के पास आ जायगा। जिधर भी देखता हूँ, थोड़ा-सा सूखा, थोड़ा-सा पानी। स्त्रियाँ अपने घर के सामने ही पानी मे बर्तन माँज रही हैं और दूसरी नित्य-क्रियाएँ सम्पन्न कर रही हैं। सभ्यता के आग्रह से शरीर का जितना हिस्सा कपड़े से ढँका होना चाहिए उससे भी चार-पाँच अंगुल ऊपर कपड़ा उठाकर स्त्री-पुरुष सब रास्ते पर चल रहे है। गर्मी मे यहाँ पर जैसा जलकष्ट होता है, बरसात मे उसका ठीक उल्टा होता है। पानी बरसने पर हमारे तितल्ले पर भी शायद बहुत-कुछ ऐसा ही दृश्य दिखाई पड़ता है। बरामदे में जितना पानी आकर रुकता है उससे लगता है कि अनायास चौखट के पास बैठकर नहाना-धोना, बर्तन माँजना आदि चलता है। बरसात मे अगर तुम यह उपाय काम में लाओ तो तुम्हारी बहुत-सी मेहनत बचे। आजकल तुम दोनों वक्त छत पर थोड़ी देर टहलती हो कि नही, जरा मुझे बतलाओ तो। और दूसरे सब नियमों का पालन हो रहा है कि नही, यह भी बतलाना। मुझे बहुत संदेह है कि तुम उसी आरामकुर्सी पर पाँव फैलाकर आराम से बैठी, पैरों को थोड़ा-थोड़ा हिलाती हुई, उपन्यास पढ़

रही होगी। तुम्हारे सिर में जो दर्द होता था, वह अब कैसा है ?

शहजादपुर १८९६ रवि

: २ :

(मृणालिनी देवी को लिखित)

ॐ

भाई छुटि,

आज खाने के बाद ऊँघते-ऊँघते तुमको एक चिट्ठी लिखी है। उसके बाद फिर थोड़ी देर ऊँघते-ऊँघते लेटे-लेटे 'साधना' का काम किया है। फिर अब यहाँ के प्रधान कर्मचारी बड़े-बड़े कागजों के बस्ते लिये हुए आए और प्रणाम करके मेरे मुँह की ओर ताकते खड़े हो गए तो मेरी आँखों की नींद और मेरे सुख का सपना बिलकुल टूट गया। मैंने एक बार मन-ही-मन सोचा अगर इनमें से कोई एकाएक गा उठे—

ओगो देखि आँखि तुले चाओ
तो मार चोखे की तुम घोर !

तो वह गाना लगता है 'मायार खेला' के द्वितीय संस्करण से एकदम निकाल दूँ। लेकिन उस तरह लयपूर्वक गाने का भाव मैंने किसी में नहीं देखा। दो-एक लोगों का थोड़ा-सा रोने का स्वर था, लेकिन उसका वक्तव्य-विषय नींद की मस्ती, प्रेम की डोर इन सबको लेकर नहीं था—वे तो अपने वेतन में वृद्धि चाहते हैं। उनके बहुत-से बाल-बच्चे हैं, हुजूर के श्रीचरणों को छोड़कर उनका और कोई ठिकाना नहीं है, हुजूर उनके माई-बाप हैं। इसके अलावा कुछ पुराने इजारेदारों के खिलाफ बकिया लगान की डिग्री हुई है। वे सूद, खर्चे, पैमाइश, सबको लेकर किस्त बाँधकर रुपया देना चाहते हैं और उनके देने में जो सब उज्र हैं, जो कुछ उन्हें कहना-सुनना है, उस पर अच्छी तरह विचार किया जाय ऐसी उनकी प्रार्थना है। इसमें करुण रस और अश्रुजल यथेष्ट है। हो सकता है कि इनमें से अनेक घर-द्वार नीलाम करके सब-कुछ गँवा बैठे हों, लेकिन इसमें सुर लगा के ऑपेरा का गायन नहीं हो सकता—लेकिन मलिन आँखों के कोनों में हल्के से छलछलाती

हुई आये ऐसी कवि की कविता है, गवैये का गान है, बजाने वाले का बजाना है, सब-कुछ ध्वनित हो उठेगा और इस प्रकार दर्शकों, श्रोताओं और पाठकों का वक्षस्थल अश्रुजल मे डूब जायगा ! ऐसी यह दुनिया है ! जब मैं समुद्र-तीर और समुद्र-तरंग पर कविता लिखता हूँ तब यह सब कट्ठे-बीघे का होश नहीं रहता। तब चौदह अक्षरों में अनत समुद्र अनंत तीर रहता है। और उसी समुद्र के किनारे एक छोटा-सा बंगला बनाने जाओ तो इंजीनियर, कंट्रेक्टर, इस्टीमेट, सोच-विचार, उधार और ट्वेल्व परसेण्ट सूद—और इससे ज्यादा कवि की स्त्री को पसंद नहीं, नुकसान मालूम होता है—पति के दिमाग के बारे में संदेह उपस्थित होता है। मैं देखता हूँ कि कवित्व और संसार इन दोनों में किसी तरह मेल-मिलाप न हो सका। कवित्व में एक पैसे का भी खर्च नहीं। अगर मैं किताब छपाने न जाऊँ। और संसार में पग-पग पर खर्च ही खर्च और तर्क-वितर्क। ऐसी ही बहुत-सी बातें मैं सोचता हूँ और माझी गड्ढे में से बोट को खींचे लिये जा रहा है—आकाश में घने काले बादल छाए हैं—बदली की भीगी हुई हवा चल रही है, सूर्य बुझा-बुझा-सा है—पीठ पर एक शाल डाले मैं जोड़ासांको की छत, अपनी उन दो लंबी-लंबी आरामकुर्सियों और सांकला-भाजा की बात रह-रहकर सोच रहा हूँ। चूल्हे में जाय सांकला-भाजा, रात को ठिकाने से खाना मिल जाय यही बड़ी बात है। गफ़ूर मियाँ नाव के पीछे की ओर एक छोटा-सा चूल्हा जलाये न जाने क्या पकाने में लगे हैं। रह-रहकर घी में तलने की चिड़बिड़ चिड़बिड़ आवाज आ रही है—और नाक में सुस्वादु गंध भी आ रही है, लेकिन पानी पड़ते ही सब-कुछ मिट्टी हो जायगा।

शुक्रवार १८९२ रवि

: ३ :

भाई छुटि,

फटिक मजुमदार के मुकदमे में उधर के वकील ने अपने बयान में मेरे खिलाफ क्या-क्या बातें कहीं इनका विवरण देते हुए आज अगर इब्राहीमपुर के पेशकार ने चिट्ठी न लिखी होती तो डाक में मेरी एक भी चिट्ठी न आती और मैं अब तक बैठा-बैठा यही सोचता रहता कि शायद आज अब तक डाक नहीं आई। तुम-जैसा कृतघ्न मैंने नहीं देखा। पीछे तुम्हारी चिट्ठी मिलने में एक दिन की देरी हो इसलिए

मैंने कही जाने पर एक-एक दिन में तीन-तीन चिट्ठियाँ तुम्हें लिखी हैं। लेकिन आज से मैंने तय कर लिया कि चिट्ठी का जवाब नही मिलेगा तो मैं चिट्ठी नही लिखूंगा। इस तरह चिट्ठी लिखते रहने से बस तुम लोगों की आदत खराब होती है—तुम्हारे मन में जरा-सी भी कृतज्ञता नही जागती। अगर तुमने नियम से हफ्ते में दो चिट्ठियाँ भी लिखी होती तो मैं इसे पर्याप्त पुरस्कार समझता। अब धीरे-धीरे मुझे विश्वास होता जा रहा है कि तुम्हारे निकट मेरी चिट्ठी का कोई मूल्य नही और तुम मुझे दो सतर लिखने की भी केयर नही करती। मैं न जाने कैसा मूर्ख हूँ कि सोचता हूँ तुमको रोज चिट्ठी लिखूंगा तो तुम जरा खुश होगी और नही लिखूंगा तो संभव है कुछ चिंतित हो, भगवान् ही जाने। हो सकता है कि वह केवल मेरा अहकार हो, लेकिन अब तो मैं उस गर्व की भी रक्षा न कर सका। आज से हाथ खीचता हूँ। आज शाम को थका शरीर लेकर बैठे-बैठे मैं इस तरह लिख गया, हो सकता है कि कल दिन को फिर मुझे पछतावा होगा और मन में यह बात आयगी कि दुनिया में दूसरे के काम को लेकर उसे बुरा-भला कहने से अच्छा है कि आदमी अपना काम किये जाय। लेकिन जरा-सा भी मौका मिलते ही दूसरे की त्रुटि को लेकर खटपट करना मेरा स्वभाव है और भाग्यवश तुम्हें जीवन-भर इसे सहना पडेगा। बुरा-भला मैं प्रायः चिल्लाकर कहा करता हूँ और पछतावा मन-ही-मन करता हूँ, कोई सुन नही पाता।

शिलाइदह　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　रवि

: ४ :

(प्रमथ चौधरी को लिखित)

ॐ

पोस्टमार्क सियालदह
३१ जून १८९०

प्रमथ,

तुमसे क्या बतलाऊँ मेरे दिमाग की क्या हालत है। बरसात में जिस कच्चे रास्ते पर केवल बैलगाड़ियाँ और भैंसों के झुंड आते-जाते है उनकी जैसी आकार-

प्रकार-हीन शोचनीय दशा हो जाती है मेरी बुद्धि-वृत्ति की भी वैसी ही बुरी दशा हो गई है। इसीके बीच-बीच पाँच-छ. मिनट समय चुराकर मैंने एक रचना शुरू की थी—वह अच्छी बन रही है या बुरी, यह स्थिर होकर समझने का समय भी मुझे नही मिल रहा है। क्षणिक अवसर पाकर कुछ थका-थका और उड़ा-उड़ा सा दिमाग लिये बिस्तर पर पडे-पड़े बिलकुल आलस्यपूर्ण ढग से लिखता जा रहा हूँ—लिखते-लिखते बीच-बीच मे नीद का झोंका भी आ जाता है—रह-रहकर अनमने ढग से पानी की लहरों और किनारे के झाऊ वन की ओर ताकता रहता हूँ और कभी-कभी अनजाने ही मन मे ऐसे सब प्रसग आ जाते है जिनसे सरस्वती देवी का दूर का भी कोई सबध नही है। मैं जो लिख रहा हूँ उसका मैंने पहले से ही नाम 'अनग आश्रम' रख दिया है। यह नाम शायद बहुतों को मनोरंजक लगेगा—क्योंकि उन्नीसवी शताब्दी के कलियुग मे बहुत तरह की फिलासफी ने दुष्टता से शिक्षित सप्रदाय के दिमाग से और सब देवताओं को मार भगाया है, केवल अनंगदेव बाकी रह गए है। 'बाकी रह गए हैं' कहने से बात साफ नही होती—उक्त non regulation province का एकाधिपत्य पाकर वे उत्तरोत्तर खूब हृष्ट-पुष्ट हो उठे हैं—यद्यपि आजकल उन्हें अपने नाम से पुकारने से रुचि-व्यभिचार दोष के लिए दण्ड का भागी होना पड़ता है। हाय हाय, पहले देवताओं के निकट जिस नाम से वे परिचित थे, अब अपने उस नाम को वे मानव समाज में लज्जा के मारे छिपाना चाहते हैं—हम इतने शिक्षित, इतने उन्नत हो उठे हैं। लगता है कि सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ 'प्रेम' शब्द भी धीरे-धीरे कान के लिए लज्जाजनक हो उठेगा—तब के युवक हमारी पुस्तकों को तकिये के नीचे छिपाकर चोरी-चोरी पढ़ेंगे, और इसलिए शायद आज की अपेक्षा तब वह उन्हें ज्यादा अच्छा लगेगा। लेकिन उन दिनों भी अगर साधारण ब्रह्म रहे तो वे न जाने कैसी प्रचण्ड पवित्रता का प्रचार करेंगे, इस बात को सोचकर हमारे-जैसे कवियों का जी काँप उठता है। यहाँ पर समय की बड़ी कमी है और जल्दी ही तुमसे भेंट होगी इसलिए ज्यादा नही लिखा। तुम्हारे जन्मदेव वाले लेख को पढ़ने को आस लगाये हूँ। कुमुद को आश्वस्त करते हुए एक चिट्ठी लिखी। इति।

श्री रवीन्द्रनाथ टागुर

: ५ :

(प्रमथ चौधरी को लिखित)

प्रमथ,

अपरिचित अक्षरों वाली बहुत-सी पतली चिट्ठियों के बीच चूयीडांगा की मुहर लगी हुईएक अच्छी खासी मोटी मजबूत भारी-सी चिट्ठी पाकर अच्छा लगा। कल सवेरे एक रचना और कल रात को एक पुस्तक समाप्त करके आज सवेरे बिलकुल अकर्मण्य-सा बैठा था—ठीक समय पर चिट्ठी मिली—अब शरीर और मन फिर थोड़ा सप्राण हो उठा है।

आजकल यहाँ पर आँधी-पानी के बादल उमड़े हुए हैं। यह जगह आँधी-पानी के योग्य ही है। बादल सारे आकाश को ढँक लेते हैं, अर्थात् सारा आकाश दिखाई नही पड़ता, आँधी पूरे मैदान पर काबू पा लेती है—बारिश मैदान के ऊपर से होकर चली आती है, बरामदे में खड़े होकर दूर से ही दिखाई पड़ती है। वर्षा की अँधेरी छाया को अपने चारो ओर विराट् रूप में फैले हुए देखा जा सकता है। एकाएक हमारे बाग मे बड़ी जोरदार आँधी खूब दूर से हू-हू करती हुई आती है और अपने साथ धूल, सूखे पत्ते और छिन्न-विच्छिन्न स्तूपाकार मेघों को उड़ा-कर ले आती है और फिर वह बड़े-बड़े पेड़ों को जिस तरह बाल पकड़कर झक-झोरती है वह एक अद्भुत दृश्य है। फलो से लदे हुए आम के पेड़ अपने सब डाल-पात समेत जमीन पर गिर-गिर पड़ते हैं—केवल शाल के पेड़ बराबर खड़े हुए ऊपर से नीचे तक थर-थर काँपते रहते है। मैदान के बीचों-बीच हमारा घर है—लिहाजा चारों ओर की आँधी इसीके ऊपर आकर मँडराती रहती है, उस दिन तो एक दरवाजा टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो गया और हमारे घर में आ पहुँचा—जो काण्ड हुआ उससे यह बात स्पष्ट रूप से समझ मे आई कि जंगल ही इनका उपयुक्त स्थान है, भद्र लोगों के घर मे प्रवेश करने का अदब-कायदा इनको नही आता, कार्ड भेजकर घर में घुसने की नई रीति की इनसे निश्चय ही आशा भी नही की जा सकती, लेकिन मैं पूछता हूँ क्या गीले पैर लेकर गृहस्थ के घर में घुसना और सब माल-असबाब लथ-पथ कर देना ही सनातन प्रथा है? पर इस सब अशिष्ट आचरण के बावजूद अच्छा लग रहा था। बहुत दिन से ऐसी आँधी नही देखी।

यहाँ की लायब्रेरी में एक 'मेघदूत' है, आँधी-पानी के मारे घर के एक कोने में दरवाजा बंद करके तकिया लगाकर सारी दोपहर उसीको सस्वर पढ़ा गया है—केवल पढ़ा ही नही गया उसीके इर्द-गिर्द मँडराते हुए मैने वर्षा पर एक [illegible] भी लिख डाली है। 'मेघदूत' पढकर मन मे क्या भाव आ रहा था [illegible] निश्चय ही यह पुस्तक विरही जनों के लिए लिखी गई है, लेकिन [illegible] विरह का विलाप बहुत कम ही है—लेकिन तो भी सारी चीज [illegible] विरही की आकाक्षा से भरी हुई है। विरहावस्था मे एक बंदी [illegible] है [illegible] इसलिए बाधाहीन आकाश में मेघ की स्वाधीन गति देखकर, [illegible] अपनी अदम्य आकांक्षा को उसीके ऊपर आरोपित करके [illegible] वन, ग्राम, नगरी के ऊपर से अपनी अपार स्वाधीनता के [illegible] हुए तैरता चला गया है। 'मेघदूत' काव्य उसी बंदी हृदय [illegible] है। कहने की जरूरत नही कि यह भ्रमण निरुद्देश्य नहीं है—[illegible] बहुत दूर पर एक आकाक्षा का धन है—वहीं पर [illegible] है—[illegible] निर्दिष्ट उद्देश्य अगर दूर पर न होता तो यह [illegible] और उदासी का कारण होता लेकिन वहाँ पर पहुँचने की [illegible] है—[illegible] धीरे अपनी स्वाधीनता का सुख पूरी तरह भोगते [illegible] से किसी का भी अनादरपूर्वक उल्लंघन न करते [illegible] के ठाट-बाट के साथ जाया जा रहा है। [illegible] है

प्राचीन नाम बहुत दिन से सुनाई पड़ते रहे हैं, उन सबको मेघ के ऊपर बैठकर मैं देख आता। वास्तव में कैसे सुन्दर नाम है। नाम सुनकर ही पता चल जाता है कि कितने प्यार से यह नाम रखे गए थे और इन नामों में कैसी एक शोभा और गाभीर्य है। रेवा, शिप्रा, वेत्रवती, गंभीरा, निर्विन्ध्या, चित्रकूट, आम्रकूट, विन्ध्य, दशार्ण, विदिशा, अवन्ति, उज्जयिनी; इन सबके ऊपर नई वर्षा का मेघ उठ रहा है, इन्हीके जुही-वनों मे फुहारें पड रही हैं और ग्रामवधूटियाँ फसल की आशा में स्निग्ध नेत्रो से मेघ की ओर ताक रही हैं। इनके जामुन के कुंजों में फल पककर आकाश के मेघ के समान काले हो गए हैं—दशार्ण जनपद के चारों ओर केतकी की झाडी में फूल लगे हैं—उन फूलों के मुंह जरा-जरा-से खुलने शुरु हो रहे हैं। मेघाच्छन्न रात मे उज्जयिनी के पारिवारिक घरो की छतों के नीचे तमाम कबूतर सोये पड़े है—राजपथ का अंधकार इतना घना है कि उसे सुई से भेदा जा सकता है। कवि की अनुकपा से आज के दिन अगर वह मेघ का रथ मिल ही गया है तो हम क्या यह सब देखे बिना रह सकते है ? यक्ष को अगर इतनी ही जल्दी थी तो उसने आँधी-बतास या बिजली को अपना दूत बना लिया होता—यक्ष अगर उन्नीसवी शताब्दी का हो तो टेलीग्राफ का उल्लेख किया जा सकता है। उस जमाने में अगर आज के जैसा तीक्ष्णदर्शी क्रिटिक समुदाय होता तो कालिदास को बड़ी जवाबदेही करनी पडती—उस हालत में यह छोटी-सी स्वर्ण-तरी लिरिक, ड्रैमेटिक, *डिस-क्रिप्टिव*, पास्टोरल आदि क्रिटिक लोगो की किस चट्टान से टकराकर डूबती, कहना मुश्किल है। मैं कहता हूँ कि यक्ष के प्रति कवि का आचरण चाहे जैसा हो हमारे प्रति बड़ी सुविधा का हुआ—क्रिटिक लोगों से पूरी तरह सहमत होकर कहता हूँ कि ड्रैमेटिक नही हुआ, लेकिन मुझे बहुत अच्छा लग रहा है। मेरे ध्यान में एक बात और भी आ रही है—जिस समय कालिदास ने लिखा था कि उस समय काव्य मे लिखित देश-देशान्तर के अनेक लोग अपने घर से बाहर प्रवासी होकर उज्जयिनी राजधानी में रहते थे, उनकी भी तो विरह-व्यथा थी—इसलिए अलका यद्यपि मेघ का टर्मिनस है तो भी बीच के अनेक स्टेशनों पर इन सब विरही लोगों को उतारते हुए उसे अपने लक्ष्य पर जाना पड़ा था। उस समय के विरही-जनों को अनेकानेक देश-विदेश मे भेजना पड़ा था इसलिए अलका पहुँचने में उसे थोड़ी देर हो गई थी इसके लिए अभागे यक्ष के आगे और उससे भी अधिक अभागे क्रिटिक के आगे कवि ने समुचित अपोलोजी नही की—लेकिन यदि वे लोग public grievance कहकर पकड़ लें तो यह बडी भूल होगी। मैं तो कह

सकता हूँ कि मैं इसीमें खुश हूँ। वर्षा काल में सभी लोगों की कुछ-न-कुछ विरह की दशा हो जाती है—यहाँ तक कि प्रणयिनी पास रहने पर भी हो जाती है—कवि ने स्वयं ही लिखा है—

"मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेत
कण्ठाश्लेष प्रणयिनि जने किम्पुनर्दूरसंस्थे।"

अर्थात् बदली के दिन प्रेमिका अपने गले से लगी हो तो भी सुखी लोगों का मन उदास हो जाता है, दूर रहने की तो बात ही न पूछो। अतएव कवि को वर्षा के दिन इस जगत्व्यापी विरही-वर्ग को सान्त्वना देनी होगी, केवल क्रिटिक की नहीं। इस वर्षा की अपराह्न-वेला मे अपने-अपने क्षुद्र कोटरो मे अवरुद्ध बदीजनों को सौन्दर्य के स्वाधीनता-क्षेत्र मे छोड देना होगा—आज का समस्त ससार दुर्योग में रुद्ध होकर अँधेरे से घिरकर उदास बैठा हुआ है।

'मेघदूत' पढते-पढते और एक विचार मन में आता है। उन्ही दिनों सच्चे विरही-विरहिणी हुआ करते थे। अब नही होते। पथिक-वधुओं की बात हम काव्य में पढते हैं, लेकिन उनकी सच्ची स्थिति का ठीक अनुभव नही कर पाते। पोस्ट आफिस और रेलगाड़ी ने आकर देश से विरह को मार भगाया है। अब तो प्रवास नाम की कोई चीज़ रही नही, इसलिए विरहिणियाँ अब बाल बिखेरकर, आर्द्रतंत्री वीणा गोद मे लेकर ज़मीन पर पडी नही रहती, डैस्क के सामने बैठकर चिट्ठी लिखकर, मोड़कर, टिकट लगाकर डाकघर में भेज देती हैं और फिर निश्चिन्त होकर नहाती-खाती हैं। यहाँ तक कि अंग्रेजी राज्य के कुछ दिन पहले जब ठीक से रास्ते, घाट, यान, वाहन आदि और पुलिस का बदोबस्त नही हुआ था तब भी प्रवास नाम की एक असली चीज थी—इसीसे।

"प्रवासे यखन जाय गो से
तारे बलि बलि आर बला हलो ना।"

कवियों के इन सब गानों में इतनी करुणा आ गई थी ! तुम यह मत सोचना कि मैं इतना निर्लज्ज और कृतघ्न आदमी हूँ कि चिट्ठी में ही पोस्ट-आफिस की बुराई कर रहा हूँ। पोस्टआफिस का विशेष पक्षपाती हूँ, लेकिन उसके साथ-ही-साथ यह भी स्वीकार करता हूँ कि जब 'मेघदूत' या किसी दूसरे प्राचीन काव्य मे विरहिणी की कहानी पढता हूँ—तो मन में इच्छा होती है कि अगर वैसी ही कोई असली विरहिणी मेरे परदेश रहने पर मेरे लिए जमीन पर पड़ी रहे और मैं अगर किसी जड़ या चेतन दूत की सहायता से या कल्पना की शक्ति से उस चीज़

प्राचीन नाम बहुत दिन से सुनाई पड़ते रहे हैं, उन सबको मेघ के ऊपर बैठकर मैं देख आता। वास्तव में कैसे सुन्दर नाम है। नाम सुनकर ही पता चल जाता है कि कितने प्यार से यह नाम रखे गए थे और इन नामों में *कैसी एक शोभा और* गांभीर्य है। रेवा, शिप्रा, वेत्रवती, गंभीरा, निर्विन्ध्या, चित्रकूट, आम्रकूट, विन्ध्य, दशार्ण, विदिशा, अवन्ति, उज्जयिनी; इन सबके ऊपर नई वर्षा का मेघ उठ रहा है, इन्हीके जुही-वनों में फुहारें पड रही हैं और ग्रामवधूटियाँ फसल की आशा में स्निग्ध नेत्रों से मेघ की ओर ताक रही हैं। इनके जामुन के कुंजों में फल पककर आकाश के मेघ के समान काले हो गए हैं—दशार्ण जनपद के चारों ओर केतकी की झाड़ी में फूल लगे हैं—उन फूलों के मुंह जरा-जरा-से खुलने शुरु हो रहे हैं। मेघाच्छन्न रात में उज्जयिनी के पारिवारिक घरों की छतों के नीचे तमाम कबूतर सोये पड़े हैं—राजपथ का अंधकार इतना घना है कि उसे सुई से भेदा जा सकता है। *कवि की अनुकंपा से आज के दिन अगर यह मेघ का रथ मिल ही गया है तो हम* क्या यह सब देखे बिना रह सकते है? यक्ष को अगर इतनी ही जल्दी थी तो उसने आँधी-बतास या बिजली को अपना दूत बना लिया होता—यक्ष अगर उन्नीसवीं शताब्दी का हो तो टेलीग्राफ का उल्लेख किया जा सकता है। उस जमाने में अगर आज के जैसा तीक्ष्णदर्शी क्रिटिक समुदाय होता तो कालिदास को बड़ी जवाबदेही करनी पडती—उस हालत में यह छोटी-सी स्वर्ण-तरी लिरिक, ड्रैमेटिक, डिस-क्रिप्टिव, पास्टोरल आदि क्रिटिक लोगों की किस चट्टान से टकराकर डूबती, कहना मुश्किल है। मैं कहता हूँ कि यक्ष के प्रति कवि का आचरण चाहे जैसा हो हमारे प्रति बडी सुविधा का हुआ—क्रिटिक लोगों से पूरी तरह सहमत होकर कहता हूँ कि ड्रैमेटिक नही हुआ, लेकिन मुझे बहुत अच्छा लग रहा है। मेरे ध्यान में एक बात और भी आ रही है—जिस समय कालिदास ने लिखा था कि उस समय काव्य में लिखित देश-देशान्तर के अनेक लोग अपने घर से बाहर प्रवासी होकर उज्जयिनी राजधानी में रहते थे, उनकी भी तो विरह-व्यथा थी—इसलिए अलका यद्यपि मेघ का टर्मिनस है तो भी बीच के अनेक स्टेशनों पर इन सब विरही लोगों को उतारते हुए उसे अपने लक्ष्य पर जाना पड़ा था। उस समय के विरही-जनों को अनेकानेक देश-विदेश मे भेजना पडा था इसलिए अलका पहुँचने में उसे थोड़ी देर हो गई थी इसके लिए अभागे यक्ष के आगे और उससे भी अधिक अभागे क्रिटिक के आगे कवि ने समुचित अपोलोजी नही की—लेकिन यदि वे लोग public grievance कहकर पकड़ लें तो यह बडी भूल होगी। मैं तो कह

सकता हूँ कि मैं इसीमें खुश हूँ। वर्षा काल में सभी लोगों की कुछ-न-कुछ विरह की दशा हो जाती है—यहाँ तक कि प्रणयिनी पास रहने पर भी हो जाती है—कवि ने स्वयं ही लिखा है—

"मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेष प्रणयिनि जने किम्पुनर्दूरसंस्थे।"

अर्थात् बदली के दिन प्रेमिका अपने गले से लगी हो तो भी सुखी लोगों का मन उदास हो जाता है, दूर रहने की तो बात ही न पूछो। अतएव कवि को वर्षा के दिन इस जगत्व्यापी विरही-वर्ग को सान्त्वना देनी होगी, केवल क्रिटिक को नही। इस वर्षा की अपराह्न-वेला में अपने-अपने क्षुद्र कोटरो मे अवरुद्ध बंदीजनों को सौन्दर्य के स्वाधीनता-क्षेत्र मे छोड़ देना होगा—आज का समस्त संसार दुर्योग में रुद्ध होकर अँधेरे से घिरकर उदास बैठा हुआ है।

'मेघदूत' पढते-पढते और एक विचार मन में आता है। उन्ही दिनों सच्चे विरही-विरहिणी हुआ करते थे। अब नही होते। पथिक-वधुओं की बात हम काव्य में पढ़ते हैं, लेकिन उनकी सच्ची स्थिति का ठीक अनुभव नही कर पाते। *पोस्ट आफिस और रेलगाड़ी ने आकर देश से विरह को मार भगाया है।* अब तो प्रवास नाम की कोई चीज रही नही, इसलिए विरहिणियाँ अब बाल बिखेरकर, आर्द्रतंत्री वीणा गोद मे लेकर जमीन पर पड़ी नही रहती, डैस्क के सामने बैठकर चिट्ठी लिखकर, मोड़कर, टिकट लगाकर डाकघर में भेज देती है और फिर निश्चिन्त होकर नहाती-खाती है। यहाँ तक कि अंग्रेजी राज्य के कुछ दिन पहले जब ठीक से रास्ते, घाट, यान, वाहन आदि और पुलिस का बदोबस्त नही हुआ था तब भी प्रवास नाम की एक असली चीज थी—इसीसे।

"प्रवासे यखन जाय गो से
तारे बलि बलि आर बला हलो ना।"

कवियों के इन सब गानो मे इतनी करुणा आ गई थी! तुम यह मत सोचना कि मैं इतना निर्लज्ज और कृतघ्न आदमी हूँ कि चिट्ठी में ही पोस्ट-आफिस की बुराई कर रहा हूँ। पोस्टआफिस का विशेष पक्षपाती हूँ, लेकिन उसके साथ-ही-साथ यह भी स्वीकार करता हूँ कि जब 'मेघदूत' या किसी दूसरे प्राचीन काव्य में विरहिणी की कहानी पढता हूँ—तो मन में इच्छा होती है कि अगर वैसी ही कोई असली विरहिणी मेरे परदेश रहने पर मेरे लिए जमीन पर पडी रहे और मैं अगर किसी जड़ या चेतन दूत की सहायता से या कल्पना की शक्ति से उस चीज

को जान सकूँ तो बड़ा मजा आये। स्वदेश में रहो, चाहे विदेश मे रहो और प्यार चाहे जैसा हो सब लोग बड़े मजे में Comfortably दिन बिताते हैं। यह कैसी रूखे-सूखे गद्य-जैसी बात सुनाई पड़ती है।—बाहर खूब पानी बरस रहा है, हवा चल रही है और साँझ का अँधेरा घना होता जा रहा है। बड़ी मुश्किल से अपने अक्षर देख पा रहा हूँ—दिन की रोशनी पूरी तरह डूब जाने के पहले ही चिट्ठी को खत्म कर डालने के लिए फर-फर चिट्ठी घसोटे जा रहा हूँ—विचार-शक्ति बीच-बीच मे आराम करने या नया Steam जुटाने का अवसर नही पा रही है—लेकिन आज लगता है कि खत्म न हो सकेगी—कल सवेरे खत्म करूँगा।

मुझे विश्वास है कि जब यह चिट्ठी तुम्हारे हाथ में पहुँचेगी तब चूँयोडांगा के आकाश मे काले-काले बादल छाये होंगे और आस-पास सब जगह टप-टप पानी गिर रहा होगा। नही तो अगर चारो ओर धू-धू करती हुई धूप छाई हो, घास जलकर पीली पड गई हो और आसमान के किसी टुकड़े में बादल का कही पता न हो, तो इसका मतलब होगा कि वर्षाजीवी चिट्ठी बिलकुल अकाल-मृत्यु के हाथ मे आ पड़ेगी। वर्षाकाल प्रकृति की साधारण अवस्था का एक व्यतिक्रम है न। सूर्य, नक्षत्र आदि प्रकृति के सबसे अधिक चिरंतन लक्षण लुप्त हो जाते हैं, उसके स्थान पर क्षणिक मेघ का क्षणिक राज्य स्थापित हो जाता है, प्रकृति का दैनंदिन जगत् का चित्र-विचित्र जीवन-कलरव मौन हो जाता है, उसके स्थान पर वृष्टि का अविश्राम एकरस झर-झर शब्द सब मिलकर इसी तरह की एक क्षण स्थायी विपर्यय की स्थिति हो जाती है। अतः प्रकृति के प्रकृतिस्थ होते ही, जरा-सी धूप निकलते ही वर्षा की बात सब भूल जाती है। वर्षा का सम्पूर्ण भाव फिर मन के भीतर नही ले आया जा सकता—इसीसे आशंका होती है, कही ऐसा न हो कि यह चिट्ठी जेठ महीने की गरम दुपहरिया में तुम्हारे हाथ में पहुँचे। चिट्ठी की एक बड़ी कमी यही है—बारिश की चिट्ठी धूप के समय जाकर पहुँचती है, शाम की चिट्ठी सवेरे पहुँचती है—दोनो पक्षों मे पूरी समवेदना नही रहती। घने अँधेरे में शाम की बत्ती जलाकर अकेले बैठकर जो चिट्ठी लिखी जाती है उसको अगर तुम सवेरे मुँह धोकर सपरिवार चाय-रोटी का सेवन करते-करते पढ़ो तो बतलाओ यह कितना बड़ा पाप है—चोरी-चोरी किसी की डायरी पढ़ने से जो पाप होता है उससे यह किसी तरह कम नहीं।

तुम्हारी इस बार की चिट्ठी में भी 'छवि ओ गान' की बात है—इसमे संदेह नही कि यह विषय मेरे लिए बहुत मनोरम है। आजकल जो सब कविताएँ लिख

रहा हूँ वे 'छवि ओ गान' से इतनी भिन्न है कि मै सोचता हूँ मेरे लिखने की कही परिणति नही हो रही है, क्रमशः परिवर्तन ही हो रहा है। मैं खूब अनुभव करता हूँ कि मैं जैसे एक परिवर्तन के सधिस्थल पर आकर खड़ा हूँ। इस तरह और कब तक चलेगा यही सोचता हूँ। आखिरकार एक जगह तो पाऊँगा जो विशेप रूप से मेरी अपनी जगह होगी। निरन्तर परिवर्तन देखकर डर लगता है कि इतने दिनों तक इतना कुछ जो लिखा वह सब शायद कुछ टिकेगा नही—मेरी अपनी जो वास्तविक चरम अभिव्यक्ति है वह जब तक नही आती तब तक यह सब केवल tentative है। वास्तव मे मैं कुछ ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ कि क्या सत्य है और क्या मिथ्या। लेकिन मैंने देखा है कि यद्यपि कभी-कभी सदेह का अँधेरा मन को ढक लेता है और अपनी सब पुरानी रचनाओं को लेकर मेरे मन मे अविश्वास जागता है तो भी मोटे रूप मे यह आत्मविश्वास मेरे मन से नही जाता कि अगर मैं काफी दिन बचा रह गया तो ऐसी एक दृढ आधारभूमि पर जा पहुँचूंगा जहाँ से कोई मुझे हटा नही सकेगा। लेकिन इस तरह का आत्मविश्वास और भी हजारों लोगो का था और उनका भ्रांत जीवन निष्फल हुआ है और होगा अत इस तरह का आत्मविश्वास कोई प्रमाण नही माना जा सकता। यह देखो अहमिका की कैसी एक जबरदस्त अवतारणा हुई—लेकिन चिट्ठी के चार कागज पूरे करने पर आखिरकार अहम् को छोड़कर और गति नही—इतनी जगह भरना और किसी के लिए साध्य नही। और सब बाते, सब विवेचनाएँ समाप्त हो जाती हैं—इसकी बात कभी समाप्त नही होती—इसलिए अगर तुम लंबी चिट्ठी की उम्मीद करते हो तो सबसे ज्यादा लबे इस अहम् पुरुष को बड़ी मात्रा मे तुम्हे सहना पड़ेगा।

: ६ :

(प्रमथ चौधरी को लिखित)

पोस्टमार्क शहजादपुर

भाई प्रमथ,

अभी थोडी देर हुई तुम्हारी चिट्ठी मिली। उस दिन कलकत्ता की चिट्ठी से तुम्हारे कन्वोकेशन की उपस्थिति की खबर पाकर मैंने समझ लिया था कि तुम

जानता—एक गिलास पानी चाहता है कि आधा बेल चाहता है, पूछने पर बतला नही पाता। मैं ऐसी स्थिति मे मन के साथ समझौता करके कल्पना के कल्पवृक्ष मे मायाफल उगाने की चेष्टा कर रहा हूँ। जब मैं यह जानता हूँ कि सत्य एक तो नितांत असंतोषजनक, ऊपर से रुखाई मे मनुष्य के मन से आमने-सामने जवाब तलब करता है—इसीलिए ध्यान लगाकर कल्पना-सिद्ध होने की चेष्टा की जा रही है—कल्पना से ही पूरा फल नही मिलता—लेकिन सत्य की अपेक्षा वह कही ज्यादा आज्ञाकारी है। इसीलिए 'कल्पना सत्य होती तो साध मिट जाती'—मैं दोनो को एक कर पाता। अर्थात् यदि मैं ईश्वर हो पाता। मनुष्य के मन में ईश्वर के समान आकांक्षा है, लेकिन ईश्वर के समान असीम क्षमता नही है—कुछ लोग कहते है, है—कहकर बहिर्जगत् मे चेष्टा करते घूमते हैं—कोई समझता है कि नही है—इसीसे आकांक्षा-राज्य मे बैठकर अर्ध-निराशा ढग से कल्पना की पुतली गढ़कर उसकी पूजा कर रहा है। इसीको प्रेम कहते हैं? मेरे प्रेम का पात्र कहाँ है? मैं बहुतों से प्रेम करता हूँ लेकिन 'मानसी' में मैंने जिसको खडा किया है वह मानस मे ही है—वह आर्टिस्ट के हाथ से रची हुई ईश्वर की पहली अपूर्ण रचना है। धीरे-धीरे पूर्ण होगी क्या?

—रविकाका

: ८ :

पोस्टमार्क शांतिनिकेतन

कल्याणीयेषु,

तुम सामयिक पत्रों की संक्षिप्त समालोचना पर इतना ध्यान देकर चलते हो यह सुनकर आश्चर्य हुआ। छपे हुए अक्षर का एक जादू होता है। उस जादू के आवरण को काटकर यदि स्वयं समालोचक-पुरुष को प्रत्यक्ष देख पाते तो अधिकांश स्थलों पर तुम देखते कि सम्पत्ति के नाम पर उनके पास केवल कलम है। अक्किल और इलम ज्यादा नही है। हमारे देश की पन्द्रह आने रचनाओं में मन नाम की चीज नही होती—इसीलिए हमारे पाठकों का पाकयंत्र अब तक उसे हजम करना नही सीख सका। उपदेश और आँसू और उत्तेजना मनचाहे जितना जुटाओ उसका कही अंत नही है; लेकिन मन नाम की चीज जरा मुश्किल से मिलती है। वह गाल में दबाने से यों ही गल नही जाती। उसके संग कार-बार करने के लिए जिस

प्रौढता की जरूरत है वह चाहे जिस कारण से हो, हमारे देश में दुर्लभ हो गई है। हमारा जन्म मनन-चिंतन की आबोहवा में नही हुआ—जिस देश मे सब भावनाएँ भावित और सब कर्म कृत होकर सदा के लिए खत्म हो गए है उसी 'मेरी जन्म-भूमि' में हम बड़े हुए हैं। इसके अलावा हमारी विद्या-शिक्षा भी मूल पुस्तक से न होकर नोट्स की पुस्तक से हुई है। इस तरह दूसरे किसी आदमी का मन जिसे चबाकर हमारे लिए आधा हजम कर देता है उसी आहार पर हमारे मन के बढ़ने की उम्र कटी। ऐसी स्थिति में जब हमे एकाएक सोचने के लिए कहा जाता है तो हमें गुस्सा आता है—और सोचने पर जो चीज ठहरती है वह है अजीर्णता। तुम अगर कुछ दिनो तक इबसेन, मेटरलिंक, डास्टावेस्की, बर्नर्डशा 'कोट' करके और उसकी व्याख्या करके स्कूल-मास्टरी कर सको तो उसका मूल्य चाहे जितना तुच्छ हो उसकी खपत और ख्याति बहुत होगी। लेकिन तुम्हारा दोष है कि तुम खुद सोचते हो और इसलिए दूसरों से भी सोचने की माँग करते हो—इतनी दुराशा हमारे देश में न चलेगी। अक्षय मजुमदार कहते थे, "अभिनय करते समय मैं दर्शकों को बन्दर समझता था, इससे अभिनय करने मे आसानी होती थी।" लेकिन जो चीज अभिनय के लिए ठीक हो सकती है वह साहित्य पर लागू नही होती। साहित्य के प्रसग में यह बात याद रखनी ही होगी कि मै जिनके लिए लिख रहा हूँ वे सब मनुष्य हैं, उन सबके पास मन है। हमारे पाठकों मे इस मन की परख सच्ची और कड़ी नही होती इसीलिए मैंने इतना कुछ अनाप-शनाप लिखा है कि जिसका ठिकाना नही। बाहर से ग्रहण करने वाला व्यक्ति न रहने पर भीतर की दान करने की शक्ति भी विकृत हो जाती है। लेकिन यह सब-कुछ मानकर भी कमर बाँधकर चलना होगा और समझना होगा, 'दुर्गम पथस्तत् कवयो वदन्ति।'

—श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर

: ६ :

(प्रमथ चौधरी को लिखित)

पोस्टमार्क, शांतिनिकेतन

कल्याणीयेषु,

प्रमथ, मेरा मन बहुत क्लांत हो रहा है—इसीलिए बाकायदा किसी चीज के लिखने मे हाथ नही लगा पा रहा हूँ। 'घरे-बाइरे गल्प' लिखने बैठा था लेकिन

खत्म नही किया। मन कहता है, "संसार का उपकार करना तुम्हारा काम नही है। उस काम मे ढेरों लोग लगे हुए हैं, और भीड़ बढाने से धरती का भार हरने के लिए खूब मजबूत अवतार की जरूरत पड़ेगी।" अत्यंत गंभीर कर्त्तव्यों को देखने से आजकल केवल क्लांति नही मालूम होती, हँसी आती है। लगता है कि उसका बारह आना धोखा-धड़ी है जो चेहरा लगाकर आ गई है। मैं यहाँ पर बड़ा भारी कोई काम फाँदकर बैठा हूँ, उसकी महिमा अब मुझे दबाकर नही रख पा रही है। मेरे लिए यह सब समय नष्ट करने का उपाय है; क्योंकि मेरे जीवन के सिरनामे पर भगवान् की सील-मोहर लगा हुआ छुट्टी की मंजूरी का हुकुम था। इसीलिए बराबर स्कूल से भागा हूँ लेकिन सजा कभी नही पाई। यह छुट्टी बर्बाद करने बैठा हूँ शायद इसीलिए आजकल भीतर-ही-भीतर सजा पा रहा हूँ। जरूरी चिट्ठी, जरूरी लेख सब-कुछ ठेल-ठालकर प्रायः बीच-बीच में गीत लिखता हूँ। जिस समय लिखता हूँ उस समय ऐसा लगता है कि स्वराज्य ऐसी कोई बड़ी चीज नही—मनुष्य के इतिहास मे अनेक स्वराज्य बुलबुलों के समान उठे हैं और फूट गए है—लेकिन जो गीत देखने मे बुलबुलों-जैसे हैं वे प्रकाश के बुलबुले हैं, नक्षत्रों के समान। उनका रंग सृष्टिकर्त्ता के खिलौनो के रंग से मेल खाता है। इसीलिए जब वह आकार ग्रहण करने लगते है तब कर्त्तव्य मुझे भूल जाता है। लेकिन तो भी देश के जो नेतागण है, कर्त्ता लोग है, उनके पास से हुकुम आता है कि 'समय खराब है, बाँसुरी रख दो, लाठी उठा लो।' अगर मैं ऐसा करूँ तो कर्त्ता लोग खुश होंगे, लेकिन मेरा एक बाँसुरी वाला मित्र है, कर्त्ता लोगों से बहुत ऊपर, वह मुझे फौरन बर्खास्त कर देगा। कर्त्ता लोग कहते है, "वह कौन है? एक तो वंदेमातरम् है।" उनको प्रणाम करके आज मुझे कहना पड़ रहा है, 'जिन्होने मेरा वंदेमातरम् भुलवा दिया है वही। मैं तो देश-घर छोड़े हुए आवाराओ के दल का हूँ। मैं अगर आज भूगोल की प्रतिमा के पंडों की बात मानने बैठूँ तो मेरी जाति चली जायगी।' लेकिन दुर्भाग्य से भूगोल की प्रतिमा के पंडे केवल पंडे नही है, गुण्डे भी हैं—इसलिए मार खानी होगी। वही खा रहा हूँ। मार शुरू हो गई है। हमारी भाषा में कहते है, 'मरे से बड़ी गाली नही'। वह बात झूठ है। मरना गाली नही, मरने का भय करना ही गाली है। मरने के भय से चांद सौदागर ने शिव को छोड़कर साँप के देवता के आगे हार मानी थी, उसी जगह उसकी गाली चिपककर रह गई थी। लेकिन मैं शिव को न छोड़ूँगा। मेरे शिव सारे जगत् के है—लेकिन साँप के देवता की जगह गड्ढे के भीतर है। जिन लोगोने गड्ढे के मुँह पर दूध-केला जुटाने

का बयाना लिया है वे लोग जिस फल का लोभ करते है मैं उस फल को बड़ा नही समझता। मेरा मन किसी दिन मंप के मड्ढे मे देवता को न खो देगा। मैं समझ रहा हूँ कि इस बात को लेकर मेरा घर-बार मुझे छोड़ देगा। मैंने ठीक किया है, जिसके जो मन में आये अपनी साध मिटा ले, मैं और कुछ न कहूँगा।

बाबा

२९ अगस्त, १९३२

: १० :

(श्री इंदिरादेवी को लिखित)

६ मई, १९१३

कल्याणीयेपु,

बीबी, तेरी चिट्ठियाँ पाकर बहुत खुश हुआ। समुद्र पार आने के बाद से अब तक आत्मीय स्वजनो की ऐसी विधिवत् खबर नही मिली। इसका कारण है। बोलपुर विद्यालय के साथ मेरा चिट्ठियों का लेन-देन बराबर होता आ रहा है—इसके अलावा अपने लोग जो बीच-बीच मे चिट्ठी मे लिखते है वे समझ ही नही पाते कि मेरे लिए कौन-सी खबर सचमुच खबर है। इसीलिए मेरी हालत कुछ ऐसी है जैसी कि देश में समय की घडी में कोई चाभी नही देता, लेकिन यहाँ पर हर सेकेण्ड डोली-डण्डी के कंधे पर चढकर टिक-टिक शब्द से घर को पागल किये रहता है।

तूने 'गीताजलि' के अंग्रेजी तर्जुमे की बात लिखी है। वह मैंने कैसे लिख लिया और कैसे लोगो को इतना अच्छा लग गया, यह बात मैं आज तक समझ ही न पाया। मै अंग्रेजी नही लिख पाता, यह बात इतनी साफ है कि इसके बारे मे मुझे शर्म आये, इतना अभिमान भी मुझे कभी न था। अगर कोई मुझे चाय पीने की दावत देते हुए अंग्रेजी में चिट्ठी लिखता तो उसका जवाब देने का भी भरोसा मैं अपने भीतर न पाता। तू सोचती है कि आज शायद मेरी वह माया कट गई है—बिलकुल नही—अंग्रेजी मे लिखा है इसीसे वह मेरी माया जान पड़ती है। पिछली बार जब जहाज पर चढ़ने के दिन मेरा सिर चक्कर खा रहा था, विदा लेने की भीषण जल्दी मे यात्रा बद हो गई, तब मैं सियालदह मे आराम करने के लिए

गया। लेकिन मस्तिष्क सोलहों आना सबल न हो तो विश्राम करने योग्य जोर अपने में नहीं रहता इसीलिए लाचार होकर मन को शांत रखने के लिए एक अनावश्यक काम मैंने हाथ में ले लिया। तब चैत के महीने में आम के बौर की सुरभि से आकाश में कहीं कोई जगह बाकी न बची थी और पक्षियों का कलरव दिन के न जाने कितने प्रहरों को बिलकुल पागल किये रहता था। छोटे बच्चे जब चैतन्य रहते हैं तो माँ को भूले रहते हैं और जब तबीयत सुस्त होती है तभी माँ की गोद में घुसकर बैठना चाहते हैं—मेरी ऐसी ही दशा हुई। मैं अपना पूरा मन लगाकर अपनी पूरी छुट्टी लगाकर जैसे चैत महीने को पकड़कर बैठ गया—उसकी रोशनी, उसकी हवा, उसकी गंध, उसका गान एक भी मुझसे न छूटा। लेकिन ऐसी हालत में चुप नहीं रहा जाता—हड्डी में जब हवा लगती है तो वह उठना चाहती है। यह मेरा सदा का अभ्यास है तू तो जानती है, लेकिन तो भी कमर बाँधकर कुछ लिखने की शक्ति मुझमें न थी। इसीलिए उस 'गीतांजलि' की कविताओं को लेकर मैंने उनका एक के बाद एक अंग्रेजी में तर्जुमा करना शुरू किया। अगर तू यह कहे कि सुस्त शरीर में ऐसी दुस्साहस की बात मन में आई तो कैसे आई—लेकिन मैं बहादुरी करने की दुराशा में इस काम में नहीं लगा। और एक दिन जिस भाव की हवा से मन में रस का उत्सव जाग उठा था उसीको फिर एक बार एक और भाषा के भीतर से मन में उद्भासित कर लेने के लिए न जाने कैसी एक प्रेरणा मन में हुई। एक छोटी-सी कापी भर गई। इसीको जेब में रखकर मैं जहाज पर चढ़ा। जेब में रखने का मतलब यह है कि मैंने सोचा कि जब समुद्र में मन उकतायगा तब डेक-चेयर में हिलते-डुलते फिर एक-दो का तर्जुमा करने बैठूँगा। वही हुआ। एक कापी पूरी होकर दूसरी कापी का नंबर आया। रोथेंसटाइन ने मेरे कवि-यश का आभास पहले ही किसी भारतीय सज्जन से पा लिया था। उन्होंने जब बात-बात में मेरी कविता का नमूना पाने की इच्छा व्यक्त की तो मैंने बहुत संकोच के साथ अपनी कापी उनके हाथ में समर्पित कर दी। उन्होंने जो राय उस पर दी मैं उसका विश्वास न कर सका। तब उन्होंने कवि येट्स के पास मेरी कापी भेज दी—इसके बाद क्या हुआ उसका इतिहास तू जानती है। मेरे इस कैफियत-नामे से तू इतना जरूर समझ सकेगी कि मेरा इसमें कोई अपराध न था—बहुत कुछ घटना-क्रम में यों ही हो गया।

उसके बाद जब मैं अमेरिका गया तो मैंने सोचा कि कुछ दिन चुपचाप आराम करूँगा। लेकिन चुप रहने की जगह अमेरिका नहीं है। वह देश 'मूकं

करोति वाचालं' है—विदेश से जो कोई भी जाय अमेरिका उससे वक्तृता की माँग करता है। मैं अरबाना शहर मे पहुँचा ही था और ठीक से अभी बैठ भी न पाया था कि वक्तृता के लिए तकाजे आने शुरू हुए। मैंने कहा मैं अंग्रेजी नही जानता, लेकिन वह बात भी मुझे अंग्रेजी ही मे कहनी पडी इसलिए किसी ने मेरा विश्वास नही किया और कहने लगे, तुम तो अच्छी-खासी अंग्रेजी बोलते हो। अनुरोध टालने की विद्या आज तक मुझे न आई। बोल नही सकूंगा यह बात बार-बार कहने की अपेक्षा वक्तृता देना मेरे लिए सहज है। इस तरह अमेरिका मे उन्होंने मेरी गटई दबाकर वक्तृता बाहर निकाल ली। इस सिलसिले मे वहां पर मुझे ख्याति भी मिली—लेकिन तो भी आज तक मैं यही सोचता हूँ कि वह सब सयोग ही हुआ है अंग्रेजी भाषा मे जो बहुत-सी अस्थिर चीजें हैं—जैसे उनके आर्टिकिल, उनके प्रीपोजीशन, उनके shall और will वह सहज ज्ञान से तो पल्ले पड़ते नही, उसकी शिक्षा होनी चाहिए। अब मैं समझ पा रहा हूँ कि मेरा मग्न चैतन्य, मेरी Subliminal consciousness में वह सब धरती के गड्ढे के कीड़ों की तरह रहते हैं—जब सब-कुछ भूल-भालकर आँख मूँदकर लिखने बैठता हूँ तो अँधेरे में वह सब सरसराते हुए बाहर निकलकर अपने काम निपटा जाते हैं लेकिन जाग्रत चैतन्य का प्रकाश देखते ही वे घबराकर भाग जाते हैं—इसीलिए उनके संबंध में अन्त तक किसी तरह का भरोसा मुझे अपने मन मे नही मिला—इसीलिए आज तक यह बात सच रह गई कि मै अंग्रेजी भाषा नही जानता। ठीक से नही जानता यह कहना थोड़ी-सी अत्युक्ति होगी किन्तु 'नाहं मन्ये सुविदेति नो न वेदेति वेदं च'। मैं तो तुमसे सच बात कह रहा हूँ, यह जो थोड़े-से अंग्रेजी लेख मैं लिख सका हूँ इनके कारण मेरे मन में एक दुश्चिन्ता जाग रही है और वह यह है कि इन नजीर पर मै बराबर चलूंगा कैसे ? कृतकार्य होने योग्य शिक्षा जिनके पास नही है, जो बिलकुल दैवयोग से ही कृतकार्य होते है, उनकी यह कृतकार्यता एक बड़ी बला है।

*नदिदि ने मुझको अपना 'फूलेर माला' का तर्जुमा भेजा था। यहां के साहित्य-*बाजार को अगर देखती तो समझ पाती कि सब चीजें किसी तरह यहां पर नही चल सकती। ये लोग जिसको रियलिटी कहते है वह चीज होनी चाहिए। इस चीज के साथ मेरा कार-बार बहुत कम है—इसीलिए न तो इनको हम पहचानते हैं और न यही समझते है कि इसका अभाव कैसा होता है। मेरे लिए मुश्किल यही है कि अगर मैं इसके बारे मे कुछ कहूँ तो लोग मुझे गलत समझ लेंगे; क्योंकि

मेरी रचनाओं को उन्होंने ग्रहण किया है। अगर तू पूछे कि क्यों किया है तो उसका जवाब यह होगा कि यह कविताएँ मैंने इसलिए नहीं लिखी कि मैंने सोच लिया था कि लिखूं—यह मेरे जीवन के भीतर की चीज है—यह मेरा सच्चा आत्मनिवेदन है, जिसमें मेरे जीवन के सब सुख-दुःख, सब साधना ने गलकर स्वयं ही आकार धारण किया है। यह जीवन की चीज जीवन के क्षेत्र में आदर पाती है, यह बात मैंने अच्छी तरह समझ ली है; लेकिन किसी को समझाना मुश्किल बात है। क्योंकि अपना चकमा अपना धोखा आदमी खुद नही देख पाता,—क्योंकि धोखे की चीज में परिश्रम अधिक होता है, चेष्टा अधिक होती है और उसके प्रति मनुष्य की ममता भी लगता है कि ज्यादा होती है। हमारे देश के किसी लेखक ने अपनी एक पुस्तक का अनुवाद करके यहाँ किसी के पास भेजा था। इन लोगों ने उनसे कहा कि इसको बिलकुल नये सिरे से लिखे बिना काम न चलेगा। इसका उन्होने जवाब दिया था, "क्यो, रवीन्द्र ठाकुर की भाषा अगर चल सकती है तो मेरी भाषा क्यों नही चलेगी ?' उन्होंने एक बड़ी भूल यह की थी जो यह समझ लिया कि भाषा पर ही सब-कुछ निर्भर रहता है। यह बात बिलकुल सच है कि मेरे जीवन में ऐसा आयोजन ही नही हुआ कि मैं अंग्रेजी भाषा को लेकर अभिमान कर सकूँ—लेकिन चाहे जिस कारण से हो जगत् को मैंने जिस प्रकार उपलब्ध किया है वह मेरे भीतर की सच्ची चीज है—उसी सत्य को उसकी अपनी प्रेरणा से व्यक्त करने की चेष्टा करता आ रहा हूँ—इसीलिए स्कूल-मास्टर को चकमा देकर भी मैंने अपने जीवन को कभी चकमा नही दिया। उसके साथ छल नहीं किया। अंग्रेजी व्याकरण के निकट मेरे चाहे जितने अपराध हों, साहित्य के निकट अपमानित होने योग्य दुष्कर्म मैंने बहुत नही किये। लेकिन मैं अच्छी तरह देख पाता हूँ कि अंग्रेजी में अपने देश के शिक्षित व्यक्तियों के मुकाबले में बहुत कच्चा होने के बावजूद मैं अंग्रेजी साहित्य मे स्थान पा सका हूँ, इसके लिए मुझे क्षमा करना और इस घटना को सरल और उदार भाव से ग्रहण करना बहुतों के लिए कष्टकर हो उठेगा।

मई का महीना आ गया है, आज वैसाख की बाईस तारीख है लेकिन तो भी यहाँ का आकाश धुंधला-धुंधला है। प्रकाश पनीला है और सूर्यदेव के स्वर्ण-भण्डार का दरवाजा बिलकुल बन्द है। बीच-बीच में रिमझिम पानी भी बरस रहा है, भीगी-भीगी सनसनाती हवा मे आज भी घर मे आग जलानी पड़ रही है। अच्छा नहीं लग रहा है, क्योंकि मैं प्रकाश का भूखा हूं, मेरे उसी बोलपुर के मैदान के

ऊपर आकाश जिस तरह बिलकुल उल्टा होकर प्रकाश डालता है उसके लिए हृदय प्यासा हो रहा है। लेकिन जब सोचकर देखता हूँ कि देश लौटने पर चारों ओर से कितनी छोटी बातें सुननी पड़ेंगी, कितना विरोध-विद्वेष, कितनी निंदा-ग्लानि; तो मन-ही-मन सोचता हूँ कि और कुछ दिन रुक जाऊँ, जितने दिन हो सके इस सब काँव-काँव से दूर ही रहूँ। लेकिन अप्रियता से कावा काटकर चले जाना ठीक नही, उसको ठेलकर चलना ही ठीक रास्ता है—नदी के किनारे-किनारे चलने से नदी के पार नही उतरा जा सकता, एकदम से कूद पड़ो और दोनो हाथों से लहरो को काटो तभी उस पार की सूखी भूमि पर पहुंच सकते हो—जो चीज अच्छी नही लगती उससे दामन बचा-बचाकर डरकर मैं न चलूंगा, उसको अपने हृदय की समस्त शक्ति से ठेलता हुआ ही चलूंगा, इस प्रतिज्ञा को अच्छी तरह पकड़ लेना अच्छा होता है। अतः भाषण आदि हो जायें और पुस्तक छपाने की व्यवस्था हो जाय, उसके बाद ही पूरब की ओर मुंह करूंगा।

ज्योत्स्ना से आज भी भेंट नही हुई। वह लदन से बाहर न जाने कहाँ रहती है। आज मेबुल ने चाय पीने के लिए अपने घर बुलाया था। अमेरिका से लौटने के बाद इतने दिनो तक किसी को खबर नही हुई इसीसे सब-कुछ चुपचाप चल रहा था, अब धीरे-धीरे भीड़ जमा होने के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। यह खींचतान मैं किसी तरह सह नही पाता, निमंत्रण की चिट्ठी पाते ही मुझे थकान मालूम होने लगती है—बहुत बार तो बल्कि वहाँ जाकर थकान दूर हो जाती है। रात हो गई। वर्षारम्भ के आशीर्वाद के साथ यही पर चिट्ठी समाप्त करता हूँ।

शुभचिंतक
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

: ११ :

(इंदिरा देवी को लिखित)

पोस्टमार्क शांतिनिकेतन
२० अक्तूबर, १९२१

कल्याणीयासु,

तुम सब आज मेरा विजया का आशीर्वाद लो।

इस बार देश लौटने के बाद से अब तक मुझे शांति नहीं है, विश्राम नहीं है। इसीलिए आजकल केवल यह इच्छा होती है कि चारों ओर के घेरे तोड़-ताड़कर

अपनी उसी अल्पवयस की साहित्यिक खेल-कूद के घर में भाग जाऊँ। जब मैंने जीवन में किसी दायित्व को जान-बूझकर ग्रहण नहीं किया था, जब मैं यह सोचता था कहानी लिखना, कविता लिखना ही काफी है और सब महत्त्वहीन है, तब मैं कच्चा था इसलिए मेरे समझने में भूल थी और अब बुद्धि परिपक्व हो गई है इसलिए ठीक समझ रहा हूँ, यह भी नहीं है। सच तो यह है कि जगत्-व्यापार खेल-जैसा ही हल्का होता है, गाने-जैसा ही उड़ने वाला होता है—हम लोग उसके ऊपर अपनी दुनिया-भर की चिन्ताओं का बोझ लादकर उसे अपने लिए बेहद भारी बना लेते हैं। जिस तरह विष्णु का वाहन गरुड़ है उसी तरह यह संसार हमारा वाहन था। और हमें स्वर्ग-मर्त्य सबमें उन्मुक्त भाव से विचरण कराते हुए घूम सकता था, लेकिन हम लोगों ने अत्यन्त बुद्धिमान होकर उससे अपनी मालगाड़ी खिंचवाने की व्यवस्था की है। सो मालगाड़ी चल रही है इसमें संदेह नहीं और लोग सोच रहे हैं कि खूब उन्नति हो रही है, लेकिन आकाश-पाताल में हमारे विचरण का अधिकार नष्ट हो गया। लेकिन माल तो है ही, उसको खिंचवाना भी होगा ही इसलिए केवल मुक्ति से तो घर चलेगा नहीं, दायित्व भी मानना ही होगा, यह मैं जानता हूँ, इसीसे जो लोग कल-कब्जे का रहस्य समझते हैं, जो मालगाड़ी डिपार्टमेण्ट के अधिकारी हैं, उनको मैं ठीक ही कहता हूँ लेकिन साथ ही यह भूलने से भी काम नहीं चलेगा कि माल आदमी का है, लेकिन आदमी खुद माल नहीं है। वह अपने संसार को केवल माल का संसार बना लेगा तो वह अपने-आपको आदमी कहकर पहचानेगा कैसे? इसीसे आजकल केवल यह सोच रहा हूँ कि अगर मैंने माल ढोने की जिम्मेदारी न ली होती तो भी कोई खास नुकसान न होता, लेकिन उस जिम्मेदारी से बचने का जो अधिकार मुझे था उसे नष्ट करके मैंने अपने लिए अच्छा नहीं किया और दूसरे का भी कोई विशेष उपकार किया हो, ऐसा नहीं लगता। अर्थात् करने के लिए उनका उपकार करने से भी शायद अधिक कुछ है, हो सकता है कि मैं वह कर सकता। और अगर नहीं भी कर सकता तो उससे क्या। मनुष्य-लोक में दो जाति के प्राणी होते हैं—कामकाजी और बेकामकाजी। यह दोनों अपने-अपने धर्म की रक्षा करते हुए चलेंगे, इनके प्रति विधाता का यही अनुशासन था क्योंकि 'स्वधर्मे निधनम् श्रेयः परधर्मो भयावहः।' लेकिन संसार में काम का जोर इतना है कि बेकार लोग अपने बेकार धर्म का पालन करने का मौका नहीं पाते। कामकाजी लोग सारी पृथ्वी में अपना कर्म-क्षेत्र फैलाकर बड़े खुश होते हैं। वह नहीं जानते कि बेकामकाजियों का स्थान

और अवकाश मारा जाने पर उनका काम बिगड़ा जा रहा है। लेकिन आज मेरी यह सुबुद्धि मन मे केवल पछतावा जगा सकती है, मेरा उद्धार नही कर सकती। मैंने अपने लौटने के रास्ते के बीचों-बीच दायित्व की दीवार खड़ी कर ली है। इसलिए माल ढोने के आफिस से इस जन्म में अब मुझे छुटकारा नहीं मिल सकता। और फिर मेरा भाग्य ऐसा है कि इस आफिस मे मुझे जितनी तनख्वाह मिलती है जुर्माना उससे डबल से भी ज्यादा होता है। जुर्माना सिर्फ बाहर का ही नही होता भीतर का भी होता है—जिस मिट्टी में मैं मजूरी करता हूँ वहाँ पर काँटा है और जिस आकाश में मेरी छुट्टी है वह भी बुझ गया है इसलिए अब मेरा अकेला भरोसा अगले जन्म पर है। लेकिन उस जन्म मे अगर अख़बार का संपादक होकर पैदा हुआ तो ?

रविकाका

: १२ :

शांतिनिकेतन

कल्याणीयापु,

मेरे जन्म-दिन पर तूने जो चिट्ठी लिखी है उसे पाकर मैं बहुत खुश हुआ हूँ। इस बार सियालदह जाकर मैंने देखा कि पद्मा बहुत दूर चली गई है—मैं देखता हूँ कि उसी तरह तुम सब लोगों के जीवन के क्षेत्र से मेरे जन्म-दिन की धारा भी दूर सरक आई है। रह-रह कर मुझे इस बात का ध्यान आता है। अपने परिवार के साथ मेरा संपर्क अब छायामय हो गया है—इसका एक कारण है, बचपन में जिन लोगों के साथ मेरे जीवन की पारिवारिक ग्रन्थि बँधी हुई थी वे सभी लोग न जाने कहाँ चले गए हैं—परलोक में और इस लोक में, अब जोड़ासाँको का घर नदी के उस बालू-भरे रास्ते-जैसा है जिस पर होकर नदी अब नही बहती। इसके अलावा तेरे साथ मेरा एक प्रकृतिगत अंतर है कुल मिलाकर मेरी पारिवारिक आसक्ति उतनी प्रबल नही है, कोई आदमी मेरे परिवार नाम की एक श्रेणी मे आ पड़ा है इसलिए वह दूसरे आदमियो के मुकाबले में मेरा ज्यादा अपना है, ऐसी बात नही—निश्चय ही परिवार में ऐसे भी बहुत-से लोग हैं जिनको मैं विशेष रूप से चाहता हूँ लेकिन वह इसलिए नही कि वे परिवार के लोग हैं। अपने बच्चों पर सबका एक स्वाभाविक स्नेह होता है लेकिन उस चीज को पारिवारिक नहीं कहा

जा सकता। वह सच्ची आत्मीयता है, पारिवारिकता नही। देवता के साथ मन के बंधन और सम्प्रदाय के बंधन में जो अन्तर है वही अन्तर इन दोनों में भी है। बहुत से लोगो की आँखों मे अपने बच्चे का एक मूल्य होता है इसीलिए कि वह बच्चा है, लेकिन उसके ऊपर भी ये लोग उसके पारिवारिक मूल्य को बड़ा करके देखते हैं। वे कल्पना करते है कि उनका बच्चा परिवार नामक एक पदार्थ का एक विशेष वाहन है। रथी के संबंध में मेरा वैसा कोई भाव नही है। मेरा जो कुछ सबल था वह सब-कुछ मैं विश्वभारती के लिए खर्च कर रहा हूँ, बल्कि उससे भी ज्यादा खर्च कर रहा हूँ। जब मैं देखता हूँ कि रथी इसमें आपत्ति नही करता, बल्कि उत्साहपूर्वक योग देता है, तो मुझे इससे बड़ी खुशी होती है। काहे की खुशी ? मुक्ति की। किस चीज से मुक्ति की ? परिवार नामक एक abstraction के बंधन से मुक्ति की। मेरा पारिवारिक बोध अगर प्रबल होता तो उसी परिवार पदार्थ की प्रतिमा को गढ़ने, सजाने और पूजा करने में मेरे उपार्जन और संचय का अधिकाश चला जाता। मुझे आनन्द यही है कि एक ओर रथी मेरा लड़का है और दूसरी ओर वह परिवार नामक मायालोक के बाहर का एक जीता-जागता आदमी है—मेरे आश्रम मे जिस देश से, जिस जाति का जो कोई लड़का आता है रथी उसका ही रथी-दा है—उसकी तरह से सबके प्रति उस रथी-दा का ही दायित्व है। उनके लिए वह सदैव खटता रहता है, सोचता है, प्लान करता है, खर्च करता है। इस सबमें उसे सुख-ही-सुख मिलता है, रत्ती-भर कष्ट नही। वह मन में भी कभी नही सोचता कि जो रुपया मैंने अब तक अर्जित किया है वह लगाकर मैं क्यों उसके लिए विशेष रूप से न सही, प्रधान रूप से ही सही, कोई व्यवस्था नही कर देता। सम्पत्ति नाम की चीज़ परिवार नामक पदार्थ का वृन्त है, उसीके स्रोत को घर की ओर से बाहर की ओर चला देने पर पारिवारिक मनुष्य के लिए वह कठोर हो उठता है। मेरे घर मे उस कठोरता को स्वीकार कर लेने में किसी को ऐसी कोई बाधा नही हुई, इसका कारण यह है कि मेरे घर में पारिवारिक हवा नही बहती। जो हो पारिवारिक सत्ता मुझमें प्रबल नही, लेकिन हाँ इसका यह मतलब भी नही है कि मेरा मन केवल जनसाधारण के आम दरबार मे दिन काटना पसंद करता है, मेरी आत्मा ने विराट् मानव में कैवल्य प्राप्त किया है। यह भी मैं नही कह सकता। मुझमे एक खूब ही प्रबल व्यक्तिगत सत्ता है। विशेष-मनुष्य और विश्व-मनुष्य दोनों ही मेरे लिए सबसे अधिक सत्य हैं—पारिवारिक मनुष्य इन दो के बीच प्रदोषांधकार की एक चीज है—मेरे निकट वह

सुस्पष्ट नही इसीसे उसके लिए त्याग करने का उत्साह मुझमे नही जागता। कभी मैने सेक्रेटरी का पद पाकर आदि ब्राह्मसमाज को विश्व के साथ मिला देने की चेष्टा की थी, लेकिन जैसे ही मैंने देखा कि वह सभव नही है, केवल इसीलिए कि वह हमारी पारिवारिक वस्तु थी, वैसे ही उसके लिए एक क्षण या एक पैसा खर्च करना मुझे अपव्यय जान पड़ने लगा। लेकिन मेरे आश्रम में वही चीज अर्थात् देवता की अर्चना—विश्व-मनुष्य की ही नही, पारिवारिक मनुष्य की ही नही लेकिन व्यक्तिगत मनुष्य की चीज हो गई है इसीलिए उसने मेरे हृदय को आकर्षित कर लिया है। मैं लडको को प्यार करता हूँ, उस प्यार के साथ मेरी पूजा के मिल जाने से वह मेरे लिए विशेष रस की सामग्री हो गई है इसलिए इसको समय देने मे, सामर्थ्य देने में मुझे जरा भी अड़चन नहीं होती। जो हो, तुमने यह व्यक्तिगत सत्ता अत्यंत सजीव है इसलिए बीच-बीच मे उसकी पुकार जाग उठती है। वह कहती है, मैं उपवासी रहकर अब कान नही कर सकती, वह कहती है [illegible] अन्त तक अकेले चलना बड़ा कठिन है [illegible] जितनी दूर क्यो न चला आऊँ, वह [illegible] चाहे जितना महान् गौरव क्यों न हो [illegible] कोई हलचल दिखाई देती है [illegible] मोर्चा नही लगा, अब भी [illegible]।

[illegible]

[illegible]

अनुष्ठान की पक्की भीत खड़ी करने बैठा हूँ तो यह एक माया है। यह टिकेगी क्या? आइडिया सजीव चीज है लेकिन किसी इन्स्टीट्यूशन के लोहे के संदूक में तो उसको बचाकर रखा नहीं जा सकता—मनुष्य के हृदय-क्षेत्र में अगर उसे स्थान मिले तभी समझो कि उसे बरता गया। देश के हृदय की ओर जब मैं ग़ौर से देखता हूँ तो वहाँ पर एक लम्बा-चौड़ा काँटे का जंगल पाता हूँ वहाँ काँटे के आइडिया के बीच फसल का आइडिया जगह पायगा क्या? जो हो हमारे शास्त्रों ने बीज बोने को कहा है, फल का हिसाब करने को मना किया है। अत: इसी तरह दिन कटे और फिर दिन बीत जाने पर मेरी जिम्मेदारी चुक जायगी।

गृहस्वामी की चाय की टेबुल पर पुकार हुई है, चलता हूँ। इति।

३० आश्विन १३२९

रवि काका

: १४ :

कल्याणीयासु,

दुनिया के बहुत थोड़े-से ऐसे अभागे हैं जिनकी गतिविधि अखबार में स्याही की छाप छोड़ती चलती है, वे बेचारे अलग एक कोने में बीमार भी नहीं पड़ सकते। तुम लोगों के पास अखबार नहीं है इसलिए तुम्हें पता नहीं कि मेरी तबीयत खराब है। तू पास रहती तो समझ पाती कि खराब होने पर भी ऐसी क्या खराब है। कुछ दिनों के लिए चुपचाप पड़े रहने-जैसी खराब इससे ज्यादा नहीं। मान लिया जाय कि सप्तमी तिथि के बराबर खराब, अमावस्या के बराबर नहीं, यहाँ तक कि एकादशी के पास भी नहीं पहुँचती। इसलिए तू इस बात को निस्संशय जान ले कि मुझे एक बार फिर हावड़ा ब्रिज पार करना होगा। तू अगर हिसाब करके देखे तो देखेगी कि मेरी उमर सत्तर साल की हुई अर्थात् वैतरणी के किनारे-किनारे चल रहा हूँ, लेकिन लगता है कि अभी कुछ भोगने को बाकी है इसीलिए यद्यपि मैंने घाट पर आसन जमा रखा है तो भी पार उतरने वाली नाव में अभी जगह नहीं हुई। एक बिलकुल निश्चित सत्य है जिसे मनुष्य अपने समस्त जीवन में केवल एक बार प्रमाणित कर सकता है— वह यह है कि मनुष्य अमर नहीं है। लेकिन अगर नहीं भी है तो क्या—कुछ दिन जिन्दा रहा हूँ, बड़े गहरे रूप में मैंने जाना है कि मैं मैं हो रहा हूँ—अन्तहीन में—नहीं के बीच यही एक-

मात्र में—असीम जगत् में यही परम आश्चर्यजनक सत्य असीम काल की अति क्षुद्र मात्रा में मुझमें दीप्त हो उठा है, इससे ज्यादा और क्या चाहिए। मृत्यु क्या इससे बड़ी चीज है, जो उसकी चिन्ता की जाय। साधकों ने कहा है कि दुःख से मुक्ति पाने के लिए होने को ही समूल उखाड़ फेंकना होगा—लेकिन मैं कहता हूँ कि अगर होना ही मिट गया तो दुःख गया कि नहीं गया उससे क्या आता-जाता है। रोगी कहता है, कविराज महाशय बुखार छुड़ाओ—कविराज ने सुंघनी लेकर कहा देह त्याग करने पर ज्वर का उत्पात बिलकुल मिट जायगा। रोगी का कहना यही है कि देह के लिए ही ज्वर के अन्त की कामना की जाती है, देह का अन्त ही यदि एक-मात्र उपाय हो तो ज्वर ही क्यों न रहा आय। मैं हूँ, यही अंतिम बात है, इसको भी समाप्त कर देने से फिर बाकी क्या रहा? मृत्यु से वह समाप्त होता है कि नहीं होता यह मैं नहीं जानता, लेकिन जीवित रहते ही जो सब संन्यासी उसको केवल रगड़कर मिटा देने की चेष्टा में लगे रहते हैं उनके साथ कभी मेरा मेल न हो सका। मैंने जीवन में कठिन दुःख पाया है और गहरा सुख। लेकिन उसी दुःख ने मेरे होने को तीव्र रूप में प्रमाणित किया है, इसलिए उसकी निन्दा न करूँगा। बिस्तर पर पड़े-पड़े यह सब बातें सोची हैं।

और एक बात सोची है। देश का काम करूँगा इसके लिए कभी कमर कस-कर जुट गया था। अपने शरीर की ओर नहीं देखा, गाँठ के पैसे-कौड़ी की तरफ नहीं देखा, आराम की तरफ नहीं, फुरसत की तरफ नहीं—थर-भर सन्नाटे में आ गया था, यह सब तो तुझे पता है। यह ऐसी चीज थी जिसे हम अपनी कहावत में कहते हैं 'घर का खाकर जंगल की भैंस भगाना'। देश के तमाम सब अयोग्य लोगों के दरवाजे-दरवाजे सिर नीचा किये फिरा हूँ। अगर कुछ मिला भी तो उससे ज्यादा गई है, पेट नहीं भरा। भगवान् की कृपा से खूब मजबूत शरीर लेकर मैं जन्मा था, इसीसे 'मेरी जन्म भूमि' ने मुझको जितनी मार मारी है उसके बाद भी अब तक टिका हुआ हूँ। विशेषतः मित्रों के हाथ से गुप्त और प्रकट मार। ऐसे मित्र भी हैं जो मारते भी नहीं, कुछ करते भी नहीं, बस बात करते हैं, वे सहायता करने के ढोंग से मेरे काम में हाथ लगाते हैं, लेकिन वह हाथ रीता होता है। इसको भी जाने दो, यह तो एक ऐसा दुःख है जो मरने पर भी नहीं मिलेगा, वही हो रहा है, इस बंगाल देश में मुझको अपमानित करना जितना निरापद है उतना और किसी को अपमानित करना नहीं है—महात्माजी, चित्तरंजन को तो छोड़ ही दो, बंकिम, शरत्, हेम बनर्जी, नवीन सेन किसी को इस तरह गाली देने का साहस कोई नहीं

करता। गाली देना जिन लोगों का धन्धा है वे जानते हैं कि मुझको गाली देने से उनके धन्धे को कोई नुकसान नहीं पहुँचता, बल्कि फायदा ही पहुँचता है। तो भी बाहर आकर जब मैं आदर-मान पाता हूँ तो वे लोग कहने से बाज नहीं आते, वह तो केवल विदेश के लोगों से सम्मान बटोरना जानते हैं। बटोरना नहीं पड़ता, अजस्र वर्षा होती है। उसका प्रधान कारण यह है कि देश के लोगों के समान वह लोग मुझको उतना ज्यादा नहीं जानते। ऐसा ही सही, मेरा तो इसमें लाभ-ही-लाभ है। यह बात सच है कि समुद्र के इस पार उस पार घूमते-फिरते मेरी देह-ग्रन्थि ढीली हो रही है—यहाँ के सब डाक्टर कहते हैं कि मैं बत्ती के दोनों सिरे जलाकर तेजी से अपनी आयु का नाश कर रहा हूँ—उपाय नहीं है। घर के अन्न से अगर वंचित होना ही पड़े तो जंगल का फल खोजने के लिए बाहर घूमना होगा—वह आराम की चीज नहीं है, लेकिन फल मिलता है। सबसे अंत में मेरा वक्तव्य यही है कि मृत्यु के बाद देश के लोग मेरी स्मृति को लेकर शोक-सभा आदि की विडंबना न करें। अपने जीवन-काल में मुझे जिससे जो कुछ मिला है उसीके लिए मैं कृतज्ञ हूँ। बिलकुल कुछ नहीं मिला यह कहना अन्याय होगा। लेकिन जिन्होंने देने के योग्य चीज दी है वे भीड़ जोड़कर शोक-सभा नहीं करेंगे—जिन्होंने कुछ भी नहीं किया वे सभा करेंगे, जिन्होंने गाली दी है वे ताली बजायेंगे—ऐसा न हो यही मेरी अकेली इच्छा है और यह मेरा श्राद्ध छितवन की छाँह में बिना आडम्बर बिना जड़ता के हो—शांतिनिकेतन के शाल-वन में मेरी स्मृति-सभा मर्मरित होगी, मंजरित होगी, जहाँ-जहाँ मेरा प्यार है—वहीं-वहीं मेरा नाम रहेगा। इति।

रविकाका

२५ अक्तूबर, १९३०

: १५ :

(श्री प्रतिमा देवी को लिखित)

कल्याणीयासु बहू-माँ,

पानी, पानी, पानी। दिन-पर-दिन। सब कहते हैं, ऐसी चीज कभी नहीं हुई। मैं मन-ही-मन सोचता हूँ कि यह मेरी ही कीर्ति है। मैं वर्षा का कवि हूँ। सावन

के महीने मे वर्षा-मंगल मेरे पीछे-पीछे समुद्र पार से आकर हाजिर है। लेकिन सच बात कहनी ही होगी, हृदय आमार नाचेरे आजि के यह कविता ठीक लागू नही हो रही है। हृदय नाच नही रहा है—रुँधा-रुँधा-सा है और भी रुँधा हुआ इसलिए है कि एण्ड्रूज ने आकर उत्पात शुरू किया है। उसकी राय से चलना होगा। मैं सिद्ध करना चाहता हूँ कि मैं नावालिग नही हूँ। मगर छोडो भी—अगले मगल को मैं जेनेवा जाऊँगा। वहाँ पर एक गोष्ठी है। सुनता हूँ कि खूब बड़ा आयोजन किया है उन लोगो ने। आदर-सम्मान की कमी न होगी। लेकिन वहाँ पर भाँति-भाँति के लोग हैं—उन्हींमें हमारे अपने देश के लोग भी हैं।

यहाँ की नेशनल गैलरी मे उन्होने मेरी पाँच तस्वीरें ली है, तुमने सुना होगा। इसका मतलब है कि वे अब चित्रों की अमरावती मे पहुँच गए। वे लोग दाम के लिए चिन्तित थे—रुपया नही है क्या करें। मैंने लिख दिया है कि मैंने जर्मनी को दान किया, दाम नही चाहता। यह सुनकर वे लोग बहुत खुश हुए। और भी बहुत-सी जगहो से एग्जीविशन के लिए आवेदन आ रहा है। एक आया है स्पेन से। वे लोग नवम्बर मे चाहते है। वियना चाहता है, इत्यादि-इत्यादि। चित्रकार के रूप में मेरा नाम मेरे कवि के नाम को दबाए दे रहा है। रह-रहकर तुम्हारे उस स्टुडियो की बात मेरे मन मे आती है। मयूराक्षी नदी के किनारे, शालवन की छाया मे खुली खिड़की के पास। बाहर एक ताड़ का पेड है—सीधा खडा है, उसीके पत्तो की काँपती हुई छाया को साथ लेकर धूप मेरी दीवार पर आकर पड़ रही है—जामुन की डाल पर बैठकर सारी दुपहरिया उल्लू बोलते है—नदी के किनारे-किनारे एक छायावीथी चली गई है—अगस्त्य के फूलो से पेड़ ढक गया, बतावी नीबू के फूलों के सौरभ से हवा भारी हो उठी है, जारूल, पलाश, मदार में होड़ मची है, सहजन के फूलो की छड़ियाँ हवा मे झूल रही हैं, पीपल की पत्तियाँ झिलमिल-झिलमिल कर रही हैं—चमेली की लता मेरी खिड़की के पास तक आ गई है। नदी मे एक छोटा घाट बना है, लाल पत्थर का, उसीकी बगल मे चम्पा है। एक से ज्यादा कमरा नही है। सोने की खाट दीवार की जगह मे ठेल दी जाती है। कमरे में केवल एक आराम-कुर्सी है—मेज पर गहरे लाल रंग का मेजपोश बिछा हुआ है, दीवार बसन्ती रंग की है, उसमें दुहरी काली रेखाओं की गोट लगी है। कमरे के पूरब मे एक छोटा-सा बरामदा है, सूर्योदय से पहले ही वहाँ जाकर चुपचाप बैठूँगा और खाने का समय होने पर नीलामणि वहीं पर खाना ले आयगी। ऐसा कोई रहेगा जिसका गला खूब मीठा होगा, उसे अपने

मन से गाना गाना अच्छा लगता होगा। पास की कुटिया में वह रहेगी—जब उसका मन होगा वह आयगी, मै अपने कमरे से सुन सकूंगा। उसका पति बहुत अच्छा समझदार आदमी हैं, मेरी चिट्ठी-पत्री लिख देता है, फुरसत के समय साहित्य की आलोचना करने पर दिल्लगी समझता है और यथोचित हँसता है। नदी के ऊपर दो ठो पुल रहेंगे। मैं उसे जोड़ासाँको नाम दे सकूँगा—उसी पुल के दोनों छोरों पर जुही, बेला, रजनीगंधा, लालकनेर रहेंगे। नदी में जहाँ-तहाँ गहरा पानी है, उसमे राजहंस तैर रहे हैं और ढालू नदी-तट पर हमारे गुलाबी रंग के गाय-गोरू अपने बछड़ो को लिये चर रहे हैं। साग-सब्जी की क्यारियाँ हैं, दो-एक बीघे जमीन मे धान भी थोड़ा-बहुत होता है। खाना-पीना निरामिष है, घर का निकाला हुआ मक्खन, दही, छेना, खोया, कुकर मे जो कुछ पक सके वही काफी है। रसोईघर नही है। अभी इतना ही। बाहर की ओर देखने से लगता है कि मैं बर्लिन मे हूँ—बड़े आदमी की तरह—बड़ी बात कहनी होगी—बड़ी ख्याति का बोझा सिर पर लेकर चलना होगा हर रोज—दुनिया भर की सब समस्याएँ उँगली उठाये खड़ी है, उनका जवाब चाहिए। उधर भारत सागर के किनारे विश्व भारती अपनी माँगें लिये मेरी प्रतीक्षा कर रही है, उसकी माँगें बहुत सी हैं—देश-देशान्तर मे भीख माँगनी होगी। इसलिए अभी रहने दो मेरे स्टुडियो की बात। अब और कितने दिन जिन्दा ही रहूँगा—इस बीच अपना काम करते-करते घूमा जाय—रेल पर चढ़कर, मोटर पर चढकर, जहाज पर चढकर, हवाई जहाज पर चढकर, सभ्य आदमियो की तरह। इसलिए अब और समय नही। इति।

१८ अगस्त, १९३०

बाबा मोशाइ

: १६ :

(श्री मीरादेवी को लिखित)

शांतिनिकेतन

मीरू,

हम लोग अँधेरे में भटकते रहते है, जिन्हे प्यार करते हैं, अनजाने मे उन्हे चोट पहुँचाते हैं, बिना कुछ जाने-समझे कष्ट पाते हैं। लेकिन वही तो आखिरी

बात नहीं है। इस सब भूल-चूक, दुःख-कष्ट के बीच बड़ी बात यह है कि हमने प्यार किया है। बाहर का बंधन टूट जाता है, लेकिन भीतर का जो सम्बन्ध है उससे यदि हम वंचित होते तो वह अभाव एक गहरा सूनापन होता। हम दुनिया में आये हैं, मिले हैं, और फिर समय के प्रवाह में हमें अलग हो जाना पड़ा है, ऐसा कितनी बार हुआ, बार-बार होगा—इसका सुख, इसका कष्ट लिये-दिये ही जीवन सम्पूर्णता पा रहा है। हमारे संसार में चाहे जितनी बार जितनी दरारें हों, यह बड़ा संसार बाकी बच जाता है, वह चलता है, उसकी यात्रा के संग हमें भी अपनी यात्रा का मेल अविचलित मन से बैठाना होगा। यह लज्जा की बात होगी अगर मैं अपना शोक लेकर सबके संसार से थोड़ा-सा भी अलग जा पड़ूँ, अपनी अचल वेदना का तनिक भी बोझ विश्व संसार के सचल पहियों पर डालूँ। कितनी असह्य दुःख-वेदना घर-घर में है। काल प्रतिदिन उसे एक-एक करके मिटाये दे रहा है। मेरे जीवन के ऊपर भी उसी विश्वव्यापी काल का हाथ काम कर रहा है। काश कि मैं अपनी ओर से इस जगत्व्यापी आरोग्य के कार्य को जरा-सा भी कठिन न बनाऊँ, शोक-दु.ख का आना-जाना सहज हो जाय, जीवन की दैनन्दिन यात्रा में बाधा न डाले। मैं नीतू को बहुत प्यार करता था, इसके अलावा तेरी बात सोच-कर घोर दु.ख मेरे हृदय में बैठ गया था। लेकिन सबके सामने अपने गहनतम दुःख को छोटा करने में लाज लगती है। वह छोटा होता है तब जब वह शोक सहज जीवन-यात्रा को विपर्यस्त करके सब लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचता है। मैंने किसी से नहीं कहा कि मेरे लिए रास्ता छोड़ दो, सब लोग जिस तरह चल रहे हैं चलें, सबके सग मैं भी चलूँगा। बहुत-से लोगों ने कहा, इस बार वर्षा-मगल न किया जाय—मेरे शोक का सम्मान करते हुए—मैंने कहा यह कभी नहीं हो सकता। अपने शोक का बोझ मैं ही उठाऊँगा—बाहर के लोग उसका ठीक मतलब क्या समझेंगे। अतः उनका इतना ही समझना ठीक है, बाहर से किसी तरह की सान्त्वना का कोई चिह्न, किसी तरह के आनुष्ठानिक शोक की मुझे तनिक भी जरूरत नहीं है, उससे मेरी अमर्यादा होती है। मुझे डर था कि बाद में सभी कहीं मुझे सान्त्वना देने न आयें इसीसे मैंने कुछ दिनों के लिए सबको अपने पास आने से मना कर दिया था। लेकिन अपना सब काम-काज मैं सहज भाव से करता रहा हूँ। लोगों को दिखाने के लिए मैंने कोई चीज छोड़नी न चाही। व्यक्तिगत जीवन को दूसरी सब चीजों के ऊपर सबके सामने ले आना भी सबसे बड़ा आत्म अपमान है। बहुत दिनों से मेरे मन में यह गहरी आकांक्षा थी कि इस

: १७ :

(श्री नंदिनीदेवी को लिखित)

उत्तरायण शांतिनिकेतन
बंगाल, मई १९४१

पुपुदीदी,

उँगली नहीं चलती, क्या करूँ बताओ तो।

तुम पहाड़ की ठंडी हवा खा रही हो और हम लोगों का अभागा कपाल गरम होता जा रहा है—आकाश की ओर ताकता रहता हूँ, बादल आते हैं, पानी नहीं आता। पानी अगर आता है तो किसानों की आँखों की कोर में। सोचने में कष्ट, लिखने में भी कष्ट इसलिए इतना ही।

आशीर्वाद
दादामोशाइ

तृतीय खण्ड

भ्रमण

यूरोप यात्री की डायरी

१६ सितम्बर।

यहाँ रास्ते पर निकलने में मजा है। सुन्दर चेहरा देखने को मिलेगा ही। श्रीयुत देशानुरागी अगर मुझे माफ कर सकें तो कर दें। मक्खन-जैसे कोमल शुभ्र रंग पर पतले-पतले लाल होंठ, उठी हुई नाक और बड़ी-बड़ी पलकों वाली निर्मल नीली आँखें देखकर प्रवास का दुःख दूर हो जाता है। शुभचिंतक लोग शंकित और चिन्तित होंगे, प्यारे हमजोली दिल्लगी करेंगे, लेकिन यह बात मुझे स्वीकार करनी ही होगी कि सुन्दर चेहरा मुझे सुन्दर लगता है। सुन्दर होना और मीठे ढंग से हँसना, मनुष्य की जैसे एक परम आश्चर्यजनक क्षमता है। लेकिन दुःख की बात यह है कि मेरे भाग्य से वह हँसी मुझे यहाँ पर कुछ ज्यादा ही मात्रा में मिलती रहती है। बहुत बार राजपथ पर कोई नील-नयना पथ रमणी मेरे सामने आते ही और मेरे चेहरे को देखते ही अपनी हँसी रोक नहीं पाती। तब इच्छा होती है कि उसे बुलाकर कहूँ, "सुन्दरी, मुझे हँसी प्यारी लगती है जरूर, लेकिन इतनी नहीं। इसके अलावा बिम्बाधर-संलग्न हँसी चाहे जितनी ही मीठी क्यों न हो, उसका भी एक युक्तिसंगत कारण होना चाहिए; क्योंकि मनुष्य केवल सुन्दर नहीं बुद्धिमान जीव भी होता है। हे नीलकमलनयने, मैं तो अंग्रेज की तरह छोटी-सी असभ्य कुर्ती और असंगत लम्बी-सी चलनी-जैसी टोपी पहनता नहीं, तब तुम क्या देखकर हँसती हो? मैं सुन्दर हूँ कि असुन्दर इस सम्बन्ध में कोई प्रसंग उठाना रुचि-विरुद्ध होगा लेकिन यह मैं जोर देकर कह सकता हूँ कि विधाता ने विद्रूप की तूलिका से मेरा चेहरा नहीं बनाया। तब अगर काले रंग को देखकर और बालों को कुछ लम्बा देखकर तुम्हें हँसी आती है तो मैं इतना ही कह सकता हूँ कि प्रकृति-भेद से हास्यरस के सम्बन्ध में अद्भुत रुचि-भेद भी दिखाई पड़ता है। तुम लोग जिस चीज को ह्यूमर कहते हो, मेरे-जैसे काले रंग के साथ उसका कोई कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं है। यह जरूर देखता हूँ कि तुम्हारे देश में चेहरे पर कालिख पोतकर हब्शी का रूप धारण करके नाचना-गाना कौतुक में गिना

जाता है। किन्तु कनककेशिनी हम लोगों को यह नितांत हृदयहीन बर्बरता जान पड़ती है।"

२५ सितम्बर।

आज यहाँ की एक छोटी-मोटी एग्जिबिशन देखने गया था। मैंने सुना कि यह पेरिस एग्जिबिशन का अत्यन्त सुलभ और संक्षिप्त द्वितीय संस्करण है। वहाँ मैंने चित्रशाला में जाकर कारोलू ड्यूराँ नामक एक विख्यात 'फ्रांसीसी चित्रकार का बनाया हुआ एक वसनहीना नारी का चित्र देखा। हम लोग प्रकृति की सभी शोभाएँ देखते हैं लेकिन मर्त्य के इस चरम सौन्दर्य पर, जीव-अभिव्यक्ति की इस सर्वश्रेष्ठ कीर्ति पर मनुष्य ने अपने हाथ से एक पर्दा सदा-सदा से खींच रखा है। इस देह की स्निग्ध शुभ्र कोमलता और प्रत्येक सुघरी निपुण भंगिमा पर जैसे असीम सुन्दर की सजग उँगली का स्पर्श दिखाई पड़ता है। यह केवल देह की सुन्दरता नहीं है यद्यपि यह भी मैं नहीं कह सकता कि देह की सुन्दरता कोई सामान्य चीज है और साधुजनों के लिए उपेक्षणीय है—लेकिन इसमें और भी अधिक गहरा कुछ है। एक रमणीय सुकोमल नारी-प्रकृति, एक अमर सुन्दर मानवात्मा इसमें वास करती है, उसीका दिव्य लावण्य इसमें सर्वत्र उद्भासित हो रहा है। दूर से चकित के समान उस अनिर्वचनीय चिर-रहस्य को देह के स्फटिक-वातायन से थोड़ा-सा देख सका।

१० अक्तूबर।

सुन्दर प्रातःकाल। समुद्र स्थिर। आकाश स्वच्छ। सूरज उग रहा है। भोर की वेला कुहासे के बीच से हमारे दाहिनी ओर के किनारे का चिह्न थोड़ा-थोड़ा दिखाई दे रहा है। धीमे-धीमे कुहासे की यवनिका उठने के साथ-साथ वाइट द्वीप का पर्वतमय किनारा और वेण्टनर शहर धीरे-धीरे दिखाई पड़ने लगा।

इस जहाज में बड़ी भीड़ है। एकांत कोने में चौकी खींचकर थोड़ा-बहुत कुछ लिख सकूँगा इसका उपाय नहीं है, लिहाजा जो कुछ आँख के सामने पड़ता है उसीकी ओर ताकता रहता हूँ।

अंग्रेज लड़कियों की आँख को लेकर हमारे देश के लोग प्रायः दिल्लगी किया करते हैं, उनकी तुलना बिल्ली की आँख से करते रहते हैं। लेकिन ऐसा सदा ही देखा जाता है, यही लोग जब फिर विलायत आते हैं तब अपने देश के हरिण नयनों

दुर्बल को थोड़ा-सा हठीला और सबल को पूरी तरह सहिष्णु देखकर बुरा नहीं लगता। बल का अभिमान करने वाले पुरुष के लिए यह शिक्षा है। अबला की दुर्बलता को पुरुष की ही इच्छा से बल प्राप्त होता है, इसीलिए जिस पुरुष में पौरुष है वह स्त्रियों का उपद्रव बिना विद्रोह किये आनन्द के साथ सहता है और सहिष्णुता में उसके पौरुष की भी चर्चा होती रहती है। जिस देश के पुरुष कायर होते हैं वही निर्लज्ज भाव से पुरुष-पूजा को, पुरुष की प्राणपण सेवा को ही स्त्रियों का सर्वोच्च धर्म कहकर प्रचारित करते हैं, उसी देश में यह दिखाई पड़ता है कि पति खाली हाथ आगे-आगे चला जा रहा है और स्त्री उसके पीछे-पीछे बोझा ढोती हुई चल रही है, पति का दल फर्स्ट क्लास में चढ़कर यात्रा कर रहा है और घूंघट वाली कई स्त्रियों को निम्न श्रेणी में असबाब की तरह ठूंस दिया गया है, उसी देश में यह दिखाई पड़ता है कि आहार में, बिहार में व्यवहार में, सब बातों में सुख और आराम केवल पुरुष के लिए है और जूठन-पाठन बचा-खुचा केवल स्त्री के लिए, उसीको लेकर बेहया कापुरुष लोग निस्संकोच गौरव करते हैं और उसमें तिल-भर भी इधर-उधर होने को अपनी खिल्ली उड़ाया जाना समझते हैं। वह लोग कल्पना भी नहीं कर पाते कि स्वभाव से दुर्बल सुकुमार स्त्री जाति को सब तरह का आराम देना और उनके कष्ट को कम करने के लिए यत्नपूर्वक मनोयोग करना मजबूत शरीर वाले बलिष्ठ पुरुष के लिए एक स्वभावसिद्ध गुण होना चाहिए---ये केवल इतना जानते हैं कि शासन से डरने वाली स्नेहशीला रमणी उनके पैरों में तेल की मालिश करेगी, उनके मुंह में कौर डालेगी, उनके तपते हुए शरीर को पंखा डुलायगी, उनकी आलस्य-चर्चा का आयोजन करेगी, कीचड़-भरे रास्ते पर उसके पैर में जूता न होगा, ठण्ड के समय शरीर पर कपड़ा न होगा, धूप में सिर पर छाता न होगा, भूख लगने पर कम खायगी, आमोद के समय पर पर्दा पड़ा होगा और इस विराट् मुक्त प्रकृति में जो प्रकाश है, आनन्द है, सौन्दर्य है, स्वास्थ्य है, उससे वह वंचित रहेगी। स्वार्थपरता संसार में सभी जगह है लेकिन निर्लज्ज, निस्संकोच स्वार्थपरता केवल उसी देश में है जहाँ के पुरुष सोलह आना पुरुष नहीं हैं।

लड़कियाँ अपनी स्नेहपरायण सहृदयता से पुरुष की सेवा करती रहती हैं और पुरुष अपनी उदार दुर्बल वत्सलता से स्त्रियों की सेवा करते रहते हैं, जिस देश में स्त्रियों को यह सेवा नहीं मिलती और वह केवल सेवा करती हैं उस देश में वे अपमानित रहती हैं और वह देश भी अभागा होता है।

लेकिन बात हो रही थी स्त्रियों की कठोरता की। जिस कारण से गुलाब में काँटा होना जरूरी है उसी कारण से जहाँ पर स्त्री-पुरुष में विच्छेद नहीं है वहाँ स्त्रियों में भी प्रखरता होनी चाहिए, तीखी बातों से मर्म को वेधने का अभ्यास बहुत बार अबलाओं के काम आता है।

हमारे गुलाब भी क्या बिलकुल निष्कटक होते है ? लेकिन उसके बारे में अभी ज्यादा कुछ न कहूँगा :

२६ अक्तूबर।

जहाज के एक दिन का वर्णन किया जाय।

सवेरे डेक धो दिया गया है, अब भी भीगा हुआ है। दोनो तरफ डेकचेयर ऊटपटाँग एक के ऊपर एक ढेर की हुई हैं। नगे पैर, रात के कपड़े पहने हुए पुरुष, कोई अपने मित्र के साथ, कोई अकेले, बीच रास्ते से हू हक करते हुए घूम रहे हैं। धीरे-धीरे जब आठ बजा और एकाध लड़की ऊपर पहुँचने लगी तब एक-एक करके ये कम कपड़े पहने हुए पुरुष अंतर्धान हो गए।

स्नानघर के सामने बड़ी भीड़ है। केवल तीन स्नानागार हैं। हम बहुत-से लोग, तौलिया और स्पंज हाथ में लिये दरवाजा खुलने की इंतजार में खड़े हैं। स्नानघर में दस मिनट से ज्यादा रहने का नियम नही है।

नहाने और कपड़े पहनने के बाद ऊपर जाकर देखा कि डेक पर टहल-टहलकर सवेरे की हवा का सेवन करने वाले बहुत-से स्त्री-पुरुष एकत्र है। बार-बार टोपी उठाकर महिलाओं का और सिर हिलाकर परिचित बन्धु-बांधवों का शुभ प्रभात-अभिवादन करके गर्मी की कमी-बेशी के बारे में एक-दूसरे ने अपना-अपना मत व्यक्त किया।

नौ का घंटा बजा। ब्रेकफास्ट तैयार है। भूखे नर-नारी सीढ़ी के रास्ते से नीचे खाने के कमरे में पहुँचे। डेक पर अब कोई आदमी बाकी नहीं। केवल सूनी चौकियों की कतारें ऊपर की ओर मुँह किये प्रभुओं की प्रतीक्षा कर रही है।

भोजनशाला एक विराट् कमरा है। बीच में लम्बी-लम्बी मेजों की दो कतारें हैं और उनके दोनों ओर छोटी-छोटी बहुत-सी मेजें है। हम सात जने दक्षिण की ओर एक छोटी-सी मेज पर बैठकर दिन में तीन बार क्षुधा-निवारण करते है। मांस-रोटी, फल, सूल, मिष्टान्न और हँसी-ठिठोली, गप-शप से यह लंबा-चौड़ा कमरा बिलकुल भर उठता है।

खाने के बाद ऊपर आकर सब अपनी-अपनी चौकी ढूंढ़कर उसे यथास्थान जमाने में लगे हैं। शर्त एक ही है कि चौकी तुम्हें मिल जाय। डेक धोने के समय किसकी चौकी कहां फेंक दी गई है इसका कुछ ठीक नहीं।

फिर जहां जरा-सा कोई कोना है, जहां थोड़ी-सी हवा है, जहां धूप की तेजी जरा कम है, जहां जिसका अभ्यास है वहीं ठेल-ठाल करके खींच-खांच करके, अगल-बगल से रास्ता बनाकर अपनी चौकी रख लो तो फिर सारे दिन की निश्चिन्तता है।

दिखाई देता है कि कोई म्लानमुखी रमणी, जिसकी चौकी खो गई, कातर भाव से इधर-उधर देख रही है या कोई विपद्ग्रस्त अबला इस चौकी के दंगल में से अपनी चौकी अलग करके जहां उसको रखना चाहती है रख नहीं पा रही है—तब पुरुष लोग नारी-सहायता का व्रत लेकर चौकी का उद्धार करने में लगते हैं और शिष्ट और मीठा धन्यवाद बटोरते हैं।

फिर लोग अपनी-अपनी चौकी पर आसन जमाकर बैठ जाते हैं। धूम्रसेवी लोग चाहे तो धूम्रसेवन के कक्ष में और नहीं तो डेक के पीछे वाले हिस्से में इकट्ठे होकर जी भरकर धूम्रपान करते हैं। स्त्रियां अधलेटी अवस्था में, कोई उपन्यास पढ़ रही हैं, कोई सिलाई कर रही हैं, बीच-बीच में दो-एक युवक क्षण-भर पास बैठकर भौंरे की तरह कान के पास गुन-गुन करके चले जाते हैं।

खाना थोड़ा पचते ही एक दल में क्वएट्स का खेल शुरू हुआ। दो बाल्टियां एक-दूसरे से दस हाथ की दूरी पर रखी गई। दो जोड़े स्त्री-पुरुष अपना-अपना पाला बनाकर अपनी-अपनी जगह से कलसी की बिड़ई की तरह कई रस्सी के गोले विपरीत बाल्टी में फेंकने की चेष्टा करने लगे। जो पक्ष सबसे पहले इक्कीस बार फेंक लेगा उसीकी जीत। लड़कियां जो खेल रही थी कभी जीत की खुशी से और कभी निराशा से चीख पड़ती। कोई खड़ा होकर देख रहा है, कोई गिन रहा है, कोई खेल में योग दे रहा है, कोई अपनी-अपनी पढ़ाई या गप-शप में लगा हुआ है।

एक बजे फिर घंटा। फिर खाना। खाने के बाद ऊपर लौटकर खाने की दो तहों के बोझ से और दोपहर की गर्मी से आलस्य अत्यन्त घनीभूत हो उठता है! समुद्र प्रशान्त है, आकाश नीला-मेघमुक्त, धीमी-धीमी हवा चल रही है। आराम-कुर्सी में पड़े हुए चुपचाप नाविल पढ़ते-पढ़ते अधिकांश नीली आंखें नींद में डूब गई। केवल दो-एक लोग शतरंज, बैकगैमन या ड्राफ्ट खेल रहे हैं और दो-एक

अंगों को बटोरकर बाजी लगाकर ताश खेल रहा है। उधर संगीतशाला में संगीत-रसिक दो-चार लोगों की महफ़िल में गाना-बजाना और जब-तब ताली बजाना सुनाई पड़ रहा है।

धीरे-धीरे साढ़े दस बज जाते है, लड़कियाँ नीचे उतर जाती हैं, डेक पर की रोशनी यक-ब-यक बुझ जाती है, डेक पर निश्शब्द निर्जन अंधकार छा जाता है। चारों ओर निशीथ का सन्नाटा है; चाँदनी है, और है अनंत समुद्र की अविरत कलध्वनि।

यह रवीन्द्रनाथ की दूसरी इंग्लैंड-यात्रा की डायरी है; जो उन्होंने २२ अगस्त से ४ नवम्बर सन् १८६० तक लिखी थी। यह डायरी नवम्बर १८६१ से अक्तूबर १८६२ तक 'साधना' मासिक में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई थी। पुस्तक रूप में इसका प्रकाशन सितम्बर १८६३ में हुआ था। सन् १६६१ में दूसरा एक नया और सम्पूर्ण संस्करण प्रकाशित हुआ है।

जापान यात्री

मैंने जितनी बार बंबई से यात्रा की है जहाज के चलने में कभी देर नहीं हुई। कलकत्ता की जहाज की यात्रा के लिए अगली रात से ही जाकर उसमें बैठना होता है। यह अच्छा नहीं लगता। क्योंकि यात्रा करने का मतलब ही है मन में चलने का वेग जुटाना। मन जब चलने की ओर होता है तब उसे खड़ा करके रखना उसकी एक शक्ति के साथ दूसरी शक्ति की लड़ाई लगाना है। आदमी जब घर में जमकर बैठा होता है तब इसीलिए विदाई का आयोजन कष्टकर होता है क्योंकि ठहरने और जाने का संधिस्थल मन के लिए मुश्किल की जगह होती है—वहाँ पर उसे दो उल्टी दिशाएँ सँभालनी पड़ती है जो कि एक तरह का कठिन व्यायाम है। घर के सब लोग जहाज पर चढ़ाकर घर लौट गए, मित्रों ने फूलों की माला गले में पहनाकर विदा दी, लेकिन जहाज नहीं चला। यानी जिन्हें रुकना था वही चले गए और जिसे चलना था वह खड़ा रहा, घर दूर हट गया और नाव खड़ी रही।

विदा लेने-मात्र में एक पीड़ा है, उस पीड़ा का प्रधान कारण यह है कि जीवन में जो कुछ सबसे ज्यादा जान-समझकर पाया गया है उसे अनजान के हाथों समर्पित करके जाना। उसके बदले में दूसरा कुछ न मिलने पर यही शून्यता मन के लिए बोझ बन जाती है। यह लाभ है अनिर्दिष्ट को निर्दिष्ट के भण्डार में उत्तरोत्तर पाते चलना, अपरिचय को धीरे-धीरे परिचय के कोठे के भीतर समेटते रहना। इसलिए यात्रा में जो दुःख है, चलना ही उसकी दवा है, लेकिन यात्रा तो मैंने की पर चला नहीं, इसे सहना बहुत कठिन है।

अचल जहाज का केबिन कैद की दो अतिशा शराब है। जहाज चलता है इसीलिए हम लोग उनके कमरे की संकीर्णता को माफ कर देते हैं। लेकिन जहाज जब स्थिर रहता है तब केबिन में स्थिर रहना वैसा ही है जैसे मृत्यु के ढक्कन के नीचे कब्र के ढक्कन में बंद रहना।

डेक पर सोने की व्यवस्था की गई। इसके पहले बहुत बार जहाज पर चढ़ा हूँ, बहुत से कप्तानों के साथ मेरा सम्बन्ध रहा है। हमारे इस जापानी कप्तान की

एक विशेषता है मिलने-जुलने में बहुत अच्छा है कि इससे फौरन ऐसा लगता है कि बड़ा मस्त आदमी है। लगता है कि इससे अनुरोध करके जो मन चाहे किया जा सकता है, लेकिन काम के समय दिखाई पड़ता है कि वह नियम से रत्ती-भर इधर-उधर नहीं होता। हमारे सहयात्री अंग्रेजी मित्रों ने डेक पर अपनी गद्दी ले आने की कोशिश की थी, लेकिन जहाज के कर्ता-धर्ता लोगों ने सिर हिला दिया, वह बात नहीं हो सकी। सवेरे ब्रेकफास्ट के वक्त वे लोग जिस टेबुल पर बैठे थे वहाँ पंखा नहीं था, हमारी टेबुल पर जगह थी यह देखकर उन्होंने हमारी टेबुल पर बैठने की इच्छा जतलाई। यह एक सामान्य अनुरोध था, लेकिन कप्तान ने कहा, इस समय का बंदोबस्त हो गया, डिनर के वक्त देखा जायगा। हमारी टेबुल पर चौकी खाली रही, लेकिन नियम में हेर-फेर नहीं हुआ। अच्छी तरह समझ में आ रहा है कि जरा भी ढील-ढाल न चलेगी।

रात को बाहर सोया गया, लेकिन इसे बाहर कैसे कहूँ ? जहाज के मस्तूलों की वजह से आकाश ऐसा दिखाई पड़ता था कि जैसे भीष्म शर-शय्या पर लेटे हुए मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हो। शून्य के राज्य में कहीं भी व्यवधान न था। लेकिन वस्तु राज्य की स्पष्टता भी न थी। जहाज की रोशनियाँ एक बड़े आयतन की सूचना दे रही थी, पर किसी आकार को न देखने देती थी।

मैंने किसी कविता मे लिखा था कि मै निशीथ रात्रि का सभा-कवि हूँ। मेरे मन मे बराबर यह बात आती है कि दिन का समय मर्त्य-लोक का होता है और रात का समय देवलोक का। आदमी डरता है, आदमी काम-काज करता है, आदमी अपने पैर के पास का रास्ता साफ-साफ देखना चाहता है, इसीलिए इतनी बड़ी-सी एक रोशनी जलानी पड़ी। देवताओं को डर नहीं लगता, देवताओं का काम-काज गुप्त रूप से चुपचाप होता है, देवताओं के चलने और न चलने में कोई विरोध नहीं इसलिए असीम अंधकार देव-सभा का गलीचा है। देवता रात को ही हमारे झरोखे में आकर दर्शन देते है।

लेकिन आदमी का कारखाना जब रोशनी जलाकर उस रात पर भी अपना अधिकार करना चाहता है तब वह केवल आदमी को ही क्लेश पहुँचाता हो ऐसी बात नहीं है, देवताओं को भी क्लेश पहुँचाता है। हम लोगों ने जब से बत्ती जलाकर रात को जागकर इम्तहान पास करना शुरू किया है तभी से हम सूरज की रोशनी की अपनी सुस्पष्ट निर्दिष्ट सीमा का उल्लंघन करने लगे है और तभी से देवताओं और मनुष्यों मे युद्ध छिड़ गया है। आदमी के कारखाने-घर की

चिमनियाँ फूं-फूं करके अपने भीतर की कालिख स्वर्गलोक मे फैलाती हैं, लेकिन यह अपराध उतना बड़ा नही है—क्योंकि दिन आदमी की अपनी चीज है, उसके मुंह मे वह कालिख पोत दे तो भी देवता इस बात को लेकर उस पर नालिश नही करेंगे। लेकिन जब आदमी रात्रि के अखण्ड अंधकार को अपने प्रकाश के टुकड़े-टुकड़े कर देता है तब वह देवताओ के अधिकार पर हस्तक्षेप करता है, कि जैसे वह अपनी सीमा को लांघकर प्रकाश की खूंटी गाड़कर देवलोक पर अधिकार करना चाहता हो ! उस दिन रात को मैने गगा पर इसी देव-विद्रोह का विपुल आयोजन देखा। इसीसे मनुष्य की क्लाति पर देवलोक की शाति का आशीर्वाद नही दिखाई पड़ा। आदमी कहना चाहता है, "मै भी देवताओ-जैसा हूँ, मै भी थकना नही जानता।" लेकिन यह सब झूठ बात है। इसीलिए वह चारों ओर की शाति नष्ट कर रहा है। इसीलिए वह अधकार को अपवित्र किये दे रहा है।

दिन प्रकाश से भरा हुआ है, अधकार ही परम निर्मल है। अधेरी रात समुद्र-जैसी होती है, अजन की तरह काली, लेकिन तो भी निरजन। और दिन नदी-जैसा होता है, काला नही, पकिल। रात्रि के इस अतल-स्पर्श अधकार को भी उस दिन मैंने खिदिरपुर की जेटी पर मलिन देखा। मन मे आया, देवताओ ने स्वयं अपना चेहरा मलिन कर लिया है।

ऐसा ही खराब लगा था एडेन के बंदरगाह पर। वहां पर मनुष्य के हाथ बदी होकर समुद्र भी कलुषित हो गया है। पानी पर तेल तैरता है, मनुष्य के कूड़े-करकट को स्वयं समुद्र भी डुबा नही पाता। उस रात जहाज के डेक पर सोये-सोये जब मैंने रात को भी कलकित देखा तो मेरे मन मे आया कि एक दिन इन्द्र-लोक ने दानवों के आक्रमण से पीडित होकर ब्रह्मा के पास जाकर शिकायत की थी—आज आदमियो के अत्याचार से कौन रुद्र देवताओ की रक्षा करेंगे।

कप्तान ने कह रखा है आज शाम को आंधी आयगी वैरोमीटर गिर रहा है; लेकिन शात आकाश मे सूर्य अस्त हुआ। हवा मे जितना वेग रहने से उसको मन्द पवन कहते है अर्थात् कवि लोग उसकी तुलना युवती के मन्दगमन से कर सकते है, यह उससे ज्यादा है, लेकिन लहरो को लेकर रुद्र ताल की करताल बजाने-जैसी महफिल नही जमी। जहाज जितना बोल दे रहा है उससे तो यह तूफान की गौर चद्रिका भी नही जान पडती। मैंने सोचा कि आदमी के राशि-चक्र की तरह हवा के राशि-चक्र की गणना का मेल ठीक नही बैठता, इस यात्रा में आंधी का मृत्यु-योग कट गया है। इसीसे मैं पाइलट के हाथ मे अपनी जमीन के कागजात देकर

प्रसन्न समुद्र की अभ्यर्थना के लिए डेक-चेयर खींचकर पश्चिम की ओर मुँह करके बैठ गया।

होली की रात को मधेसिया दरवानों की धमाचौकड़ी की तरह हवा की लय धीरे-धीरे तेज होने लगी। पानी के ऊपर सूर्यास्त के अल्पना-अंकित आसन को ढाँककर नीलाम्बरी घूंघट डाले हुए संध्या आ बैठी। आकाश में अब भी बादल न थे। छायापथ आकाश-समुद्र के फेन की तरह चमकने लगा।

डेक पर बिस्तर बिछाकर जब लेटा उस वक्त हवा और पानी में अच्छा-खासा 'कवियों का दंगल' छिड़ा हुआ था, एक ओर सौं-सौं की आवाज तान लगा रही थी और दूसरी ओर छल-छल की आवाज जवाब दे रही थी, लेकिन ऐसा नहीं लगा कि तूफान आने वाला है। आकाश के तारों के साथ आँखें मिलाते-मिलाते न जाने कब मेरी आँखें झिप गईं।

रात को सपना देखा, मैं मृत्यु के सम्बन्ध में कोई वेद-मंत्र दुहराकर किसी को समझा रहा हूँ। अद्‌भुत उसकी रचना है कि जैसे एक विपुल आर्त्तस्वर, लेकिन तो भी उसमें मरण का एक विराट् वैराग्य है।

इसी मंत्र के बीच में जागकर मैंने देखा कि आकाश और पानी दोनों उस समय पागल हो रहे हैं। समुद्र काली के समान फेन की जीभ निकाले प्रचण्ड अट्टहास के साथ नाच रहा है।

आकाश की ओर ताककर मैंने देखा बादल जान पर खेलने के लिए तैयार हो रहे हैं कि जैसे उन्हें अपने भले-बुरे का कुछ भी ज्ञान न रह गया हो और कह रहे हों, "होगा जो तकदीर में लिखा होगा।" और पानी में जो विषम गर्जन उठ रहा है उससे ऐसा लगने लगा कि जैसे मन की भावना भी सुनाई न पड़ रही हो। मल्लाह लोग छोटी-छोटी लालटेनें हाथ में लेकर परेशान इधर-उधर आ-जा रहे थे। लेकिन चुपचाप। बीच-बीच में इंजिन के लिए कर्णधार को संकेत-घंटाध्वनि सुनाई पड़ रही है।

इस बार बिस्तरे पर लेटकर सोने की कोशिश की। लेकिन बाहर पानी और हवा का गर्जन और मेरे मन में वही सपने वाला मरण-मंत्र बारी-बारी से बजने लगा। मेरे सोने और जागने का ठीक वही हाल था जो उस तूफान और उन लहरों का था, दोनों पागलों की तरह एक-दूसरे से गुत्थम-गुत्था कर रहे थे और मैं समझ न पाता था, सो रहा हूँ या जाग रहा हूँ।

क्रोधी आदमी जैसे बात न कह पाने पर फूल उठता है, सवेरे से बादल भी

वैसे ही लगे। हवा केवल श ष स और पानी केवल बाकी अंतःस्थ वर्ण य र ल व ह लेकर जोर-जोर से चण्डी-पाठ करने लगे और बादल जटा फटकारते हुए भृकुटी ताने इधर-उधर घूमने लगे। आखिरकार मेघ की वाणी ने जलधारा का रूप ले लिया। गगा की धारा मे एक बार विष्णु नारद की वीणा-ध्वनि से विगलित हुए थे, मुझे वही पौराणिक कथा याद आ रही थी। लेकिन यह कौन नारद प्रलय-वीणा बजा रहा है—इसके साथ नंदी-भृ गी का मेल जो देख रहा हूँ और उधर विष्णु के साथ रुद्र का अंतर मिट गया।

अब तक जहाज की नित्य-क्रिया ही चली जा रही है, यहाँ तक कि हमारे नाश्ते मे भी व्याघात नही हुआ। कप्तान के चेहरे पर कोई परेशानी नही है। उन्होने कहा, इस तरह का थोड़ा-बहुत होता ही रहता है, जिस तरह हम लोग यौवन की चंचलता को देखकर कहा करते है, "यह तो उम्र का तकाजा है।"

केबिन मे रहने पर झुनझुने के भीतर वाली कौड़ियो की तरह धक्के खाना होगा, हिलते रहना होगा, इससे तो अच्छा है आमने-सामने तूफान से मुकाबला करना। मैं अपना शाल-कम्बल सिर के ऊपर उठाकर जहाज के डेक पर बैठा। आँधी का जोर पश्चिम की ओर से आ रहा था। इसीलिए पूरब की ओर डेक पर बैठना कठिन न था।

धीरे-धीरे आँधी बढने लगी। बादलो और लहरो मे कोई अंतर न रहा। समुद्र का रंग भी वैसा नही रहा, चारों ओर एक-सा मटमैला फीका। बचपन मे अरबी उपन्यासों मे पढा था कि माँझी के जाल मे जो घड़ा फँस गया था उसका ढक्कन खोलते ही उसके भीतर से धुएँ की तरह लाखो दैत्य एक-दूसरे को ठेलते-ठालते आकाश की ओर उठने लगे।

जापानी मल्लाह दौड-भाग कर रहे है लेकिन उनके चेहरे पर हँसी ज्यो-की-त्यों है। उनके भाव को देखकर लगता है कि जैसे समुद्र अट्टहास करके जहाज के साथ सिर्फ ठिठोली कर रहा है। पश्चिम की ओर के डेक दरवाजे आदि सब बद है, लेकिन तो भी उन सब बाधाओं को तोड़कर रह-रहकर पानी की लहरें हर-हराती हुई अदर आ जाती है और यही देखकर वे लोग हो-हो कर उठते है। कप्तान ने बार-बार हम लोगो से कहा है कि यह छोटा तूफान है, मामूली तूफान है। एक बार हमारे स्टुअर्ड ने आकर मेज के ऊपर उँगली से खीचकर हमे यह समझाने की कोशिश की कि तूफान की वजह से जहाज को किस तरह अपना रास्ता बदलना पडा है। इसी बीच पानी की बौछार से मेरा शाल-कम्बल सब-कुछ

भीग गया और मै सर्दी के मारे काँपने लगा। और कही सुविधा न देखकर मैंने कप्तान के कमरे मे जाकर पनाह ली। कप्तान को किसी तरह की उद्विग्नता है, बाहर से इसका कोई लक्षण मैं न देख सका।

कमरे के भीतर मै और ठहर न सका। भीगा हुआ शाल सिर पर रखे मैं फिर बाहर आ बैठा। इतने तूफ़ान में भी हम लोग डेक पर जो इधर-उधर धक्का खाकर गिर नहीं पड़ते उसका कारण यही है कि जहाज ठसाठस भरा हुआ है। भीतर से जो रीते है उसकी-जैसी हिलती-डुलती हालत हमारे जहाज की नहीं है। मृत्यु की बात बहुत बार मन मे आई। चारो ओर ही तो मृत्यु है, दिगंत मे लेकर दिगत तक मृत्यु, उनके बीच इतना ही-सा तो हमारा प्राण है। सारी आस्था क्या इसी नन्ही-सी चीज पर रखूँगा और इतनी बड़ी-सी जो चीज है उसका बिलकुल विश्वास न करूँगा ? — बड़े के ऊपर भरोसा रखना ही ठीक है।

डेक पर अब बैठा नही जाता। नीचे उतरने लगा तो मैने देखा कि सीढ़ी तक सारे डेक के पैसेंजर ठसाठस रास्ते मे बैठे हुए हैं। बड़ी मुश्किल से उनके बीच से रास्ता बनाकर मै केबिन मे जाकर लेट रहा। इस बार सारा शरीर-मन चक्कर खाने लगा। मन मे आया कि देह और प्राणों में अब बन नही रही है, दूध मथने से जिस तरह मक्खन अलग हो जाता है प्राण का भी वैसा ही हाल हो रहा है। जहाज के ऊपर का हिलना-डुलना सहा जा सकता है, जहाज के भीतर का हिलना-डुलना सहना कठिन है। कंकड़ के ऊपर चढना और जूते के भीतर कंकड़ लेकर चलना इन दोनो मे जो अंतर है यह भी वैसी ही चीज है न, एक में मार तो है बंधन नहीं है, और दूसरा बाँधकर मारता है।

केबिन में लेटे-लेटे मुझे सुनाई पड़ा कि डेक पर न जाने कौन-कौन-सी चीजें गिर-गिरकर टूट रही हैं। केबिन में हवा आने के लिए जो फनेल डेक पर खुलकर गहरी साँस लेते है, उनके मुँह को ढक्कन से बंद कर दिया गया है लेकिन लहरों की जबरदस्त चोट से पानी उनके भीतर से भी रह-रहकर केबिन मे आ रहा है। बाहर उनचासों पवन का नाच हो रहा है, लेकिन केबिन के भीतर हवा का नाम नही है। एक बिजली का पखा चल रहा है जिससे गर्मी मानो घूम-घूमकर अपनी पूँछ मे शरीर पर चोट मारने लगी।

एकाएक मेरे मन मे आया कि यह बिलकुल असह्य है; लेकिन मनुष्य में शरीर, मन और प्राण से बड़ी एक सत्ता है। आँधी के आसमान के ऊपर भी जैसे शांत आकाश है, तूफ़ान के समुद्र के नीचे भी जैसे शांत समुद्र है, जिस तरह वह आकाश

और वही समुद्र वड़ा है वैसे ही मनुष्य के हृदय के भीतर और उससे ऊँचा उसी तरह का एक विराट् शात पुरुष है—विपत्ति और दु.ख के भीतर से देखने पर वह मिलता है—दु.ख उसके पैर के नीचे होता है और मृत्यु उसे छू नही पाती।

शाम के वक्त आँधी रुक गई। ऊपर जाकर मैंने देखा कि इतनी देर मे जहाज को समुद्र की जो चोटें लगी है उनके अनेक चिह्न है। कप्तान के कमरे की एक दीवार टूट जाने से उनका माल-असबाब सब भीग गया। एक बँधी हुई लाइफ-बोट जख्मी हो गई। डेक पर पैसेंजरों का एक कमरा और भण्डार का एक हिस्सा टूट गया है। जापानी मल्लाह ऐसे तमाम कामो मे लगे हुए थे जिनमें जान-जोखिम था। जहाज जिस तरह बराबर आसन्न सकट के साथ लड़ाई करता रहा है उसका एक स्पष्ट प्रमाण मिला—जहाज के डेक पर कार्क के बने हुए तैरने के कपड़े कायदे से रखे थे। इन सबको बाहर निकालने की बात एक बार कप्तान के मन में आई थी। लेकिन आँधी के वक्त की सब चीजो मे जो चीज सबसे ज्यादा स्पष्ट रूप से मेरे मन पर अंकित है वह है जापानी मल्लाहो की हँसी।

शनिवार के रोज आकाश प्रसन्न था, लेकिन समुद्र का क्षोभ अब भी कम नही हुआ। आश्चर्य इसी वात का है कि आँधी के समय जहाज इस तरह नही हिला था जैसा कि अब आंधी के बाद हिल रहा था, कि जैसे काल-मयूर के उत्पात को वह किसी तरह क्षमा न कर पा रहा हो और रह-रहकर फुकार उठता हो। शरीर की भी बहुत-कुछ वैसी ही हालत है, आँधी के वक्त उसमे एक तरह की शक्ति थी लेकिन उसके अगले दिन वह भूल न पा रहा था कि उसके ऊपर से आँधी गुजर चुकी है।

आज रविवार है। पानी का रंग फीका हो गया है। इतने दिन बाद आज मैंने आसमान मे एक चिड़िया देखी—यही चिड़ियाँ पृथ्वी का सदेश आकाश में ले जाती है, आकाश उन्हे आलोक देता है, पृथ्वी उन्हे अपना गाना देती है। समुद्र मे जो कुछ गाना है वह केवल अपनी लहरों का—उसकी गोद में प्राणी बहुत-से हैं, पृथ्वी से कही अधिक, लेकिन उनमे से किसी के कठ मे स्वर नही है, उन असंख्य गूंगे प्राणियो की ओर से खुद समुद्र ही अपनी बात कह रहा है। स्थल के जीव प्रधानत. शब्दो के द्वारा ही अपने मन के भावों को व्यक्त करते हैं, जलचरो की भाषा है गति। समुद्र नृत्य-लोक है और पृथ्वी शब्द-लोक।

आज तीसरे पहर चार-पांच बजे तक रगून पहुँचने की बात है। मंगलवार से लेकर शनिवार तक पृथ्वी पर अनेक खबरें आती-जाती रही, हम लोगों के लिए

वह सब जैसे बर्फ होकर एक जगह जमी रही, व्यापार के धन के समान नहीं जिसका हिसाब हर रोज होता है, कम्पनी के कागजों की तरह अगोचर रूप से जिनका सूद जमा होता रहता है।

२४ बैसाख १३२३

उस दिन एक धनी जापानी ने चाय पीने के लिए मुझे अपने घर आमंत्रित किया था। तुम लोगों ने ओकाकूरा की Book of Tea पढ़ी है, उसमें यह अनुष्ठान वर्णित है। उस दिन यह अनुष्ठान देखकर स्पष्ट रूप से मेरी समझ में आया कि जापानियों के लिए यह एक धार्मिक अनुष्ठान के बराबर होता है। यह उन लोगों की एक जातीय साधना है। इस चीज से यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि कौन-सा आइडियल उनका लक्ष्य है।

कोबे से लंबा रास्ता मोटर से तय करके हम लोग सबसे पहले एक बाग में गए, उस बाग में छाया, सौंदर्य और शांति बहुत घने रूप में छाई हुई थी। बाग किस चीज को कहते है यह लोग खूब जानते हैं। थोड़े-से कंकड़ बिछाकर और पेड़ लगाकर मिट्टी पर ज्योमेट्री की लाइनें खींच देना ही बाग लगाना नहीं है, यह बात जापानी बाग में घुसते ही समझ में आ जाती है। जापानी आँखों और हाथों दोनों को प्रकृति से सौंदर्य की दीक्षा मिली है। वह लोग जिस तरह देखना जानते हैं उसी तरह गढ़ना जानते हैं। ढके हुए रास्ते से होकर जाने पर एक जगह पेड़ के नीचे पत्थर का एक गड्ढा खोदकर उसमें साफ पानी रखा हुआ है, उसी पानी से हम लोगों ने हाथ-मुँह धोया। फिर एक छोटे-से कमरे में ले जाकर उन्होंने बेंच पर छोटे-छोटे गोल-गोल घास के आसन बिछा दिए—और हम लोग उस पर बैठ गए। यहाँ पर थोड़ी देर चुपचाप बैठना होगा, ऐसा ही क़ायदा है। जाते ही गृहस्वामी से मुलाकात नहीं होती। मन को शांतिपूर्वक स्थिर करने के लिए एक के बाद एक बुलाकर ले जाया जाता है। धीरे-धीरे दो-तीन कमरों में आराम करते-करते आखिरकार हम लोग असल जगह पर पहुँचे। सारा कमरा निस्तब्ध था कि जैसे चिरप्रदोष की छाया से ढका हुआ हो, कोई कुछ न बोल रहा था। मन पर इस घनी छाया वाली नि.शब्द निस्तब्धता का सम्मोहन निरंतर गहन होता जाता है। आखिरकार धीरे-धीरे गृहस्वामी ने आकर नमस्कार करके हमारी अभ्यर्थना की।

यह कहना ठीक होगा कि कमरों में साज-सामान नहीं था, लेकिन तो भी लगता था कि जैसे कमरा भरा हुआ हो, गमगमा रहा हो। बस कहीं-कहीं एक अकेली तस्वीर या एक कोई पात्र रखा हुआ है। निमंत्रित लोग उसीको ध्यान से

देखकर चुपचाप तृप्ति-लाभ कर रहे है। जो चीज सचमुच सुन्दर है उसके चारो ओर काफी-सी खाली जगह होनी चाहिए। अच्छी चीजो को बहुत ठूंस-ठाँसकर रखना उनका अपमान करना है—वह तो ऐसा ही है कि जैसे पतिव्रता स्त्री और उसकी सौत दोनों को एक ही कमरे मे ठूँस दिया जाय। थोड़ी-थोड़ी देर इतजार करके, स्तब्धता और निस्तब्धता से मन की भूख को जगाकर फिर इस तरह एक-दो अच्छी चीजें दिखाने से वह कितनी चमक उठतो हैं, यहाँ आकर मैं इस बात को साफ़-साफ समझ सका। मुझे याद आया कि शांतिनिकेतन के आश्रम मे जब मैं एक-एक दिन एक-एक गीत लिखकर सबको सुनाता तब वह गीत अपने हृदय को उनके आगे भरपूर खोल देता। लेकिन उन्ही सब गीतों को एक-साथ जोड़कर जब मैं कलकत्ता ले आया और वहाँ मित्रो की गोष्ठी मे सुनाया तब उनकी अपनी यथार्थश्री जैसे ढक गई। इसका मतलब यही है कि कलकत्ता के मकान में गीत के चारों ओर खाली जगह न थी—तमाम नौकर-चाकर, घर-गृहस्थी, काम-काज, शोर-गुल सब-कुछ उन गीतो के सिर पर जाकर बैठ गए। जिस आकाश के बीच उनका ठीक अर्थ समझ मे आता है, वह आकाश यहाँ नही है। फिर गृहस्वामी ने आकर कहा, चाय तैयार है और परिवेशन का भार उन्होंने विशेष कारण से अपनी लड़की के ऊपर रखा। उनकी लड़की ने आकर नमस्कार किया और चाय तैयार करने लगी। उसके आने से लेकर चाय तैयार करने तक की हर विधि जैसे छंद के समान थी। धोना, पोछना, आग जलाना, चायदानी का ढक्कन खोलना, गर्म पानी का बर्तन उतारना, प्याली मे चाय ढालना, अतिथि के आगे उसको बढाना, सबमे इतना संयम और सौंदर्य था कि उसे देखे बिना समझा नही जा सकता। इस चाय-पान का हर उपकरण दुर्लभ और सुन्दर था। अतिथि का कर्त्तव्य है इन पात्रो को एकात मनोयोग से देखना। प्रत्येक पात्र का स्वतन्त्र नाम और इतिहास है। उसके पीछे कितना यत्न है, कहा नही जा सकता।

सारी बात यही है। शरीर को, मन को संयत करके निरासक्त-प्रशांत मन से सौंदर्य को अपनी प्रकृति के बीच ग्रहण करना। यह भोगी का भोगोन्माद नही है, कही भी लेश-मात्र उच्छृंखलता या अमिताचार नही है, मन के ऊपरी हिस्से में जहाँ सब समय अनेकानेक स्वार्थों के आघात और अनेकानेक आवश्यकताओं की हवा से केवल लहरें उठती रहती हैं वहाँ से दूर सौंदर्य की गहराई में अपने को डुबो देना ही इस चाय-पान के अनुष्ठान का तात्पर्य है।

इससे समझ मे आता है कि जापान का सौंदर्य-बोध उनकी एक साधना है,

के लिए जितना सहज हुआ था उतना भारतवर्ष के किसी दूसरे प्रदेश के लिए संभव नही हुआ। यूरोपीय सभ्यता की पूर्ण दीक्षा हमारे लिए जापान के समान अबाध नही रही; दूसरे के कृपण हाथों से हमें जितना कुछ मिलता है उससे ज्यादा हमारे लिए दुर्लभ है। लेकिन अगर यूरोपीय शिक्षा हमारे देश में पूरी तरह सुगम होती तो इसमें कोई सदेह नहीं है कि बंगाली सब दिशाओ से उसे पूरी तरह अपने अधिकार मे कर लेता। आज कई दिशाओं से विद्या-शिक्षा हमारे लिए क्रमशः दुर्मूल्य होती जा रही है तो भी बंगाल का लड़का प्रतिदिन विश्वविद्यालय के संकीर्ण प्रवेश-द्वार से सिर टकराकर मर रहा है। वस्तुतः भारत के दूसरे सब प्रदेशों से अधिक बंगाल मे असंतोष का जो एक अत्यंत प्रबल लक्षण दिखाई पड़ता है उसका एक-मात्र कारण है—हमारी रुद्धगति। जो कुछ अंग्रेजी है उसकी ओर बंगाली का जागा हुआ चित्त बड़े प्रबल वेग से दौड़ा था, अंग्रेजो के बहुत पास पहुँचने के लिए हम प्रस्तुत हुए थे—इस सम्बन्ध मे संस्कारो की सब तरह की बाधाओं को लाँघने के लिए बगाली ही सबसे पहले तैयार हुआ था। लेकिन इसी जगह अंग्रेज के पास पहुँचने मे जब बाधा हुई तो बंगाली के मन में जो प्रचण्ड क्षोभ जाग उठा वह उसके अनुराग का ही विकार था।

यही क्षोभ आज नवयुग की शिक्षा ग्रहण करने के लिए बगाली के मन की सबसे बड़ी बाधा बन गया है। आज हम लोग जिन सब कूट तर्कों और मिथ्या युक्तियो से पश्चिम के प्रभाव को पूरी तरह अस्वीकार करने की चेष्टा करते हैं वह हमारे लिए स्वाभाविक नही है। इसीलिए वह इतना तीव्र है, वह व्याधि के प्रकोप के समान पीड़ा द्वारा हमको इस तरह सचेत करता है।

बंगाली के मन के इस प्रबल विरोध में भी उसका गति-धर्म ही व्यक्त होता है। लेकिन विरोध कभी कोई सृष्टि नही करता। विरोध से दृष्टि कलुषित और शक्ति विकृत हो जाती है। हमारे मन में चाहे जितनी बड़ी पीड़ा क्यों न हो यह बात हमें हरगिज नही भूलनी चाहिए कि पूर्व और पश्चिम के मिलन का सिंहद्वार खोलने का भार बंगाली के ऊपर ही पड़ा है। इसीलिए बगाल के नवयुग के प्रथम मार्गदर्शक राममोहन राय है। पश्चिम को पूरी तरह ग्रहण करने में उन्होंने भीरुता नही की, इसीलिए कि पूर्व के प्रति उनकी श्रद्धा अटल थी। उन्होंने जिस पश्चिम को देखा था वह तो शस्त्रधारी पश्चिम नही था, वाणिज्यजीवी पश्चिम भी नही था, वह तो ज्ञान के प्राण से उद्भासित पश्चिम है।

जापान ने यूरोप से कर्म की और अस्त्र की दीक्षा ली है। उनसे विज्ञान की

शिक्षा भी लेना उसने शुरु किया है। लेकिन मैंने जितना कुछ देखा है उससे मुझे लगता है कि भीतर जाकर किसी जगह पर यूरोप के साथ जापान का एक बड़ा अन्तर है। जिस गूढ़ आधार पर यूरोप का महत्त्व प्रतिष्ठित है वह आध्यात्मिक है। वह केवल कर्म-निपुणता नही है, उनका नैतिक आदर्श है। इसी जगह पर जापान के साथ यूरोप का मौलिक भेद है। मनुष्यत्व की जो साधना अमृतलोक को मानती है और उसी ओर चलती रहती है, जो साधना केवल सामाजिक व्यवस्था का अंग नही है, जो साधना सांसारिक प्रयोजन और अपने जातिगत स्वार्थ का अतिक्रमण करके भी अपने लक्ष्य की स्थापना करती है, उस साधना के क्षेत्र मे भारत के साथ यूरोप का मेल जितना सहज है जापान के साथ उनका मेल उतना सहज नही है। जापानी सभ्यता का भवन इकहरा है—वही उसकी समस्त शक्ति और दक्षता का निवास-स्थान है। वहाँ के भण्डार मे सबसे बडी जो चीज सचित होती है वह है कृतकर्मता, वहाँ के मन्दिर का सबमे बडा देवता है अपने देश का स्वार्थ। इसीसे जापान सारे यूरोप मे आधुनिक जर्मनी के शक्ति के उपासक नये दार्शनिको से सहज ही मंत्र ग्रहण कर सका है, उनके निकट नीत्शे के ग्रथ सबसे अधिक समाहित हैं। इसीमे आज तक जापान ठीक से यह वात ही तय न कर सका कि उसे किसी धर्म की आवश्यकता है या नही और अगर है तो वह कौन-सा धर्म है। कुछ दिनों तक उनका ऐसा भी सकल्प था कि वे ईसाई-धर्म ग्रहण कर लेंगे। तब उनका विश्वास था कि यूरोप ने जिस धर्म का आसरा लिया है शायद उसी धर्म ने उनको शक्ति दी है अतः तोप-बंदूक के साथ ईसाई-धर्म को भी समेट लेने की जरूरत है। लेकिन आधुनिक यूरोप में शक्ति की उपासना के साथ-साथ कुछ दिनों से यह बात फैल गई है कि ईसाई-धर्म स्वभाव से दुर्बल लोगों का धर्म है, वह वीरों का धर्म नही है। यूरोप ने कहना शुरू किया था कि जो मनुष्य दुर्बल है उसीका स्वार्थ इसमे है कि वह नम्रता, क्षमा और त्याग के धर्म का प्रचार करे। संसार मे जो पराजित हैं उस धर्म मे उन्हीको सुविधा है, संसार मे जो विजयी है उस धर्म मे उनको बाधा है। यह बात स्वभावतः जापान के मन मे जँची। इसीलिए जापान की राजशक्ति आज मनुष्य की धर्मबुद्धि की अवज्ञा कर रही है। यह अवज्ञा और किसी देश मे चल न पाती। लेकिन जापान मे चल पा रही है उसका कारण यही है कि जापान में इस चेतना का विकास नही हुआ था और इस चेतना के अभाव को लेकर ही जापान आज गर्व अनुभव कर रहा है—वह जानता है कि परलोक की चिंता से वह मुक्त है, इसीलिए इस लोक में वह विजयी होगा।

जापान के कर्ता-धर्ता जिस धर्म को विशेष रूप से प्रश्रय देते रहते हैं वह है शिन्तो धर्म । उसका कारण यह है कि यह धर्म केवल संस्कार-मूलक है, आध्यात्मिकता-मूलक नही । यह धर्म राजा को और पूर्वजो को देवता मानता है । इसलिए अपने देश की आसक्ति को तीव्र करने के साधन के रूप में इस संस्कार का उपयोग किया जा सकता है ।

लेकिन यूरोपीय सभ्यता मगोली सभ्यता की तरह इकहरी नही है । उसका एक भीतरी हिस्सा भी है । बहुत दिनों से Kingdom of Heaven को स्वीकार करती आ रही है । वहाँ पर जो नम्र है वही विजयी है, जो अन्य है वही अपने से अधिक महत्त्व वाला है । वहाँ पर कृतकर्मता नही परमार्थ ही सबसे बड़ी सम्पदा है । वहाँ पर ससार अपना असली मूल्य भीतर के क्षेत्र मे पाता है ।

यूरोपीय सभ्यता के इस भीतर वाले हिस्से का दरवाजा कभी-कभी बन्द हो जाता है, कभी-कभी वहाँ का दीया नही जलता । मगर उससे क्या, इस भवन की भीत पक्की है, बाहर के तोप के गोले इसकी दीवार तोड़ न सकेंगे, आखिरकार यही टिकी रहेगी और इसी जगह सभ्यता की सब समस्याओं का समाधान होगा।

हमारे साथ यूरोप का और कही मेल न भी हो तो भी इस बड़ी जगह पर मेल है । हम भीतर के मनुष्य को मानते है—उसे बाहर के मनुष्य से अधिक मानते हैं । जो जन्म मनुष्य का दूसरा जन्म है उसके लिए हम पीड़ा अनुभव करते हैं । इसी जगह पर मनुष्य के इस भीतरी हिस्से मे यूरोप के साथ यातायात का थोड़ा बहुत पदचिह्न मुझे दिखाई पडता है । इस भीतरी हिस्से में अन्त:पुर से मनुष्य का जो मिलन है वही सच्चा मिलन है । इस मिलन का द्वार तोड़ने के लिए बंगालियों का आवाहन हो रहा है, इसके अनेक चिह्न बहुत दिनों से दिखाई पड रहे हैं ।

सन् १८१६ मे अमरीका जाते समय रवीन्द्रनाथ ने कुछ महीने जापान मे बिताए थे । ये पत्र तभी (३ मई से ७ सितम्बर १९१६ तक) लिखे गए थे। पत्र मई १९१६ से मई १९१७ तक (वैशाख १३२३ से वैशाख १३२४ तक) सबुजपत्र मासिक मे प्रकाशित हुआ । पुस्तक रूप में जुलाई १९१६ मे इनका प्रकाशन रामानन्द चटर्जी को समर्पित किया गया था ।

पश्चिम यात्री की डायरी

हारुना—मारू जहाज
२४ सितम्बर, १९२४

सवेरे के आठ बजे हैं। आसमान मे घने वादल छाये हुए है, दिगत वर्षा से धुंधला हो रहा है, वदली की हवा नटखट लडके के समान किसी तरह मानना नही चाहती। वंदरगाह के पक्के वांध के उस पार क्षुब्ध समुद्र उछल-उछलकर गरज उठता है कि जैसे न जाने किसको झोटा पकडकर पटक देना चाहता है लेकिन पहुँच नही पाता। स्वप्न की बेचैनी में समस्त मन जैसे हृदय के पास घुमड़-घुमड़कर उठता आ रहा हो और रुँधे गले की घुटी हुई आवाज क्रन्दन बनकर हाय-हाय करती हुई फट पडना चाहती हो; इस फेनिल गूंगे के गर्जन को सुनकर वृष्टि-धारा से पाण्डुवर्ण समुद्र एक अतलस्पर्शी अक्षम क्षोभ के दुःस्वप्न-जैसा जान पड़ रहा है।

यात्रा के पहले इस प्रकार का दुर्योग कुलक्षण है, यह सोचकर मन मैला हो जाता है। हमारी बुद्धि पक्की है, वह यह सब लक्षण-अलक्षण नही मानती, हमारा लहू कच्चा है, वह आदिम काल का है—उसकी भय-भावना तर्क-विचार को डिगा-डिगाकर झांक उठती है, पत्थर के घेरे के उस पार वाली अज्ञात लहरों के समान। बुद्धि अपने तर्क के किले में विश्व-प्रकृति के सब तरह के भाषाहीन आभास-इंगित के स्पर्श से अलग हटकर वैठी रहती है। लहू अपनी बुद्धि के घेरे के बाहर रहता है, उसके ऊपर बादलों की छाया पड़ती है, लहरें उसे झूला झुलाती हैं, हवा की बाँसुरी उसे नचाती है, रोशनी और अँधेरे के इशारों में वह न जाने कितना क्या मतलव पढता है, आकाश जब अप्रसन्न हो तब उसे भी शांति नही मिलती।

मैंने वहुत वार दूर देशों की यात्रा की है, मन का लंगर उठाने में कभी मुझे बहुत ज्यादा खीच-तान नही करनी पडी। इस बार वह जैसे जरा ज्यादा जोर से मिट्टी से वँधा हुआ है। उससे पता चलता है कि इतने दिन बाद मैं अब

बुड्ढा हुआ। न चलने की इच्छा करना प्राण की कृपणता है, संचय कम होने से खर्च करने मे संकोच होता है।

तब भी मैं मन-ही-मन जानता हूँ कि घाट से कुछ दूर जाने पर ही यह पीछे खींचने वाला बंधन छूट जायगा। तरुण पथिक बाहर राजपथ पर निकल आयगा। इसी तरुण ने एक दिन गाया था, मैं चंचल हूँ, सुदूर का प्यासा हूँ ? आज वही गाना क्या उल्टी हवा मे लौट गया ? सागर पार जो अपरिचित है उसका घूँघट हटाने की क्या कोई उत्सुकता मन मे नही ?

कुछ दिन हुए चीन से मेरे पास निमंत्रण आया। वहाँ के लोग मुझसे कुछ सुनना चाहते थे—कोई पक्की बात। अर्थात् वह निमंत्रण प्रवीण के लिए था।

दक्षिण अमरीका से इस बार मेरे लिए निमंत्रण आया, उसके शतवार्षिक उत्सव मे हिस्सा लेने के लिए। इसीलिए हल्का होकर चल रहा हूँ, मुझे प्रवीण न बनना होगा। मैं जितना ही भाषण देता हूँ उसके कुहासे में खुद ही खो जाता हूँ। वह तो मेरे कवि का परिचय नही है। अपने खोल को तोडकर तितली निकलती है अपने स्वभाव की प्रेरणा से। कोये से रेशम निकलता है पदार्थ-वेत्ता की खींच-तान से और तभी से तितली की हालत शोकपूर्ण हो जाती है। अपनी आधी उम्र बीत जाने पर मैं संयुक्त राज्य अमेरिका मे गया, वहाँ पर उन्होंने मुझे घेर-घारकर मुझसे भाषण कराया, तब मुझे छोडा। तब से लोकमंगलकारी सभाओं में मेरी दौड-धूप का अंत नही रहा। मेरे कवि का परिचय गौण हो गया। पचास बरस मैंने बे-सरकारी रूप में संसार के निष्प्रयोजन क्षेत्रो में काटे थे, मनु के अनुसार जब वन में जाने का समय हुआ तब मुझे प्रयोजन के दरबार मे हाजिर होना पड़ा। सभा-समितियाँ मुझसे सरकारी काम पूरा कराने में लग गईं। इसीसे पता चलता है कि मेरी शनि की दशा चल रही है।

कवि हों या कलाविद् हो वे सभी जनता की फर्माइश से खिंच आते है—राजा की फर्माइश, प्रभु की फर्माइश, बहुत-से प्रभुओं के समावेश के रूप मे साधारण लोगों की भी फर्माइश होती है। फर्माइशो के हमले से उनको पूरी तरह छुटकारा नहीं मिलता। इसका एक कारण है, भीतर-ही-भीतर यह मानते है सरस्वती को और बाहर उन्हें मानकर चलना पड़ता है लक्ष्मी को। सरस्वती बुलाती है अमृत के भण्डार में, लक्ष्मी बुलाती है अन्न के भण्डार में। श्वेत पद्म की अमरावती और स्वर्ग पद्म की अलकापुरी दोनों पास-पास नही हैं। जिन लोगो को दोनो का टैक्स देना पड़ता है, एक जगह अपने मन से दूसरी जगह दबाव में पड़कर, उनकी बड़ी

मुश्किल है। जीविकोपार्जन में समय देने पर भीतर का काम नहीं चलता। जहाँ पर ट्राम की लाइन बैठानी होगी वहाँ फूल के बगीचे की आशा करना गलत है। इसीलिए फूल के बगीचे के साथ आफिस के रास्ते का एक समझौता यह हुआ है कि माली तो फूल जुटायगा और ट्राम-लाइन का मालिक अन्न जुटायगा। दुर्भाग्य से जो आदमी अन्न जुटाता है, मर्त्यलोक में उसीका प्रताप अधिक होता है, क्योंकि फूल का शौक पेट की आग के साथ किसी तरह बराबरी नहीं कर सकता।

केवल अन्न-वस्त्र-आश्रय का सुयोग ही बड़ी बात नहीं है। धनियों के पास जो रुपया रहता है उसके लिए उनके घर में लोहे का संदूक रहता है, लेकिन गुणियों की जो कीर्ति है उसकी स्थान चाहे जहाँ हो उसका आधार निश्चय ही उनके अपने मन में नहीं होता। वह कीर्ति सब युगों की सब आदमियों की होती है। इसीलिए उसके लिए एक ऐसी जगह ढूँढनी पड़ती है जहाँ से वह समस्त देश-काल को दिखाई पड़ सके। विक्रमादित्य की राज-सभा के मंच पर जो कवि थे, वे उस काल के भारतवर्ष की समस्त रसिक-मण्डली के सामने खड़े हो सके थे, आरंभ से ही उनका प्रकाश ढक नहीं गया। प्राचीन काल के बहुत-से अच्छे काव्य दैवयोग से ऐसे ऊँचे स्थल का आश्रय न पाने के कारण ही काल की बाढ़ में बह गए, इसमें कोई संदेह नहीं।

यह बात ध्यान में रखनी होगी कि जो यथार्थ गुणी होते हैं वे एक सहज कवच लेकर पृथ्वी पर आते हैं। फर्माइशें उनके शरीर से आकर टकराती हैं लेकिन मर्म में नहीं बिंधती। इसीलिए वह मरते नहीं, भावी काल के लिए टिके रहते हैं। जो लोग लोभ में पड़कर फर्माइश को पूरी तरह स्वीकार कर लेते हैं वे उसी समय जीवित रहते है, बाद को मर जाते हैं। आज विक्रमादित्य के नवरत्नों में से बहुतों को काल के टूटे हुए कगारों से खोजकर बाहर निकालने का उपाय नहीं है। उन्होंने ज्यादा की फर्माइश को पूरा करने के लिए अपने-आपको खपा दिया था, इसीलिए तब उनके हाथ में नकद जो आया वह और सब लोगों से ज्यादा था। लेकिन कालिदास फर्माइश पूरी करने में उतने चतुर न थे इसीलिए दिङ्नाग के मोटे-मोटे हाथों की मार उन्हें काफी थी। उन्हें भी बीच-बीच में दबाव में पड़कर फर्माइश पूरी करनी पड़ी है उसका प्रमाण मिलता है 'मालविकाग्नि मित्र' में। जिन दो-तीन काव्यों में कालिदास ने राजा के मुँह पर कहा था, 'जो आज्ञा महाराज। जो कहते हैं वही करूँगा', लेकिन किया कुछ और ही, उन्हीके बल पर उस दिन की राज-सभा का अवसान हो जाने पर कालिदास के कीर्ति-कलाप का

अंत्येष्टि संस्कार भी नही हो गया—शाश्वत रसिक सभा में उनके प्रवेश का द्वार खुल गया।

मनुष्य के कार्यों के दो क्षेत्र होते हैं—एक प्रयोजन का क्षेत्र, दूसरा लीला का क्षेत्र। प्रयोजन का दबाव पूरा-पूरा बाहर से आता है, अभाव से आता है, लीला की प्रेरणा भीतर से आती है, भाव से आती है। बाहर की फर्माइश से प्रयोजन की महफिल गर्म हो उठती है, भीतर की फर्माइश से लीला की महफिल जमती है। आजकल जनसाधारण जाग उठे हैं, उनकी क्षुधा विराट् है, उनकी माँगें अनगिनत हैं। यही बहुरसनाधारी जीव अपनी अनेकानेक फर्माइशों से मानव-संसार को रात-दिन उद्योगशील रखता है। कितने उनके आगमन के आयोजन हैं, पैदल-सिपाही-बरकन्दाज, ताशा, नगाड़ा, ढाक-ढोल का जबरदस्त कोलाहल—उनके 'चाहिए चाहिए' शब्द के गर्जन में स्वर्ग-मर्त्य विक्षुब्ध हो उठता है। यह गर्जन लीला की महफिल में भी अपनी माँगें पेश करता रहता है कि "तुम्हारी बीणा और तुम्हारा मृदंग भी हमारी जय-यात्रा के बैण्ड के साथ मिलकर हमारे कल्लोल को और भी घनीभूत करें।" इसके लिए वह खूब ज्यादा मजदूरी और रौबदार सिरोपा देने के लिए भी राजी है। पहले की राज-सभा से वह हाँक भी ज्यादा लगाती है, दाम भी ज्यादा देती है। इसलिए नगाड़ा बजाने वाले के लिए तो यह समय बहुत अच्छा है, लेकिन बीन बजाने वाले के लिए नहीं। उस्ताद हाथ जोड़कर कहता है, "तुम्हारे इस शोर-शराबे में मेरे लिए जगह नहीं है इसलिए मैं चुपचाप बैठे रहने के लिए राजी हूँ, बीणा को गले में बाँधकर पानी में कूदकर मर जाने के लिए राजी हूँ, लेकिन मुझे सदर रास्ते के अपने बैण्ड में मत बुलाओ—क्योंकि मैं अपने ऊपर वाले के यहाँ से उनके गाने की महफ़िल के लिए पहले ही बयाना लिये बैठा हूँ।" यह सुनकर जनसाधारण तरह-तरह की कड़वी बातें कहते है। वह कहते हैं, "तुम लोक-हित नहीं मानते, देश-हित नहीं मानते, बस अपनी मौज को मानते हो।" बीनकार कहने की कोशिश करता है, "मैं अपनी मौज को भी नहीं मानता, तुम्हारी गरज को भी नहीं मानता, मैं तो ऊपर वाले को ही मानता हूँ।" सहस्र-रसनाधारी गरजकर कहता है, "चुप।"

जनसाधारण कहने से जिस प्रकाण्ड जीव का बोध होता है उसके प्रयोजन स्वभावतः बड़े भारी और सीमाहीन होते हैं। इसीलिए प्रयोजन-साधन का मूल्य उनके निकट कहीं ज्यादा होता है, लीला की वह अवज्ञा करता है। भूख के समय बैंगन का मूल्य बकुल से ज्यादा होता है। इसके लिए भूखे को मैं दोष नहीं देता बल्कि उस

इस को दोष देता हूँ जो बकुल से कहती है कि बैंगन बन जाओ। भगवान् ने भूखों के देश में भी मौलसिरी खिलाई। इसमें मौलसिरी का कोई हाथ नहीं। उसका अकेला दायित्व यह है कि चाहे जहाँ जो हो, किसी को उसकी जरूरत हो या न हो उसको मौलसिरी ही बने रहना होगा, झर पड़ना होगा तो झर पड़ेगी, माला में गुँथ जाना होगा तो वही सही। इसी बात को गीता ने कहा, "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह।" देखा गया है कि संसार में स्वधर्म के पीछे बहुत बड़े-बड़े लोगों का निधन हुआ है लेकिन वह निधन बाहर का है। स्वधर्म भीतर से उनको बचाये रखता है। और यह भी देखा गया है कि परधर्म में बहुत छोटे लोग भी एकाएक बड़े हो गए हैं, लेकिन उनका निधन भीतर से होता है जिसके लिए उपनिषद् कहता है, "महती विनष्टिः।"

जो आदमी छोटा है उसके पास भी स्वधर्म नाम की एक सम्पदा है, अपनी उसी छोटी-सी डिबिया में अपने स्वधर्म की सम्पदा को सँभालकर रखने में ही उसकी मुक्ति है। इतिहास में उसका नाम नहीं रहता, बदनामी चाहे रह भी जाय, लेकिन अपने अन्तर्यामी के दरबार-खास में उसका नाम रह जाता है। लोभ में पड़कर स्वधर्म बेचकर वह अगर परधर्म का डंका बजाने जाय तो हाट-बाजार में उसका नाम होगा, लेकिन अपने प्रभु के दरबार में उसका नाम खो जायगा।

इस भूमिका के पीछे मेरी अपनी कैफियत है। मैंने कभी अपराध नहीं किया, ऐसी बात नहीं। उस अपराध की हानि और परिताप की तीव्र वेदना अनुभव की है इसीलिए सावधान हो गया हूँ। आँधी के समय ध्रुव-तारा दिखाई नहीं पड़ता, इसीसे दिग्भ्रम होता है। कभी-कभी बाहर के कोलाहल में खो जाने पर स्वधर्म की वाणी स्पष्ट रूप से सुनाई नहीं पड़ती। तब 'कर्तव्य' नामक दशमुख-उच्चारित एक शब्द की हुंकार से मन अभिभूत हो जाता है और हम भूल जाते हैं कि कर्तव्य नाम का कोई अलग पदार्थ नहीं है; मेरे 'कर्तव्य' का मतलब ही है मेरा अपना सहज कर्तव्य। गाड़ी का चलना एक साधारण कर्तव्य है लेकिन अगर किसी बड़ी जरूरत के समय भी घोड़ा कहे कि मैं सारथी का कर्तव्य करूँगा या चक्का बोले, "मैं घोड़े का कर्तव्य करूँगा," तब वह कर्तव्य भयंकर हो उठता है। डेमाक्रेसी के युग में इस बे-सिर-पैर के कर्तव्य की भयावहता चारों ओर दिखाई पड़ती है। मानव-संसार चलेगा, उसे चलना ही चाहिए; लेकिन उसके चलने के रथ के विभिन्न अंग हैं, कर्मी लोग भी एक तरह से उसे चला रहे हैं, गुणी लोग भी एक

तरह से उसे चला रहे हैं, दोनों के अपने ढंग से चलने में ही उनकी पारस्परिक सहायता और समग्र रथ की गति और वेग निहित है, दोनों का कर्म एकाकार हो जाने से सारा कर्म ही पगु हो जाता है।

इस प्रसंग मे एक बात मेरे ध्यान में आ रही है। लोकमान्य तिलक तब जीवित थे। उन्होंने अपने किसी दूत के जरिये मेरे पास पचास हजार रुपये भेज-कर कहलाया था कि मुझे यूरोप जाना होगा। उस समय नॉन-कोआपरेशन तो नही शुरू हुआ था लेकिन पोलीटिकल आन्दोलन का तूफान चल रहा था। मैंने कहा, "राष्ट्रीय आन्दोलन का काम लेकर मैं यूरोप न जा सकूंगा।" उन्होंने कह-लाया, "मैं राष्ट्रीय चर्चा मे रहूँ यह उनके अभिप्राय के विरुद्ध है। भारतवर्ष की जो वाणी मैं प्रचारित कर सकता हूँ उस वाणी को ले जाना ही मेरे लिए असली काम है और उसी सच्चे काम के द्वारा मैं भारत की सच्ची सेवा कर सकता हूँ।" मैं जानता था कि जनसाधारण ने तिलक को पोलीटिकल नेता के रूप में ही वरण किया था और इसी काम के लिए उन्हें रुपये दिये थे। इसीलिए मैं उनके पचास हजार रुपये ग्रहण न कर सका। इसके बाद बम्बई शहर में उनसे मेरी मुलाकात हुई। उन्होने मुझसे फिर कहा, "राष्ट्रीय कार्यों से अपने को अलग रखकर ही आप अपना काम और उसी अर्थ मे देश का काम कर सकेंगे, इससे बड़ी किसी चीज की मैंने आपसे प्रत्याशा ही न की थी।" मैं समझ गया कि तिलक ने जो गीता का भाष्य किया था उस कार्य के वे अधिकारी थे, वह अधिकार बड़ा अधिकार है।

बहुत-से धनी लोग है जो अपने भोग के लिए ही अपने धन का व्यय और अपव्यय करते रहते हैं। साधारण जनों की माँग अगर उनके भोग के खजाने मे दरार डाल सके तो उसमें दु:ख की बात कुछ भी न होगी। अवकाश जिस चीज का नाम है वह असल मे समय-धन है—ससारी आदमी इस धन को अपने घर-संसार की चिंता और काम मे लगाता है और आलसी उसे किसी काम मे नही लगाता। इस ससारी या आलसी आदमी के अवकाश को लेकर लोकहित की दुहाई देकर उपद्रव करने मे कोई दोष नही है। अपने अवकाश का बहुत-सा अंश मैं आलस में ही खर्च करता हूँ, बाहर से कुछ लोग ऐसा सदेह करते है। लेकिन यह बात वह नही जानते कि यह आलस्य ही मेरे काम का प्रधान अंग है। प्याले का जितना हिस्सा चीनी मिट्टी से गढ़ा होता है वही उसका प्रधान अंश नही है, वस्तुत: वही उसका गौण अंश है, जितना उसमे खाली रहता है वही उसका मुख्य अंग है।

उसी खाली अंश में रस भरता है, तपाई हुई चीनी मिट्टी तो केवल निमित्त है। घर की खूंटी पेड़-जैसी चीज़ नही है। अर्थात् वह केवल अपने नीचे की मिट्टी के जोर पर नही खड़ी रहती। उसके थाले मे जितनी मिट्टी का ढूह दिखाई पड़ता है उससे कही अधिक मिट्टी पर वह अपने न दीख पड़ने वाले सोरो से अधिकार किये रहता है इसीलिए पेड को रस बराबर मिलता रहता है। हमारा काम भी उसी पेड़-जैसा है, खाली अवकाश की तह मे से वह चुपके-चुपके रस खीच लेता है। दस जने मिलकर अगर इस प्रकृति की देन अवकाश रूपी ला-खिराज भूमि पर मालगुजारी लगा दे तो वह प्रयोजन ही व्यर्थ हो जायगा। इसीलिए देश के सब सामयिक पत्रों में लूट का माल बाँटने के लिए दूसरे किसी देश के कवियों में इस तरह खीचतान नही होती।

२ अक्तूबर, १९२४

मैं यह कह रहा था कि औरतें पर्दानशीन होती है। जो झूठा पर्दा लगाकर कृपण आदमी उन्हे दूसरों की नजर से बचाकर लुकाकर रखना चाहता है मैं उस बर्बर परदे की बात नही कह रहा था; अपने को ढंग से प्रकाशित करने के लिए ही वे जिस सब आवरण को सहज पटुता से ओढ लेती है मैं उसकी बात कह रहा था। यह जो अपने शरीर को, घर को, आचरण को, मन को तरह-तरह के रग देकर, ढग देकर, अनुष्ठान देकर वे अपने-आपको एक अद्भुत पर्दे से ढक सकी है इसका कारण यही है कि उन्हे स्थिति का अवकाश मिला। स्थिति का मूल्य ही है उसके आवरण का ऐश्वर्य, उसके चारो ओर की उदारता मे, उसके आभास मे, व्यंजना मे, उसके हाथ मे जो समय है वह उस समय के मनोहर वैचित्र्य मे है। धीरज का फल मीठा होता है, क्योकि वह फल प्राण वाली चीज है, उसे मशीन की तरह फर्माइश करके फौरन गढा नही जा सकता। वह बहुमूल्य धीरज स्थिति के घर की चीज है। इस धीरज को अगर सरस और सफल न किया जा सका तो उसके समान विपत्ति दूसरी नही है। मरुभूमि अनावृत है, उसको अवकाश की कमी नही होती लेकिन वह अवकाश रिक्त होता है, यह कठिन नग्नता पीडा देती है। लेकिन जहाँ जमीन परती नही पड़ी रहती वहाँ वह फसल मे ढकी रहती है और उसमे रग-बिरगे फूल खिलते है; वहाँ उसकी हरी ओढनी हवा मे उडती है। जो पथिक अपने रास्ते पर चलता है वही उसे अपनी प्यास के लिए पानी, भूख के लिए अन्न, आराम के लिए छाया, और थकान के लिए परिचर्या मिलती है। वहाँ की

है। इसीमे उसकी स्त्रियाँ कह रही है, "हम भी पुरुष बनेंगी।" इसीसे उसकी काव्य-सरस्वती कह रही है, वीणा के तारो को ठीक से न बाँधने से जो सुर झनझन करता रहता है वही असली यथार्थ का सुर है, उपेक्षा की उच्छृंखल अशांति से रूप में जो विपर्यय, जो छिन्न-भिन्नता आ रही है वही आर्ट है।

७ फरवरी १९२५
क्राकोविया जहाज

मार्सेल्स मे उतरकर हम लोग रेल पर चढ़े। पश्चिम देश का एक परिचय मिला भोजन के कमरे में। आकाश की ग्रहमाला के आवर्तन के समान एक के बाद दूसरी प्लेट घूम-घूमकर आ रही है।

घर मे जो कुछ माँगा जा सकता है वह रास्ते मे नही माँगा जा सकता। घर पर समय भी होता है, स्थान भी। वहाँ पर जीवन-यात्रा के प्रयोजन का भार ज्यादा भी जमा हो जाय तो कोई बाधा नही। लेकिन चलते रास्ते पर उपकरणो का बोझ यथासंभव हल्का करना ही साधारण लोगो के लिए संगत होता। हिरण के सींग वटवृक्ष की डालों और जटाओं की तरह उतने ज्यादा, उतने बड़े, उतने भारी हो तो जंगम प्राणी के लिए बेमेल हो जायँगे।

हमेशा से, खासकर पुराने जमाने मे, राजा-रजुल्ला अमीर-उमरा भोग और ऐश्वर्य के बोझ को सब जगह हर हालत में भरपूर साथ लिये चलते रहे हैं। संसार पर उनका रौब-दाब बहुत ज्यादा रहा है। उस रौब-दाब को दुनिया ने मान लिया है, क्योंकि उन लोगों की संख्या उतनी ज्यादा नही है। रेलगाड़ी की भोजनशाला में प्लेटों की संख्या, भोज्य पदार्थों का परिमाण और वैचित्र्य, परिचर्या की व्यवस्था इतनी बाहुल्यपूर्ण है कि पुराने जमाने का राजकीय समुदाय ही यात्रा में भी उसकी माँग कर सकता। अब सभी जनसाधारण के लिए यह आयोजन है।

भोग की इस बहुलता मे सभी मनुष्यों का अधिकार है, इस बात का आकर्षण बड़ा भयानक है। इसी आकर्षण से देश-भर के आदमियों की सवारियाँ विश्व-भंडार की दीवार में सेंध फोड़ने के लिए उद्यत हैं, लुब्ध सभ्यता का यही उपद्रव सर्वनाशी है।

बहुलता पर छोटे-बड़े किसी आदमी का कोई अधिकार नहीं है यह बात पिछले युद्ध के समय इग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि युद्ध में लगे हुए देशों को आखिर-कार स्वीकार करनी पड़ी, तब उन लोगों ने अपने सहज आयोजन के अनुपात मे

अपने भोग को संयत किया था। तब उन्होंने समझा था कि मनुष्य के असली प्रयोजन का भार बहुत ज्यादा नहीं होता। युद्ध समाप्त होने पर वह बात भूलते देर नहीं लगी।

अनावश्यक चीजों को आवश्यक बना देना जब देश के सब लोगों की नित्य-साधना हो जाती है तब विश्व-व्यापी दस्यु-वृत्ति अनिवार्य हो उठती है। आबादी बढ़ने की समस्या को लेकर अनेक पाश्चात्य लोग चिन्ता व्यक्त किया करते हैं। इस समस्या के कठिन होने का प्रधान कारण यह है कि सर्व-साधारण भोग-बाहुल्य की माँग कर रहे हैं। इतनी बड़ी माँग अगर पूरी करनी हो तो धर्म-रक्षा नहीं चल सकती। आदमी को आदमी का पीड़ा पहुँचाना तब जरूरी हो जाता है। इस पीड़ा पहुँचाने के काम में हाथ को अच्छी तरह माँजा जाता है दूरस्थ अनात्मीय जातियों को पीडा पहुँचाकर। इसमे खतरा यही है कि जीवन-क्षेत्र के चाहे किसी छोर पर धर्म-बुद्धि को आग क्यो न लगाई जाय, वह आग वही नही रुकती। भोगी स्वभावतः जिस निष्ठुरता की साधना करता है, उसकी सीमा नही है, क्योंकि स्वार्थ कही पर आकर यह कहना नही जानता कि 'अब बस।' वस्तुगत आयोजन के असंगत बाहुल्य को ही जिस सभ्यता का प्रधान लक्षण माना जाता है वह सभ्यता नरभक्षी होने के लिए विवश है। नररक्त-शोषण की विश्व-व्यापी चर्चा एक-न-एक दिन आत्म-हत्या पर आकर रुकेगी, इसमे अब सदेह नही किया जा सकता।

रेलगाड़ी की भोजनशाला मे एक ओर जैसे भोग का बाहुल्य दिखाई पड़ा दूसरी ओर वैसे ही मैंने कर्म का गतिवेग देखा। समय थोड़ा, आरोही अनेक, भोज्य पदार्थों का वैचित्र्य प्रचुर, भोज के उपकरण विस्तृत—इसीसे खाद्य-वितरण का अभ्यास अद्भुत रूप से द्रुत हो उठा है। इस खाद्य-वितरण के यन्त्र को खूब ही जोर से चाबी दी गई है। जो द्रुतगति इस कार्य में दिखाई पड़ी वही पाश्चात्यों के सब कार्यों में दिखाई पडती है।

जो यन्त्र बाहर के व्यवहार के लिए है उसके गति के छन्द को चाबी देकर बहुत दूर तक आगे बढाया जा सकता है। लेकिन हमारे प्राण के, हमारे हृदय के छन्द की एक स्वाभाविक लय है, उसके ऊपर द्रुत प्रयोजन की जबरदस्ती नहीं चलती। तेजी से चलना, तेजी से आगे बढ़ना है, यह बात मशीन की गाडी के लिए सच हो सकती है, आदमी के लिए सच नहीं है। आदमी के चलने के साथ होना भी मिला हुआ है, उस चलने में होने को भी मिलाकर चलना ही आदमी का चलना है, मशीन की गाड़ी के लिए ऐसी कोई शर्त नहीं। आफिस की जल्दी के

क्षण मे एक कौर के बदले चार कौर खाना असंभव नहीं है। लेकिन उस चार कौर को घड़ी रखकर हजम करना मशीन के मुनीम के हुकुम से नही हो सकता। अगर ग्रामोफोन का कान मल दिया जाय तो वह गाना, जिसको गाने में चार मिनट लगा था उसको सुनने मे आधे मिनट से ज्यादा भी नही लग सकता, लेकिन तब संगीत-चीत्कार हो उठता है। रस-भोग करने के लिए रसना का स्वयं अपना एक निर्धारित समय है. सदेश को अगर कुनैन की गोली की तरह टप से निगल लिया जाय तो वह चीज तो मिल जाती है लेकिन उस चीज का रस नही मिलता। तीर की गति से दौड़ती हुई बाइसिकल अगर पैदल चलने वाले मित्र की चादर को पकड़ ले तो उसकी बाइसिकल की जय-पताका हाथ में आ जायगी; लेकिन मित्र को अपने हृदय से लगाने का उपाय वह नहीं है। मशीन का वेग बाहर के जरूरी कामों में लगता है, भीतर की भूख मिटाने के समय भीतर के छन्द को न मानने से काम नहीं चलता।

बाहर का वेग भीतर के छन्द को कभी-कभी बहुत पीछे छोड़ जाता है। जब बाह्य प्रयोजन में बहुत बढ़ती होती है तब आदमी पीछे छूट जाता है और मशीन के साथ ताल नही रख पाता। यूरोप में वही मनुष्य नाम का व्यक्ति दिनोदिन बहुत दूर छूट गया। मशीन आगे बढ़ गई, इसीको वहाँ के लोग प्रगति कहते हैं, प्रोग्रेस।

सफलता, जिसे अंग्रेजी मे सक्सेस कहते हैं, उसका वाहन जितना ही दौड़कर चलता है उतना ही सफल रहता है। यूरोप के देश-देश में, जल में, स्थल में, आकाश में राष्ट्रनीति की युद्धनीति की, वाणिज्य-नीति की जोरदार घुड़दौड़ चल रही है। वहाँ पर बाह्य प्रयोजन की तलब बहुत ज्यादा हो उठी, इसीसे मानवता की गुहार सुनकर कोई ठहर नहीं पाता। पालिटिक्स बीभत्स सर्वभक्षी पेटूपन के उद्योग में निरन्तर व्यस्त है। उसके पिरहकटी के धन्धे की परिधि सारे संसार को घेरे हुए है। पुराने जमाने में युद्ध-विग्रह के सिलसिले में धर्मबुद्धि से जहाँ-जहाँ बाधा खड़ी कर रखी थी, आज वहाँ पर डिप्लामेसी कूदती-फाँदती हर्डिल रेस दौड़ रही है। वह ठहर जो नहीं सकती। जब एक पक्ष ने युद्ध के अस्त्र के रूप में विषवायुबाण का व्यवहार किया तो दूसरे पक्ष ने धर्मबुद्धि की दुहाई मचाई। आज सभी पक्ष विष की खोज में लग गए हैं, युद्ध-यान मे निरस्त्र नागरिकों पर आकाश से होने वाले अग्निवाणों की वर्षा को लेकर पहली बार धर्मबुद्धि की निन्दा-वाणी सुनाई पड़ी। आज देखता हूँ कि धार्मिक लोग स्वयं साधारण कारण को लेकर

बात-बात में गाँव वालों के लिए पाप वज्र की खोज कर रहे है। पिछले युद्ध के समय तरह-तरह के उपायों से जान-समझकर सचेष्ट भाव से शत्रु के संबध में सत्य को छिपाने और झूठ को प्रचारित करने का शैतानी अस्त्र खूब जोर-शोर से चला। युद्ध थम गया है लेकिन वह शैतानी आज भी नही थमी। यहाँ तक कि अक्षम भारतवर्ष को भी प्रबल लोगों का प्रोपेगण्डा माफ नही करता। यह सब अधीरता की नीति है; यह सब पाप की तेज चाल है; बाहर-बाहर यह निश्चय ही हर कदम पर जीतती है लेकिन वह जीत भीतर के आदमी को हरा देती है। आदमी ने आज अपने सिर से जयमाला खोलकर मशीन के गले में पहना दी है। रसातल से दानव कह रहा है, "वाह वाह !"

क्राकोविया जहाज
११ फरवरी १९२५

वैष्णवी ने मुझसे कहा था, "कब किसके घर से वैरागी का अन्न जुटता है इसका कुछ ठिकाना नही, वह अन्न अपने जोर से नही मिलता तभी तो समझती हूँ कि वही यह अन्न जुटा देते हैं।" यही बात मैं कल कह रहा था। बँधे हुए रूप में पाने से पाने का सत्य म्लान हो जाता है। न पाने का रस उसको घेरे नही रहता। भोग में केवल पाना होता है, पशु का पाना, और सम्भोग में पाना-न-पाना दोनों ही मिला होता है, वह आदमी की चीज है।

बचपन में ही विधाता ने विद्या के पक्के घर में से मुझे बाहर निकालकर रास्ते पर खड़ा कर दिया। अकिंचन वैरागी की तरह अपने भीतर के रास्ते पर अकेले चलते-चलते मुझे जब-तब अचानक मन का आहार मिला है। मनमाने ढंग से बस अपनी बात कहता गया हूँ, यही अभागों का ढंग है। कहते-कहते ऐसा भी कुछ सुनने को मिल जाता है जो पहले नही सुना था। कहने के स्रोत में जब ज्वार आता है तब न जाने किस गुफा के भीतर की अनजान सामग्री बहती-बहती आकर घाट पर लग जाती है। तब ऐसा नही लगता कि उसमें मेरे बँधे हुए पावने का जोर है। वह अचानक पाने का विस्मय ही उसे चमका देता है जिस तरह उल्का हठात् पृथ्वी के वायुमण्डल में आकर आग बन जाती है।

संसार में मेरी प्रेमिकाओं में जो सबसे छोटी हैं उनकी उम्र तीन साल है। मिनमिनाकर बात कहते जाने में उन्हें एक क्षण का भी विराम नही होता। जो सुनने वाले हैं वे तो निमित्त हैं, असल बात है अपनी बात अपने को ही सुनाना;

जिस तरह भाप घुमड़ती-घुमड़ती ग्रहतारा के समान आकार ग्रहण कर लेती है उसी तरह बात कहने के वेग से स्वयं ही उसके सजग मन में विचार की सृष्टि होती रहती है। अगर बाहर से मास्टर की वाचालता इस स्रोत को रोक दे तो उससे उसकी अपनी विचार-धारा का सहज पथ बंद हो जाता है। बच्चे के लिए बहुत अधिक मात्रा में पोथी की विद्या भावना की स्वाभाविक गति को रोक देने वाली होती है। विश्व-प्रकृति दिन-रात कुछ-न-कुछ कह रही है, वह बात जब बच्चे के मन से निकलती है तब उसकी अपनी बात ही उसके लिए सबसे अच्छी शिक्षा-प्रणाली ठहरती है। मास्टर खुद तो बात करता है और बच्चे से कहता है, "चुप।" बच्चे के चुप किये हुए मन पर बाहर की बात बोझे की तरह आकर पड़ती है, खाद्य की तरह नहीं। जिस शिशु-शिक्षा-विभाग में मास्टर का ही गला सुनाई पड़ता है और बच्चे चुप रहते हैं वहाँ पर मैं ऐसा समझता हूँ कि मरुभूमि पर पत्थर पड़ रहे हैं।

जो हो, मैं बहुत दिन मास्टर के हाथ में नहीं था इसीलिए मैंने जो कुछ सीखा है वह बस बोल-बोलकर। बाहर से भी मैंने बात सुनी है, किताब पढ़ी है, लेकिन वह कभी संचय करने-जैसा सुनना नहीं रहा, कंठस्थ करने-जैसा पढ़ना नहीं रहा। विशेष कुछ सीखने के लिए मैंने कभी अपने मन की धारा में कहीं कोई बाँध नहीं बाँधा। इसीसे उस धारा में जो कुछ आकर पड़ता है वह बस चलता ही रहता है और जगह बदलते-बदलते एक-दूसरे से मिल-जुलकर विचित्र आकार लेता रहता है। इस मनोधारा में जब रचना का भँवर जागता है तब कहाँ से कौन-सी बहती हुई बात किस प्रसंग से कौन-सा रूप धरकर आ जाती है यह मैं क्या जानूँ।

बहुत-से लोग शायद सोचते हों कि मैं इच्छा-मात्र से विशेष विषय को लेकर विशेष रूप से कुछ कह या लिख सकता हूँ। जो लोग पक्के वक्ता या पक्के लेखक हैं उनके लिए यह चीज सम्भव है। मेरे लिए नहीं। जिनके पास ग्वाला है उनके फ़र्माइश करने से ही किसी खास बँधी हुई गैया को ले आकर वह दुह सकता है और जिनके पास जंगल है उनके लिए जो गाय जब आ जाय उसके लिए तब तैसा काम निकल आता है। आसु मुकर्जी महाशय ने कहा, विश्वविद्यालय में भाषण देना होगा। तब तो मैंने डरते-डरते कहा, अच्छा। फिर जब उन्होंने पूछा कि विषय क्या होगा तब मैंने आँख मूँदकर कह दिया, साहित्य के सम्बन्ध में क्या कहूँगा यह पहले से जानने की शक्ति ही न थी। बस एक अंधा भरोसा था कि बोलते-बोलते विषय आकर ले लेगा। तीन दिन से बक रहा था। मैंने सुना है कि

बहुत-से अध्यापकों ने पसंद नहीं किया। विषय और विश्वविद्यालय दोनों की ही मर्यादा मैं न रख सका। उनका दोष नहीं है, जब मैं सभास्थल में आकर खड़ा हुआ तब मन में विषय नाम की कोई चीज ही न थी। विषय को लेकर ही जिन लोगों का रोज का कार-बार है, विषयहीन की अकिंचनता को झट से उन्होंने पकड़ लिया।

इस बार इटली में मिलान शहर में मुझे भाषण देना पड़ा था। अध्यापक फार्मीकी ने बार-बार पूछा, विषय क्या होगा? मैं कैसे उनको बतलाऊँ कि जो अन्तर्यामी हैं वही जानते हैं और उनसे पूछने पर जवाब नहीं मिलता। उनकी इच्छा थी कि अगर भाषण का साराश मिल जाय तो पहले ही से उसे तर्जुमा करके छाप लेंगे। मैंने कहा, सर्वनाश। विषय जब दिखाई पड़ेगा, सारांश उसके बाद ही संभव होगा। फल लगने के पहले ही उसकी गुठली कैसे मिले। भाषण के सम्बन्ध में मेरा कोई भद्र अभ्यास नहीं है, मेरा अभ्यास आवारों-जैसा है। मैं सोचकर नहीं बोल सकता, बोलते-बोलते सोचता हूँ, वैसे ही जैसे मधुमक्खी के पख उड़ते-उड़ते गुनगुन करते हैं। इसीसे तो अध्यापक होने की आशा मुझे नहीं है, अध्यापक होना तो दूर रहा छात्र होने की भी क्षमता का मुझमें अभाव है।

इसी तरह मैंने संयोग से वैरागी की तत्त्व की बात समझ ली है। जो विषयी हैं वे विश्व को अलग रखकर विशेष को सोचते हैं। जो वैरागी हैं वे रास्ते पर चलते-चलते ही विश्व के साथ मिलकर विशेष को पहचान लेते हैं। ऊपर के इस पावने को छोड़कर उनका कोई बँधा पावना नहीं होता। विश्व-प्रकृति स्वयं भी तो ऐसी ही लक्ष्यहीन वैरागी है, उसे भी जो कुछ मिलता है चलते-चलते ही मिलता है। जड़ के रास्ते पर चलते-चलते उसे एकाएक प्राण मिला, प्राण के रास्ते पर चलते-चलते उसे सहसा मनुष्य मिला। चलना बन्द करके अगर वह संग्रह करने बैठे तो सृष्टि जंजाल हो उठे। तभी प्रलय की आँधी की जरूरत पड़ती है।

विश्व में एक दिशा ऐसी है जो उसकी स्थावर वस्तुओ अर्थात् विषय-सम्पत्ति की दिशा नहीं है, जो उसके गतिशील चित्त के चिरंतन प्रकाश की दिशा है। जहाँ पर आलोक है, छाया है, सुर है, जहां पर नृत्य है, गीत है, वर्ण है, गध है, जहाँ पर आभास है, इंगित है। जहाँ पर विश्व-बाउल के इकतारे की झंकार रास्ते के मोड़ों पर बज-बज उठती है, जहाँ पर उसी वैरागी के उत्तरीय का गेरुआ रंग हवा की लहरों में खेलता हुआ उड़ता रहता है। मनुष्य के भीतर का वैरागी भी अपने काव्य में, गान में, चित्र में उसीका जवाब देते-देते रास्ते पर चलता रहता है, वैसे

हो गान की, नाच की, रूप की, रस की भंगिमा में। विषयी लोग अपने खजांची-खाने मे बैठकर जब यह सुनते हैं तो अवाक् होकर पूछते है, "विषय क्या है, इसमे मुनाफा कितना है? इसकी गवाही कौन देता है?" होठ रखने की जगह वह ढूंढता है बद मुंह वाली अपनी थैली में, चमड़े की जिल्द-बँधी अपनी बही में। अपना मन जब बैरागी नही होता तब विश्व-बैरागी का संदेश किसी काम नही आता। इसीलिए देखता हूँ कि खुले रास्ते की बाँसुरी में अनायास हवा में जो गाना वन के मर्मर और नदी के कल्लोल के साथ-साथ बजता है और जो गाना शुक्र तारे के पीछे और अरुण आलोक के पथ से चला गया उसे शहर के दरबार मे, झाड-फानूस की रोशनी मे जगह नही मिली; उस्तादों ने कहा, "यह कुछ भी नही।" प्रवीणो ने कहा, "इसका कोई मतलब नही!" कुछ नही है। इसमें क्या शक, कोई मतलब नही है यह बात भी बिलकुल खरी है, सोने की तरह कसौटी पर उसे कसा नही जा सकता। पात के पत्थर की तरह उसे पलड़े पर तोला नहीं जा सकता। लेकिन। बैरागी जानता है कि अधर रस में ही उसका रस है। कितनी बार मैं सोचता हूँ गाना तो गले मे आ गया है लेकिन सुनाने की लग्न-रचना तो मैं नही कर सकता, अनमने का कान चाहे खुला भी रहे लेकिन मन कहाँ मिलेगा। वह मन अगर अपनी गद्दी छोडकर बाहर रास्ते पर निकल सके तभी तो जो कहा नही जा सकता उसको वह सुनेगा, जो जाना नही जा सकता उसको वह समझेगा।

१४ फरवरी १९२५

हारुना मारू जहाज से उतरकर मैं पेरिस में कुछ रोज केवल भूमि-माता की परिचर्या का उपभोग कर सका था। एकाएक खबर आई कि ठीक समय पर अगर पेरू पहुँचना है तो फौरन जहाज पकड़ना चाहिए। मैं झटपट शेरबुर्ग बंदरगाह से एण्डीज जहाज मे चढ़ गया। जहाज खूब लम्बा-चौड़ा है; लेकिन मेरे शरीर की वर्तमान स्थिति में आराम करने के लिए उसे जिन सब सुविधाओं की आवश्यकता थी वह नहीं मिली। जापानी जहाज में आतिथ्य की प्रचुर उदारता ने मेरी आदत कुछ बिगाड़ दी थी। इसीलिए यहाँ पर केबिन में दाखिल होते ही मन अप्रसन्न हुआ। लेकिन जो अनिवार्य है, उसके साथ मन अपनी ही गरज से जल्द-से-जल्द समझौता कर लेना चाहता है। अत्यंत मुश्किल से पचने वाली चीज भी पेट में पड़ने पर पाक-यंत्र नाराज होकर पाचक रस का प्रयोग बद नही करता। मन का भी पाचक रस होता है, अनभ्यस्त किसी दु:ख को हजम करके वह उसे अपने

अभ्यस्त विश्व में शामिल करके निश्चिन्त होना चाहता है। असुविधाएँ जैसे-तैसे सह्य हो गईं और एक के बाद दूसरा दिन चरखे पर सूत कातने की तरह एकरस भाव से बीतने लगा।

विषुवत् रेखा पार करके आगे बढ़ आया हूँ कि तभी एकाएक तबीयत खराब हो गई, बिस्तर पकड़ना पड़ा। केबिन खुद ही एक स्थायी व्याधि है. इंद्रियाँ अगर उसके साथ मिलकर जुल्म शुरू करें तो पुलिस के आकस्मिक बंधन के विरुद्ध ऊँची अदालत तक में अपील बंद हो जाती है, कहीं कोई सान्त्वना नहीं रह जाती। शान्तिहीन दिन और निद्राहीन रातें मुझे दोहरा करके शिकंजे में कसने लगीं। विद्रोह की चेष्टा करने पर दण्ड की मात्रा और भी बढ़ती है। रोग-गारद के दारोगा ने मेरी छाती पर दुर्बलता का एक विषम बोझ रख दिया, बीच-बीच में मुझे ऐसा लगता है कि जैसे यह स्वयं यमराज के पैरों का बोझ हो। दुःख का अत्याचार जब बहुत अधिक मात्रा में बढ़ जाता है तब मैं उसे हरा नहीं पाता, लेकिन उसकी अवज्ञा करने का अधिकार तो कोई मुझसे छीन नहीं सकता—मेरे हाथ में उसका एक उपाय है, वह है कविता लिखना। उसका विषय चाहे जो हो, लिखना ही दुःख के विरुद्ध सेडीशन है। सेडीशन से प्रतापशाली का विशेष अनिष्ट नहीं होता, हाँ पीड़ित के चित्त के आत्म-सम्भ्रम की रक्षा होती है।

मैं उसी काम में लग गया, बिस्तर पर पड़े-पड़े कविता लिखने लगा। रोग क्या था यह मैं ठीक-ठीक निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता, केवल इतना जानता हूँ कि वह एक अनिर्वचनीय पीड़ा थी। वह पीड़ा केवल मेरे अंग-प्रत्यंग में न थी, केबिन की सब चीजों में माल-असबाब में सब जगह दौड़ रही थी—कि जैसे मैं और मेरा केबिन सब मिलकर एक अखण्ड रुग्णता हों।

ऐसे कष्ट के समय में स्वभावतः देश के लिए व्याकुलता पैदा होती है। केबिन के पेट में दिन-रात जीर्ण होते-होते मेरा मन भी भारतवर्ष के आकाश के लिए आकुल हो उठा, लेकिन जिस तरह अन्धा उत्ताप मात्रा में बढ़ते-बढ़ते क्रमशः आलोक का रूप ले लेता है। वैसे ही दुःख की मात्रा-भेद में प्रकाश बन जाता है। जो दुःख पहले कारागार के समान विश्व से पृथक् करके मन को केवल अपनी पीड़ा के भीतर बाँध देता है, उसी दुःख का वेग बढ़ते-बढ़ते अततः अवरोध टूट जाता है और विश्व के दुःख-समुद्र के ज्वार को भीतर जाने के लिए रास्ता छोड़ देता है। तब अपना क्षणिक छोटा-सा दुःख मनुष्य के चिरंतन बड़े दुःख के सामने स्तब्ध खड़ा रह जाता है, उसकी छटपटाहट चली जाती है। तब दुःख का दण्ड

एक दीप्त आनंद की मशाल बनकर जल उठता है। प्रलय के भय की जब उपेक्षा की जाती है तभी दुःख की वीणा का सुर ठीक से बँधता है। शुरु में वह सुर बाँधने का समय ही बड़ा कर्कश होता है, क्योंकि तब तक द्वन्द्व मिटा नहीं रहता। इस अभिज्ञता की सहायता से मैं युद्ध-क्षेत्र के सैनिक की स्थिति की कल्पना कर सकता हूँ। लगता है कि पहली स्थिति में जब तक भय और भरोसे के बीच खींच-तान चलती रहती है तब तक बड़ा कष्ट होता है। जब तक हम भीषण को एक-मात्र जानकर नही देखते, जब तक उसे लाँघकर जीवन का चिर-परिचित क्षेत्र दिखाई पड़ता है, तब तक उसी द्वन्द्व के खिचाव से भय किसी तरह पल्ला नही छोड़ना चाहता। आखिरकार गर्मी की तीव्रता बढ़ते-बढ़ते जब रुद्र अद्वितीय होकर दिखाई पड़ते हैं, तब प्रलय का गर्जन संगीत बन जाता है, तब उसके साथ बिना कुछ सोचे-विचारे सम्पूर्ण भाव से योग देने का प्रबल आग्रह मनुष्य को दुस्साहसी बना देता है, तब हम मृत्यु को सत्य जानकर ग्रहण करते हैं, तब हम उसका एक पूर्णात्मक रूप देख पाते है इसीलिए उसकी शून्यात्मकता का भय दूर हो जाता है।

कई दिन तक बंद कोठरी में सकीर्ण शय्या पर पड़े-पड़े मैंने खूब पास से मृत्यु को देखा, ऐसा लगता था कि प्राण को ढोने की शक्ति मुझमें अब चुक गई है। इस स्थिति मे पहली इच्छा का धक्का यह था कि अपने देश के आकाश में प्राण छोड़ूँ। धीरे-धीरे उस इच्छा का बंधन शिथिल होने लगा। तब मृत्यु के पहले ही घर से बाहर ले जाने की जो प्रथा हमारे देश मे है, उसका अर्थ मन मे जाग उठा। घर के भीतर की सब अभ्यस्त चीजें प्राण का बंधन-जाल होती है। वे सब मिलकर तीव्र भाव से मृत्यु का प्रतिवाद करती हैं। जीवन के अंतिम क्षण में अगर मन में इस द्वन्द्व का कोलाहल जाग उठे तो उसीसे सब-कुछ बेसुरा कर्कश हो जाता है, हम मृत्यु का सम्पूर्ण संगीत नही सुन पाते, मृत्यु को सत्य कहकर स्वीकार कर लेने का आनन्द चला जाता है।

बहुत दिन हुए मैं जब पहली बार काशी गया था तब मृत्यु-काल का जो एक मनोहर दृश्य मैंने देखा था वह मैं कभी न भूल सकूँगा। ठीक याद नही, शायद तब शरद ऋतु थी, आकाश निर्मल था, प्रभात-सूर्य ने अपने आलोक से जीवधात्री वसुन्धरा का अभिषेक कर दिया था। इधर बस्ती की बहुरंगी चंचलता, उस पार नदी किनारे की दूर-दूर तक फैली हुई निस्तब्धता, बीच मे जलधारा सारी चीजों को देवताओं का पारस छुला दिया गया था। मैंने देखा कि नदी के ठीक बीचोबीच एक छोटी-सी डोंगी पानी के तेज बहाव में भागी जा रही है। आकाश की ओर

मुँह किये मरणासन्न व्यक्ति चुपचाप लेटा हुआ है, उसके सिर के पास ही करताल बजाकर ऊँचे स्वर मे कीर्तन चल रहा है। समस्त विश्व के वक्ष में मृत्यु का जो परम आह्वान है मेरे लेखे उसीके गम्भीर स्वर से आकाश भर उठा। जहाँ उसका आसन था वहाँ उसका शांत रूप देख पाने से स्पष्ट पता चलता था कि मृत्यु कितनी सुन्दर है। घर मे सभी उच्च स्वर से उसे अस्वीकार करते है, इसीलिए वहाँ की खाट-पलंग, सदूक, चौकी, दीवार, कड़ी, साँकल, वहाँ की रोज-रोज की भूख-प्यास, काम और आराम की सब छोटी-मोटी माँगों से मुखर चचल घर-गृहस्थी की व्यस्तता के बीच सारी भीड़ को ठेलकर, सब आपत्तियों का अतिक्रमण करके मृत्यु जब चिरंतन लिपि हाथ मे लिये प्रवेश करती है तब मन को ऐसा लगता है कि जैसे वह डाका डालने आई है; तब मनुष्य को उसके हाथ मे आत्म-समर्पण करने का आनंद नही मिलता। मृत्यु-बंधनो को काट देगी, यही सबसे कुत्सित जान पड़ता है, स्वय अपने बधनो को अलग करके पूरे विश्वास के साथ उसका हाथ पकड़ लूँगा यही असल मे सुन्दर है।

हिन्दू विश्वास करता है कि काशी धरती से परे कोई स्थान है। उसके निकट काशी की भौगोलिक सीमा एक माया है, वस्तुत: वहाँ पर सारे विश्व का परिचय मिलता है, वहाँ पर विश्वेश्वर का आसन है। अतएव विशेप देशवासियों के निकट विशेप देश का जो आकर्पण-वेग उनके प्राण को विशेप सूत्रो से वहाँ की मिट्टी, पानी, आकाश के साथ बाँधता है, काशी में जैसे पृथ्वी का वह विशेप देशगत बन्धन भी नही है। अतः सच्चे हिन्दू के कान मे मृत्यु की मुक्ति-वाणी काशी में विशुद्ध स्वर में प्रवेश करती है।

वर्तमान युग में नेशनल भौतिकता ने विश्व-व्यापी होकर स्वदेशगत अहमिका को तीव्र रूप से प्रबल कर दिया है। मेरा दृढ विश्वास है कि यह संघ-आश्रित अति भीमकाय शत्रु ही वर्तमान युग के सब दु:खों और बंधनों का कारण है। इसीसे उस रोज विस्तर पर लेटे-लेटे मेरे मन मे आया कि मैं भी जैसे मुक्ति के तीर्थ-क्षेत्र में मर सकता हूँ,—ताकि अंतिम क्षणों मे कह सकूँ कि सारा देश ही मेरा एक देश है, सर्वत्र एक ही विश्वेश्वर का मंदिर है, सब देशों के बीच होकर एक ही मानव-प्राण की पवित्र गंगा-धारा एक महासमुद्र की ओर निरंतर बढ़ रही है।

८ दिसम्बर १९२४ को पेरू के स्वतंत्रता-शताब्दी-
समारोह में रवीन्द्रनाथ को आमंत्रित किया गया था। ये

पत्र तभी दक्षिण अमेरिका की यात्रा के समय जहाज पर से लिखे गए थे। पूरवी की कुछ कविताएँ भी इसी काल की है। नवम्बर १६२४ से जून १६२५ तक (अग्रहायण १३३१ से ज्येष्ठ १३३२ तक) 'प्रवासी' में इनका धारावाहिक प्रकाशन हुआ। पुस्तक रूप में इनका प्रकाशन 'यात्री' नाम से सन् १६२६ में हुआ।

जावा यात्री के पत्र

: ३ :

(श्रीमती निर्मलाकुमारी महलानवीस को लिखित)

जंगली हाथी मूर्तिमान उपद्रव होता है, वज्र-जैसी चिंघाड़ वाले तूफान के बादलों की तरह। इतना-सा आदमी, जो हाथी के एक पैर की बराबरी भी नहीं कर सकता, उसे देखकर खामख्वाह बोल उठा, मैं इसकी पीठ पर चढ़कर घूमूँगा। इस विराट् दुर्दाम प्राणपिण्ड को गाँ-गाँ करते हुए सूंड उठाए आते देखकर भी ऐसी असंभव-सी बात कोई क्षीणकाय आदमी कभी सोच भी सकता है, इसीका आश्चर्य है। और फिर 'पीठ' पर चढ़ूँगा कहने से लेकर पीठ पर चढ़ बैठने तक का जो इतिहास है वह भी बड़ा अद्भुत है। बहुत दिनों तक उस असंभव का जो चेहरा संभव के पास भी नहीं आया—परम्पराक्रम में कितनी विफलता, कितने अपघातों ने मनुष्य के संकल्प का मजाक उड़ाया है, जिनकी कोई गिनती नहीं, उनकी गिनती करके ही आदमी कह सकता था, यह होने वाली बात नहीं, लेकिन उसने ऐसा नहीं कहा। आखिरकार एक दिन वह हाथी-जैसे जानवर की पीठ पर चढ़कर फसल वाले खेतों के किनारे, बस्तियों और घाटों पर घूमता फिरा। यह बड़ा भयंकर अध्यवसाय था, इसलिए गणेश के गज-वंदन में मनुष्य की सिद्धि की मूर्ति है। इस सिद्धि के दोनों ओर दो जन्तुओं के चेहरे हैं, रहस्य-सधानकारी सूक्ष्म-घ्राण, तीक्ष्ण-दृष्टि, खनदन्त, चञ्चल-कौतूहल, वह चूहा है, वही वाहन है और दूसरी ओर बंधन के वशीभूत-वन्य-शक्ति जो दुर्गम रास्तों पर से बाधा को हटाती हुई चलती है, वहीं हुआ यान-सिद्धि के यान-वाहन के बल पर मनुष्य आगे ही बढ़ता रहा है। उसकी लेबोरेटरी में था चूहा और उसके एरोप्लेन के मोटर में है हाथी। चूहा चुप्प-चुप्प छिपी चीज का पता-ठिकाना बतला देता है, लेकिन उस हाथी को बस में करने में आदमी को बड़ी तकलीफ़ का सामना करना होता

है। वह तो, आदमी तकलीफ़ को देखकर हार नहीं मानता इसीसे आज उसने नक्षत्र-लोक की यात्रा आरम्भ की है। कालिदास ने राघवों की कथा में कहा था कि वे 'आनाक-रथ-वर्त्मनाम्' थे—यानी स्वर्ग-पर्यन्त उनके रथ का रास्ता था। कवि ने जब यह बात कही थी तब मिट्टी के आदमी के मन में यह चिन्ता थी कि जब तक आदमी आकाश में न चले तब तक उसकी सार्थकता नहीं है। उसी चिन्ता ने आज रूप लेकर अन्तरिक्ष की ओर अपने डैने खोल दिए हैं। लेकिन रूप जो उसने धरा वह भीषण मृत्युंजय तपस्या के बल पर। मनुष्य की विज्ञान-बुद्धि पता लगाना जानती है, लेकिन यह काफ़ी नहीं है, मनुष्य की कीर्ति-बुद्धि साहस करना जानती है, इन दोनों का जब योग होता है तब साधकों की तप-सिद्धि के रास्ते में जगह-जगह इन्द्रदेव जो सब बाधाएँ रख देते हैं वह धूलिसात् हो जाते हैं।

किनारे पर खड़े होकर आदमी ने अपने सामने समुद्र देखा। इतनी बड़ी बाधा की कल्पना ही नहीं की जा सकती। आँखों से उसका दूर किनारा नहीं दिखाई पड़ता। गोता लगाने से भी थाह नहीं मिलती। यम के भैंसे की तरह एक काला, दिगत-प्रसारित विराट् निषेध बस अपनी लहरों की तर्जनी उठाये रहता है। चिर-विद्रोही मनुष्य ने कहा, "मैं निषेध न मानूंगा।" वज्र गर्जन में जवाब आया "न मानोगे तो मरोगे।" मनुष्य ने अपना अंगूठा दिखाकर कहा, "मरना ही है तो मरूँगा !" यह हुई जन्म-जात विद्रोहियों के योग्य बात। ये विद्रोही ही सदा से जीतते आ रहे हैं। एकदम शुरू से ही मनुष्य ने प्रकृति के शासन-तंत्र के विरुद्ध अनेक प्रकार से विद्रोह की घोषणा कर दी। आज तक वही चल रहा है। मनुष्यों में जो जितना ही सच्चा विद्रोही होता है, जो बाह्य शासन की सीमाओं के घेरे को जितना ही नहीं मानता, उसका अधिकार उतना ही बढ़ता जाता है।

जिस दिन साढ़े तीन हाथ के आदमी ने ढिठाई से कहा, "मैं इस समुद्र की पीठ पर चढूंगा," उस दिन देवता लोग हँसे नहीं, वे इस विद्रोही के कान में जय-मंत्र फूंककर प्रतीक्षा करते रहे। समुद्र की पीठ पर आदमी आज चढ़ा हुआ है,समुद्र के तल को भी उसने अपने वश में करना शुरू कर दिया है। साधना के मार्ग में भय बार-बार व्यंग कर उठता है, विद्रोही के हृदय में अक्षय साधक अविचलित बैठा हुआ पहरुए की तरह आवाज़ लगाता रहता है, "डरो मत—मा भैः।"

कल की चिट्ठी में मैंने क्रन्दती पृथ्वी की बात कही थी। सत्ता का क्रन्दन ग्रहो-नक्षत्रों में अन्तरिक्ष में उद्घ्वनित हो रहा है। वह सत्ता विद्रोही है, असीम-अव्यक्त के साथ उसकी लड़ाई बराबर चलती रहती है। विराट् अंधकार के अन्-

हीन सागर पर उसने छोटे-छोटे करोड़ों दीये तैरा दिये हैं—देश-काल के हृदय को चीरकर उसका अतल-स्पर्शी अभियान चलता है। कुछ डूबता है, कुछ तैरता है; लेकिन तो भी यात्रा का अंत नहीं होता।

प्राण अपने विद्रोह की ध्वजा लिये हुए किसी दिन पृथ्वी पर बड़े दुर्बल रूप में दिखाई पड़ा था। अति प्रकाण्ड, अति कठिन, अति गुरुभार अप्राण चारों ओर अपनी गदा उठाए खड़ा था और अपनी मिट्टी की कारा में दरवाजे-खिड़कियाँ सब बंद करके उसने आदमी को अपने कठोर शासन में रखना चाहा था, लेकिन विद्रोही प्राण किसी तरह दबाया न जा सका। दीवार-भर में जहाँ-तहाँ कितनी दरारें उसने नहीं फोड़ी, बस हर तरफ़ से रोशनी का रास्ता ही वह खोलता रहा है।

ऐसा और कोई जीव नहीं है जो सत्ता के इस विद्रोह-मंत्र की साधना में मनुष्य के बराबर आगे बढ़ा हो। मनुष्यों में जिसकी विद्रोह-शक्ति जितनी ही प्रबल, जितनी ही दुर्दमनीय होती है, उतना ही वह युग-युगांतर में इतिहास पर अधिकार करता है, केवल सत्ता की व्याप्ति के द्वारा नहीं, सत्ता के ऐश्वर्य के द्वारा।

यह विद्रोह की साधना दुःख की साधना है, दुःख ही हाथी है, दुःख ही समुद्र है। पराक्रम के दर्प से जो इनकी पीठ पर चढ़ा वही बचा, जो भय से अभिभूत होकर इनके नीचे आ पड़े वह मर गए। और जो इनके कावा काटकर सस्ता फल पाना चाहते हैं वे नकली फल के धोखे में पड़कर उसके बोझ के नीचे सिर झुकाये फिरते रहते हैं। हमारे आस-पास इस जाति के बहुत-से मनुष्य दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने वीरता की हाँक लगाना सीखा है लेकिन जहाँ तक संभव हो निरापद रहकर ही। जब मार पड़ती है तब घिघियाकर कहते है, बहुत लग रहा है। यह लोग पौरुष की परीक्षाशाला में बैठकर विलायती किताबोंसे उनके नारे चुराते हैं लेकिन कागज की परीक्षा के बाद जब हाथ की परीक्षा का समय आता है तब प्रतिपक्षी की अनुदारता का रोना रोकर कहते हैं, "उनका ढंग ठीक नहीं है, वे रोड़े अटकाते हैं।"

नारायण ने मनुष्य को अपना सखा कहकर तभी सम्मानित किया जब उसे अपना उग्र रूप दिखा चुके, जब उन्होंने उससे कहलवा लिया : 'दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथित महात्मन्'—जब मनुष्य मन-प्राण से यह स्तवन कर सका है :

अनंत वीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।

तुम्हीं अनंत-वीर्य हो, तुम्हीं अमित-विक्रम हो, तुम्हीं समस्त को ग्रहण करते हो, तुम्ही समस्त हो ।

३ श्रावण १९३४

: २० :

यहाँ के जिस सरकारी जहाज से सिंगापुर जाने की बात है उसमें बड़ी भीड़ है। इसीसे मैंने और सुरेन्द्र ने एक छोटे जहाज में जगह ले ली है। कल शुक्रवार सवेरे हम लोग रवाना हुए। सुनीति और धीरेन्द्र एक दिन के लिए पीछे रह गए, क्योंकि कल रात को भारतीय सभ्यता के बारे में सुनीति के एक भाषण की व्यवस्था थी। जावा की पंडित-मंडली में सुनीति को काफी प्रतिष्ठा मिली है। इसका कारण यह है कि उनके पांडित्य में कोई धोखा नहीं है, जो कुछ कहते हैं उसे अच्छी तरह जानते है।

हम लोगों का जहाज दो द्वीपों का चक्कर लगाकर जायगा इसीलिए दो दिन के रास्ते में तीन दिन लगेंगे। यहाँ पर विश्वकर्मा के मिट्टी के बँग को फोड़कर बहुत-से छोटे-छोटे द्वीप समुद्र में छिटके पड़े है। यह सब डच लोगों के कब्जे में हैं। अभी जहाज ने जिस द्वीप पर लंगर डाला है उसका नाम बिलिटन है। आदमी ज्यादा नहीं हैं, टीन की खानें हैं और हैं उन्हीं सब खानों के मैनेजर और मजदूर। मैं चकित होकर बैठा-बैठा सोच रहा हूँ कि यह लोग सारी पृथ्वी को कैसे दुहे ले रहे हैं। कभी ये लोग झुण्ड-के-झुण्ड पाल वाले जहाज में चढ़कर अनजान समुद्र में निकल पड़े थे। घूम-घूमकर उन्होंने पृथ्वी को देख लिया, पहचान लिया, नाप लिया। यह जान लेने का लम्बा इतिहास कितना भयानक और संकटों में घिरा हुआ है। मन-ही-मन मैं सोच रहा हूँ कि जिस दिन उन लोगों ने अपने देश से बहुत दूर समुद्र के इन सब द्वीपों में पहली बार अपने पाल उतारे, वह कैसी-कैसी आशंकाओं और आशाओं से भरा हुआ दिन रहा होगा: पेड़-पालो, जीव-जन्तु, नर-नारी उस दिन सब-के-सब नये थे। और आज! सब-कुछ पूरी तरह से जाना हुआ अधिकार किया हुआ है।

इन लोगों के सामने हमें हार माननी पड़ी है। क्यों, यही सोच रहा हूँ। इसका

प्रधान कारण यह है कि हम लोग स्थितिवान् जाति है और वे लोग गतिवान् जाति है। हम लोग समाज के बन्धनों में बँधे हुए हैं, वे लोग व्यक्तिगत स्वाधीनता के कारण वेगवान् हैं। इसीलिए वे लोग इतनी आसानी से घूम सके। घूमे इसीलिए जान सके और पा सके। इसी कारण से जानने और पाने की आकांक्षा उनमें इतनी प्रबल है। स्थिर होकर बैठे-बैठे हमारी वह आकाक्षा ही क्षीण हो गई है। घर के पास ही क्या हो रहा है हम ठीक से नही जानते और न जानने की इच्छा ही है, क्योंकि हम घर से बुरी तरह घिरे हुए हैं। जिनमें जानने का जोर नही होता उनमे पृथ्वी पर जीवित रहने का जोर भी कम होता है। इन डचों ने जिस शक्ति से जावा द्वीप को हर तरह से अपने अधिकार मे कर लिया है उसी शक्ति से जावा द्वीप के पुरातत्त्व को अपने वश में करने के लिए उनके इतने पडित इतने एकाग्र मन से तपस्या कर रहे हैं, लेकिन यह भी सही है कि इस अनजान नये द्वीप के समान ही पुरातत्त्व से भी उनका कोई संबंध नही है। हम लोग निकट-सम्पर्कीय ज्ञान के विषय मे भी उदासीन रहते है और दूर-सम्पर्कीय ज्ञान के बारे में भी इनके आग्रह का अंत नही है। केवल बाहुबल से नही, इस जिज्ञासा की प्रबलता से भी यह लोग संसार को भीतर-बाहर जीते ले रहे हैं। हम लोग एकांत भाव से गृहस्थ हैं। इसका मतलब है कि हममे से एक-एक अपनी गृहस्थी का अंश-मात्र है, दायित्व के हजार बंधनों से बँधा हुआ। जीविका के दायित्व के साथ अनुष्ठानों का दायित्व भी जुड़ा हुआ है। लोकाचार का निरर्थक बोझ इतना असह्य और इतना ज्यादा है कि दूसरे सब यथार्थ कर्म उसके बोझ के नीचे अचल-से हो जाते है। जन्म-संस्कार से लेकर श्राद्ध तक जितने सब कृत्य इहलोक और परलोक को समेटकर हमारे कंधे पर चढ़े बैठे हैं उनके मारे हिलना-डुलना असंभव है और वे सब हमारी शक्ति को बस चूमे जा रहे है। ये सब घर के लड़के दूसरे के हाथ मार खाने को बाध्य हैं। इस बात को हम भीतर-ही-भीतर समझ पा रहे है। इसीलिए हमारे नेताओ ने संन्यास पर इतना ज्यादा जोर दिया है। लेकिन उन्होंने सनातन-धर्म को भी ध्रुव सत्य के रूप में घोषित किया है। पर हमारा सनातन-धर्म गार्हस्थ्य पर आधारित है: 'सस्त्रीकं धर्ममाचरे'। हमारे देश में स्त्री के विना धर्म का कोई मतलब नही होता।

जो लोग सनातन-धर्म की दुहाई नहीं देते वे कहते हैं, इसमें बुराई क्या है? लेकिन बहुत युगों की समाज-व्यवस्था की पुरानी भित्ति को तोड़ना अगर सहज भी हो तो उसकी जगह पर नई भित्ति कितने दिनों में गढ़ी जायगी। कर्त्तव्य-

अकर्तव्य के संबध में प्रत्येक समाज ने कुछ नीतियों को अपना संस्कार बना लिया है—तर्क करके, विचार करके, थोड़े-से लोग सीधे रास्ते पर रह सकते हैं—संस्कार के जोर से ही वे समार में चलते हैं। एक संस्कार की जगह दूसरा संस्कार गढ़ना आसान बात तो नही है। हमारे समाज के सभी संस्कार हमारे अनेक दायित्वों से ग्रथित गार्हस्थ्य को दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित रखने के लिए है। यूरोप वालों से विज्ञान सीखना आसान है लेकिन उनके समाज के संस्कार को अपनाना आसान नहीं।

हमारे जहाज मे टीन की खान के एक मालिक थे। उन्होंने कहा, सोलह बरस से वह इसीमे लगे हुए है। टीन के अलावा यहाँ और कुछ नही है तो भी वह यहीं रहते हैं। बटेविया मे सिंधी बनियों ने दुकानें खोल रखी हैं। दो साल पर घर जाने का नियम है। मैंने पूछा, बाल-बच्चों को लेकर यहाँ रहने मे क्या बुराई है? उन्होंने कहा, स्त्री को यहाँ ले आने से कैसे चलेगा, स्त्री सारे परिवार के संग बँधी होती है न, उसको यहाँ हटाकर ले आने से वहाँ परिवार टूट जायगा। मैं सोचता हूँ कि रामायण के युग मे यह तर्क नही उठता था। टीन के मालिक ने अपना बचपन आश्रम वाले विद्यालय मे काटा, बड़े होते ही काम की खोज में घूमे-फिरे और विवाह करते ही अपनी शक्ति पर पूरी तरह भरोसा करके बैठे हैं। बाप की कमाई से उन्हें कुछ लेना-देना नही, माँ, मौसी, फूफा इनकी भी कोई चिन्ता नहीं। इसी-लिए इस सूने काले पानी में भी उनकी टीन की खान चल रही है। ये लोग सारी दुनिया मे अपना घर बना सके इसका कारण यही है कि इनका कोई घर नहीं। और फिर ये लोग जो रात-की-रात मंगल ग्रह की ओर दूरबीन लगाये रात गुजार देते हैं उसका भी कारण यही है कि इनकी जिज्ञासा-वृत्ति भी कहीं घर बनाकर नही बैठती। सनातन गृहस्थ लोग कैसे इनका मुकाबला कर सकेंगे। उनके प्रचण्ड गतिवेग के सामने इनके घरों की खूँटियाँ टूट-टूटकर गिरती जा रही हैं, किसी तरह ये लोग उन्हें रोक नही पा रहे है। जितनी देर निष्क्रिय हूँ उतनी देर में न जाने कैसे-कैसे निरर्थक बोझे जम-जमकर पहाड़-जैसे हो जाते हैं लेकिन तो भी वैसा कोई कष्ट नही होता। यहाँ तक कि उससे उठँग जाने में आराम मिलता है, लेकिन कधों पर उठाकर चलते ही रीढ की हड्डी ऐंठ जाती है। जो सचल जातियाँ हैं, बोझ के संबंध मे उन्हें सूक्ष्म विचार करना पड़ता है। कौन-सी चीज रखने की है, कौन-सी चीज फेंकने की, हर क्षण उन्हें इस तर्क का सामना करना पड़ता है; इसीसे कूड़ा-करकट दूर करने की बुद्धि पक्की होती है। लेकिन सनातन गृहस्थ चण्डी-मण्डप में आसन मारकर बैठे हुए है। इसीसे उनकी पंजिका में से तीन सौ

पैंसठ दिन की मूढ़ता आज तक तनिक भी अलग न हो सकी। यह सब रबिश जिनके भीतर-बाहर बुरी तरह भरा हुआ है, उनके लिए कांग्रेस के मंच पर से एकाएक फर्मान आया कि उन्हें कम बोझ वाले आदमियों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलना होगा, क्योंकि दो-चार दिनों में ही स्वराज्य चाहिए। जवाब देने की भापा उनके मुँह में नहीं है लेकिन उनके पसली टूटे हुए दिल की व्यथा से एक मूक विनती उठती है, "अच्छा तो चलने की कोशिश करेंगे लेकिन मालिक हमारा बोझा उतार दे।" तब कर्ता-धर्ता लोग सिहरकर कहते हैं, "सर्वनाश, यह तो सनातन बोल रहा है।"

मायर जहाज
१ अक्तूबर १९२७

सन् १९२७ में रवीन्द्रनाथ ने मलय प्रायद्वीप और हिन्देशिया की सैर की थी। ये पत्र अक्तूबर १९२७ से अप्रैल १९२८ तक (आश्विन-चैत्र १३३४) 'विचित्रा' मासिक में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए थे। 'यात्री' नामक पुस्तक में सम्मिलित रूप से सन् १९२९ में प्रकाशित।

ईरान में

आज एक बद्दू सरदार के खेमे में मेरा निमंत्रण है। मैंने पहले सोचा कि न जा पाऊँगा, शरीर पर दया करके न जाना ही ठीक है। फिर ख़याल आया कि मैंने एक बार बड़े जोश में आकर लिखा था,"इहार चेये हतेम यदि आरब बेदुइन" तब मेरी उम्र तीस के आस-पास थी, वह तीस आज पीछे दिगंत में प्रायः खो गया है। वह खैर जो हो, कविता की थोड़ी-बहुत परख न कर पाने से मन में दुःख रहेगा। सवेरे निकल पड़ा। रास्ते में एकाएक वे लोग मुझे ट्रेनिंग स्कूल के लड़कों में ले गए और वहाँ मुझे कुछ बोलना भी पड़ा। रास्ता चलते हुए न जाने कितनी बातें बनानी पड़ती हैं, वह पका हुआ फल नहीं झरा हुआ पत्ता होता है, सिर्फ़ रास्ते की धूल की भूख मिटाने के लिए।

उसके बाद गाड़ी रेगिस्तान के बीच होकर चली। बालू का रेगिस्तान नहीं, सख्त मिट्टी। बीच-बीच में नाला काटकर नदी से पानी ले आया गया है, इसीसे यहाँ-वहाँ कुछ-कुछ फसल का आभास दिखाई पड़ता है। रास्ते में मैंने देखा कि निमंत्रणकर्ता दूसरी एक मोटर में चल रहे हैं, उनको भी हमारी गाड़ी में बैठा लिया गया। मजबूत काठी का आदमी, पैनी आँखें, बद्दू पोशाक।

यानी सिर पर सफ़ेद कपड़ा और उसको घेरकर काली बिड़ई। अंदर सफ़ेद लंबा अँगरखा। उसके ऊपर पतला चोगा। मेरे साथियों ने कहा कि गो यह कहना ठीक होगा कि इन्होंने पढ़ा-लिखा नहीं है, लेकिन इनकी अकल तेज है। वे यहाँ की पार्लियामेण्ट के मेम्बर हैं।

तपते हुए सूरज के नीचे मिट्टी धू-धू कर रही है, दूर पर कहीं-कहीं मरीचिका भी दिखाई पड़ी। कहीं कोई गड़रिया अपनी भेड़ों का झुण्ड लिये चला जा रहा है, कहीं ऊँट चर रहा है और कहीं घोड़ा। हू-हू करती हुई हवा चल रही है, बीच-बीच में धूल के बवण्डर उठ रहे हैं। बहुत दूर चलकर हम लोग उनके कैम्प में

पहुँचे। एक बड़े खुले हुए तम्बू मे गिरोह के लोग बैठ गए है, कॉफ़ी पक रही है और ढाल-ढालकर पी जा रही है।

हम लोग एक बड़े-से मिट्टी के कमरे में जाकर बैठ गए। खूब ठण्डा था। बीच मे कारपेट बिछी थी, एक किनारे तख्तपोश पर गद्दी पड़ी थी। कमरे के बीचोंबीच लकड़ी का खम्भा था, उस पर लम्बी-लम्बी खूंटियों के सहारे मिट्टी की छत पड़ी थी। बन्धु-बान्धव सब इधर-उधर बैठे थे, एक आदमी काँच की एक बड़ी गुड़गुड़ी पी रहा था। मेरे हाथ मे छोटा-सा एक प्याला देकर उसमे थोड़ी-सी कॉफ़ी ढाली गई, कडी कॉफी, काली कड़वी। सरदार ने मुझसे पूछा कि मेरी कुछ खाने की इच्छा है या नही। 'नही' कहने पर खाना लाने की रीति नही है। मैंने खाने की इच्छा व्यक्त की, मेरे भीतर का भी यही तकाजा था। खाना आने के पहले थोड़ी-सी सगीत-भूमिका शुरू हुई। काठ के कई टुकड़ो पर किसी तरह चमड़ा जड़कर बनाया हुआ एक टेढ़ा-बाँका इकतारा बजाकर एक आदमी ने गाना शुरू किया। उसमे बद्दुओं का तेज जरा भी न था। बड़े महीन और तेज गले से बिलकुल रोने के सुर का गाना था। उसको किसी बड़ी जाति के पतगे की रागिनी कहना ठीक होगा। गाना खत्म होने पर चिलमची और पानी का बर्तन सामने आया। मैं साबुन से हाथ धोकर तैयार हो गया। मेज के ऊपर जाजिम बिछा दी गई। पूरे चाँद के डबल साइज की मोटी-मोटी रोटी, हत्थे वाले बड़े-से पीतल के थाल मे भात का पहाड़ और उसके ऊपर एक भुना हुआ मेढ़ा। दो-तीन जवानो ने इसे लाकर मेज पर रखा। पहले की उस महीन-करुण रागिनी के साथ इस भोज की आकृति-प्रकृति का कोई मेल नही बैठता था। खाने वाले सब थाल को घेरकर बैठ गए। सब उसी एक थाल से मुट्ठी-मुट्ठी भात निकालकर अपनी-अपनी प्लेट में रखकर और गोश्त तोड़-तोडकर खाने लगे। पेय के रूप में एक घोल दिया गया। गृहपति ने कहा, "हमारा नियम है कि मेहमान जब तक खाता रहता है हम बिना खाये खड़े रहते हैं, लेकिन आज समय की कमी के कारण यह नियम न चल सकेगा।" इसीसे थोड़ी दूर पर और भी एक बड़ा थाल रखा गया था। उसके इर्द-गिर्द उनके स्वजन लोग बैठ गए। जिन अतिथियो का सम्मान थोड़ा कम था, हमारे थाल का बचा-खुचा उनके भाग्य मे पड़ा। अब नाच की फ़र्माइश हुई। एक आदमी ने एकरस सुर में बाँसुरी बजानी शुरू की और यह लोग कूद-कूदकर ताल देने लगे। इसको नाच कहना ज्यादती होगी। जो प्रधान व्यक्ति था वह हाथ में एक रूमाल लेकर उसीको घुमा-घुमाकर आगे-आगे नाचने लगा, उसीकी भंगिमा

में थोड़ा-बहुत वैचित्र्य था। इसी बीच मेरी बहू उन लोगों के अंतःपुर में गई। वहाँ पर लड़कियों ने उसको नाच दिखलाया। उसने कहा कि हाँ, वह अलबत्ता नाच था—समझ में आया कि यूरोपीय नर्तकियाँ प्राच्य नृत्य के ढंग में इन लोगों का अनुकरण करती हैं, लेकिन पूरा-पूरा रस नहीं दे पाती।

इसके बाद बाहर आकर युद्ध का नाच देखा। लाठी, छुरी, बंदूक, तलवार लेकर कूदते-फाँदते, चीखते-चिल्लाते, गोल-गोल घूमते-घूमते उन पर पागलपन सवार हो जाता है—उधर अंतःपुर के दरवाजे से लड़कियाँ उनका उत्साह बढ़ाती रहती हैं। शाम के चार बज गए, हम लोग लौटने के लिए गाड़ी में बैठे और हमारे साथ निमन्त्रणकर्ता चले।

ये लोग रेगिस्तान की संतान हैं, इनकी जाति कठोर है, जीवन-मृत्यु का द्वन्द्व इनका नित्य का व्यवहार है। यह लोग किसी से प्रश्रय की आशा नहीं रखते; क्योंकि पृथ्वी ने इन्हें प्रश्रय नहीं दिया। जीव-विज्ञान में कहते हैं कि प्रकृति छँटाई करती है, जीवन की समस्या को कठोर बनाकर इनके बीच सच्चे अर्थों में कड़ी छँटाई हुई है, जो कमजोर थे वह पीछे छूट गए और जो टिक गए वही यह जाति है। मृत्यु ने इन्हें ठोक-बजाकर देख लिया है। इनका जो एक-एक कबीला है उसमें सब लोग एक-दूसरे से खूब जुड़े हुए हैं। इनकी मातृभूमि की गोद छोटी है, नित्य विपत्तियों से घिरे हुए जीवन से इन्हें जो कुछ थोड़ा-बहुत मिलता है उसे ये सब लोग मिलकर बाँटकर भोगते है। एक बड़े थाल में इन लोगों का खाना होता है। उसमें शौकीन रुचि के लिए स्थान नहीं है। उन्होंने एक-दूसरे की मोटी रोटी के टुकड़े कर लिए हैं। एक-दूसरे के लिए जान देने की प्रतिश्रुति यही एक रोटी तोड़ने में मिलती है। मैं नदी की बाँह से घिरे हुए बंगाल की संतान हूँ, इनके बीच बैठा हुआ खा रहा था और सोच रहा था कि एकदम दोनों बिलकुल अलग साँचे के ढले हुए आदमी हैं तो भी मनुष्यता की ओर भी गहरी वाणी की जो भाषा है उस भाषा में हम सब लोगों का मन स्वर-में-स्वर मिलाता है। इसीसे जब इसमें अशिक्षित सरदार ने कहा, "हमारे रसूल ने कहा है कि जिसकी बात और जिसके अमल से आदमी को किसी तरह का खतरा नहीं होता वही सच्चा मुसलमान है।" तब उस बात से मन चौंक उठा। उन्होंने कहा, हिन्दुस्तान में हिन्दुओं और मुसलमानों का जो विरोध चल रहा है, इस पाप की जड़ वहाँ के शिक्षित लोगों के मन में है। कुछ रोज पहले हिन्दुस्तान से कुछ शिक्षित मुसलमानों ने यहाँ आकर इस्लाम के नाम पर हिंस्र भेद-बुद्धि फैलाने की चेष्टा की थी। उन्होंने कहा, मैंने उनकी बात की

सचाई पर विश्वास नहीं किया; उनके भोज के निमंत्रण को मैंने अस्वीकार कर दिया था, कम-से-कम अरब देश में उन्हें आदर नहीं मिला। मैंने उनसे कहा, कभी मैंने कविता में लिखा था, "एहार चेये हतेम यदि अरब बेदुइन"—आज मेरा हृदय बेदुइन-हृदय के बहुत पास आ गया है, सचमुच मैंने मन के भीतर उनके साथ एक ही अन्न पाया है।

फिर जब हम लोगों की मोटर चली, इनके घुड़सवारों ने दोनों ओर के मैदानों में घोड़ा दौड़ाने का खेल हमें दिखाया, ऐसा लगा कि जैसे रेगिस्तान के बवंडर ने शरीर धारण कर लिया।

लगता है कि मेरा भ्रमण इस 'अरब बेदुइन' के यहाँ आकर ही समाप्त हुआ। देश लौटने के लिए और दो दिन बाकी है लेकिन शरीर इतना थका हुआ है कि इस बीच और कुछ देख-सुन न सकूँगा। इसीसे इस रेगिस्तान की दोस्ती के बीच भ्रमण का उपसंहार अच्छा ही लग रहा है। मैंने अपने बद्दू निमंत्रणकर्ता से कहा कि बद्दू आतिथ्य का परिचय मुझे मिला, लेकिन बद्दू डकैती का परिचय न मिलने से तो जानकारी पूरी न होगी। उन्होंने हँसकर कहा, उसमें थोड़ी-सी अड़चन है। हमारे डाकू प्राचीन ज्ञानी लोगों के शरीर को हाथ नहीं लगाते। इसीलिए महाजन लोग जब सामान लेकर हमारे रेगिस्तान से होकर गुजरते है तो बहुत बार विज्ञ चेहरे वाले प्रवीण लोगों को ऊँट पर चढ़ाकर और उन्हीको मालिक बनाकर ले आते हैं। मैंने उनसे कहा, चीन में भ्रमण करते समय मैंने अपने किसी चीनी मित्र से कहा था, "एक बार चीनी डकैतों के हाथ में पड़ जाऊँ तो मेरे चीन भ्रमण का वृत्तांत जम उठे, ऐसी इच्छा होती है।" उन्होंने कहा, 'चीन के डकैत आप-जैसे वृद्ध कवि के ऊपर अत्याचार न करेंगे, वे पुराने लोगों की भक्ति करते है।" सत्तर वर्ष की उम्र में यौवन की परीक्षा न चलेगी। बहुत-सी जगहों का घूमना समाप्त हुआ, विदेशियों से कुछ भक्ति लेकर, श्रद्धा लेकर अपने देश लौट जाऊँगा, इसके बाद आशा करता हूँ कि कर्म समाप्त होने पर शांति का अवकाश आयगा। युवकों के बीच झगड़ा होता है, उसी झगड़े की हलचल से संसार के प्रवाह की विकृति दूर होती है। डकैत जब वृद्ध से भक्ति करता है तो वह अपने को अपनी दुनिया से दूर हटा ले जाता है। युवक के साथ ही उसकी शक्ति की परीक्षा होती है, उस द्वन्द्व के आधार से शक्ति बनी रहती है, अतएव भक्ति के सुदूर अंतराल में 'पंचाशोर्ध्वं वनं व्रजेत्'।

सन् १९३२ में शाह के निमंत्रण पर रवीन्द्रनाथ हवाई जहाज से पर्शिया (ईरान) गए थे। ये पत्र जुलाई १९३२ से अप्रैल १९३३ तक (श्रावण १३३९—वैशाख १९४०) 'विचित्रा' मासिक में प्रकाशित हुए थे।

चतुर्थ खण्ड

भाषा और साहित्य

बंगला-भाषा-परिचय

: १ :

जीवों मे सबसे पूर्ण मनुष्य है। लेकिन जन्म के समय वह सबसे अपूर्ण होता है। बाघ, भालू अपनी जीवन-यात्रा का पन्द्रह आना मूलधन प्रकृति के खजाने से लेकर आते है। मनुष्य जीव रंगभूमि पर दो रीते हाथों की मुट्ठी बाँधे आता है।

मनुष्य के आने के पहले ही जीव सृष्टि-यज्ञ में प्रकृति के अपव्यय का पर्व समाप्त हो चला था। विपुल मास, कठोर पिंजर, विशाल पूँछ को लेकर जल-स्थल में पृथुल देह का जो अमिताचार प्रबल हो उठा था उससे धरती क्लान्त हो उठी थी। इससे प्रमाणित हुआ कि अतिशयता का पराभव अनिवार्य है। परीक्षा से यह भी स्थिर हो गया कि प्रश्रय का परिमाण जितना ही अधिक होता है, दुर्बलता का बोझ भी उतना ही दुर्वह हो उठता है। नये पर्व मे प्रकृति मनुष्य के पाथेय को यथासभव कम करके स्वयं नेपथ्य में रही।

मनुष्य देखने में बहुत छोटा था, लेकिन वह तो बस एक खेल था बाजीगर का। इसके बाद की जीव-यात्रा के पर्व में विपुलता को बहुलता में परिणत कर दिया गया। महाकाय जन्तु भयानक रूप से अकेले थे, मनुष्य दूर-दूर तक अनेक में फैला हुआ था।

मनुष्य का प्रधान लक्षण यही है कि वह अकेला नही है। प्रत्येक मनुष्य बहुत-मनुष्यों के साथ जुडा हुआ है, बहुत-से मनुष्यो के हाथ का गढा हुआ है।

कभी-कभी यह सुनने में आया है कि जंगली जानवरों ने आदमी के बच्चो को चुरा ले जाकर उनको पाला-पोसा है। कुछ समय बाद जब वे फिर आदमियों की बस्ती मे लौटे हैं तो दिखाई पड़ा कि उनका व्यवहार जानवरों-जैसा ही है। लेकिन सिंह के बच्चे को जन्म से मनुष्य के पास रखकर पालने पर वह नर-सिंह नही होता।

इसका मतलब है कि मनुष्य से विच्छिन्न होने पर मानव-संतान मनुष्य ही नही रह जाती, हाँ उसके जन्तु होने में कोई बाधा नही होती। इसका कारण यह है कि बहुत-से युगों से करोड़ो लोगो के देह-मन को मिलाकर मनुष्य की सत्ता है। उस बृहत् सत्ता के साथ जिस परिमाण में सामजस्य होता है उसी परिमाण में व्यक्तिगत मनुष्य यथार्थ मनुष्य हो उठता है। उस सत्ता को महामानव की संज्ञा दी जा सकती है।

इस बृहत् सत्ता मे एक अपेक्षाकृत छोटा विभाग है। उसको जातीय सत्ता कहा जा सकता है। धारावाहिक कोटि-कोटि लोग पुरुष-परम्परा में मिलकर एक-एक सीमा के अतर्गत होते हैं।

इनके चेहरे मे अपनी एक विशेषता है। इनके मन का गठन भी एक विशेष ढग का है। इस विशेषता के लक्षण के अनुसार एक दल के लोग आपस में एक-दूसरे को विशेष आत्मीय अनुभव करते हैं। मनुष्य आत्मीयता के सूत्र मे गुँथे हुए सुदूरव्यापी विशाल ऐक्य-जाल में अपने को सच्चे रूप मे पाता है।

मनुष्य को मनुष्य बनाने का दायित्व इस जातीय सत्ता के ऊपर है। इसलिए मनुष्य की सबसे बड़ी आत्मरक्षा इस जातीय सत्ता की रक्षा करने मे है। यही उसकी विराट् देह, विराट् आत्मा है। यह आत्मिक एकता-बोध जिनमे दुर्बल होता है उनकी पूर्ण मनुष्य बन सकने की शक्ति क्षीण होती है। जाति की निबिड़ सम्मिलित शक्ति उनका पोषण, उनकी रक्षा नही करती। वे एक-दूसरे से अलग रहते है, यह अलगाव मानव-धर्म का विरोधी है। अलग-थलग मनुष्य पग-पग पर हारता है, क्योंकि वह पूर्ण मनुष्य नहीं है।

मनुष्य सम्मिलित जीव है इसीलिए बचपन से मनुष्य की सबसे प्रधान शिक्षा है—आपस में मिलकर चलने की साधना। जहाँ पर उसमे जन्तु का धर्म प्रबल है वहाँ पर स्वेच्छा और स्वार्थ की खीच-तान उसको दूसरों के साथ ठीक से मिलने नहीं देती, तब समष्टि मे जो इच्छा, जो शिक्षा, जो प्रेरणा दीर्घकाल से जमी हुई है वह जोर देकर कहती है, "तुम्हें कष्ट उठाकर मनुष्य बनना होगा, उस जन्तु-धर्म के उल्टे रास्ते पर चलकर।" जातीय सत्ता के अंतर्गत प्रत्येक क्षेत्र में निरंतर यह क्रिया चल रही है इसीलिए एक बृहत् परिधि मे एक विशेष ढंग का मनुष्य-संघ बनता जा रहा है। एक विशेष जातीय नाम की एकता मे वे एक-दूसरे को पहचानते हैं और एक-दूसरे से विशेष स्थितियों में विशेष आचरण की निश्चिन्त मन से प्रत्याशा कर सकते हैं। मनुष्य जन्तु के रूप में जन्म लेता है लेकिन इस

संघबद्ध व्यवस्था में ही अनेक दुःख उठाकर वह मनुष्य बनता है।

यह जो बहुत समय से चली आती हुई व्यवस्था है जिसे हमने समाज नाम दिया है, जो मनुष्यता की प्रेरक शक्ति है उसकी भी मनुष्य निरंतर सृष्टि करता रहा है—प्राण देकर, त्याग देकर सोच-विचार देकर, नई-नई जानकारी देकर वह युग-युग में उसका संस्कार करता है। इस निरंतर लेन-देन के द्वारा ही वह प्राणवान हो उठता है नहीं तो जड़ यन्त्र बना रहता और उसके द्वारा पालित और चालित मनुष्य मशीन के खिलौने-जैसा होता, उन सब यांत्रिक नियमों में बँधे हुए मनुष्य में नई उद्भावना न रहती, उसकी आगे बढ़ने की शक्ति अवरुद्ध रह जाती।

समाज और समाज के लोगों में इस प्राणगत, मनोगत मिलन और आदान-प्रदान के उपाय स्वरूप मनुष्य की श्रेष्ठतम सृष्टि उनकी भाषा है। इस भाषा की निरंतर क्रिया समस्त जाति को एक करती है, नहीं तो मनुष्य विच्छिन्न होकर मानवधर्म से वंचित होता।

ज्योतिर्विज्ञानी कहते हैं ऐसे बहुत-से नक्षत्र हैं कि जिनमें प्रकाश नहीं है, ज्योतिष्क-मंडल में कोई उनका नाम नहीं जानता। जीव-जगत् में मनुष्य ज्योतिष्क जातीय है। मनुष्य दीप्त नक्षत्र के समान केवल अपनी प्रकाश-शक्ति फैला रहा है। यह शक्ति उनकी भाषा में है।

ज्योतिष्क नक्षत्रों में परिचय की विविधता है, किसी की दीप्ति अधिक है, किसी की दीप्ति म्लान है, किसी की दीप्ति बाधाग्रस्त है। मानव-लोक में भी यही बात है। कहीं पर भाषा की उज्ज्वलता है, कहीं पर नहीं है। इन अनेकानेक प्रकाशवान जातियों का मनुष्य इतिहास के आकाश में आलोक फैलाता आ रहा है। किसी का आलोक बुझ भी गया है, आज उनकी भाषा लुप्त है।

जातीय सत्ता के साथ-साथ यह जो भाषा अभिव्यक्त हो उठी है यह हमारी इतनी अंतरंग है कि यह हमको विस्मित नहीं करती, वैसे ही जैसे हमारी आँखों की रोशनी हमको विस्मित नहीं करती—जिन आँखों के दरवाजे से हमारा विश्व-प्रकृति के साथ निरंतर परिचय होता रहता है। लेकिन एक समय मनुष्य ने भाषा की सृष्टि-शक्ति को दैवी-शक्ति के रूप में अनुभव किया था, यह बात हमारी समझ में तब आती है जब हम देखते हैं कि यहूदी पुराणों में कहा है, सृष्टि के आदि में वाक्य था, जब हम सुनते हैं कि ऋग्वेद में वाग्देवी अपनी महिमा घोषित करके कहती है—

मैं रानी हूँ। अपने उपासकों को मैं धनराशि देती हूँ। पूजनीयाओं में मैं प्रथम हूँ। देवताओं ने मुझको बहुत-से स्थानों में प्रवेश करने दिया है।

प्रत्येक मनुष्य जिसके पास दृष्टि है, प्राण है, श्रुति है, वह मेरा ही अन्न खाता है। जो मुझको नहीं जानते वे क्षीण हो जाते हैं।

मैं स्वयं जो कहती हूँ वह देवताओं और मनुष्यों द्वारा सेवित है। मैं जिसकी कामना करती हूँ उसको बलवान बनाती हूँ, सृष्टिकर्त्ता बनाती हूँ, ऋषि बनाती हूँ, प्रज्ञावान् बनाती हूँ।

: २ :

मनुष्य का एक गुण यह है कि वह प्रतिमूर्ति गढ़ता है, चाहे वह प्रतिमूर्ति पट पर हो, पत्थर पर हो, मिट्टी या धातु की हो। अर्थात् एक वस्तु के अनुरूप दूसरी एक वस्तु बनाने में उसे आनंद मिलता है। उसका एक और गुण प्रतीकों की रचना है, खेल के आनंद या काम की सुविधा के लिए। प्रतीक किसी चीज के अनुरूप होगा, ऐसी कोई बात नहीं। मुखौटा लगाये हुए बड़े लाटसाहब के लिए राजा के चेहरे की नकल करना आवश्यक है। भारतवर्ष की गद्दी पर वे राजा का स्थान दखल करके काम चलाते हैं—वे राजा के प्रतीक या प्रतिनिधि हैं। प्रतीक मान लेने की चीज है। बचपन में मास्टर का खेल खेलते समय मैंने मान लिया था कि बरामदे की रेलिंगें मेरी छात्र है। मास्टरी शासन के निष्ठुर गौरव का अनुभव करने के लिए सचमुच के लड़कों को बटोरना जरूरी नहीं हुआ। कागज के एक टुकड़े और दस रुपये के चेहरे में कोई मेल नहीं है; लेकिन सब लोगों ने मिलकर मान लिया है कि उसका दाम रुपया है, वह दस रुपये का प्रतीक है। इसे दम के लोगों का लेन-देन बना दिया गया।

मनुष्य का प्रतीक का कार-बार भाषा को लेकर है। बाघ के बारे में बात करते समय बाघ को हाजिर करना आसान भी नहीं और खतरे से खाली भी नहीं। बाघ मनुष्य को खाता है इस संवाद को प्रत्यक्ष कराने की चेष्टा अनेक कारणों से असंगत है। 'बाघ' कहकर मनुष्य ने एक शब्द को बाघ जन्तु का प्रतीक बना दिया है। बाघ के चरित्र में जानने की बातें बहुत-सी हो सकती हैं, उन सबको भाषा के प्रतीक द्वारा एकत्र किया जाता है, जमा किया जाता है। मनुष्य के ज्ञान के साथ, भाव के साथ उसका यह विराट् प्रतीक का जगत् अभिव्यक्त होता चलता

हैं। इस प्रतीक के जाल में जल, स्थल, आकाश से असख्य सत्य खिंचकर आते हैं और दूर काल में संचरण कर पाते है। भाषा पढना मनुष्य के लिए जिस प्रतीक-रचना की शक्ति से सहज हुआ है मनुष्य को प्रकृति की वही सबसे बड़ी देन है।

ध्वनि से गढ़े हुए विशेष-विशेष प्रतीक केवल विशेष-विशेष वस्तुओ का नाम धरकर काम चला रहे हैं, ऐसी बात नही है, उनके और भी अनेक सूक्ष्म काम है। भाषा को मन के साथ ताल रखकर चलना पड़ता है। उस मन की गति केवल आँख से देखने की परिधि के भीतर सीमित तो नही है। जिसे देखा नही जा सकता, छुआ नही जा सकता, जिसे केवल सोचा जा सकता है, मनुष्य का सबसे बड़ा लेन-देन उसीको लेकर होता है। एक बहुत साधारण-सा दृष्टांत दूँ।

मैं कहना चाहता हूँ, तीन सफेद गाय। वह 'तीन' शब्द सहज नही है और सादा या सफेद शब्द भी बहुत सादा या सीधा हो यह मैं नही कह सकता। संसार में तीन आदमी, तिनतल्ला मकान, तीन सेर दूध आदि तीन की परिमाण वाली चीजें बहुत है लेकिन चीज ही नही है और तो भी तीन नाम की एक संख्या है, यह एक असभव-सी स्थिति है। इसको अगर सोचने चलूँ तो शायद तीन संख्या के एक अक्षर की बात सोचूंगा, उसी अक्षर को हम मुँह से कहते है तीन, लेकिन अक्षर तो तीन नही है। उस तीन अक्षर और तीन शब्द के बीच चुपचाप छिपा रहता है अगणित तीन संख्या वाली चीजो का निर्देश। उनका नाम लेने की जरूरत नहीं होती। भाषा की इसी सुविधा को लेकर मनुष्य ने संख्या बताने वाले बहुत-से शब्द बनाये है। तीन ठो तीन संख्या की गायों को एकत्र करने पर भी [illegible] होती है, यह बात याद दिलाने के लिए ग्वाले के घर पर किसी [illegible] के आने की जरूरत नही होती। गाय आदि को अलग करके मनुष्य ने [illegible] एक कौशल गढ लिया और उसने कहा तीन तिरिक्के नौ। [illegible] है। उसमें केवल गायें नही फँसी, बल्कि वह सब चीजें जो तीन की [illegible] आती है। जिनके पास भाषा नही है उनके हाथ में इस महत् [illegible] का उपाय नहीं है।

इस प्रसंग में एक घटना मुझे याद आई। [illegible] वाली एक छोटी लडकी के सामने पहाडे का अपना [illegible] के लिए मैंने [illegible] कहा था, तीन पचे पच्चीस।

उसने अपनी आँखें बड़ी-बड़ी [illegible] नहीं [illegible] पचे पन्द्रह होता है।" मैंने कहा, [illegible] थी, [illegible]

नाप के होते हैं! तीन हाथी को पँचगुना करने पर भी पन्द्रह और तीन छिपकलियों को पँचगुना करने पर भी पन्द्रह?" यह सुनकर उसके मन में मेरे प्रति बड़ी धिक्कार की भावना आई और उसने कहा, "तीन तो तीन ठो इकाइयाँ हैं, हाथी और छिपकली की बात आप क्यों उठाते हैं।" यह सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। जो इकाई पतली भी नहीं है, मोटी भी नहीं है, भारी भी नहीं है, हल्की भी नहीं है, जो केवल भाषा को पकड़कर बैठी हुई है, वह निर्गुण इकाई उसके निकट इतनी सहज हो गई है कि उसे हाथी और छिपकली को अलग करके फेंक देने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती। यही तो भाषा का गुण है।

'सफेद' भी ऐसी ही एक अनोखी बात है। वह एक विशेषण है, विशेष्य न होने से बिलकुल निरर्थक। सफेद चीज से उसको अलग कर लेने पर फिर उसको दुनिया में रखने की कहीं जगह नहीं मिलती, भाषा के एक इस शब्द को छोड़कर। यह तो हुई गुण की बात, अब वस्तु की बात लो।

मुझे याद है कि मैं जब छोटा था तो मेरे एक मास्टर साहब ने कहा था इस टेबुल के सब गुणों को अलग कर देने पर यह शून्य हो जायगी। यह सुनकर मन ने इस बात को मानना न चाहा। टेबुल के शरीर में जिस तरह वार्निश लगाई जाती है उसी तरह उसके गुण भी उसके साथ लगे रहते हैं, शायद ऐसी कोई धारणा मेरे मन में थी। टेबुल को अलग करने के लिए कुली को बुलाने की जरूरत होती है लेकिन गुणों को धो-पोंछकर फेंक देना आसान है। उस दिन इस बात को लेकर बड़ी देर तक मैं सन्न होकर सोचता रहा था। इतना सब होते हुए मनुष्य की भाषा गुणहीन को लेकर बहुत-से बड़े-बड़े काम करती है। एक उदाहरण दूँ।

हमारी भाषा में एक सरकारी शब्द है 'पदार्थ'। कहने की जरूरत नहीं कि जगत् में 'पदार्थ' नाम की कोई चीज नहीं, पानी, मिट्टी, पत्थर, लोहा है। इस तरह की अनिर्दिष्ट भावना को मनुष्य अपनी भाषा में क्यों बाँधता है। जरूरत है इसीलिए बाँधता है।

विज्ञान के आरम्भ में ही यह बात कहनी चाहिए कि पदार्थ-मात्र कुछ-न-कुछ जगह घेरता है। उस एक शब्द को लेकर कोटि-कोटि शब्द बचा लिये गए। अभ्यास हो गया है इसी मारे हम इस सृष्टि का मूल्य भूले हुए हैं। लेकिन भाषा में इन सब अभावनीय वस्तुओं को पकड़ना मनुष्य का एक बड़ा कृतित्व है।

बोझ हल्का करने वाले इन सब सरकारी शब्दों से विज्ञान और दर्शन भरे हुए

है। साहित्य में भी उनकी कमी नही है। इस 'हृदय' शब्द को ही लो, जिसे हम बड़े सहज रूप मे बोलते है। किसी के पास हृदय है या नही है इस बात को जितने सहज ढंग से हम कहते है उतने सहज ढंग से उसकी व्याख्या नही कर सकते। किसी में 'मनुष्यता' है यह कहकर पूरे-पूरे स्पष्ट ढंग से यह बतला सकना असाध्य है कि उसमें क्या है। इस क्षेत्र में ध्वनि का प्रतीक न देकर दूसरी तरह का प्रतीक भी दिया जा सकता है। 'मनुष्यता' नामक एक आकारहीन पदार्थ को किसी एक मूर्ति द्वारा भी बतलाया जा सकता है; लेकिन मूर्ति जगह घेरती है, उसमे वजन होता है, उसे उठाकर ले जाना होता है। इसके अलावा उसमे विविधता नही लाई जा सकती। शब्द का प्रतीक हमारे मन के साथ मिलकर रहता है, जानकारी बढ़ने के साथ-साथ उसके अर्थ का विस्तार होने मे भी कठिनाई नही होती।

इस बात को जान रखना अच्छा है कि बोझ हल्का करने वाले सरकारी अर्थ के इन सब शब्दों को अंग्रेजी मे ऐब्सट्रैक्ट शब्द कहते है। बंगला में इसके लिए नये पर्याय की आवश्यकता है। मैं समझता हूँ कि 'निर्वस्तुक' कहने से काम चल सकता है। वस्तु को गुण से अलग करके जो भाव-मात्र बच रहता है उसको कहने और समझाने के लिए 'निर्वस्तुक' शब्द सम्भवतः व्यवहार के योग्य है। इन ऐब्स-ट्रैक्ट शब्दों का सहारा लेकर मनुष्य का मन इतनी दूर चला जा सकता है जितनी दूर उसकी इंद्रिय-शक्ति नही जा सकती, जितनी दूर उसका कोई यान-वाहन नही पहुँचता।

: ३ :

मनुष्य जिस तरह जानने की चीजों को भाषा द्वारा जानता है उसी तरह उसको सुख-दु.ख, अच्छा लगना, बुरा लगना, निंदा-प्रशंसा इन सब बातों को जानना पडता है। भाव से, भगिमा से, भाषाहीन स्वर से, देखने से, हँसी से, आँख के पानी से इन सब अनुभूतियो को बहुत-कुछ बतलाया जा सकता है। यह मनुष्य के लिए प्रकृति की दी हुई गूँगे की भाषा है, इस भाषा में मनुष्य की भाव-अभि-व्यक्ति प्रत्यक्ष होती है। लेकिन सुख-दु.ख, प्रेम की चेतना बहुत भीतर तक बहुत ऊपर तक जाती है; तब उनको इशारे में नही ले आया जा सकता, वर्णन मे नही पाया जा सकता, केवल भाषा के नैपुण्य से जहाँ तक सभव हो नाना प्रकार के इंगितों से समझाया जा सकता है। भाषा हृदय-बोध की गहराई में ले जा सकी है

इसीलिए मनुष्य के हृदयावेग की उपलब्धि उत्कर्ष पर पहुँची है। सुसंस्कृत व्यक्तियों की बोध-शक्ति की रूढ़ता समाप्त हो जाती है, उसकी अनुभूति में सूक्ष्म सुकुमार भावों का प्रवेश सहज ही हो पाता है। गँवार हृदय अशिक्षित हृदय होता है। स्वभाव-दोष से जिनके अंदर रुचि और अनुभूति की कठोरता मज्जागत है उनकी तो खैर आशा छोड़ देनी होगी। ज्ञान की शक्ति के संबंध में यही बात लागू होती है। जिनकी स्वाभाविक मूढ़ता दुर्भेद्य है उनकी बुद्धि को ज्ञान-विज्ञान की चर्चा ज्यादा दूर तक सार्थकता नहीं दे सकती।

मनुष्य की बुद्धि-साधना की भाषा ने अपनी पूर्णता दर्शन और विज्ञान में दिखाई है। हृदय-वृत्ति की चरम अभिव्यक्ति काव्य में होती है। दोनों की भाषा में बहुत अंतर होता है। जहाँ तक संभव हो ज्ञान की भाषा स्पष्ट होनी चाहिए, उसमें ठीक बात का ठीक मतलब होना जरूरी है, साज-सज्जा के बाहुल्य से उसे आच्छन्न नहीं होना चाहिए। लेकिन भाव की भाषा अगर कुछ अस्पष्ट हो, अगर बात सीधे ढंग से न कही जाय, अगर उसमें उचित मात्रा में अलंकार हों, तो वही अधिक उपयोगी होता है। ज्ञान की भाषा में स्पष्ट अर्थ होना चाहिए, भाव की भाषा में इशारा चाहिए, जरूरत हो तो अर्थ को बाँकपन देकर।

'अच्छा लगा' इसको समझाने के लिए कवि कहता है, "शरीर के वातास से पत्थर गला जाता है।" उसने कहा, "कच्चे अंगों की लावनी ढल-ढलकर अवनी पर बही जाती है।" यहाँ पर बातों का ठीक मतलब लेने पर वह एक पागलपन हो जायगा। यह बातें अगर विज्ञान की पुस्तक में होतीं तो मैं समझता कि वैज्ञानिक ने ऐसी किसी दैहिक हवा का आविष्कार किया है जिसकी रासायनिक क्रिया से पत्थर पत्थर नहीं रहने पाता, गैस होकर अदृश्य हो जाता है। या किसी मनुष्य के शरीर में ऐसी कोई किरण मिली है जिसको लावनी नाम दिया गया है, जो पृथ्वी के आकर्षण से बिखरकर मिट्टी के ऊपर फैल जाती है। शब्द के अर्थ का पूरा-पूरा विश्वास करने पर इस तरह की कोई व्याख्या करनी ही पड़ेगी। लेकिन यह तो किसी प्राकृतिक घटना की बात नहीं है, यह तो 'ऐसा लगता है कि जैसे' की बात है। शब्द बने हैं ठीक-ठीक बात को बतलाने के लिए, इसीलिए ठीक-जाने-क्या-है कहने के लिए उसके अर्थ को बढ़ाना पड़ता है, घुमाव देना पड़ता है। ठीक जाने क्या है की भाषा कोश में नहीं मिलती, इसीसे कवि को अपने कौशल से साधारण भाषा द्वारा ही काम चलाना पड़ता है। इसीको कवित्व कहते हैं। वस्तुतः कवित्व को जो इतनी बड़ी जगह मिली है उसका प्रधान कारण यही

है कि भाषा के शब्द केवल अपने सीधे-सादे अर्थ को लेकर सब भावों को व्यक्त नही कर सकते। इसीसे कवि ने 'लावण्य' शब्द की यथार्थ सज्ञा को छोड़कर बात को बनाकर यो कहा, कि जैसे लावण्य एक झरना हो जो शरीर मे मिट्टी पर झर रहा हो। बात के अर्थ को पूरी तरह नष्ट करके यह हुई व्याकुलता, यह कहने के साथ-साथ ही कहा जा रहा है कि "मैं कह नही पा रहा हूँ।" इस अनिर्वचनीयता का सुयोग पाकर अनेक कवि अनेक प्रकार की अत्युक्तियों का सहारा लेते है। सुयोग नही है तो क्या हुआ; जिसे कहा नही जा सकता उसे कहने का सुयोग ही कवि का सौभाग्य है। इसी सुयोग के कारण कोई लावण्य की तुलना फूल की गध के साथ कर सकता है और कोई नि.शब्द वीणा-ध्वनि के साथ—असगति को और भी बहुत दूर खीच ले जाकर। लावण्य को कवि ने जो लावनी कहा वह भी एक अधीरता है, इस तरह प्रचलित शब्द को अप्रचलित आकृति देकर भाषा की कोशगत परिधि को अनिर्दिष्ट रूप मे बढा दिया गया।

हृदयावेग मे जिसकी सीमा नही मिलती उसको व्यक्त करने के लिए सीमाबद्ध भाषा का घेरा तोड़ देना पड़ता है। यह घेरा तोड़ना ही कवित्व है। इसीलिए माँ अपनी संतान को जो वह नही है उस नाम से कुछ-का-कुछ कहकर पुकारती है। कहती है चाँद, कहती है मानिक, कहती है सोना। एक ओर भाषा स्पष्ट बात का वाहन है और दूसरी ओर अस्पष्ट बात का भी। एक ओर विज्ञान भाषा की सीढी पर चढकर भाषा की सीमा पर पहुँच गया और भाषातीत संकेत-चिह्नों पर जाकर रुका है; और दूसरी ओर काव्य भी भाषा के साथ दौड़ता हुआ भावना के सुदूर छोर मे पहुँचकर आखिरकार अपने बँधे अर्थ को झुठलाकर भाव के इशारे तैयार करने बैठा है।

१९३८ की गर्मियों मे भोगपुर मे लिखित।
कलकत्ता-विश्वविद्यालय द्वारा अक्तूबर १९३८ में
प्रकाशित। भाषाचार्य सुनीतिकुमार चटर्जी को समर्पित।

संज्ञा-विचार

पौष मास के 'बालक' में उत्कृष्ट संज्ञा देने के लिए मैंने 'हुजुग', 'न्याकामि' और 'आह्लादे' ये तीन शब्द निर्दिष्ट किये थे, पाठकों के पास से बहुत-सी संज्ञाएँ मुझे मिली हैं।[1]

ये शब्द पूरी तरह प्रचलित हैं। हम लोग जब आपस की बातचीत में इन शब्दों का व्यवहार करते हैं तब किसी को उनके समझने में भूल नहीं होती, लेकिन फिर भी स्पष्ट रूप से अर्थ पूछने पर अलग-अलग लोग अलग-अलग अर्थ बतलाते हैं। इससे यह समझना चाहिए कि वास्तव में इन शब्दों से भिन्न लोग भिन्न अर्थ समझते हैं---क्योंकि अगर ऐसा होता तो उन शब्दों से कोई काम ही न चलता। सच बात तो यह है कि हम लोग बहुत-सी चीजें समझते हैं, लेकिन क्या समझते हैं उसको ठीक से समझने के लिए बहुत-कुछ सोचने की जरूरत पड़ती है। जिस तरह हममें से बहुत लोग आसानी से तैर सकते हैं लेकिन किस उपाय से तैरते हैं यह समझाकर नहीं कह सकते या किसी आदमी के नाराज होने पर हम उसका चेहरा देखकर आसानी से बतला सकते हैं कि यह आदमी नाराज हो गया है; लेकिन अगर मैं पाँच जनों को बुलाकर पूछूँ, अच्छा यह तो बतलाओ कि नाराज होने पर आदमी के चेहरे में कैसा क्या परिवर्तन होता है, चेहरे की किस-किस मांसपेशी में कैसा विकार आ जाता है, चेहरे का कौन-सा अंश किस तरह बदल जाता है, तो पाँचजने पाँच तरह की बातें करेंगे। लेकिन क्रुद्ध आदमी को देखते ही पाँचों जने बिना मतभेद के एक स्वर से कह उठेंगे कि यह आदमी बहुत नाराज हो गया है। पाठकों के पास से मुझे जो सब संज्ञाएँ मिली हैं उनमें से कुछ को यहाँ

---

१. पाठकों के प्रति : 'बालक' का जो कोई ग्राहक 'हुजुग', 'न्याकामि' और 'आह्लादे' शब्दों की सबसे अच्छी संक्षिप्त संज्ञा (definition) लिखकर पौष मास की बीस तारीख के भीतर हमारे पास भेज देंगे उनको एक अच्छा ग्रन्थ पुरस्कार में दिया जायगा। एक-एक संज्ञा पाँच पदों से ज्यादा की नहीं होनी चाहिए। ('बालक' १२९२ पौष)

पर एक के बाद एक विचार करके देखने पर उनमें बहुत अंतर दिखाई पड़ेगा।

एक सज्जन कहते हैं, "हुजुग—जनसाधारण का हृदयोन्मादक आंदोलन।" अगर ऐसा हो तो बुद्ध, चैतन्य, ईसा, क्रामवेल, वाशिंगटन आदि सबने 'हुजुग' किया था। लेकिन लेखक महोदय ने कभी जीवन-पर्यन्त अपनी बातचीत मे इस अर्थ में इस शब्द का व्यवहार न किया होगा।

इन्होंने कहा है, "न्याकामि—रूठकर किसी चीज के प्रति अनिच्छा दिखलाना या रूठे हुए व्यक्ति का इच्छा रखते हुए अनिच्छा प्रकट करना।" किसी विशेष स्थल पर रूठने के बहाने कोई व्यक्ति 'न्याकामि' कर भी सकता है, लेकिन इसी-लिए रूठकर अनिच्छा व्यक्त करने को ही 'न्याकामि' नही कहा जा सकता।

'आह्लादे' शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है, "दस जनों का आह्लाद पाकर अहंकृत।" कहने की आवश्यकता नही कि 'प्रश्रय-प्राप्त', 'अहंकृत' और 'आह्लादे' मे बहुत अंतर है।

'हुजुग' शब्द की निम्नलिखित प्राप्त संज्ञाओ को मैं क्रमश' लिखता हूँ।

हुजग

१. विस्मयजनक सवाद, जो सत्य है कि मिथ्या निर्णय करना कठिन है।

२. अकारण विषय को लेकर उद्वेग और उत्साह (अकारण शब्द के दो अर्थ हैं—१-अनिर्दिष्ट २. तुच्छ, सामान्य)।

३. थोड़े में नाच उठने का नाम।

४. अतिरंजित जनरव।

५. असम्भव समाचार।

६. ऐसे विषय को लेकर पागल हो जाना, जिसका फल अनिश्चित है।

७. कोई घटना, जिसके बहाव मे पड़कर लोग धारा मे बहने लगते हैं। "बाजार मे नाचते घूमना" "आँधी के पहले धूल उड़ना।"

८. झट से किसी बात पर नाच उठना।

९. देशव्यापी कोई नवीन (सत्य और मिथ्या) आंदोलन।

१०. बाह्य आडम्बर का उन्माद।

पहली संज्ञा ठीक नही बनी, यह कहने की जरूरत नहीं।

दूसरी संज्ञा के संबंध में मुझे यह कहना है कि लेखक ने स्वयं 'अकारण' शब्द का जो अर्थ-निर्देश किया है वह स्पष्ट नही। अनिर्दिष्ट अर्थात् जिसका लक्ष्य

स्थिर नहीं हुआ, ऐसे किसी तुच्छ सामान्य विषय को ही सम्भवतः उन्होंने अकारण विषय कहा है—उसके मतानुसार इस प्रकार के विषय को लेकर उद्वेग और उत्साह को ही हुजुग कहते हैं। कोई अगर विशेष उद्वेगपूर्वक एक बालू का स्तूप परम उत्साह के साथ सारे दिन बनाता और बिगाड़ता रहे तो उसे हम हुजुग कहेंगे या पागलपन ?

तीसरी संज्ञा। राम अगर पतंग उड़ाने का प्रस्ताव सुनते ही उत्साह से नाच उठे तो राम के उत्साह को क्या हुजुग कहेंगे।

चौथी संज्ञा। अतिरंजित जनरव को हुजुग नहीं कहते, यह और किसी को समझाने की जरूरत नहीं। श्याम अपनी कन्या के विवाह में पाँच सौ रुपया खर्च करता है, लोग अगर सब जगह यह उड़ाते घूमें कि उसने पाँच हजार रुपया खर्च कियाहै तो इस जनरव को क्या हुजुग कहेंगे ?

पाँचवीं संज्ञा। कभी-कभी अखबारों में असम्भव समाचार छपा करते हैं, उन्हें कोई हुजुग नहीं कहता।

छठी संज्ञा। अनेक लोग अर्थ के लोभ से ऐसे व्यवसायों में लगे रहते हैं जिनमें लाभ अनिश्चित होता है, ऐसे व्यवसाय को कोई हुजुग नहीं कहता।

सातवीं। यह संज्ञा स्पष्ट नहीं। जिस घटना के स्रोत में लोग बहते हैं उसे हुजुग नहीं कहा जाता और फिर लेखक ने ह्यापा शब्द जोड़कर इसमें और एक नूतन भाव डाल दिया है। लेकिन ह्यापा शब्द का ठीक अर्थ क्या है इस संबंध में तर्क उठ सकता है। अतएव हुजुग शब्द के समान ही ह्यापा का भी संज्ञा-निर्देश आवश्यक है। इसलिए ह्यापा शब्द की सहायता से हुजुग शब्द को समझाने की चेष्टा संगत नहीं कही जा सकती। "बाजार में नाचते घूमना" "आँधी के पहले धूल उड़ना"—ये दोनों व्याख्याएँ भी स्पष्ट नहीं हैं।

आठवीं। हरि अगर माधव से कहे कि तू टकसाल का दीवान होगा—और यह सुनतेही माधव नाच उठे तो माधव के इस उत्साह-उल्लास को हुजुग नहीं कहा जा सकता।

नवीं आंदोलन नया होने से उसको हुजुग नहीं कहा जा सकता।

दसवीं। बाह्य आडम्बर के उन्माद-मात्र को हुजुग नहीं कह सकते। कोई रायबहादुर अगर अपने खिताब और घोड़े-गाड़ी को लेकर पागल रहते हों तो उनके इस पागलपन को क्या हुजुग कहा जा सकता है ?

हमने जिन महाशय को पुरस्कार दिया है उन्होंने हुजुग शब्द की निम्नलिखित

व्याख्या की है :—

"सिर तो है नही, पर सिर में दर्द हो रहा है, ऐसी चीजों को लेकर जो बिना नाच का नाच शुरू होता है, उसी नाचने की स्थिति को हुजुग कहते हैं। विशेष कुछ नही हुआ या अगर हुआ भी तो बहुत सामान्य कुछ, उसीको लेकर सब नाच उठते हैं, इसी स्थिति का नाम हुजुग है।"

हम देखते है कि 'हुजुग' में सबसे पहले ऐसा कोई विषय होना चाहिए जिसकी आधार-भूमि नही है'''जिसमें डाल-पात तो खूब हैं लेकिन जड़ का पता नहीं। सोचो कि मैं 'सार्वजनीयता' या 'विश्वप्रेम' के प्रचार के लिए एक सम्प्रदाय की सृष्टि करता हूँ, उसके कितने मंत्र-तंत्र, कितने अनुष्ठान होते हैं इसका कुछ ठिकाना नही, लेकिन अपने क्षुद्र सम्प्रदाय के बाहर के लोगो के प्रति हमारा जातीय विद्वेष प्रकट होता है—मूल में प्रेम का अभाव है; लेकिन प्रेम के अनुष्ठान में कोई त्रुटि नही। दूसरी बात यह है कि इसके साथ कुछ नाचने का संबंध भी होना चाहिए अर्थात् लक्ष्य काम के प्रति उतना नहीं है जितना पागल हो जाने के प्रति है। यानी हो-हो करके वक्त अच्छा कटता जा रहा है, खूब हंगामा हो रहा है और उसीमें मुझको मजा आ रहा है। अगर स्थिर होकर चुपचाप काम करने के लिए कहो तो उसमें मन नही लगता; क्योंकि नचाना और नाचना यह दोनों ही बिलकुल आवश्यक हैं। तीसरी बात यह कि हुजुग एक आदमी को लेकर नहीं होता—उसके लिए जनसाधारण की जरूरत होती है—जनसाधारण को लेकर खूब शोर-शराबा मचाने की कोशिश की जाती है। चौथी बात यह कि अफ़वाह फैलाने को ही हुजुग नही कहते, किसी अनुष्ठान में लगने के लिए समारोह के साथ उद्योग करना जरूरी है, भले ही वह काम हो या न हो।

हमारे पुरस्कृत संज्ञा-लेखक की संज्ञा सर्वांग-सम्पूर्ण हुई है या जितना संक्षिप्त उसे होना चाहिए था उतनी संक्षिप्त हुई है, यह मैं न कहूँगा। वे अपनी संज्ञा के दो पदों को छोटा करके आसानी से एक पद में ले आ सकते थे।

संज्ञा देना कठिन काम है और इस कठिनाई का एक प्रधान कारण जो मुझे दिखाई पड़ता है वह यह है कि एक भाव के साथ बहुत-से जटिल भाव जुड़े हुए रहते हैं, लेखक लोग संक्षिप्त संज्ञा में उन सबको समेट नहीं पाते—असावधानी के कारण एक-न-एक छूट जाता है। उद्धृत संज्ञाओं में पाठकों को इसका दृष्टांत मिला है :

न्याकामि

१—जानते हुए अनजान बनना।

२—जानते हुए ऐसा दिखलाना कि नहीं जानते।

३—मैं जानकर भी नही जानता, यह भाव प्रकट करना।

४—जानकर भी न जानने का बहाना।

५—अवगत होते हुए अज्ञता दिखाना।

६—खूब जानते हुए भी अज्ञान होने का लक्षण दिखलाना।

७—समझते हुए भी अपने को नासमझ के समान प्रकट करना।

८—सयाना होकर बुद्धू बनना।

९—जान-बूझकर बचपना करना।

१०—समझकर नासमझ बनना। जान-बूझकर हावा होना।

११—इच्छित अज्ञता और मिथ्या सरलता।

पहली से लेकर सातवीं संज्ञा तक सबका भाव प्रायः एक ही है। अर्थात् सबमे जानकर न जानने का दिखावा, यही अर्थ प्रकट हो रहा है, लेकिन ऐसे भाव को असरलता, मिथ्याचार या कपट कहा जाता है। लेकिन कपट और न्याकामि बिलकुल एक-जैसी चीजें नही हैं। आखिरी संज्ञा के लेखक श्रीयुत महेन्द्रनाथ राम ने जो कहा है "सयाना होकर बुद्धू बनना" यही मुझे ठीक लगता है। जानकर न जानने का भाव प्रकट करने से ही काम न चलेगा, उसके साथ-ही-साथ यह भी प्रकट करना होगा कि मैं निर्बोध हूँ, मेरे पास समझने की शक्ति ही नहीं है। छठी और सातवीं संज्ञा मे भी बहुत-कुछ यही भाव प्रकट हुआ है लेकिन उतने स्पष्ट रूप से नही। नवी और दसवी संज्ञा ठीक हुई है। लेकिन आठवी से लेकर दसवीं संज्ञा तक मे बोका, हेलेमि, हावा शब्द व्यवहृत हुए हैं, इन शब्दों का संज्ञा-निर्देश होना चाहिए अर्थात् हावामि, बोकामि और हेलेमि का विशेष लक्षण क्या है यह मनोयोगपूर्वक विवेचना करके देखने की चीज है। इसलिए ग्यारहवी संज्ञा के लेखक ने जो ऐच्छिक अज्ञता के दिखावे के साथ मिथ्या सरलता शब्द जोड़ दिया है इससे न्याकामि शब्द का अर्थ स्पष्ट हुआ है। अज्ञता और सरलता दोनो का दिखावा रहने पर न्याकामि हो सकती है। हमारे पुरस्कृत संज्ञा-लेखक ने लिखा है, "*न्याकामि कहने से साधारणतः जान-समझकर अपने को बुद्धू दिखलाने का भाव व्यक्त होता है*" और फिर दूसरे पद में उसकी व्याख्या करते हुए कहा है,

"जैसे कुछ नही जानता, जैसे कुछ नही समझता, इसी भाव का नाम न्याकामि है।" जैसे कुछ नही जानता, जैसे कुछ नही समझता कहने से ऐसा समझ में आता है कि वह आदमी बिलकुल हावा नितांत खोका है, ऐसा समझ में आता है कि जैसे वह आदमी कुछ भी नही समझता और उसको समझाने का उपाय भी नही है।

आह्लादे

१—स्वार्थ के लिए विवेचना रहित।

२—जो लोग परिमाण से अधिक आह्लाद मे सदैव उड़े-उड़े-से रहते हैं।

३—जो हर हालत में चाहे जैसे हो आमोद चाहते हैं, जो हकनाहक खीस निपोरते हैं।

४—अनुचित आनंद या अभिमान को प्रकट करने वाला।

५—जो दूसरे को असंतुष्ट करके खुद हँसता है।

६—जो सदैव आह्लाद दिखलाता हुआ घूमता है।

७—जो समय-असमय सदा आह्लाद प्रकट करता है।

८—जो अभिमानी थोड़े ही मे अधीर हो जाता है।

९—जो अनुपयुक्त समय में भी बेसबरी दिखलाता है।

१०—साधे गोपाल नीलमणि।

मैं समझता हूँ कि जो आदमी अपने को दुनिया का लाडला समझता है उसको 'आह्लादे' कहते हैं, लड़ैता बच्चा जैसा आचरण अपनी माँ के आगे करता है बहुत-कुछ वैसा ही आचरण उस व्यक्ति का सब जगह होता है। अर्थात् जो व्यक्ति समय-असमय, पात्र-अपात्र किसी का विचार न करके सब जगह हठ करता रहता है, सब जगह खीस निपोरे रहता है, सोचता है कि सभी उसकी सब ज्यादतियाँ माफ कर देंगे वही 'आह्लादे' है। उसको कौन चाहता है, कौन नही चाहता, कौन किस तरह देखता है, इसका विचार न करके वह झूमता-झामता सबसे चिपककर आ बैठता है, सबका प्यार छीनने की कोशिश करता है। संज्ञा-लेखको मे से बहुतो ने आह्लादे व्यक्ति के किसी-न-किसी लक्षण का निर्देश किया है। लेकिन उसके सब लक्षणों को व्यक्त करने वाली कोई एक बात नही कही। दसवी संज्ञा को संज्ञा ही नही कहा जा सकता।

जिनको पुरस्कार दिया गया है उनको 'आह्लादे' शब्द की संज्ञा ठीक नहीं हुई। वे कहते हैं :—

पकते हुए भात की तरह खदबदाना। जिनके प्रायः सभी काम 'एक की मौत दूसरे का मजा' इस कहावत की सचाई को प्रमाणित करते हैं यानी कि तुम मरो या बचो मैं तो मजा करूँगा, जिन लोगों का ऐसा मत और कार्य होता है उन्हींको 'आह्लादे' कहा जाता है।

हमारे पुरस्कृत-संज्ञा-लेखक ने दो संज्ञाओं का उत्तर दिया है। तीसरी में उन्हें सफलता नहीं मिली। उन्होंने श्री य—कहकर अपना परिचय दिया है, शायद वह अपना नाम नहीं जाहिर करना चाहते। हमने कहा था कि संज्ञा पाँच पदों से अधिक की न होनी चाहिए, किसी-किसी ने पद का मतलब शब्द समझ लिया है। हमने पद का इस्तेमाल अंग्रेजी 'सेन्टेन्स' के अर्थ में किया है।

सन् १६०६ में प्रकाशित। 'संज्ञा-विचार' का प्रकाशन 'बलाका' मासिक में मार्च १८८६ (फाल्गुन १२६२) में हुआ था।

छंद का अर्थ

बात जब सीधे-सीधे खड़ी रहती है तो केवल अर्थ को प्रकट करती है। लेकिन उसी बात को जब तिरछी भंगिमा और विशेष गति दी जाती है तब वह अपने अर्थ से भी अधिक कुछ प्रकट करती है। वह अधिक क्या है यही बतलाना कठिन है। क्योंकि उसे बतलाया नहीं जा सकता, वह अनिर्वचनीय है। हम लोग जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, जानते हैं, उसके साथ जब अनिर्वचनीय का संयोग होता है तब उसीको हम कहते हैं रस। अर्थात् उस चीज़ को अनुभव किया जा सकता है, उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। सभी जानते हैं कि यह रस ही काव्य का विषय है।

यहाँ पर एक बात ध्यान में रखना जरूरी है, अनिर्वचनीय शब्द का अर्थ अभावनीय नहीं है। ऐसा अगर होता तो वह काव्य,अकाव्य,कुकाव्य कहीं पर काम न देता। वस्तु पदार्थ की परिभाषा की जा सकती है रस पदार्थ की नहीं की जा सकती। तो भी रस हमारी एकांत अनुभूति का विषय है। गुलाब को हम वस्तु रूप में जानते हैं और गुलाब को हम रस रूप में पाते हैं। इस वस्तु-बोध की व्याख्या हम सादे ढंग से उसके आकार, आयतन, भार, कोमलता आदि बहुविध परिचय के द्वारा कर सकते हैं, लेकिन रस-बोध ऐसा एक अखण्ड व्यापार है कि उसे इस तरह सादे ढंग से बतलाया नहीं जा सकता; लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वह अलौकिक है, अद्भुत है, असामान्य है। बल्कि रस की अनुभूति वस्तु के ज्ञान की अपेक्षा और भी निकटतर, प्रबलतर, गंभीरतर होती है। इसलिए जब हम गुलाब के आनंद को दूसरे के मन में पैदा करना चाहते हैं तो एक साधारण अभिज्ञता का रास्ता पकड़कर ही ऐसा करते हैं। अंतर यही है कि वस्तु-बोध की भाषा सीधी-सादी बातचीत का विशेषण होती है, किन्तु रस-बोध की भाषा आकार, इंगित, सुर और रूपक होती है। पुरुष अपने जिस परिचय से आफ़िस का बड़ा बाबू है वह तो आफिस का खाता-पत्र देखकर ही जाना जा सकता है, लेकिन स्त्री अपने जिस परिचय से गृहलक्ष्मी है उसको व्यक्त करने के लिए उसकी माँग में

सिंदूर है, उसके हाथ में कंगन है। अर्थात् इसमें रूपक चाहिए, अलंकार चाहिए; क्योंकि यह केवल तथ्य से बड़ी चीज है, इसका परिचय केवल ज्ञान के द्वारा नहीं हृदय के द्वारा मिलता है। वह जो गृहलक्ष्मी को लक्ष्मी कहा गया यह तो हुआ बातचीत का बस एक इशारा; लेकिन आफिस के बड़े बाबू को तो किरानी नारायण कहने की इच्छा भी नहीं होती, यद्यपि धर्मतत्त्व में कहा गया है कि सब नरों में नारायण का आविर्भाव है। इसीसे समझ में आ जाता है कि आफिस के बड़े बाबू में अनिर्वचनीयता नहीं है। लेकिन जहाँ पर उनकी गृहिणी साध्वी हैं वहाँ पर उनमें यह गुण है। लेकिन इसी आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि हम उस बाबू को पूरा-पूरा समझते हैं और गृहलक्ष्मी को नहीं समझते; बल्कि उल्टी ही बात है। बात बस इतनी ही है कि समझने में गृहलक्ष्मी जितनी सहज हैं समझाने में उतनी सहज नहीं हैं।

"कौन सुनाये श्याम नाम ?" घटना के रूप में यह एक सहज-सी बात है। कोई एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के सामने तीसरे व्यक्ति का नाम ले रहा है। यह चीज दिन में पचास बार होती है। इतना ही कहने के लिए बात को बहुत खींचने की जरूरत नहीं होती। लेकिन जब नाम कान के भीतर से होकर मर्म को जाकर छूता है अर्थात् ऐसी जगह पर काम करने लगता है जो देखने-सुनने के परे है और ऐसा काम करता है जिसे नापा नहीं जा सकता, तोला नहीं जा सकता, जिसे आँख के सामने खड़ा करके जिसका साक्ष्य नहीं लिया जा सकता तब बात को घुमाकर उसके पूरे अर्थ से अधिक एक अर्थ उससे हासिल कर लेना पड़ता है। अर्थात् आवेग को प्रकट करने के लिए बात में उसी आवेग का धर्म उत्पन्न करना पड़ता है। आवेग का धर्म है वेग। बात जब उस वेग को ग्रहण करती है तभी हमारे हृदय के भाव के साथ उसका मेल बैठता है।

इस वेग में इतना वैचित्र्य है कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं। इस वेग का वैचित्र्य ही तो आलोक का रंग बदल देता है, शब्द का सुर बदल देता है और लीलामयी सृष्टि रूप से रूपांतर ग्रहण करती है। यहाँ तक कि सृष्टि का बाहर का पर्दा हटाकर हम उसके भीतर के रहस्य-निकेतन में जितना ही प्रवेश करते हैं उतना ही वस्तुत्व मिट जाता है और केवल भेद प्रकट होता है। अंततः ऐसा ही लगता है कि शायद प्रकाश-वैचित्र्य के मूल में यही वेग-वैचित्र्य है। 'यदिदं सर्वम् प्राण एजति निःसृतम्।'

मनुष्य की सत्ता में यह अनुभूति-लोक ही वह रहस्य-लोक है जिसमें बाहर के

रूप-जगत् का समस्त वेग भीतर पहुँचकर आवेग बन जाता है और भीतर का वही आवेग फिर बाहरी रूप ग्रहण करने के लिए अकुलाता है। इसीलिए जब वाक्य हमारे अनुभूति-लोक का वाहन बनते हैं तो जब तक उनमें गति न हो, काम नही चल सकता। वे अपने अर्थ के द्वारा बाहर की घटना को व्यक्त करते है और गति के द्वारा भीतर की गति को व्यक्त करते हैं।

श्याम का नाम राधा ने सुना है। घटना की इति हुई। लेकिन जो एक अदृश्य वेग उत्पन्न हुआ उसकी कही इति नही है। असल चीज वही है। उसीके लिए कवि ने छद की झकार में इस बात को झुला दिया। जब तक छंद रहेगा तब तक यह झूलना थमेगा नही। "कौन सुनायो श्याम नाम" कहते ही लहरें उठने लगी। यह कुछ थोड़े-से छपाई के अक्षर यद्यपि भलेमानुष की तरह खडे रहने का नाटक करते हैं लेकिन उनके भीतर का स्पदन कभी शांत न होगा। वे अस्थिर हो गए है और अस्थिर करना ही उनका काम है।

हमारे पुराणो मे छंद की उत्पत्ति की जो कथा है उसे सब जानते है। दो पक्षो में से एक को जब व्याध ने मारा तब वाल्मीकि के मन मे जो व्यथा हुई उस व्यथा को श्लोक के द्वारा बतलाये बिना उन्हे चैन न थी। जो पक्षी मारा गया और दूसरा जो पक्षी उसके लिए रोया वे दोनों तो न जाने कब लुप्त हो गए। लेकिन इस दारुण व्यथा को तो केवल समय की तराजू से तोला नही जा सकता। वह तो अनंत के हृदय मे बज रही है। इसीलिए कवि का शाप छंद का वाहन लेकर काल से कालांतर की ओर भाग चला। हाय रे, आज भी वही व्याध भाँति-भाँति के अस्त्र हाथ में लेकर भाँति-भाँति की वीभत्सताओं में अनेक देशों में अनेक आकारों में घूमता फिर रहा है। लेकिन आदिकवि का वह शाप शाश्वत काल के कंठ मे ध्वनित है। इस शाश्वत काल की बात को व्यक्त करने के लिए ही तो छद है।

हम अपनी बातचीत में कहते हैं, बात को छंद मे बाँधना। लेकिन यह बन्धन केवल बाहर से बन्धन है, भीतर से तो मुक्ति है। बात को उसके जड़-धर्म से मुक्ति देने के लिए ही छंद है। सितार में तार बँधे रहते है, लेकिन उन तारो से सुर निकलते हैं। छंद वही तार-बँधा सितार है, बात के भीतर के सुर को वह मुक्ति देता है। वह धनुष की डोरी है, जो बात को तीर के समान लक्ष्य के मर्म पर फेंकती है।

शुरू में ही छंद को लेकर इतनी वकालत करना संभव है बहुत-से लोगों को बकवास लगे। लेकिन मैं जानता हूँ कि ऐसे लोग है जो छंद को साहित्य की एक

कृत्रिम प्रथा समझते है। इसीसे मुझे यह बुनियादी बात समझाकर कहनी पड़ी कि पृथ्वी ठीक चौबीस घटे के चक्कर की लय मे, तीन सौ पैंसठ मात्रा के छद में सूर्य की प्रदक्षिणा करती है, जिस प्रकार यह चीज कृत्रिम नही है उसी प्रकार भावावेग के छद का आश्रय लेकर अपनी गति को प्रकट करने की चेष्टा करना भी कृत्रिम नही है।

यहाँ पर काव्य की तुलना गान से करके आलोच्य विषय को स्पष्ट करने की चेष्टा की जाय।

सुर नामक पदार्थ भी एक वेग ही है। वह अपने मे स्वयं स्पन्दित होता है। बात जिस तरह अर्थ की मुख्तारी करने के लिए होती है, सुर वैसा नही होता। वह अपने-आपको व्यक्त करता है। विशेष सुरों के साथ विशेष सुरों के सयोग से ध्वनि-वेग का एक समवाय उत्पन्न होता है। ताल उसी समवेत वेग को गति देता है। ध्वनि के इस गतिवेग से हमारे हृदय मे जिस गति का संचार होता है वह एक विशुद्ध आवेग मात्र है उसका जैसे कोई अवलम्ब न हो। साधारणतः संसार में हम कुछ विशेष घटनाओ को लेकर सुख-दु ख से विचलित होते है। वह घटना सत्य भी हो सकती है, काल्पनिक भी हो सकती है और हमारे निकट सत्य-जैसी जान पड़ने वाली भी हो सकती है। उसीके आधार पर हमारी चेतना तरह-तरह से स्पन्दित होती है, उसी स्पन्दन के प्रकार-भेद से हमारे आवेग का प्रकृति-भेद उत्पन्न होता है। लेकिन गान का सुर हमारी चेतना को जो स्पन्दन देता है वह किसी घटना को निमित्त बनाकर नही, वह बिलकुल अबाध-उन्मुक्त होता है इसीलिए उससे जो आवेग उत्पन्न होता है वह अहेतुक आवेग होता है। उससे हमारा चित्त अपने स्पन्दन वेग से ही अपने को जानता है, बाहर के साथ किसी व्यवहार के सम्बन्ध से नही।

संसार में हमारे जीवन में जो सब घटनाएँ घटती है उनके साथ तरह-तरह के उत्तरदायित्व लगे रहते है। जैविक दायित्व, वैषयिक दायित्व, सामाजिक दायित्व, नैतिक दायित्व। उनके लिए हमें अपने चित्त को भाँति-भाँति की चिन्ताओ और कार्यों मे बाहर को फैलना पड़ता है। शिल्प-कला, काव्य और रस-साहित्य मात्र हमारे चित्त को उन सब दायित्वों से मुक्ति देते हैं। तब हमारा चित्त सुख-दु ख मे अपनी ही विशुद्ध अभिव्यक्ति देख पाता है। वह अभिव्यक्ति ही आनन्द है। इस अभिव्यक्ति को हम चिरतन इसलिए कहते है कि बाहर की घटनाएँ संसार का जाल बुनते-बुनते, भाँति-भाँति के प्रयोजन सिद्ध करते-करते मिट जाती हैं, घनी

जाती हैं—उनका अपने में स्वतः कोई चरम मूल्य नहीं होता—लेकिन हमारे चित्त की जो आत्म-अभिव्यक्ति है वह अपने-आपमें चरम है, उसका मूल्य उसके अपने भीतर ही पर्याप्त होता है। तमसा के तीर पर क्रौंच-विरहिणी का दुःख अब कहीं नहीं है, लेकिन हमारे चित्त की आत्म-अनुभूति में उस वेदना का ताप अब भी बँधा ही हुआ है। वह घटना अब नहीं घट रही है, या शायद वह घटना कभी घटी ही नहीं, यह बात उसके आगे प्रमाणित करने से कोई लाभ नहीं।

जो हो, देखा जाता है कि गान का स्पन्दन हमारे चित्त में जो आवेग उत्पन्न कर देता है वह कोई सांसारिक घटनामूलक आवेग नहीं है। इसीलिए ऐसा लगता है कि सृष्टि की गहराई में जो एक विश्व-व्यापी प्राण-कम्पन चल रहा है, गान सुनकर हम-जैसे उसीका वेदना-वेग अपने चित्त में अनुभव करते हैं। भैरवी जैसे समस्त सृष्टि की अंतरतम विरह-व्याकुलता हो, देश मल्हार-जैसे अश्रु-गंगोत्री के किसी आदि-निर्झर का कल-कल्लोल हो। इनके द्वारा हमारी चेतना देश-काल की सीमा पार करके अपनी चंचल प्राण-धारा को विराट् में उपलब्ध करती है।

काव्य में भी हम अपने चित्त की इस आत्मानुभूति को विशुद्ध और मुक्त भाव से और साथ ही विचित्र आकार में पाना चाहते हैं। लेकिन काव्य का प्रधान उपकरण कथ्य है। वह तो सुर के समान अपने को ही व्यक्त नहीं करता। कथ्य अर्थ को बतलाता है। अतः काव्य में इस अर्थ को लेकर चलना ही होगा। इसीलिए इस बात की बुनियादी जरूरत है कि यह अर्थ रसमूलक हो। अर्थात् ऐसा कुछ हो जो स्वतः हमारे मन में स्पन्दन जगाये, जिसे हम आवेग कहते हैं।

लेकिन कथ्य अपने को ही व्यक्त नहीं करता, इसीलिए उसके साथ सुर के समान हमारे चित्त की सहधर्मिता नहीं होती। हमारा चित्त वेगवान है लेकिन कथ्य स्थिर है। इस लेख के आरम्भ में ही हमने इस विषय की विवेचना की है। मैंने कहा है कि कथ्य को वेग देकर हमारे चित्त की सामग्री बना देने के लिए छंद की जरूरत है। यही नहीं कि इस छंद के वाहन पर चढ़कर बात तेजी से हमारे चित्त में प्रवेश करती हो, उसके स्पन्दन में वह अपना स्पन्दन मिला देती है।

इस स्पन्दन के संयोग से शब्द के अर्थ में कैसा चमत्कार आ जाता है यह पहले से हिसाब करके नहीं बतलाया जा सकता। इसीलिए काव्य-रचना एक विस्मय-जनक व्यापार है। उसका विषय कवि के मन से बँधा होता है। लेकिन काव्य का लक्ष्य है विषय से आगे बढ़ जाना, विषय से अधिक जो अंश है वही अनिर्वचनीय है। छंद की गति बात के बीच से उसी अनिर्वचनीय को जगा देती है।

रजनी शाँवनघन   घन देया-गरजन
रिमिझिमि शबदे बारिषे।
पालके शयान रंगे   बिगलित चीर अंगे,
निंद जाइ मनेर हरिषे।

बादलों-भरी रात में एक लड़की बिछौने पर पड़ी सो रही है, विषय केवल
इतना है; लेकिन छंद जब इस विषय को हमारे मन में थरथरा देता है तो इस
लड़की का सोना जैसे एक शाश्वतकालीन परम व्यापार हो उठता है—ऐसा कि
जो लड़ाई आज चार बरस से, जर्मन कैसर ऐसे दुर्दांत प्रताप से लड़ रहा है वह
भी इसकी तुलना में तुच्छ और क्षणिक बन जाती है। उस लड़ाई के तथ्य को
किसी दिन लड़कों को बड़े कष्ट से इतिहास की पुस्तक में से रटकर इम्तहान पास
करना पड़ेगा, लेकिन 'पालके शयान रंगे बिगलित चीर अंगे, निंद जाइ मनेर
हरिषे' पढ़ने-रटने की चीज नहीं है। इसे हम अपने आप से देख पायेंगे और जो
देखेंगे वह एक लड़की के बिछौने पर पड़े सोने से कहीं अधिक होगा। इसी
दूसरे किसी छंद में लिखने से विषय तो ठीक ही रहेगा लेकिन विषय से अधि
है वह कुछ-का-कुछ हो जायगा।

जुलाई १९३६ में प्रकाशित। 'छंदेर अर्थ' मासिक
'सबुज-पत्र' में मार्च १९१८ (चैत्र १३२४) से प्रकाशित
हुआ था।

साहित्य का तात्पर्य

बाहर का जगत् हमारे मन के भीतर प्रवेश करके एक और ही जगत् बन जाता है। ऐसा नही है कि उसमे केवल बाहर के जगत् का रग, आकृति, ध्वनि हो, उसके साथ-साथ हमारी पसद-नापसद, हमारा भय-विस्मय, हमारा सुख-दुःख जुड़ा रहता है—वह हमारी हृदय-वृत्ति के विविध रसों मे अनेक प्रकार से आभासित हो उठता है।

इस हृदय-वृत्ति के रस में गलाकर हम बाहर के जगत् को विशेष रूप से अपना बना लेते हैं।

जिस प्रकार अनेक व्यक्तियो के उदर मे पाचक रस पर्याप्त मात्रा में न रहने से वे बाहर के खाद्य को अच्छी तरह अपने शरीर की चीज नहीं बना पाते उसी तरह से जो लोग हृदय-वृत्ति के पाचक रस को पर्याप्त रूप मे जगत् मे प्रयुक्त नही कर पाते। वे बाहर के जगत् को भीतर का जगत्, अपना जगत्, मनुष्य का जगत् बनाकर नही ग्रहण कर पाते।

ऐसे-ऐसे जड प्रकृति के लोग है, जिनके हृदय मे संसार के बहुत थोड़े विषयो के प्रति ही उत्सुकता रहती है, वे संसार मे जन्म लेकर भी अधिकाश ससार से वचित रहते है। उनके हृदय के झरोखे संख्या में कम और विस्तार मे सकीर्ण होते हैं। इसीलिए वे विश्व मे प्रवासी बनकर रहते है।

ऐसे भाग्यशाली लोग भी हैं जिनका विस्मय, प्रेम और कल्पना सर्वत्र जागृत रहती है, प्रकृति के कक्ष-कक्ष मे उनके लिए निमन्त्रण होता है, लोकालय के भाँति-भाँति के आन्दोलन उनकी चित्त-वीणा को विभिन्न रागनियों से स्पदित करते रहते है।

बाहर का विश्व इन लोगों के मन में हृदय-वृत्ति के विविध रसों में, रंगों में, साँचों में, नाना प्रकार से तैयार होता रहता है।

भावुक के मन का यह संसार बाहर के संसार की अपेक्षा मनुष्य का अधिक अपना होता है। वह हृदय की सहायता से मनुष्य के हृदय के लिए अधिक सुगम

हो उठता है। यह हमारे चित्त के प्रभाव से जो विशेषता प्राप्त करता है वही मनुष्य के लिए सबसे अधिक उपादेय है।

इसलिए देखा जाता है कि बाहर के संसार और मानव के संसार में अंतर है। कौन सफेद है, कौन काला; कौन बड़ा, कौन छोटा; मानव का संसार इसकी रत्ती-भर सूचना नही देता। कौन प्रिय है कौन अप्रिय; कौन सुन्दर कौन असुन्दर; कौन अच्छा, कौन बुरा; मनुष्य का संसार यही बात अलग-अलग स्वरों में कहता है।

यह जो मनुष्य का संसार है यही हम सबके हृदय-हृदय में बहता आ रहा है, यह प्रवाह पुरातन है और नित्य नूतन। नई-नई इन्द्रियों, नये-नये हृदयों के बीच होकर यह सनातन स्रोत हमेशा नया होता चलता है।

लेकिन इसको पाया जाय कैसे? इसको पकड़कर रखा जाय किस उपाय से? इस अनूठे मानस-जगत् को रूप देकर यदि बार-बार बाहर व्यक्त न किया जा सके तो यह सदा बनता और बिगड़ता रहता है।

लेकिन यह चीज नष्ट नही होना चाहती। हृदय का जगत् अपने को व्यक्त करने के लिए व्याकुल रहता है। इसीसे चिरकाल से मनुष्य मे साहित्य का आवेग मिलता है।

साहित्य का विचार करते समय दो चीजें देखनी होती हैं। पहली, विश्व पर साहित्यकार के हृदय का अधिकार कितना है; दूसरी, उसका कितना अश स्थायी आकार मे व्यक्त हुआ है।

इन दोनों मे सब समय सामंजस्य नही रहता। जहाँ रहता है वही सोने में सुहागा है।

कवि का कल्पना-सचेतन हृदय जितना ही विश्व-व्यापी होता है, उतनी ही उनकी रचना की गहराई से हमारी परितृप्ति बढ़ती है। मानव-विश्व की सीमा फैलकर हमारा चिरतन विहार-क्षेत्र उतनी ही विपुलता प्राप्त करता है।

लेकिन रचना-शक्ति की निपुणता भी साहित्य मे अत्यन्त मूल्यवान है। क्योंकि जिसका सहारा लेकर वह शक्ति प्रकाशित होती है वह अपेक्षाकृत तुच्छ होते हुए भी बिलकुल नष्ट नही होती। यह शक्ति भाषा में, साहित्य मे संचित होती रहती है। यह मानव की अभिव्यक्ति की क्षमता को बढ़ा देती है। इस क्षमता को पाने के लिए मनुष्य हमेशा से व्याकुल है। जिन कृतीजनों की सहायता से मनुष्य की यह क्षमता परिपुष्ट होती रहती है मनुष्य उन्हे यश देकर अपना

ऋण चुकाने की चेष्टा करता है।

जो मानस-जगत् हृदय के भावों के उपकरण से अंतस् के भीतर बनता रहता है उसको बाहर व्यक्त करने का उपाय क्या है।

उसको इस तरह व्यक्त करना होगा जिससे हृदय के भावों का उद्रेक हो।

हृदय के भावो के उद्रेक के लिए बहुत-से साज-सरजाम लगते हैं।

पुरुप का आफिस का कपडा सीधा-सादा होता है, वह जितना ही कम हो उतना ही काम के लिए उपयोगी होता है। स्त्रियो की वेश-भूपा, लाज-शरम, भाव-भगी समस्त सभ्य समाजो में प्रचलित है।

स्त्रियों का काम हृदय का काम है। उन्हें हृदय देना होता है और हृदय अपनी ओर खीचना होता है; इसलिए उनका काम बिलकुल सीधा-सपाट, कटा-छँटा होने से नही चलता। पुरुप के लिए जैसे-का-तैसा होना आवश्यक है लेकिन स्त्री को सुन्दर होना चाहिए। पुरुप का व्यवहार मोटे रूप में सुस्पष्ट हो यही अच्छा है, लेकिन स्त्रियों के व्यवहार में अनेक आवरण-आभास-इगित रहने चाहिएँ।

साहित्य भी अपनी चेष्टा को सफल करने के लिए अलंकार, रूपक, छंद, आभास, इगित का सहारा लेता है। दर्शन विज्ञान के समान निरलंकार होने से उसका काम नही चलता।

अपरूप को रूप के द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा करते समय वचन मे अनिर्वचनीयता की रक्षा करनी होती है। नारी मे जैसे श्री और लज्जा होती है, साहित्य की अनिर्वचनीयता भी वही चीज है। उसका अनुकरण नही किया जा सकता। वह अलंकार का अतिक्रमण करती है, वह अलकार से आच्छन्न नही होती।

भापा में इस भापातीत को प्रतिष्ठित करने के लिए साहित्य भापा में प्रधानतः दो चीजें मिलाता है, चित्र और सगीत।

जिसे बात से नही कहा जा सकता उसे चित्र से कहना पडता है। साहित्य में यह चित्र खीचने की सीमा नही है। उपमा, तुलना, रूपक द्वारा भाव प्रत्यक्ष हो उठना चाहते है। 'देखिवारे आँखि पाखि धाय' इस एक बात में बलरामदास ने क्या नही कह दिया ? व्याकुल दृष्टि की व्याकुलता केवल वर्णन से कैसे व्यक्त होती ? दृष्टि पंछी की तरह उड चली है, इस चित्र से अभिव्यक्ति की दारुण आकुलता एक क्षण में शाति पा लेती है।

इसके अलावा छंद में, शब्द में वाक्य-विन्यास में साहित्य को संगीत का सहारा तो लेना ही पड़ता है। जिसे किसी तरह नही कहा जा सकता उसे इस संगीत के माध्यम से कहा जा सकता है। अर्थ-विश्लेषण करके देखने पर जो बात बहुत सामान्य जान पड़ती है वही संगीत के द्वारा व्यक्त होने पर असामान्य हो उठती है। बात में वेदना का संचार यह संगीत ही करता है।

अतः चित्र और संगीत ही साहित्य के प्रधान उपकरण है। चित्र भाव को आकार देता है और संगीत भाव को गति देता है। चित्र देह है और संगीत प्राण।

लेकिन ऐसी बात नही है कि केवल मनुष्य का हृदय ही साहित्य में पकड़कर रखने की चीज है। मनुष्य का चरित्र भी ऐसी सृष्टि है जो जड़ सृष्टि के समान हमारी इंद्रियों की पकड़ में नही आती। 'रुके रहो' कहने से ही वह रुक नही जाता। मनुष्य के लिए वह परम कौतूहलजनक है लेकिन उसे पशुशाला के पशु के समान बांधकर, कठघरे में ठूंसकर ठहराकर देखने का सहज उपाय नही है।

यह जो पकड़ने-बांधने से परे विचित्र है, इसको भी साहित्य अंतर्लोक से बाहर ले आकर प्रतिष्ठित करना चाहता है। यह बड़ा कठिन काम है, क्योंकि मानव-चरित्र स्थिर नही होता, सुसंगत नही होता, उसके अनेक अंश अनेक स्तर होते है, उसके भीतर-बाहर उन्मुक्त गतिविधि सहज नही होती। इसके अलावा उसकी लीला इतनी सूक्ष्म, इतनी अकल्पनीय, इतनी आकस्मिक होती है कि उसको पूरी तरह हमारे हृदय में बैठा सकना असाधारण क्षमता का काम है। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि यही काम करते आए है।

अब अपने समस्त आलोच्य विषय को अगर एक बात में कहना हो तो कहना होगा कि साहित्य का विषय मानव-हृदय और मानव-चरित्र होता है।

लेकिन मानव-चरित्र कहना भी बात को जैसे बढ़ाकर कहना होगा। वस्तुतः बाह्य प्रकृति और मानव-चरित्र मनुष्य के हृदय में अनुक्षण जो आकार धारण करते है, जो संगीत ध्वनित करते रहते है, भाषा-रचित वही चित्र और वही गान साहित्य है।

भगवान् का आनंद प्रकृति में है, मानव-चरित्र में है, वह स्वयं अपनी सृष्टि कर रहा है। मनुष्य का हृदय भी साहित्य में अपनी सृष्टि करने की, अपने को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा का अंत नही है, यह विचित्र है। कविगण मानव-हृदय की इस चिरंतन चेष्टा के निमित्त मात्र है।

भगवान् की आनंद-सृष्टि अपने भीतर से निकलकर ही फैलती है, मानव-हृदय की आनद-सृष्टि उसीकी प्रतिध्वनि है। इसी जगत्-सृष्टि के आनंद गीत की झकार हमारी हृदय-वीणा के तारो को दिन-रात स्पदित करती रहती है, वही जो मानस-सगीत भगवान् की सृष्टि के प्रतिघात से हमारे हृदय मे गूँजता रहता है वह सृष्टि का आवेग है, साहित्य उसीका विकास है। विश्व का नि श्वास हमारी चित्तवशी मे कौन-सी रागिनी बजा रहा है, साहित्य उसीको स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की चेष्टा करता है। साहित्य व्यक्ति-विशेष का नही होता, वह रचयिता का नही होता, वह देव-वाणी है। जिस प्रकार बाह्य सृष्टि अपना भला-बुरा और अपूर्णता लिये हुए निरतर व्यक्त होने की चेष्टा करती रहती है उसी प्रकार यह वाणी भी देश-देश मे, भाषा-भाषा मे हमारे भीतर से बाहर निकलने के लिए निरंतर चेष्टा करती रहती है।

गद्य रचनाओ के चतुर्थ खण्ड के रूप मे १९०७ में प्रकाशित। 'साहित्येर तात्पर्य' मासिक 'बग दर्शन' में नवम्बर-दिसम्बर १९०३ (अग्रहायण १३१०) मे प्रकाशित हुआ था।

साहित्य की सामग्री

एकदम विशुद्ध रूप से अपने आनंद के लिए लिखना साहित्य नही। बहुत-से लोग कविता की शैली मे कहते है कि चिड़िया जैसे अपनी खुशी मे ही गाती है लेखक की रचना का उच्छ्वास भी वैसा ही आत्मगत होता है और पाठक जो कुछ सुनते हैं वह जैसे आड़ में खड़े होकर।

पक्षी के गाने मे पक्षी-समाज के प्रति कोई लक्ष्य नही होता, यह बात जोर देकर मैं नही कह सकता। न होता हो तो नही सही, उसको लेकर तर्क करना व्यर्थ है, लेखक का प्रधान लक्ष्य पाठक-समाज होता है।

यह कहने का मतलब ज़रा भी यह नही है कि साहित्य कृत्रिम होता है। माँ का स्तन एक-मात्र संतान के लिए होता है। इस बात के कहने मे और उस स्तन को स्वतः स्फूर्त करने मे मैं कोई बाधा नही देखता।

नीरव कवित्व और आत्मगत भावोच्छ्वास, साहित्य मे ये दो फिज़ूल बाते किसी-किसी क्षेत्र मे प्रचलित है। जो लकड़ी जलती नही उसे आग का नाम देना और जो आदमी आकाश की ओर ताककर आकाश के समान ही नीरव बना रहता है उसको कवि कहकर पुकारना एक ही बात है। अभिव्यक्ति ही कवित्व है, मन के भीतर क्या है क्या नही है इसकी विवेचना करने से बाहर के आदमी का कुछ नही आता-जाता। कहावत है 'मिष्टान्नमितरेजनाः' भंडार में क्या जमा है उसकी अटकलबाजी से बाहर के लोगो को कुछ नही मिलता, उन्हें मिठाई हाथों-हाथ चाहिए।

साहित्य में आत्मगत भावोच्छ्वास भी वैसी ही एक बात है। यह मानकर चलना होगा कि रचना रचयिता के लिए नही होती और इसको मानकर ही विचार करना होगा।

हमारे मन के भाव की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति यह है कि वह अनेक मनो मे अपने-आपको अनुभूत करना चाहता है। [illegible] लिए, टिके रहने के लिए प्राणियो में स [illegible] म देखते [illegible] होने के [illegible] व

संतानो द्वारा अपने को जितना ही बहुगुणित करके जितनी ही ज्यादा जगह घेर सके जीवन का उसका अधिकार उतना ही ज्यादा बढ़ जाता है, कि जैसे अपने अस्तित्व को वह उतनी ही अधिक सचाई दे पाता हो।

मनुष्य के मनोभावों में भी वैसी ही एक चेष्टा है। अंतर इतना ही है कि प्राण का अधिकार देश और काल मे होता है, मनोभाव का अधिकार मन और कार्य मे। मनोभाव की चेष्टा बहुत समय तक बहुत-से मनों को अपने अधिकार में करने की होती है।

यही गहरी आकांक्षा कितने प्राचीन काल से, कितने इंगित, कितनी भाषा, कितनी लिपि, कितनी पत्थर की खुदाई, धातु की ढलाई, चमड़े की बँधाई—कितने पेड़ों की छालों पर, पत्तों पर, कागज पर, कितनी तूलिकाओं से, कुदाल से, कलम से, कितनी भाग-दौड, कितना प्रयास— बाएँ से दाएँ, दाएँ से बाएँ, ऊपर से नीचे, एक कतार से दूसरी कतार में ! क्या ? नही; मैंने जो सोचा है, मैने जो अनुभव किया है वह मरेगा नही, वह मन से मन में, काल से काल मे सोचा जाता हुआ अनुभव किया जाता हुआ प्रवाहित होता रहेगा। मेरा घर, मेरा माल-असबाब, मेरा शरीर-मन, मेरे सुख-दुख की सामग्री सब-कुछ चली जायगी; लेकिन मैंने जो सोचा है, जो समझा है, वह सदा-सर्वदा मनुष्य की बुद्धि का सहारा लेकर सजीव संसार के बीच बचा रहेगा।

मध्य एशिया मे गोबी मरुभूमि के बालुका-स्तूप के अन्दर से जब विलुप्त मानव-समाज के विस्मृत प्राचीन काल की जीर्ण पोथी बाहर निकल पड़ती है, तब उसकी उस अनजान भाषा के अपरिचित अक्षरो मे कैसी एक वेदना व्यक्त होती है ! किस काल के किस सजीव चित्त की चेष्टा आज हमारे मन मे प्रवेश करने के लिए छटपटा रही है ! जिसने लिखा था वह अब नहीं है, जिस नगर-बस्ती मे लिखा गया था वह भी अब नही है, लेकिन मनुष्य के मन का छोटा-सा भाव मनुष्य के सुख-दुख के बीच लालित होने के लिए युग से युगांतर मे आकर अपना परिचय नहीं दे पा रहा है, दोनो बाँहे आगे बढ़ाकर हमारे मुँह की ओर ताक रहा है।

संसार में सर्वश्रेष्ठ सम्राट् अशोक ने अपनी जिन बातों को चिरकाल के लिए श्रुतिगोचर करना चाहा था उनको उन्होने पहाड़ के शरीर पर खोद दिया था। सोचा था पहाड़ कभी मरेगा नही, हटेगा नही, अनंत काल तक रास्ते के किनारे अचल खड़े रहकर नये-नये युगों के पथिकों को एक बात अनंत काल तक सुनाता

रहेगा। अपनी बात कहने का भार उन्होंने पहाड़ को दिया था।

पहाड़ समय-असमय का कोई विचार न करके उनकी भाषा-वहन करता आ रहा है। कहाँ है अशोक, कहाँ है पाटलिपुत्र, कहाँ है धर्मजाग्रत भारतवर्ष का वह गौरव का दिन! लेकिन पहाड़ उस दिन की उस बात को विस्मृत अक्षरों में, अप्रचलित भाषा मे आज भी उच्चारण कर रहा है। कितने दिनों तक उसने अरण्यरोदन किया है! अशोक की उस महावाणी ने भी कितने सैकड़ो वर्षों तक मानव-हृदय को गूँगे के समान केवल इशारे से पुकारा है! उसी रास्ते मे राजपूत गया, पठान गया, मुगल गया, वर्गी की तलवार बिजली की तरह क्षिप्र वेग से दिग्-दिगंत मे प्रलय का चाबुक लगा गई—किसी ने उसके इशारे को ग्रहण नही किया। समुद्र-पार के जिस क्षुद्र द्वीप की बात अशोक ने कभी कल्पना भी न की थी, उनके शिल्पी पाषाण-फलको पर जब उनका अनुशासन उत्कीर्ण कर रहे थे तब जिस द्वीप के अरण्यचारी 'ड्रुइद' लोग अपनी पूजा के आवेग को भाषाहीन प्रस्तर-स्तूपो मे स्तम्भित कर रहे थे, कई हजार वर्षों बाद उसी द्वीप से एक विदेशी ने आकर कालांतर के उस मूक इंगित-पाश से उसकी भाषा का उद्धार कर लिया। राज-चक्रवर्ती अशोक की इच्छा ने इतनी शताब्दियों बाद एक विदेशी की सहायता से सार्थकता पाई। वह इच्छा और कुछ नही, वे चाहे जितने बड़े सम्राट् हों, वे क्या चाहते हैं और क्या नही चाहते, उनकी दृष्टि मे क्या अच्छा है, क्या बुरा; यह सब पथ के पथिकों को भी बतलाना होगा। उनके मन का भाव इतने युगो से सब मनुष्यो के मन के आश्रय की कामना करते हुए राह के किनारे खड़ा है। राज-चक्रवर्ती की उस एकाग्र आकांक्षा की ओर कोई पथिक देखता है और कोई न देखकर चला जाता है।

इसका अभिप्राय यह नही है कि अशोक के अनुशासनो को मैं साहित्य कह रहा हूँ। उससे इतना ही सिद्ध होता है कि मनुष्य-हृदय की एक प्रधान आशंका क्या है। हम जो मूर्ति गढ़ते हैं, चित्र आँकते हैं, कविता लिखते हैं, पत्थर के मंदिर बनाते हैं, देश-विदेश मे चिरकाल से निरंतर यह जो एक चेष्टा चल रही है इसके सिवा और कुछ नही है कि मनुष्य का हृदय मनुष्य के हृदय के बीच अमरता की प्रार्थना कर रहा है।

जो शाश्वत मानव-हृदय मे अमर होने की चेष्टा करता है वह हमारे क्षण-स्थायी प्रयोजन और चेष्टा से अनेक बातों मे पृथक् होता है। हम अपने साल-भर के प्रयोजन के लिए धान, जौ, गेहूँ आदि फ़सलों के बीज बोते हैं, लेकिन अगर

जंगल लगाना हो तो वनस्पति के बीज इकट्ठे करने होते हैं।

साहित्य में यह चिरस्थायित्व की चेष्टा ही मनुष्य की प्रिय चेष्टा है। इसीलिए देशहितैषी समालोचकगण चाहे जितने उत्तेजित क्यों न हो कि सारवान् साहित्य का अभाव हो रहा है, केवल नाटक, उपन्यास, काव्य, देश को छाये ले ले रहा है, तो भी लेखक लोग चेतते नही। क्योंकि सारवान् साहित्य से तात्कालिक प्रयोजन मिटता है, लेकिन अप्रयोजनीय साहित्य मे स्थायित्व की सभावना अधिक रहती है।

जो ज्ञान की बात है, प्रचार होते ही उसका उद्देश्य सफल हो जाता है और वह समाप्त हो जाती है। मनुष्य के ज्ञान मे नये आविष्कारों द्वारा पुराने आविष्कार ढक जाते हैं। कल जो पडितों के लिए अगम्य था आज उसमें आधुनिक बालक के लिए भी नया कुछ नही है। जो सत्य नये वेश में विप्लव ले आता है वही सत्य पुराने वेश में विस्मय भी नहीं जगाता। आज जो सब तत्त्व अशिक्षितों के निकट भी परिचित हैं किसी काल में पंडितो को भी समझने में उन्हें बाधा हुई थी, लोगों को इसी बात का आश्चर्य होता है। लेकिन हृदय के भावो की बात प्रचार के द्वारा पुरानी नही पड़ती।

ज्ञान की बात एक बार जान लेने पर फिर उसमे जानने को कुछ नही रह जाता। आग गरम होती है, सूरज गोल है, पानी तरल है, यह एक बार जान लेने पर बात खत्म हो जाती है, दूसरी बार अगर कोई उसे हमको नई शिक्षा के समान जताने के लिए आये तो अपने धैर्य की रक्षा करना हमारे लिए कठिन हो जाता है। लेकिन भाव की बात बार-बार अनुभव करके भी हमें कोई थकान नही मालूम होती। सूरज पूर्व मे उगता है यह बात हमारे मन को अब आकंपित नही करती लेकिन सूर्योदय का जो सौन्दर्य और आनंद है वह जीव-सृष्टि से लेकर आज तक हमारे लिए वैसे-का-वैसा ताजा है। यहाँ तक कि अनुभूति जितने ही प्राचीन काल, जितनी ही लोक-परम्परा के बीच से प्रवाहित होकर आती है उतनी ही उसकी गहराई बढती है और उतने ही सहज रूप में वह हमारे मन मे आवेग का संचार कर पाती है।

अत. सदा-सदा से यह बात चली आ रही है कि अगर मनुष्य अपनी कोई चीज़ मनुष्य के निकट उज्ज्वल नवीन भाव से अमर करके रखना चाहे तो उसे भाव की बात का ही आश्रय लेना पड़ता है। इसीलिए साहित्य का प्रधान अवलम्ब ज्ञान का विषय नही भाव का विषय होता है। इसके अलावा जो ज्ञान की

है। उसी प्रकार भाव मनुष्य-साधारण का होता है लेकिन उसे विशेष आकार देकर सब लोगों की विशेष आनन्द की सामग्री बना देने की उपाय-रचना ही लेखक की अपनी कीर्ति होती है।

इस प्रकार मैं देखता हूँ कि अपने भाव को सबका बना देना ही साहित्य है, ललित कला है। अंगार नाम की जो वस्तु है वह जल-स्थल-वायु मे नाना पदार्थों में साधारण भाव से रहती है। पेड़-पौधे उसे निगूढ़ शक्तिबल से विशेष आकार में पहले अपना बना लेते है और इसी उपाय से वह सुदीर्घकाल तक विशेष भाव से सर्वसाधारण के भोग का द्रव्य हो उठती है। यही नही कि वह आहार है और गर्मी के काम में आती है, उससे सौन्दर्य, छाया, स्वास्थ्य फैलता रहता है।

अतएव देखा जाता है कि साधारण-सी चीज को विशेष भाव से अपना बना लेना और उसे फिर उसी उपाय से विशेष भाव से साधारण बना देना साहित्य का काम है।

ऐसा अगर हो तो ज्ञान की चीज़ अपने-आप साहित्य से अलग हो जाती है। क्योंकि अंग्रेजी में जिसे ट्रुथ कहते हैं और बंगला मे जिसे हमने सत्य का नाम दिया है अर्थात् जो हमारी बुद्धि का अधिगम्य विषय है उसको व्यक्ति विशेष के निजत्व से मुक्त कर लेना नितान्त आवश्यक है। सत्य सर्वांशतः व्यक्ति-निरपेक्ष, शुभ्र-निरंजन होता है। गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त हमारे लिए एक और दूसरों के लिए दूसरा नही है। उसके ऊपर बहुरंगी हृदय के नये-नये रंगों की छाया नही पड़ पाती।

जो सब चीजें दूसरों के हृदय में संचरित होने के लिए प्रतिभाशाली हृदय के आगे सुर-रंग-इंगित की प्रार्थना करती है, जो हमारे हृदय द्वारा सृष्टि मे न आयें तो दूसरे के हृदय में प्रतिष्ठित नही हो सकती, वही साहित्य की सामग्री है। वह आकार-प्रकार में भाव-भाषा मे, सुर-छन्द में मिलकर ही बच सकती है, वह मनुष्य की बिलकुल अपनी होती है, वह आविष्कार नही होती, अनुकरण नही होती, वह सृष्टि होती है। इसलिए एक बार प्रकाशित हो जाने पर फिर उसका रूपान्तर, अवस्थान्तर नही किया जा सकता, उसके प्रत्येक अंश पर उसकी समग्रता पूरी तरह निर्भर होती है। जहां पर इसमें गड़बड़ी दिखाई पड़ती है वही पर उसका साहित्य अंश हेय हो जाता है।

'साहित्येर सामग्री' 'बंग दर्शन' अक्तूबर-नवम्बर १६०३
(कार्तिक १३१०) में प्रकाशित हुआ था।

चीज है उसे एक भाषा से दूसरी भाषा में स्थानांतरित किया जा सकता है। मूल रचना से उसका उद्धार करके दूसरी रचना मे मिला देने से बहुत दिनों तक उसकी उज्ज्वलता बढ़ती रहती है। उसके विषय को लेकर बहुत-से लोग बहुत-सी भाषाओ मे बहुत तरह मे प्रचार कर सकते हैं, इसी रूप मे उसका उद्देश्य सच्चे अर्थों मे सफल होता है।

लेकिन भाव के विषय के सम्बन्ध मे यह बात लागू नही है। वह जिस मूर्ति का आश्रय लेता है उससे उसे अलग नही किया जा सकता।

ज्ञान की बात सिद्ध करनी होती है और भाव की बात का संचार कर देना होता है। उसके लिए तरह-तरह के आभास-इंगित, तरह-तरह के कला-कौशल की जरूरत होती है। उसे केवल समझाकर कहने से काम नही चलता, उसे रचकर खड़ा कर देना पड़ता है।

यह कला-कौशलपूर्ण रचना भाव की देह के समान है। इस देह में भाव की प्रतिष्ठा करने मे ही साहित्यकार का परिचय मिलता है। इस देह की प्रकृति और लगन के अनुसार ही उसका आश्रित भाव मनुष्य के निकट आदर पाता है, इसकी शक्ति के अनुसार ही वह हृदय और काल मे व्याप्त हो पाता है।

प्राण की चीज एकांत रूप मे देह पर निर्भर करती है। पानी के समान उसे एक बरतन से दूसरे बरतन मे ढाला नही जा जाता। देह और प्राण एक-दूसरे को गौरवान्वित करते हुए एकात्म होकर रहते है।

भाव, विषय, तत्त्व साधारण मनुष्यो के होते है। उन्हें अगर एक आदमी वाणी न दे तो आगे-पीछे दूसरा कोई आदमी वाणी देगा। लेकिन रचना पूरी तरह लेखक की अपनी होती है। वह जैसी एक आदमी की होगी दूसरे आदमी की न होगी। इसीलिए रचना मे ही लेखक सच्चे अर्थों में जीवित रहता है, भाव में नही, विषय मे नही।

अवश्य ही रचना कहने पर भाव के साथ भाव को अभिव्यक्ति देने का उपाय दोनों ही सम्मिलित समझे जाते हैं, लेकिन उपाय ही विशेष रूप से लेखक का अपना होता है।

तालाब कहनेसे पानी और खोदने का आधार दोनो एक साथ समझ मे आते हैं। लेकिन कीर्ति किसमे है ? पानी मनुष्य की सृष्टि नही, वह चिरंतन है। उसी पानी को विशेष रूप से सर्वसाधारण के उपभोग के लिए बहुत दिनों तक रक्षा करने के लिए जो उपाय किया जाता है वही कीर्तिमान मनुष्य का अपना होता

है। उसी प्रकार भाव मनुष्य-साधारण का होता है लेकिन उसे विशेष आकार देकर सब लोगों की विशेष आनन्द की सामग्री बना देने की उपाय-रचना ही लेखक की अपनी कीर्ति होती है।

इस प्रकार मैं देखता हूँ कि अपने भाव को सबका बना देना ही साहित्य है, ललित कला है। अगार नाम की जो वस्तु है वह जल-स्थल-वायु मे नाना पदार्थों मे साधारण भाव से रहती है। पेड़-पौधे उसे निगूढ शक्तिबल से विशेष आकार में पहले अपना बना लेते है और इसी उपाय मे वह सुदीर्घकाल तक विशेष भाव से सर्वसाधारण के भोग का द्रव्य हो उठती है। यही नही कि वह आहार है और गर्मी के काम में आती है, उससे सौन्दर्य, छाया, स्वास्थ्य फैलता रहता है।

अतएव देखा जाता है कि साधारण-सी चीज को विशेष भाव से अपना बना लेना और उसे फिर उसी उपाय से विशेष भाव से साधारण बना देना साहित्य का काम है।

ऐसा अगर हो तो ज्ञान की चीज अपने-आप साहित्य से अलग हो जाती है। क्योंकि अंग्रेजी में जिसे ट्रुथ कहते है और बंगला मे जिसे हमने सत्य का नाम दिया है अर्थात् जो हमारी बुद्धि का अधिगम्य विषय है उसको व्यक्ति विशेष के निजत्व से मुक्त कर लेना नितांत आवश्यक है। सत्य सर्वांशतः व्यक्ति-निरपेक्ष, शुभ्र-निरंजन होता है। गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त हमारे लिए एक और दूसरों के लिए दूसरा नही है। उसके ऊपर बहुरंगी हृदय के नये-नये रंगों की छाया नही पड़ पाती।

जो सब चीजें दूसरों के हृदय मे संचरित होने के लिए प्रतिभाशाली हृदय के आगे सुर-रंग-इंगित की प्रार्थना करती है, जो हमारे हृदय द्वारा सृष्टि मे न आयें तो दूसरे के हृदय में प्रतिष्ठित नही हो सकती, वही साहित्य की सामग्री है। वह आकार-प्रकार में भाव-भाषा मे, सुर-छन्द मे मिलकर ही बच सकती है, वह मनुष्य की बिलकुल अपनी होती है, वह आविष्कार नही होती, अनुकरण नही होती, वह सृष्टि होती है। इसलिए एक बार प्रकाशित हो जाने पर फिर उसका रूपान्तर, अवस्थान्तर नही किया जा सकता, उसके प्रत्येक अंश पर उसकी समग्रता पूरी तरह निर्भर होती है। जहाँ पर इसमे गड़बड़ी दिखाई पड़ती है वही पर उसका साहित्य अंश हेय हो जाता है।

'साहित्येर सामग्री' 'बंग दर्शन' अक्तूबर-नवम्बर १९०३
(कार्तिक १३१०) में प्रकाशित हुआ था।

साहित्य का विचारक

जब मैं घर पर बैठकर आनन्द मे हँसता हूँ और दुःख में रोता हूँ तब यह बात कभी मन मे नही आती कि जरा और ज्यादा हँसने की जरूरत है या रोना वजन मे कम पड गया है। लेकिन दूसरे के सामने जब आनन्द या दुःख दिखलाना आवश्यक हो जाता है तब मन का भाव सच होते हुए भी बहार की अभिव्यक्ति पूरी तरह उसकी अनुयायी नही हो पाती।

यहाँ तक कि माँ भी जब जोर-जोर से विलाप करके मुहल्ले की निद्रा-तंद्रा भगा देती है तब तक वह केवल पुत्र-शोक को प्रकट करने के लिए रोती हो ऐसी बात नही है, वह पुत्र-शोक के गौरव को भी प्रकट करना चाहती है। अपने आगे दुःख-सुख प्रमाणित करने की आवश्यकता नही होती, दूसरे के आगे उसे प्रमाणित करना पडता है। इसीलिए शोक-प्रकाश के लिए जितना रोना स्वाभाविक है शोक-प्रमाण के लिए उससे अधिक सुर चढाये बिना काम नही चलता।

इसको कृत्रिमता कहकर उड़ा देना अन्याय होगा। शोक-प्रमाण शोक-प्रकाश का एक स्वाभाविक अंग है। मेरे बच्चे का मूल्य केवल मेरे लिए ज्यादा है, उसका वियोग कैसी मर्मांतक घटना है यह पृथ्वी पर और कोई समझ न सकेगा, उसके अभाव मे भी संसार के और सब लोग अत्यन्त स्वच्छन्द चित्त से आहार-निद्रा और आफिस आने-जाने मे लगे रहेगे, अपने पुत्र के प्रति संसार की यह अवज्ञा शोकातुर माँ के हृदय पर चोट करती रहती है। तब वह अपने शोक की प्रबलता द्वारा इस क्षति की प्रचुरता को विश्व के आगे घोषित करके जैसे अपने पुत्र को गौरवान्वित करना चाहती है।

जिस अंश मे शोक अपना होता है उस अंश में उसमे एक स्वाभाविक संयम रहता है, जिस अंश में उसे दूसरे के आगे घोषित करना पड़ता है उस अंश मे अनेक समय वह संगति की सीमा को लाँघ जाता है। दूसरे के जड़ हृदय को अपने शोक के द्वारा विचलित कर देने की स्वाभाविक इच्छा मे उसकी चेष्टा अस्वाभाविक उद्यम का सहारा लेती है।

केवल शोक नही, हमारे हृदय के अधिकांश भावों की यही दो दिशाएँ हैं, एक अपने लिए, एक दूसरे के लिए। अपने हृदय के भाव को सबके हृदय का भाव बना सकने मे एक सान्त्वना, एक गौरव है। "मै जिससे विचलित हूँ तुम उससे उदासीन हो" यह हमे अच्छा नहीं लगता।

इसका कारण है। बहुत-से-लोगों के सामने प्रमाणित न होने से सचाई की प्रतिष्ठा नही होती। मैं अगर आसमान को हल्दी के रंग का देखता हूँ और दस लोग नहीं देखते तो उससे मेरी व्याधि ही प्रमाणित होती है। वह मेरी दुर्बलता है।

मेरी हृदय-वेदना मे संसार के जितने अधिक लोग समवेदना अनुभव करेंगे उतनी ही सचाई प्रतिष्ठित होगी। मैं जो कुछ एकात भाव से अनुभव कर रहा हूँ यह मेरी दुर्बलता नहीं है, व्याधि नहीं है, पागलपन नहीं है, वह सत्य है, उसे सर्व-साधारण के हृदय मे प्रमाणित करके मैं विशेष रूप से सान्त्वना और सुख पाता हूँ।

जो चीज नीली है उसे दस लोगों के आगे नीला कहकर प्रचारित करना कठिन नही, लेकिन जो मेरे निकट सुख या दुःख है, प्रिय या अप्रिय है, उसे दस लोगों के निकट सुख या दुःख, प्रिय या अप्रिय कहकर प्रतीति करा लेना कठिन है। उस अवस्था में अपने भाव को केवल व्यक्त करके ही छुट्टी नही मिल जाती, अपने भाव को इस प्रकार व्यक्त करना होता है जिससे दूसरे के निकट भी वह यथार्थ के रूप में अनुभूत हो सके।

अतः इसी जगह पर अतिशयोक्ति की सम्भावना है। जो चीज दूर से दिखानी है उसे कुछ बड़ा करके दिखाना जरूरी होता है। सत्य की रक्षा के लिए ही उसे उतना बड़ा करना होता है, नही तो वह चीज कितनी छोटी दिखाई पड़ती है उतनी ही मिथ्या दिखाई पड़ती है। बड़ा करके ही उसे सत्य करना पड़ता है।

मेरा सुख-दुःख मुझसे लगा हुआ है, तुमसे लगा हुआ नहीं है। तुम मुझसे दूर हो। उसी दूरी का हिसाब करके मुझे अपनी बात तुम्हारे आगे कुछ बड़ी बनाकर कहनी पड़ती है।

सत्य की रक्षा करते हुए इस बड़ा करने की क्षमता में ही साहित्यकार का *यथार्थ परिचय मिलता है। जितना ठीक है उतना ही लिपिबद्ध करना साहित्य* नही।

क्योंकि प्रकृति मे जो कुछ मैं देखता हूँ वह मेरे निकट प्रत्यक्ष है, मेरी इंद्रियाँ उसका साक्ष्य देती है। साहित्य में जो कुछ दिखाई पड़ता है वह प्राकृतिक होते

हुए भी प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिए साहित्य मे उस प्रत्यक्षता के अभाव को पूरा करना पड़ता है।

प्रकृति के सत्य और साहित्य के सत्य में इसी जगह अंतर पड़ने लग जाता है। साहित्य की माँ जिस तरह रोती है प्राकृत माँ उस तरह नही रोती। इसका मतलब यह नही है कि साहित्य की माँ का रोना झूठा है। पहली बात तो यह है कि प्राकृत रोना इतना प्रत्यक्ष होता है कि उसकी वेदना आकार में, इंगित में, कंठ-स्वर में चारों ओर के दृश्य में और शोक-घटना के निश्चित प्रमाण में हमारी प्रतीति और समवेदना जगाने में देर नहीं करती। दूसरी बात यह है कि प्राकृत माँ अपना शोक पूरी तरह व्यक्त नही कर पाती, यह क्षमता उसमें नही होती, और न वह ऐसी स्थिति मे होती है।

इसीलिए साहित्य ठीक-ठीक प्रकृति का दर्पण नही है। केवल साहित्य क्यों, कोई कला-विद्या प्रकृति का यथार्थ अनुकरण नही होती। प्रकृति में प्रत्यक्ष की हम प्रतीति करते है, साहित्य और ललित कला में अप्रत्यक्ष हमारे निकट प्रतीयमान होता है। अतएव इस स्थान पर एक चीज़ दूसरे की आरसी बनकर कोई काम नही कर सकती।

इसी प्रत्यक्षता के अभाववश साहित्य में छन्द-बन्ध, भाषा-भंगी के तरह-तरह के कल-बल का आश्रय लेना पड़ता है। इसी प्रकार रचना का विषय बाहर कृत्रिम होकर भीतर प्राकृत की अपेक्षा अधिक सत्य हो उठता है।

इस जगह 'अधिक सत्य' का विशेष तात्पर्य है। मनुष्य के भाव-संबंध में प्राकृत सत्य घुला-मिला रहता है, भग्नखण्ड, क्षणस्थायी। ससार की लहरें बराबर उठती-गिरती है, देखते-देखते एक के ऊपर दूसरी आकर गिर पड़ती है, उनमें प्रधान-अप्रधान का विचार नही होता—तुच्छ और असामान्य गलबहियाँ डाले घूमते रहते हैं। जब हम प्रकृति की इस विराट् रंगशाला में मनुष्य का भावाभिनय देखते है तब हम स्वभावतः बहुत-कुछ छोड़कर उसमें से कुछ चुन लेते हैं, अंदाज से उसमें बहुत-कुछ जोड़ लेते है कल्पना से बहुत-कुछ गढ़ लेते हैं। हमारे कोई परम आत्मीय भी अपना सब-कुछ लिये-दिये हमारे निकट परिचित नहीं होते। हमारी स्मृति निपुण साहित्य-रचयिता के समान उसका अधिकांश छोड़ देती है। उनका छोटा-बड़ा सब-कुछ अगर ठीक-ठीक समान रूप से बिना किसी पक्षपात के हमारी स्मृति पर अधिकार किये रहे तो इस स्तूप में असल चेहरा खो जाता है और पूरे की रक्षा करने के पीछे हम अपने परम आत्मीय को यथार्थ रूप मे

नही देख पाते। परिचय का अर्थ यही है कि जो चीज छोड़ने की है उसे छोड़कर जो चीज लेने की है उसे ले लिया जाय।

इसमें वात को थोड़ा वढाना भी पड़ता है। अपने परम आत्मीय को भी हम मोटे रूप में थोड़ा ही देखते हैं। उनके जीवन का अधिकांश हमारे लिए अगोचर होता है। हम उनकी छाया नही, उनके अंतर्यामी भी नही। उनका बहुत-कुछ हम जो देख नही पाते, उसी शून्यता पर हमारी कल्पना काम करती है। हम उन दरारों को पूरा करके अपने मन मे एक पूरी तस्वीर आँक लेते है। जिस आदमी के संबंध में हमारी कल्पना काम नही करती, जिसकी दरार वनी रह जाती है, जिसका प्रत्यक्ष गोचर अंश ही हमारे निकट वर्तमान है और अप्रत्यक्ष अंश अस्पष्ट अगोचर है, उसको हम नही जानते, कम ही जानते हैं। इस प्रकार पृथ्वी के अधिकाश मनुष्य हमारे लिए छाया होते है, लगभग असत्य होते है। उनमे से वहुतो को हम वकील कहकर जानते है, डॉक्टर कहकर जानते है, दुकानदार कहकर जानते है—आदमी कहकर नही जानते। अर्थात् वाहरी विपयो मे हमारे साथ उनका जो सम्पर्क होता है उसीको हम सवसे अधिक वड़ा करके जानते हैं, उनमें उससे बड़ा जो कुछ है उसे हम कोई जगह नही देते।

साहित्य जो कुछ हमे जनाना चाहता है पूरी तरह जनाता है, अर्थात् स्थायी की रक्षा करके, अवान्तर को छोड़कर, छोटे को छोटा करके, वडे को बड़ा करके, दरार को भरकर, विखरे हुए को जमा करके खड़ा कर देता है। प्रकृति के पक्ष-पातहीन प्राचुर्य मे मन जो कुछ करना चाहता है साहित्य वही करता है। मन प्रकृति का दर्पण नही है, साहित्य भी प्रकृति का दर्पण नही है। मन प्राकृतिक चीज को मानसिक वना लेता है, साहित्य उसी मानसिक चीज को साहित्यिक वना लेता है।

दोनों की कार्य-प्रणाली प्राय. एक-जैसी होती है। दोनों मे कुछ विशेप कारणों से वस कुछ अतर होता है। मन जो कुछ गढ़ता है वह अपनी आवश्यकता के लिए, साहित्य जो कुछ गढता है सवके आनद के लिए। अपने लिए थोडा-वहुत कुछ नोट करके रख लेने से भी काम चलता है, सवके लिए आगा-पीछा सव-कुछ सुसवद्ध वना देना पडता है और उसे ऐसी जगह पर ऐसी रोशनी मे इस तरह रखना पडता है जिससे वह सवको पूरी तरह दिखाई पड़े। मन साधारणत: प्रकृति मे से संग्रह करता है, साहित्य मन में से संचय करता है। मन की चीज को वाहर प्रस्फुटित करने के लिए विशेप प्रकार की सहन-शक्ति आवश्यक होती है।

जगत् के ऊपर मन का कारखाना बैठा हुआ है और मन के ऊपर विश्वमन का कारखाना है—उसी ऊपर वाले तल्ले में साहित्य की उत्पत्ति होती है।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मनोराज्य की बात आ जाने पर सचाई का ध्यान रखना कठिन हो जाता है। काले को काला सिद्ध करना सहज है, क्योंकि अधिकाश लोगों के निकट वह निश्चय ही काला है; लेकिन अच्छे को अच्छा प्रमाणित करना उतना सहज नहीं, क्योंकि यहाँ पर अधिकाश लोगों का एक-जैसा साक्ष्य-सग्रह करना कठिन है।

यहाँ पर बहुत-सी मुश्किलें आ जाती हैं। अधिकाश लोगों के निकट जो अच्छा है वह क्या सचमुच अच्छा है, या विशिष्ट समुदाय के निकट जो अच्छा है, वही सचमुच अच्छा है ?

अगर विज्ञान की बात छोड़ दी जाय तो प्राकृत वस्तुओं के सम्बन्ध में यह बात निश्चय ही कही जा सकती है कि अधिकाश के निकट जो काला है वही सचमुच काला है। परीक्षा के द्वारा देखा गया है, इस सम्बन्ध में मतभेद की सम्भावना इतनी कम है कि अधिक गवाही बटोरने की कोई जरूरत नहीं होती।

लेकिन अच्छा-अच्छा ही है और कितना अच्छा है इस बात को लेकर लोगों के मत में इतना अनैक्य होता है कि उस सम्बन्ध में कैसे गवाही लेना उचित है यही स्थिर करना कठिन हो जाता है।

विशेष कठिन इसलिए हो जाता है कि साहित्यकारों की श्रेष्ठ चेष्टा केवल वर्तमान काल के लिए नहीं होती। चिरकाल का मनुष्य-समाज ही उनका लक्ष्य होता है। जो वर्तमान और भविष्यत् काल के लिए लिखा गया है उसके अधिकांश साक्षी और विचारक वर्तमान काल से कैसे मिलेंगे ?

यह प्रायः देखा जाता है कि जो तत्कालीन और तत्स्थानीय होता है वही अधिकाश लोगों के निकट सबसे प्रधान आसन अधिकृत कर लेता है। किसी एक विशेष समय के साक्षियों की संख्या गिनकर साहित्य का विचार करने पर अविचार होने की पूरी सम्भावना है। इसीलिए वर्तमान काल का अतिक्रमण करके शाश्वत काल की ओर ही साहित्य को अपना लक्ष्य करना पड़ता है।

विभिन्न कालों में मनुष्यों की नाना रूप शिक्षा, भाव और अवस्था के परिवर्तन के होते हुए भी जो सब रचनाएँ अपनी महिमा की रक्षा करते हुए चली आ रही हैं, उन्हीकी अग्नि-परीक्षा हुई है। मन हमारे लिए सहज गोचर नहीं होता और थोड़े समय में बाँधकर देखने पर अविश्राम गति के बीच उसका नित्य-

सौन्दर्य-बोध

पहली उम्र में ब्रह्मचर्य का पालन करके जीवन को नियम से संयम से गढ़ना
होगा, भारतवर्ष के इस प्राचीन उपदेश की बात उठाने पर बहुतों के मन मे यह
तर्क उठेगा कि यह तो बड़ी कठोर साधना है। इसके द्वारा आपने चाहे बड़ा
कठोर-सा एक आदमी तैयार कर लिया और चाहे वासना की रस्सी-रस्सा काट-
कर एक बहुत साधु पुरुष बन गए, लेकिन इस साधना मे रस के लिए स्थान कहाँ
है ? कहाँ गये साहित्य, चित्र, संगीत ? मनुष्य को अगर पूर्ण रूप में गढ़ना हो तो
सौन्दर्य-चर्चा को चकमा देने से काम नहीं चलेगा !

यह तो ठीक बात है। सौन्दर्य तो चाहिए। साधना का विषय आत्म-हत्या
तो हो नही सकती। आत्मा का विकास ही साधना का लक्ष्य है। वस्तुतः शिक्षा-
काल मे ब्रह्मचर्य-पालन शुष्कता की साधना नही है। खेत को मरुभूमि बनाने के
लिए किसान नही मरता-खटता। किसान जब हल से मिट्टी को चीरता है, हैगा
चलाकर ढेलों को चूर-चूर कर देता है, निराई करके घास-फूंस को निकाल फेंकता
है और खेत को बिलकुल साफ कर देता है, उसको देखकर अनाड़ी आदमी के मन
मे यह विचार आ सकता है कि जमीन के ऊपर अत्याचार किया जा रहा है।
लेकिन इसी तरह फसल उगाई जाती है। उसी तरह सच्चे अर्थों में रस-ग्रहण का
अधिकारी होने के लिए शुरू मे कठिन खेती की जरूरत पड़ती है। रस के पथ मे
रास्ता भूल जाने के अनेक विघ्न आते हैं। उस पथ में सब विपत्तियों को अलग
करके जो पूर्णता प्राप्त करना चाहे उसीके लिए नियम संयम की विशेष आव-
श्यकता है। रस के लिए ही यह नीरसता स्वीकार करनी पड़ती है।

यह मनुष्य का दुर्भाग्य है कि प्रायः उपलक्ष्य को लक्ष्य दबा लेता है; वह गाना
सीखना चाहता है, उस्तादी सीख बैठता है; धनी होना चाहता है, रुपया जमा
करके कृपा-पात्र हो उठता है; देश का हित करना चाहता है, कमेटी मे रेजोलूशन
पास करके ही अपने को कृतार्थ अनुभव करता है।

उसी तरह हम लोग प्रायः देखते हैं कि नियम-संयम ही चरम लक्ष्य की सारी

—

जगह घेरकर बैठा हुआ है। नियम को ही जो लोग लाभ समझते हैं, पुण्य समझते है वे नियम के लोभ मे बिलकुल अपने को खो देते हैं। नियम-लोलुपता षट्रिपुओ के स्थान पर सप्तम रिपु के रूप मे दिखाई पडती है।

यह मनुष्य की जडता का एक लक्षण है। सचय करना शुरू करने पर आदमी फिर रुकना नही जानता। विलायत की बात हम लोग सुनते हैं, वहाँ पर न जाने कितने लोग पागलों की तरह केवल देश-विदेश के मुहर लगे हुए डाक के टिकट सग्रह कर रहे है, उसके लिए खोज-ढूंढ और खर्चे का अत नही है। इसी तरह संग्रह-रोग के रोगियो मे कोई चीनी मिट्टी के बरतन सग्रह करने के पीछे मरता रहता है और कोई पुराने जूते। उत्तरी ध्रुव के ठीक केन्द्र-स्थान पर पहुँचकर किसी तरह एक झंडा गाड़ आना होगा, यह भी ऐसी ही एक चीज है। वहाँ पर बरफ़ के मैदान छोड़कर और कुछ नही है, लेकिन मन निवृत्त नही होता—कौन उस ध्रुव के केंद्र-बिन्दु के कितने मील पास तक पहुँच रहा है, इसीके हिसाब-किताब के नशे मे पागल वह बैठा हुआ है। पहाड़ पर जो जितने फुट की ऊँचाई तक पहुँच सका है वह उसीको एक बड़ी उपलब्धि समझ रहा है, इस शून्य उपलब्धि के लिए वह खुद मर रहा है और कितने ही अनिच्छुक मजूरो को जबरदस्ती मार रहा है तो भी रुकना नही चाहता।

अपव्यय और कष्ट जितना ही अधिक प्रयोजनहीन होता है, संचय और परिणामहीन जय-लाभ का गौरव उतना ही अधिक जान पड़ता है। नियम-साधना का लोभ सी कष्ट की मात्रा का हिसाब लगाकर आनन्द पाता है। अगर कड़े बिछौने पर सोने से शुरू किया जाय तो आगे चलकर मिट्टी पर बिछौना बिछाकर, फिर सिर्फ़ एक कम्बल बिछाकर, फिर कम्बल को भी छोड़कर निखहरी जमीन पर सोने का लोभ क्रमशः बढ़ता ही रहता है। कृच्छ् साधना को ही उपलब्धि मान लेने से अततः आत्मघात पर पहुँचकर रस्सी खीचनी पड़ती है। यह और कुछ नही है, निवृत्ति को ही एक प्रचण्ड प्रवृत्ति बना लेना है, गले का फंदा काटने की चेष्टा मे ही उस फदे को और कसकर मर जाना है।

अतः यदि केवल नियम-पालन को ही लोभ की वस्तु बना दिया जाय तो कठोरता के दबाव को बढाते-बढ़ाते स्वभाव मे से सौन्दर्य-बोध को पीसकर बाहर कर दिया जा सकता है, इसमे कोई सदेह नही। लेकिन पूर्णता-लाभ को अपना लक्ष्य बनाए रखकर संयम-चर्चा को भी यदि सयत रखा जा सके तो मनुष्यता के किसी उपादान को ठेस नही लगती बल्कि वह और परिपुष्ट हो उठता है।

जगह घेरकर बैठा हुआ है। नियम को ही जो लोग लाभ समझते है, पुण्य समझते है वे नियम के लोभ मे बिलकुल अपने को खो देते हैं। नियम-लोलुपता षट्रिपुओं के स्थान पर सप्तम रिपु के रूप मे दिखाई पडती है।

यह मनुष्य की जड़ता का एक लक्षण है। सचय करना शुरू करने पर आदमी फिर रुकना नही जानता। विलायत की बात हम लोग सुनते हैं, वहां पर न जाने कितने लोग पागलो की तरह केवल देश-विदेश के मुहर लगे हुए डाक के टिकट सग्रह कर रहे है, उसके लिए खोज-ढूंढ और खर्च का अत नही है। इसी तरह संग्रह-रोग के रोगियो मे कोई चीनी मिट्टी के बरतन सग्रह करने के पीछे मरता रहता है और कोई पुराने जूते। उत्तरी ध्रुव के ठीक केन्द्र-स्थान पर पहुँचकर किसी तरह एक झंडा गाड़ आना होगा, यह भी ऐसी ही एक चीज है। वहां पर बरफ के मैदान छोड़कर और कुछ नही है, लेकिन मन निवृत्त नही होता—कौन उस ध्रुव के केंद्र-विन्दु के कितने मील पास तक पहुंच रहा है, इसीके हिसाब-किताब के नशे मे पागल वह बैठा हुआ है। पहाड पर जो जितने फुट की ऊँचाई तक पहुँच सका है वह उसीको एक बडी उपलब्धि समझ रहा है, इस शून्य उपलब्धि के लिए वह खुद मर रहा है और कितने ही अनिच्छुक मजूरों को जबरदस्ती मार रहा है तो भी रुकना नही चाहता।

अपव्यय और कष्ट जितना ही अधिक प्रयोजनहीन होता है, संचय और परिणामहीन जय-लाभ का गौरव उतना ही अधिक जान पडता है। नियम-साधना का लोभ भी कष्ट की मात्रा का हिसाब लगाकर आनन्द पाता है। अगर कड़े बिछौने पर सोने से शुरू किया जाय तो आगे चलकर मिट्टी पर बिछौना बिछाकर, फिर सिर्फ एक कम्बल बिछाकर, फिर कम्बल को भी छोडकर निखहरी जमीन पर सोने का लोभ क्रमशः बढ़ता ही रहता है। कृच्छ् साधना को ही उपलब्धि मान लेने से अंततः आत्मघात पर पहुँचकर रस्सी खीचनी पडती है। यह और कुछ नही है, निवृत्ति को ही एक प्रचण्ड प्रवृत्ति बना लेना है, गले का फदा काटने की चेष्टा मे ही उस फदे को और कसकर मर जाना है।

अतः यदि केवल नियम-पालन को ही लोभ की वस्तु बना दिया जाय तो कठोरता के दबाव को बढ़ाते-बढ़ाते स्वभाव में से सौन्दर्य-बोध को पीसकर बाहर कर दिया जा सकता है, इसमे कोई संदेह नही। लेकिन पूर्णता-लाभ को अपना लक्ष्य बनाए रखकर संयम-चर्चा को भी यदि सयत रखा जा सके तो मनुष्यता के किसी उपादान को ठेस नही लगती बल्कि वह और परिपुष्ट हो उठता है।

बात इतनी ही है कि भीत को मजबूत होना चाहिए; नहीं तो वह सहारा नही दे सकती। जो कुछ धारण करता रहता है, जो आकृति देता है, वह कठोर होता है। मनुष्य का शरीर कितना ही नरम क्यों न हो अगर वह सख्त हाड़ के पिंजर पर आधारित न होता तो एक पिण्ड बन गया होता, उसका चेहरा खुलता ही नही। उसी तरह ज्ञान की भित्ति भी कठोर होती है, आनंद की भित्ति भी कठोर होती है। ज्ञान की भित्ति अगर कठोर न होती तो वह एक बेतुका स्वप्न बन जाता और आनन्द की भित्ति अगर कठोर न होती तो वह सरासर पागलपन बन जाता।

यह जो कठोर भित्ति है, यही सयम है। इसमे विचार है, बल है, त्याग है, इसमें निर्मम दृढ़ता है। यह देवता के समान एक हाथ से वरदान देता है और दूसरे हाथ मे संहार करता है। यह सयम गढ़ते समय जिस तरह दृढ होता है तोड़ते समय भी वैसा ही कठोर होता है। पूरी तरह सौन्दर्य का उपभोग करने के लिए इस सयम की आवश्यकता है, नही तो प्रवृत्ति असयत रहने पर बच्चा जिस तरह भात की थाली को लेकर उसका अन्न-व्यंजन बस अपने शरीर मे लिथेड़ लेता है या जमीन पर बिखेर देता है या ऐसा ही कुछ उल्टा-पुल्टा काम कर बैठता है और उसके पेट में अन्न बहुत थोड़ा-सा ही पहुँच पाता है, भोग की सामग्री लेकर हमारी भी वही दशा होती है, हम केवल उसे लेकर अपने शरीर में लिथेड़ लेते हैं, उपलब्धि नही कर पाते।

सौन्दर्य-सृष्टि करना ही असयत कल्पना-वृत्ति का काम नहीं है। सारे घर मे आग लगाकर कोई साँझ का दीया नही जलाता। आग जरा से में ही हाथ से बाहर हो जाती है इसीलिए कमरे मे रोशनी करते समय आग को अपने वश में रखना चाहिए। प्रवृत्ति के लिए भी यही बात ठीक है। प्रवृत्ति को अगर बिलकुल पूरी तरह जल उठने दें तो वह चीज जिसका प्रयो[illegible] सौन्दर्य को केवल रँगना है वह उसे जलाकर राख कर [illegible] तोड़कर उसकी एक-एक पंखुरी धूल में मिला [illegible]

भोग की दृष्टि से भी हमको आनंद देता है। यह हमारे प्रयोजन का अतिरिक्त लाभ है।

जगत् में सौन्दर्य नाम का यह जो हमारा अतिरिक्त पावना है यह हमारे मन को किस दिशा में चला रहा है? क्षुधा-तृप्ति की मनक में ही जिसमें एकेश्वर न हो उठे, हमारा मन जिसमें उसके फंदे से कुछ अलग हो सके, सौन्दर्य की यही चेष्टा दिखाई पड़ती है। चण्डी क्षुधा अग्निमूर्ति होकर कहती है, तुमको खाना ही होगा—इसके अलावा और कोई बात नहीं। तभी सौन्दर्य-लक्ष्मी हँसते हुए चेहरे से अमृत. बरसाती हुई अत्यंत उग्र प्रयोजन की लाल-लाल आँखों के ऊपर परदा डाल देती है, पेट की ज्वाला को नीचे के तल्ले में रखकर ऊपर के हिस्से में आनन्द-भोग का मनोहर आयोजन करती है। अनिवार्य प्रयोजन में मनुष्य की एक प्रकार की अवज्ञा रहती है। लेकिन सौन्दर्य प्रयोजन से बड़ा है इसीलिए वह हमारे अपमान को दूर कर देता है। सौन्दर्य हमारी क्षुधा-तृप्ति के साथ-साथ सदा एक उच्चतर सुर लगाता रहता है। इसीलिए जो एक दिन असंयत बर्बर थे वे आज मनुष्य हो उठे हैं, जो केवल इंद्रिय की ही दुहाई देते थे वे आज प्रेम का अधिकार मानते हैं। आज भूख लगने पर भी हम जानवर की तरह, राक्षस की तरह जैसे-तैसे खाना खाने के लिए नहीं बैठ पाते, शालीनता की रक्षा न कर पाने पर हमारी खाने की प्रवृत्ति ही चली जाती है। अतः अब हमारे भीतर एक-मात्र खाने की प्रवृत्ति नहीं है, शालीनता ने उसको नरम कर दिया है। हम लोग बच्चे को धिक्कारकर कहते हैं, छिः-छिः कैसा पेटू की तरह भकोस रहा है! उस तरह खाते देखना अशोभन लगता है। सौन्दर्य ने हमारी प्रवृत्ति को संयत कर दिया है। जगत् के साथ हमारे संबंध को केवल प्रयोजन का संबंध न रखकर आनंद का संबंध बना दिया है। प्रयोजन के संबंध में हमारा दैन्य होता है, हमारी दासता होती है, आनंद के संबंध में ही हमारी मुक्ति होती है।

इसीसे देखा जाता है कि अंततः सौन्दर्य मनुष्य को संयम की ओर ही खींच रहा है। मनुष्य को वह एक ऐसा अमृत दे रहा है जिसे पीकर मनुष्य अपनी क्षुधा के रूखेपन को दिनोदिन जीतता जा रहा है। असंयम को अमंगल जानकर छोड़ने में जिनके मन में विद्रोह जागता है उनसे वह कहना चाहता है कि उसे असुंदर जानकर अपनी इच्छा से छोड़ दो।

सौन्दर्य जिस प्रकार हमें क्रमशः शालीनता की ओर, संयम की ओर खींचकर ले आ रहा है, संयम भी उसी प्रकार हमारे सौन्दर्य-बोध की गहराई को बढ़ाये दे

रहा है। अगर हम एकाग्र होकर अपना चित्त लगाना न जानें तो हम सौन्दर्य के मर्म-स्थान से रस नही खीच सकते। पति-परायणा सती स्त्री ही तो प्रेम के सच्चे सौन्दर्य की उपलब्धि कर सकती है, व्यभिचारिणी तो नही कर सकती। सतीत्व वही चचलता-विहीन सयम है जिसके द्वारा गहरे रूप में प्रेम के निगूढ रस को पाना सभव होता है। हमारी सौन्दर्यप्रियता में भी अगर वही सतीत्व का संयम न हो, तब क्या होता है? वह केवल सौन्दर्य के बाहर-बाहर चंचल होकर फिरता रहता है, उन्माद को ही आनंद समझने की भूल करता है; जिसे पाकर वह सब-कुछ छोड़कर स्थिर होकर बैठ सकता तो उसे नही पाता। सच्चा सौन्दर्य समाधिस्थ साधक के लिए ही प्रत्यक्ष होता है, लोलुप—भोगी के लिए नही। पेटू आदमी भोजन का रसज्ञ नही हो सकता।

पौष्य राजा ने ऋषिकुमार उत्तंक से कहा, जाओ अंत.पुर मे जाओ, वहां तुम महिषी को देखोगे। उत्तक अंत.पुर में गया, लेकिन महिषी को देख न सका। अपवित्र होकर कोई सती को देख न सकता था। उत्तंक तब अपवित्र था।

विश्व के समस्त सौन्दर्य की समस्त महिमा के अत.पुर में जो सती लक्ष्मी विराज रही है वे भी हमारे सामने ही हैं, लेकिन पवित्र हुए बिना हम उन्हें देख न पायेंगे। जब हम विलास में गोता खाते रहते हैं, भोग के नशे मे पागल की तरह फिरते रहते हैं तब विश्व-जगत् की आलोकवसना सती लक्ष्मी हमारी दृष्टि से अंतर्धान हो जाती है।

यह बात मैं धर्मनीति के प्रचार की दृष्टि से नही कह रहा हूँ, आनंद की दृष्टि से ही कह रहा हूँ; जिसे अंग्रेजी में आर्ट कहते है उसीकी तरह से कह रहा हूँ। हमारे शास्त्रो में भी कहा गया है, केवल धर्म के लिए नही सुख के लिए भी तुम्हें संयत होना होगा। 'सुखार्थी सयतो भवेत्' अर्थात् इच्छा को यदि चरितार्थ करना चाहो तो इच्छा को अपने शासन मे रखो, यदि सौन्दर्य का उपभोग करना चाहो तो भोग-लालसा का दमन करके पवित्र होकर शात रहो। हम अगर प्रवृत्ति का दमन करना नही जानते तो हम प्रवृत्ति की चरितार्थता को ही सौन्दर्य-बोध की चरितार्थता समझने की भूल करते हैं, जो हृदय की वस्तु है उसे दोनों हाथों से मसलकर समझते हैं कि जैसे हमने उसे पा लिया। इसीलिए मैं कहता हूँ कि सौन्दर्य-बोध के ठीक उद्‌बोधन के लिए ब्रह्मचर्य की साधना आवश्यक है।

जिनकी आँख में धूल झोंकना कठिन है वे फौरन संदिग्ध होकर बोल उठेंगे, यह तो बिलकुल कविता कर दी आपने। वे कहेंगे, संसार मे तो हम प्राय: देखते

है कि जो सब कला-कुशल गुणीजन सौन्दर्य की सृष्टि करते आ रहे है उनमें से अनेक को सयम के दृष्टांत के रूप मे नही रखा जा सकता। उनका जीवन-चरित्र पढ़ने योग्य नहीं है।

अतः कविता को एक किनारे पर रखकर इस वास्तविक सत्य की विवेचना करना जरूरी है।

मेरा वक्तव्य यही है कि हम वास्तव का इतना अधिक विश्वास क्यों करते है ? इसीलिए कि वह प्रत्यक्षगोचर है। लेकिन अनेक स्थलो पर मनुष्य के संबंध में हम जिस चीज को वास्तव कहते है उसका अधिकांश हमारे लिए अप्रत्यक्ष होता है जरा-सा ही देख पाने पर हम सोचते है कि जैसे हमने सब-कुछ देख लिया। इसीलिए मनुष्य-घटित यथार्थ वृत्तांत को लेकर एक आदमी जिस चीज को सफेद कहता है और दूसरा आदमी जिसे अगर मटमैला कहता तो भी मैं बच जाता, लेकिन वह तो उसे बिलकुल काला कह बैठता है। नेपोलियन को कोई देवता कहता है, कोई दानव। अकबर को कोई उदार प्रजा-हितैषी कहता है, कोई कहता है कि अपनी हिन्दू प्रजा के लिए वही सारे विनाश की जड है। कोई कहता है वर्ण-भेद ने हमारे हिन्दू-समाज की रक्षा की, कोई कहता है कि वर्ण-भेद की प्रथा ने ही हमें बिलकुल मिट्टी कर दिया। इसके बावजूद दोनों पक्ष ही वास्तव सत्य की दुहाई देते है।

वस्तुत' मनुष्य-घटित व्यापारों में ही एक जगह पर हम बहुत-से उल्टे काण्ड देखते है। मनुष्य के दिखाई पडने वाले अंश में जो सब असंगतियाँ प्रकट होती हैं, मनुष्य के न दिखाई पड़ने वाले अंश में निश्चय ही उसका एक निगूढ समन्वय रहता है, अतः यह कहना ठीक न होगा कि असल सत्य प्रत्यक्ष के ऊपर ही तैरता रहता है, वह अप्रत्यक्ष के भीतर भी डूबा रहता है—इसीलिए उसको लेकर इतना सब तर्क, इतनी दलबंदी होती है और इसीलिए दो विरोधी पक्ष एक ही इतिहास की दुहाई देते रहते हैं।

जगत् के कलानिपुण गुणीजनों के संबंध मे भी जहाँ पर हम कोई उल्टा काण्ड देख पाते है वहाँ भी वास्तव सत्य की बड़ाई करके हठात् कोई विरुद्ध बात नही कही जा सकती। सौन्दर्य-सृष्टि दुर्बलता से, चंचलता से, असंयम से होती है, यह एक बड़ी उल्टी बात है। वास्तव सत्य की गवाही देने पर भी हम कहेंगे, निश्चय ही सब गवाहों को हाजिर नही किया गया; असल गवाह भागकर कहीं बैठ रहा। अगर मैं यह देखूँ कि डकैतों का कोई दल खूब ही उन्नति कर रहा है तो इस

वास्तविक सत्य की सहायता से यह सिद्धान्त नहीं निकाला जा सकता कि दस्यु-वृत्ति ही उन्नति का उपाय है। तब यही बात बिना प्रमाण के कही जा सकती है कि दस्युओं में आपातत जितनी उन्नति दिखाई पड़ती है उसका मूल कारण उनकी आपस में एकता है दल में एक की दूसरे के प्रति धर्म-रक्षा। इसी तरह यह उन्नति जब नष्ट होगी तब इस एकता को ही नष्ट होने का कारण मैं न कहूँगा, तब मैं यही कहूँगा कि दूसरों के प्रति अधर्माचरण ही उनके पतन का कारण है। अगर मैं देखूँ कि एक ही आदमी वाणिज्य में बहुत रुपया पैदा करके भोग में उसे उड़ा देता है तब मैं यह न कहूँगा कि जो लोग रुपया नष्ट करना जानते हैं पैदा करने का रास्ता भी उन्हींको आता है, बल्कि मैं तो यही कहूँगा कि रुपये-पैसे का रोज़गार करने में यह आदमी हिसाबी था, उस जगह पर उसका संयम और विवेचना-शक्ति साधारण लोगों से बहुत ज्यादा थी। और रुपया उड़ाते समय उसकी उड़ाने की सनक हिसाब की बुद्धि से आगे बढ़ गई।

कलावान् गुणीजन भी जहाँ पर वास्तव में गुणी होते हैं वहाँ पर वे तपस्वी होते हैं; वहाँ यथेच्छाचार नहीं चल सकता, वहाँ चित्त की साधना और संयम है ही है। बहुत थोड़े-से लोग ऐसे पूर्ण बलिष्ठ होते हैं कि वे अपनी धर्म-चेतना को सोलहों आना काम में लगा सकते है। कुछ-न-कुछ भ्रष्टता आ ही जाती है, क्योंकि हम सभी हीनता से पूर्णता की ओर बढ़ रहे हैं, मंजिल पर अभी नहीं पहुँचे। लेकिन जीवन में हम लोग जो भी कोई बड़ी स्थायी चीज बनाते हैं वह हमारे भीतर की धर्मबुद्धि की सहायता से ही सम्भव होता है, भ्रष्टता की सहायता से नहीं। गुणी व्यक्तियों ने भी जहाँ पर अपनी कला-रचना की स्थापना की है वहाँ उन्होंने अपना चरित्र ही दिखाया है, जहाँ उन्होंने अपने जीवन को नष्ट किया है वहाँ उनके चरित्र का अभाव प्रकट हुआ है। वहाँ पर उनके मन के भीतर धर्म का जो एक सुन्दर आदर्श है, रिपु के आकर्षण से उसके विरुद्ध जाकर वे पीड़ित हुए हैं। गढ़ने में संयम की ज़रूरत होती है, नष्ट करने में असंयम की। धारणा करने के लिए संयम चाहिए और मिथ्याचार के लिए असंयम।

'सौन्दर्य बोध' 'बंगदर्शन' दिसम्बर १९०६ (पौष १३१३) में प्रकाशित हुआ था। राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् में दिये गए चार भाषणों में से एक।

विश्व-साहित्य

मेरे ऊपर जिस विवेचना का भार रखा गया है उसको अंग्रेजी में आपने कम्पैरेटिव लिटरेचर नाम दिया है। बंगला में मैं उसे विश्व-साहित्य कहूँगा।

काम के बीच आदमी क्या बात कहता है, उसका क्या लक्ष्य है, उसकी क्या चेष्टा है, यह अगर समझना हो तो सारे इतिहास में मनुष्य के अभिप्राय का अनुसरण करना होगा। अकबर का राजस्व या गुजरात का इतिवृत्त या एलिजा-बेथ का चरित्र, इस तरह से अलग-अलग करके देखने पर केवल खबर जानने के कौतूहल की निवृत्ति होती है। जो यह जानता है कि अकबर या एलिजाबेथ केवल निमित्त हैं, जो जानता है कि मनुष्य समस्त इतिहास के बीच से अपने गहरे-से-गहरे अभिशाप को अनेक प्रकार की साधनाओं, भूलों और संशोधनों द्वारा सिद्ध करने के लिए ही केवल चेष्टा करता है; जो यह जानता है कि मनुष्य सारी दिशाओं में सबके साथ वृहत् रूप में युक्त होकर अपने को मुक्ति देने का प्रयास करता रहा है, जो यह जानता है कि स्वतंत्र अपने को राजतंत्र में और राजतंत्र से गणतंत्र में सार्थक करने के लिए जूझता-मरता रहा है—मानव विश्वमानव के बीच अपने को व्यक्त करने के लिए, व्यष्टि समष्टि के बीच अपने को उपलब्ध करने के लिए ही अपने-आपको बनाता-बिगाडता रहा है—वह व्यक्ति मनुष्य के इतिहास से लोकविशेष को नहीं, उसी चिरंतन मनुष्य के चिरंतन सचेष्ट अभिप्राय को देखने की ही चेष्टा करता है। वह केवल तीर्थ के यात्रियों को देखकर नहीं लौट आता, सभी यात्री जिस एक-मात्र देवता को देखने के लिए अनेकानेक दिशाओं से आते हैं उनका दर्शन करके घर लौटता है।

उसी तरह साहित्य में मनुष्य अपने आनन्द को किस तरह व्यक्त करता है, इस अभिव्यक्ति की चित्र-विचित्र मूर्ति में मनुष्य की आत्मा अपना कौन-सा चिरंतन रूप दिखाना चाहती है, यही विश्व-साहित्य में सचमुच देखने की चीज है। वह अपने को रोगी या भोगी या योगी, किस परिचय से परिचित कराके आनन्द अनुभव करता है, जगत् में मनुष्य की आत्मीयता कितनी दूर तक सत्य

वास्तविक सत्य की सहायता से यह सिद्धान्त नहीं निकाला जा सकता कि दस्यु-वृत्ति ही उन्नति का उपाय है। तब यही बात बिना प्रमाण के कही जा सकती है कि दस्युओं में आपातत. जितनी उन्नति दिखाई पड़ती है उसका मूल कारण उनकी आपस में एकता है दल में एक की दूसरे के प्रति धर्म-रक्षा। इसी तरह यह उन्नति जब नष्ट होगी तब इस एकता को ही नष्ट होने का कारण मैं न कहूँगा, तब मैं यही कहूँगा कि दूसरों के प्रति अधर्माचरण ही उनके पतन का कारण है। अगर मैं देखूं कि एक ही आदमी वाणिज्य में बहुत रुपया पैदा करके भोग में उसे उड़ा देता है तब मैं यह न कहूँगा कि जो लोग रुपया नष्ट करना जानते हैं पैदा करने का रास्ता भी उन्हीको आता है, बल्कि मैं तो यही कहूँगा कि रुपये-पैसे का रोजगार करने में यह आदमी हिसाबी था, उस जगह पर उसका संयम और विवेचना-शक्ति साधारण लोगों से बहुत ज्यादा थी। और रुपया उड़ाते समय उसकी उड़ाने की सनक हिसाब की बुद्धि से आगे बढ़ गई।

कलावान् गुणीजन भी जहाँ पर वास्तव में गुणी होते हैं वहाँ पर वे तपस्वी होते है; वहाँ यथेच्छाचार नहीं चल सकता, वहाँ चित्त की साधना और संयम है ही है। बहुत थोड़े-से लोग ऐसे पूर्ण बलिष्ठ होते हैं कि वे अपनी धर्म-चेतना को सोलहो आना काम में लगा सकते हैं। कुछ-न-कुछ भ्रष्टता आ ही जाती है, क्योंकि हम सभी हीनता से पूर्णता की ओर बढ़ रहे हैं, मंजिल पर अभी नहीं पहुँचे। लेकिन जीवन में हम लोग जो भी कोई बड़ी स्थायी चीज बनाते हैं वह हमारे भीतर की धर्मबुद्धि की सहायता से ही सम्भव होता है, भ्रष्टता की सहायता से नहीं। गुणी व्यक्तियों ने भी जहाँ पर अपनी कला-रचना की स्थापना की है वहाँ उन्होंने अपना चरित्र ही दिखाया है, जहाँ उन्होंने अपने जीवन को नष्ट किया है वहाँ उनके चरित्र का अभाव प्रकट हुआ है। वहाँ पर उनके मन के भीतर धर्म का जो एक सुन्दर आदर्श है, रिपु के आकर्षण से उसके विरुद्ध जाकर वे पीड़ित हुए है। गढ़ने में संयम की जरूरत होती है, नष्ट करने में असंयम की। धारणा करने के लिए संयम चाहिए और मिथ्याचार के लिए असंयम।

'सौन्दर्य बोध' 'बंगदर्शन' दिसम्बर १९०६ (पौष १३१३) में प्रकाशित हुआ था। राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् में दिये गए चार भाषणों में से एक।

विश्व-साहित्य

मेरे ऊपर जिस विवेचना का भार रखा गया है उसको अंग्रेजी मे आपने कम्पैरेटिव लिटरेचर नाम दिया है। बंगला मे मैं उसे विश्व-साहित्य कहूँगा।

काम के बीच आदमी क्या बात कहता है, उसका क्या लक्ष्य है, उसकी क्या चेष्टा है, यह अगर समझना हो तो सारे इतिहास मे मनुष्य के अभिप्राय का अनुसरण करना होगा। अकबर का राजस्व या गुजरात का इतिवृत्त या एलिजाबेथ का चरित्र, इस तरह से अलग-अलग करके देखने पर केवल खबर जानने के कौतूहल की निवृत्ति होती है। जो यह जानता है कि अकबर या एलिजाबेथ केवल निमित्त है, जो जानता है कि मनुष्य समस्त इतिहास के बीच से अपने गहरे-से-गहरे अभिशाप को अनेक प्रकार की साधनाओं, भूलों और संशोधनों द्वारा सिद्ध करने के लिए ही केवल चेष्टा करता है; जो यह जानता है कि मनुष्य सारी दिशाओं में सबके साथ वृहत् रूप में युक्त होकर अपने को मुक्ति देने का प्रयास करता रहा है, जो यह जानता है कि स्वतंत्र अपने को राजतंत्र मे और राजतंत्र से गणतंत्र मे सार्थक करने के लिए जूझता-मरता रहा है—मानव विश्वमानव के बीच अपने को व्यक्त करने के लिए, व्यष्टि समष्टि के बीच अपने को उपलब्ध करने के लिए ही अपने-आपको बनाता-बिगाडता रहा है—वह व्यक्ति मनुष्य के इतिहास से लोकविशेष को नही, उसी चिरंतन मनुष्य के चिरंतन सचेष्ट अभिप्राय को देखने की ही चेष्टा करता है। वह केवल तीर्थ के यात्रियों को देखकर नही लौट आता, सभी यात्री जिस एक-मात्र देवता को देखने के लिए अनेकानेक दिशाओं से आते हैं उनका दर्शन करके घर लौटता है।

उसी तरह साहित्य मे मनुष्य अपने आनन्द को किस तरह व्यक्त करता है, इस अभिव्यक्ति की चित्र-विचित्र मूर्ति मे मनुष्य की आत्मा अपना कौन-सा चिरंतन रूप दिखाना चाहती है, यही विश्व-साहित्य में सचमुच देखने की चीज है। वह अपने को रोगी या भोगी या योगी, किस परिचय से परिचित कराके आनन्द अनुभव करता है, जगत् में मनुष्य की आत्मीयता कितनी दूर तक सत्य

वास्तविक सत्य की सहायता से यह सिद्धान्त नही निकाला जा सकता कि दस्यु-वृत्ति ही उन्नति का उपाय है। तब यही बात बिना प्रमाण के कही जा सकती है कि दस्युओ में आपातत· जितनी उन्नति दिखाई पड़ती है उसका मूल कारण उनकी आपस मे एकता है दल में एक की दूसरे के प्रति धर्म-रक्षा। इसी तरह यह उन्नति जब नष्ट होगी तब इस एकता को ही नष्ट होने का कारण मैं न कहूँगा, तब मैं यही कहूँगा कि दूसरों के प्रति अधर्माचरण ही उनके पतन का कारण है। अगर मैं देखूं कि एक ही आदमी वाणिज्य मे बहुत रुपया पैदा करके भोग में उसे उड़ा देता है तब मैं यह न कहूँगा कि जो लोग रुपया नष्ट करना जानते हैं पैदा करने का रास्ता भी उन्हीको आता है, बल्कि मैं तो यही कहूँगा कि रुपये-पैसे का रोजगार करने मे यह आदमी हिसाबी था, उस जगह पर उसका संयम और विवेचना-शक्ति साधारण लोगो से बहुत ज्यादा थी। और रुपया उडाते समय उसकी उडाने की सनक हिसाब की बुद्धि से आगे बढ गई।

कलावान् गुणीजन भी जहाँ पर वास्तव में गुणी होते है वहाँ पर वे तपस्वी होते है; वहाँ यथेच्छाचार नही चल सकता, वहाँ चित्त की साधना और संयम है ही है। बहुत थोड़े-से लोग ऐसे पूर्ण बलिष्ठ होते है कि वे अपनी धर्म-चेतना को सोलहो आना काम मे लगा सकते है। कुछ-न-कुछ भ्रष्टता आ ही जाती है, क्योंकि हम सभी हीनता से पूर्णता की ओर बढ रहे हैं, मंजिल पर अभी नही पहुँचे। लेकिन जीवन मे हम लोग जो भी कोई बड़ी स्थायी चीज बनाते है वह हमारे भीतर की धर्मबुद्धि की सहायता से ही सम्भव होता है, भ्रष्टता की सहायता से नही। गुणी व्यक्तियों ने भी जहाँ पर अपनी कला-रचना की स्थापना की है वहाँ उन्होंने अपना चरित्र ही दिखाया है, जहाँ उन्होने अपने जीवन को नष्ट किया है वहाँ उनके चरित्र का अभाव प्रकट हुआ है। वहाँ पर उनके मन के भीतर धर्म का जो एक सुन्दर आदर्श है, रिपु के आकर्षण से उसके विरुद्ध जाकर वे पीड़ित हुए है। गढ़ने में संयम की जरूरत होती है, नष्ट करने में असंयम की। धारणा करने के लिए संयम चाहिए और मिथ्याचार के लिए असंयम।

'सौन्दर्य बोध' 'बंगदर्शन' दिसम्बर १९०६ (पौष १३१३) में प्रकाशित हुआ था। राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् मे दिये गए चार भाषणों मे से एक।

हो उठी अर्थात् कितनी दूर तक सत्य उसका अपना हो उठा, यह जानने के लिए इसी साहित्य के जगत् में प्रवेश करना होगा। इसको कृत्रिम रचना कहकर जानने से काम नहीं चलेगा, यह एक जगत् है, इसका तत्त्व हममें से किसी व्यक्ति-विशेष के अधिकार में या उसका अधीन नहीं है, वस्तु जगत् के समान इसकी सृष्टि चलती ही रहती है तो भी उस असमाप्त सृष्टि के गहरे-से-गहरे स्थान में एक समाप्ति का आदर्श अचल रूप से वर्तमान रहता है।

सूर्य के भीतर की ओर वस्तुपिण्ड अपने को अनेकानेक कठिन रूपों में गढ़ता है, यह हम देख नहीं पाते, लेकिन उसको घेरकर आलोक-मण्डल उसी सूर्य को विश्व के निकट व्यक्त कर देता है। यहीं पर वह अपने को केवल दान करता है, सबके साथ अपने को जोड़ता है। मनुष्य को यदि हम इसी तरह समग्र रूप से देख पाते तो उसको इसी प्रकार सूर्य के जैसा ही देखते। देखते कि उसका वस्तुपिंड भीतर-भीतर धीरे-धीरे नाना स्तरों में जमा होता जा रहा है और उसको घेरकर एक अभिव्यक्ति की ज्योतिर्मण्डली निरन्तर अपने को चारों ओर बिखेरकर आनन्द पा रही है। साहित्य को मनुष्य के चारों ओर उसी भाषा-रचित प्रकाश-मण्डली के रूप में एक बार देखो। यहाँ पर ज्योति की आँधी चल रही है, ज्योति का झरना फूट रहा है, ज्योति के वाष्प की टक्कर हो रही है।

नगर-बस्ती के रास्ते से चलते-चलते जब देख पाओ कि मनुष्य के पास अवकाश नहीं है—पंसारी दूकान चला रहा है, लोहार लोहा पीट रहा है, मजूर बोझा ढो रहा है, सेठ अपने खाते का हिसाब मिला रहा है—उसके साथ ही और एक चीज है जो तुम आँख से नहीं देख पा रहे हो। लेकिन एक बात मन-ही-मन देखो : इस रास्ते के दोनों ओर घर-घर में, दुकान-बाजार में, गली-गली में, कितनी शाखाओं-प्रशाखाओं में रस की धारा कितने रास्तों से होकर, कितनी मलिनता, कितनी संकीर्णता, कितनी गरीबी के ऊपर से होकर अपने को प्रसारित कर रही है, रामायण-महाभारत, कथा-कहानी, कीर्तन-पाँचाली विश्व-मानव की हृदय-सुधा को प्रत्येक मनुष्य के निकट दिन-रात बाँटे दे रहे हैं, नितांत तुच्छ व्यक्तियों के क्षुद्र कार्यों के पीछे राम-लक्ष्मण आकर खड़े हैं, अँधेरे घर में पंचवटी की करुणा-मिश्रित हवा बह रही है, मनुष्य के हृदय की सृष्टि, हृदय का प्रकाश, मनुष्य के कर्मक्षेत्र की कठोरता और दारिद्र्य को अपने सौंदर्य और मंगल के कंगन पहने हुए दो हाथों से घेरे हैं। समस्त साहित्य को, समस्त मनुष्यों के चारों ओर एक बार इसी तरह देखना होगा। देखना होगा कि मनुष्य अपनी वास्तविक सत्ता को

बंगला जातीय साहित्य

सहित शब्द से साहित्य शब्द की उत्पत्ति हुई है। अतः धातुगत अर्थ लेने पर साहित्य शब्द में एक मिलन का भाव दिखाई पड़ता है। यह केवल भाव भाव में, भाषा भाषा में, ग्रन्थ ग्रन्थ में मिलन नहीं है, मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ पास का अत्यंत अंतरंग संबंध साहित्य को छोड़कर और किसी चीज के द्वारा संभव नहीं। जिस देश में साहित्य का अभाव है उस देश के लोग परस्पर सजीव बंधन से संयुक्त नहीं, वे विच्छिन्न हैं।

अपने पूर्व-पुरुषों के साथ भी उनका जीवन्त सम्बन्ध नहीं होता। जो सम्बन्ध केवल सदा से प्रचलित जड़ प्रथा के बंधन द्वारा होता है यह संबंध नहीं, यह तो केवल बंधन है। साहित्य की धारावाहिकता को छोड़कर और किसी रूप में पूर्व-पुरुषों के साथ सचेतन मानसिक सम्बन्ध की रक्षा नहीं हो सकती।

हमारे देश के प्राचीन काल के साथ आधुनिक काल का प्रथागत बंधन है, लेकिन तो भी न जाने किस जगह पर हमारे मन के नाड़ियों का सम्बन्ध ऐसा कहीं टूट गया है कि उस काल से मानसिक प्राण रस अव्याहत रूप में प्रवाहित होता हुआ आज हमारे पास तक पहुँच नहीं रहा है। हमारे पूर्व-पुरुष कैसे सोचते थे, काम करते थे, नये तत्वों की उद्‌भावना करते थे---समस्त श्रुति, स्मृति, पुराण, काव्य-कला, धर्म-तत्त्व, राजनीति, समाजतन्त्र के मर्मस्थल में उनकी जीवन-शक्ति, उनकी हृदय-शक्ति जाग्रत रहते हुए किस प्रकार सदैव सबका सृजन और संयमन करती---किस प्रकार समाज प्रतिदिन बढ़ता रहता, परिवर्तित होता, किस प्रकार अपने को चारों ओर फैलाता, नई स्थिति को कैसे अपने साथ सम्मिलित करता---यह हम सम्यक् रूप से नहीं जानते। महाभारत के काल और हमारे वर्तमान काल के बीच के असीम विच्छेद को हम किस चीज से पूरा करेंगे? जब हम भुवनेश्वर और कोणार्क के मन्दिरों के स्थापत्य और मूर्ति-कला को देखकर विस्मय से भर उठते हैं तब मन में आता है कि ये सब अद्‌भुत शिल्प-कौशल क्या बाहर के किसी आकस्मिक आंदोलन से इन थोड़े-से

प्रस्तर के बुदबुदों के समान एकाएक जाग उठे थे ? उन शिल्पियों के साथ हमारा योग कहाँ पर है, जिन्होंने इतने अनुराग, इतने धैर्य, इतनी निपुणता के साथ इस सब गगनचुंबी सौन्दर्य की सृष्टि की थी और हम जो अर्धनिमीलित उदासीन आँखों से इस सब भुवन-मोहिनी कीर्ति के एक-एक प्रस्तर-खण्ड को खिसकते देखते हैं, लेकिन किसी को यथास्थान फिर से स्थापित करने की चेष्टा नही करते, और न इस पुन स्थापन की क्षमता ही हमारे अन्दर है, हमारे बीच ऐसी कौन-सी महाप्रलय हुई थी जिससे प्राचीन काल का कार्य-कलाप वर्तमान काल के निकट एक पहेली बन गया है ? हमारे जातीय जीवन-इतिहास के बीच के कई पन्ने कौन फाड़कर ले गया जिससे हम उस समय के साथ अपनी सगति नही बैठा पा रहे है ? आज हमारे विधान रह गए हैं लेकिन वह विधाता नही है, शिल्पी नही है; लेकिन उसके शिल्प की निपुणता से देश ढका हुआ है। ऐसा लगता है कि जैसे हम लोग किसी परित्यक्त राजधानी के खडहरो मे रह रहे है, उस राजधानी की ईंटें जहाँ खिसक गई हैं वहाँ पर हमने बस कीचड़ और गोबर लीप दिया है, पुरी के निर्माण का रहस्य हमारे लिए बिलकुल अनजाना है।

प्राचीन पूर्व पुरुषों से हमारा सम्बन्ध ऐसा टूट गया है कि हम यह समझने की क्षमता भी खो बैठे है कि उनके साथ हमारा पार्थक्य कहाँ है ? हम सोचते है कि उस समय के भारतवर्ष के साथ आज के युग का भेद केवल नये-पुराने का भेद है। उस समय जो चीज उज्ज्वल थी आज वह मलिन हो गई है, उस समय जो चीज दृढ़ थी वही आज शिथिल हो गई है। अर्थात् इसीको अगर कोई सोने के पानी की पालिश करके थोडा-बहुत चमका दे तो इसीसे वह अतीत भारतवर्ष सशरीर लौट आयगा। हम सोचते है कि प्राचीन हिन्दू, रक्त-मांस के आदमी न थे, वे बस सजीव शास्त्र के श्लोक थे, वे बस विश्व-जगत् को माया समझते थे और सारे दिन जप-तप करते रहते थे। यह कि वे युद्ध करते थे, राज्य की रक्षा करते थे, शिल्प-चर्चा और काव्यालोचन करते थे, समुद्र पार से वाणिज्य करते थे—उनमे अच्छे-बुरे का टकराव था, विचार था, विद्रोह था, मत-वैचित्र्य था, एक शब्द मे जीवन था। यह हम ज्ञान से तो जानते है लेकिन मन के भीतर इसकी उपलब्धि नही कर पाते। प्राचीन भारतवर्ष की कल्पना करते ही नई पंजिका के वृद्ध ब्राह्मण-सक्रान्ति की मूर्ति ही हमारे मन मे उदय होती है।

इस आत्यंतिक व्यवधान का अन्यतम प्रधान कारण यह है कि हमारे देश में तब से लेकर अब तक साहित्य की मनोमय प्राणमय धारा अविच्छिन्न रूप

बहती हुई नहीं आई। साहित्य का जो कुछ है वह बीच-बीच में यहां-वहां दूर-दूर बिखरा हुआ है। उस काल के विचार-स्रोत, भाव-स्रोत, प्राण-स्रोत की आदिगंगा सूख गई है, बस उस नदी की तलहटी मे जहां-जहां पानी रुक गया है, वह किसी बहती हुई आदिम धारा से परिपुष्ट नही, उसका कितना पानी पुराना और कितना पानी आधुनिक लोकाचार की दृष्टि से संचित है, कहना कठिन है। आज हम साहित्य की धारा को पकडे हुए हिन्दुत्व के उस बृहत्, प्रबल, बहुमुखी, सचल, तट-गठनशील, सजीव स्रोत पर बहते हुए इस काल से उस काल मे नही जा सकते। आज हम उसी सूखे रास्ते के बीच-बीच अपनी अभिरुचि और आवश्यकता के अनुसार तालाब खोदकर उसीको हिन्दुत्व कहकर पुकारते हैं। वह बँधा हुआ, क्षुद्र, विच्छिन्न हिन्दुत्व हमारा व्यक्तिगत सम्बन्ध है, उसमें कोई मेरा हिन्दुत्व है, कोई तुम्हारा हिन्दुत्व है, यह कण्व-कणाद, राघव-कौरव, नंद-उपनंद और हमारे सर्व-साधारण का तरंगित प्रवाहित अखण्ड विपुल हिन्दुत्व है कि नही, इसमें संदेह है।

इस प्रकार साहित्य के अभाव में हमारे बीच पूर्वापर का सजीव सम्बन्ध टूट गया है। लेकिन साहित्य का अभाव होने का एक प्रधान कारण हमारे बीच जातीय सम्बन्ध का असद्भाव है। हमारे देश मे कन्नौज, कौशल, काशी, कांची सभी स्वतन्त्र भाव से अपने-अपने रास्ते चले गए है और बीच-बीच में अश्वमेध का घोडा छोड़कर एक-दूसरे को सकुचित करने से भी बाज नही आते। महाभारत का इन्द्रप्रस्थ, राजतरंगिणी का कश्मीर, नदवंश का मगध, विक्रमादित्य की उज्जयिनी, इनमें जातीय इतिहास का कोई धारावाहिक सम्बन्ध न था। इसीलिए जातीय साहित्य सम्मिलित जातीय हृदय पर अपनी अटल भित्ति की स्थापना नही कर सका। विच्छिन्न देश में, विच्छिन्न काल में पारखी राजाओं के आश्रय मे कोई-कोई साहित्यकार अपनी कीर्ति स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित कर गए हैं। कालिदास केवल विक्रमादित्य के है, चंद बरदाई केवल पृथ्वीराज के, चाणक्य केवल चद्रगुप्त के। वे अपने समय के सम्पूर्ण भारतवर्ष के नही हैं। यहाँ तक कि उस प्रदेश मे भी उनके पूर्ववर्तियो और परवर्तियों में कोई सम्बन्ध ढूंढे से नही मिलता।

जब साहित्य सम्मिलित जातीय हृदय मे अपना गरम-गरम सुरक्षित घोंसला बनाकर बैठता है तभी वह अपने वंश की रक्षा कर पाता है, तभी वह धारावाहिक रूप से अपने को बहुत दूर तक प्रसारित कर सकता है। इसीलिए मैंने पहले ही कहा है कि सहितत्व ही साहित्य का प्रधान उपादान है; वह बिखरे हुओं को एक

करता है और जहाँ पर ऐक्य है वही पर अपनी प्रतिष्ठा भूमि स्थापित करता है। जहाँ पर एक के साथ अन्य का, काल के साथ कालांतर का, ग्राम के साथ दूसरे ग्राम का विच्छेद है, वहाँ पर व्यापक साहित्य जन्म नही ले सकता। हमारे देश मे अनेक लोग किस चीज से एक होते है ? धर्म से। इसीलिए हमारे देश मे केवल धर्म-साहित्य है। इसीलिए प्राचीन बगला-साहित्य केवल शक्ति और वैष्णव काव्य की ही समष्टि हैं। राजपूतों को वीर गौरव एक करता था इसीलिए वीर-गौरव उनके कवियों के गान का विषय था।

हमारे छोटे-से बग देश में भी एक साधारण साहित्य की हवा उठी है। धर्म-प्रचार से ही इसका आरम्भ हुआ है। पहले जो लोग अंग्रेजी सीखते थे वे प्रधानतः हमारे वणिक अंग्रेजी राज्य में उन्नति करने की आशा से ही इस कार्य में प्रवृत्त होते थे; उनकी अर्थकरी विद्या साधारण लोगों के किसी काम न आती थी। तब सर्वसाधारण को एक शिक्षा से गठित करने का सकल्प किसी के दिमाग मे नही आया, तब जो कृती पुरुष थे वे सब अपना-अपना रास्ता देखते थे।

बगाल के सर्वसाधारण को अपनी बात सुनाने की आवश्यकता सबसे पहले ईसाई मिशनरियों ने अनुभव की इसीलिए वे सर्वसाधारण की भाषा को शिक्षा-वहन और ज्ञान-वितरण के योग्य बनाने की दिशा मे प्रवृत्त हुए, लेकिन यह काम पूरी तरह से विदेशी लोगो के किये नही हो सकता। नये बगाल के प्रथम सृष्टि-कर्ता राजा राममोहन राय ने ही सच्चे अर्थों मे बंगाल के गद्य-साहित्य का बीजा-रोपण किया।

इसके पहले हमारा साहित्य केवल पद्य तक ही सीमित था। लेकिन राममोहन राय के उद्देश्य की पूर्ति के लिए पद्य काफी न था। उन्हें केवल भाव की भाषा, सौन्दर्य की भाषा, रसज्ञ की भाषा नही, बल्कि युक्ति की भाषा, विवरण की भाषा सब विषयों और सब लोगों की भाषा की जरूरत थी। पहले केवल भावुक-सभा के लिए पद्य था, अब जन-सभा के लिए गद्य अवतरित हुआ। इस गद्य-पद्य के सहयोग को छोड़कर कभी कोई साहित्य सम्पूर्णता नही प्राप्त कर सकता। सरस्वती महारानी की समस्त साधारण प्रजा के लिए खास दरबार और आम दरबार को छोड़कर साहित्य का दरबार उपयोगी नही होता। राममोहन राय ने आकर सरस्वती के उस आम दरबार का सिंह-द्वार अपने हाथ से खोल दिया।

हम बचपन से गद्य बोलते आ रहे है लेकिन गद्य कैसी दुरूह चीज है यह हम प्रथम गद्यकारों की रचना देखकर ही समझ सकते हैं। पद्य में प्रत्येक पंक्ति मे एक

विश्राम का स्थान होता है, हर दो-चार पंक्तियों के बाद नियमित रूप से एक विराम मिलता है; लेकिन गद्य मे एक पद से दूसरे पद को बाँध देना पड़ता है, बीच मे किसी खाली पद के लिए गुंजाइश नही है, पद में कर्ता, कर्म, क्रिया को और पदो को एक-दूसरे के साथ इस तरह मे सजाना पड़ता है कि उनसे गद्य-प्रबन्ध के आदि और अत मे युक्तिसम्बन्ध का घना योग स्थापित हो जाय। छन्द मे एक अनिवार्य प्रवाह है, उस प्रवाह के बीच एक बार फेंक पाने पर कविता महज ही नाचते-नाचते बहती चली जाती है, लेकिन गद्य मे खुद ही अपना रास्ता देखकर पाँव-पाँव अपने शरीर को तोलते हुए आगे बढ़ना पड़ता है, पैदल चलने की इस विद्या का ठीक अभ्यास न रहने पर चाल बहुत टेढ़ी-मेढ़ी, उल्टी-सीधी, लड़खड़ाती हुई हो जाती है। हमे आजकल गद्य की प्रणाली में बँधे हुए नियम का अभ्यास हो गया है, लेकिन कुछ समय पहले ऐसी बात न थी।

तब यही नही कि गद्य-रचना करना कठिन था, बल्कि लोग अभ्यास न होने के कारण गद्य-प्रबन्ध आसानी से समझ भी न पाते थे। देखा जा रहा है कि जिस तरह पृथ्वी की आदिम अवस्था मे केवल पानी था उसी तरह सभी जगह साहित्य की आदिम अवस्था मे केवल छद-तरंगिता प्रवाहशालिनी कविता थी। मैं समझता हूँ कि कविता मे ह्रस्वपद, भावो की नियमित यति और छन्द और तुक की झंकार के कारण बात बहुत जल्दी से मन पर अंकित हो जाती है और श्रोतागण जल्दी ही उसे समझ लेते है। लेकिन छन्दोबंधनीय बृहत्काय गद्य का प्रत्येक पद और प्रत्येक अंश एक-दूसरे मे सम्बद्ध होता है और उसके पीछे-पीछे चलने मे एक विशेष मानसिक चेष्टा की आवश्यकता होती है। इसीलिए राममोहन राय जब बंगला मे 'वेदान्त सूत्र' का अनुवाद करने मे लगे तो उन्हें इस प्रकार की भी एक भूमिका लिखने की जरूरत महसूस हुई कि गद्य को किस तरह समझना चाहिए। मैं उस अंश को उद्धृत करना चाहता हूँ : "इस भाषा में अब तक कोई शास्त्र या काव्य गद्य मे नही आया। इसलिए इस देश मे अनेक लोग अभ्यास न होने के कारण दो-तीन वाक्यों का अन्वय करके गद्य का अर्थ तत्काल समझ नही पाते। यह बात कानून के अपवाद का अर्थ समझते समय प्रत्यक्ष अनुभव होती है।"

इसके बाद लेखक ने यह बतलाया है कि क्या करने से गद्य को समझा जा सकता है :—

"वाक्य के आरम्भ और अंत में इन दोनों की ही विवेचना विशेष रूप से करना उचित होता है। जिन-जिन स्थानो पर जब जो जैसे इत्यादि शब्द हैं उनके

प्रतिशब्द तब, तहाँ, तैसे इत्यादि को पहले के साथ अन्वय करके वाक्य का अंत अंगीकार करके अर्थ करने की चेष्टा न करें" इत्यादि।

इतिहास-पुराण में पढ़ने को मिलता है कि राजा लोगों के सहसा किसी ऋषि के तपोवन में अतिथि होने पर ऋषि लोग अपने योगबल से मद्य-मांस की सृष्टि करके राजा और उनके अनुचरों को भोजन कराते थे। बहुत बार दिखाई पड़ता है कि तपोवन के पास दूकान-बाजार न होता था और शाल के पत्ते में केवल हरड़ और आँवला इकट्ठा करके राजा के योग्य भोज्य का आयोजन नहीं किया जा सकता था, इसीलिए ऋषियों को अपना तपोबल लगाना पड़ता था। राममोहन राय जहाँ पर थे वहाँ भी कुछ प्रस्तुत न था, गद्य न था, गद्य समझने की शक्ति भी न थी। जिस समय इस बात का उपदेश करना पड़ता कि आदि के साथ अंत का योग, कर्त्ता के साथ क्रिया का अन्वय करके गद्य पढ़ना पड़ता है, उसी आदिम काल में राममोहन पाठकों के लिए कौन-सा उपहार प्रस्तुत कर रहे थे? वेदांत-सार, ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् आदि दुरूह ग्रन्थों का अनुवाद। उन्होंने सर्वसाधारण को अयोग्य समझकर उनके हाथ में परिस्थिति के अनुसार सहज प्राप्य आँवला और हरड़ लाकर नहीं रख दिया। सर्वसाधारण के प्रति उनमें ऐसी ही एक आंतरिक श्रद्धा थी। आधुनिक काल में हमारे देश में राममोहन राय ने ही सबसे पहले साधारण मनुष्य को राजा समझा था। उन्होंने मन-ही-मन कहा था : साधारण नामक इस महाराज का मैं यथोचित अतिथि-सत्कार करूँगा, मेरे अरण्य में इसके उपयुक्त कुछ भी नहीं है, लेकिन मैं कठिन तपस्या द्वारा राजभोग की सृष्टि कर दूँगा।

केवल पंडितों के आगे पांडित्य दिखलाना, ज्ञानियों के निकट ख्याति अर्जित करना, राममोहन राय-जैसे परम विद्वान् व्यक्ति के लिए सम्भव न था। वे पांडित्य के निर्जन अति उच्च शिखर को छोड़कर नीचे सर्वसाधारण की भूमि पर आये और ज्ञान का अन्न और भाव की सुधा समस्त मानव-सभा में परोसने लगे।

इस प्रकार बंगाल में एक नये राजा के राजत्व का एक नये युग का अभ्युदय हुआ। नये बंगाल के पहले बंगाली ने सर्वसाधारण को राजटीका लगा दिया और इस राजा के रहने के लिए समस्त बंगाल की विस्तीर्ण भूमि पर गहरी नींव देकर साहित्य को सुदृढ़ रूप से प्रतिष्ठित किया। कालांतर में उसी भित्ति पर नई-नई मंजिलें बनती जायेंगी और एक दिन साहित्य का भवन गगनचुम्बी हो उठेगा और अतीत-भविष्यत् के समस्त बंग हृदय को स्थायी आश्रय देता रहेगा, आज

यह हमे दुराशा का स्वप्न नही जान पड़ता।

अत दिखाई पड़ता है कि एक बड़े उन्नत भाव के ऊपर बंग साहित्य की भित्ति प्रतिष्ठित हुई है। जब इस निर्माण-कार्य का आरम्भ हुआ तब बंगला भाषा में न कोई योग्यता थी, न कोई आदर था; तब बंगला भाषा न तो किसी को ख्याति देती थी और न धन देती थी, तब बंगला भाषा में भाव व्यक्त करना भी दुरूह था और भाव व्यक्त करके उसे साधारण जनो में प्रचारित करना भी दुस्साध्य था। राजा उसका आश्रयदाता न था, साधारण शिक्षित जन उसका उत्साह बढ़ाने वाले न थे। जो अंग्रेजी बोलते-चालते थे बंगला की उपेक्षा करते और जो बंगला जानते वे भी इस नये उद्यम का कोई महत्त्व न समझते।

तब बंगला साहित्य के प्रतिष्ठाताओं के सामने केवल सुदूर भविष्य और विराट् जनमंडली उपस्थित थी—वही यथार्थ साहित्य की स्थायी प्रतिष्ठा-भूमि है। स्वार्थ भी नही, ख्याति भी नही, सच्चे साहित्य का ध्रुव लक्ष्यस्थल केवल निरवधि काल और विपुला पृथ्वी होती है। यह लक्ष्य रहता है इसीलिए साहित्य मनुष्य के साथ मनुष्य को, युग के साथ युगांतर को प्राणबंधन में बांध देता है। बंगला साहित्य की उन्नति और व्याप्ति के कार्य में केवल समस्त बंगालियों का हृदय आतरिक संबंध में बँधकर एक होगा यही बात नही है, एक समय भारतवर्ष की अन्यान्य जातियो को भी बंगला साहित्य अपने ज्ञानान्न-वितरण की अतिथिशाला मे अपने भावामृत के उन्मुक्त सदावर्त में खीचकर ले आयगा, इसका लक्षण अभी से ही थोड़ा दिखाई देने लगा है।

अब तक बंगला साहित्य की उन्नति के लिए जिन्होंने चेष्टा की है उन्होंने अकेले-अकेले काम किया है। अकेले-अकेले सभी काम कठिन होते हैं; विशेषत: साहित्य का। क्योंकि जैसा कि मैंने पहले कहा है, साहित्य का एक प्रधान उपादान सहितत्व है। जिस समाज मे जनसाधारण के मन में बहुत-से भाव संचित और सदैव आंदोलित हो रहे हों, जहाँ आपस के मानसिक संस्पर्श से सब अनेक प्रकार से एक-दूसरे का अनुभव कर पाते हों, वहाँ पर उसी मन के संघात से भाव और भाव के संघात से साहित्य स्वत. जन्म ग्रहण करता है और चारो ओर संचरित होता रहता है। इस मानव-मन के सजीव संस्पर्श से वंचित होकर केवल दृढ़-संकल्प के आघात के संगीहीन मन को जनशून्य-कठिन कर्त्तव्य-क्षेत्र के बीच ले चलना, अकेले बैठकर सोचना, उदासीन लोगो के मनोयोग को आकर्षित करने के लिए एकांत चेष्टा करना, बहुत दीर्घकाल तक एक-मात्र अपने अनुराग की गर्मी से

अपने भावपुष्पों को खिलाने का प्रयास करना और चिरंतन जीवन के प्राणपण उद्यम की सफलता के संबंध में बराबर संदेहशील रहना—ऐसी निरानंद अवस्था और क्या हो सकती है ? जो आदमी काम कर रहा है उसे कष्ट होता हो केवल इतनी ही बात नहीं है, इससे काम भी असम्पूर्ण रहता है। ऐसी उपवास दशा मे साहित्य के फूलों मे पूरी तरह रंग नही आता, उसके फल ठीक से पक नही पाते। साहित्य का समस्त आलोक और उत्ताप सर्वत्र ठीक ढग से संचरित नही हो पाता।

वैज्ञानिक लोग कहते है, पृथ्वी को घेरने वाले वायुमंडल का एक प्रधान कार्य सूर्य के प्रकाश को खण्ड-खण्ड विभाजित करके चारों ओर यथासभव बराबर-बराबर फैला देना होता है। हवा न होती तो दोपहर मे भी कही तो प्रखर आलोक होता, कही घनघोर अंधेरा।

हमारे ज्ञानराज्य के मनोराज्य के चारों ओर भी वैसे ही एक वायुमंडल की आवश्यकता है। समाज में सब जगह अनुशीलन की ऐसी एक हवा बहनी चाहिए जिससे ज्ञान और भाव की किरणें चारों ओर प्रतिफलित हो सकें, फैल सकें।

बगाल में पहले-पहल जब अंग्रेजी शिक्षा प्रचलित हुई, जब हमारे समाज मे यह मानसिक वायुमंडल तैयार नही हुआ था तब शतरंज के सफेद और काले घरो की तरह शिक्षा और अशिक्षा परस्पर घुले-मिले बिना एक-दूसरे के ठीक पास-पास रहती थी। जिन्होने अंग्रेजी सीखी है और जिन्होने नही सीखी वे दोनों स्पष्ट रूप से विभक्त थे, उनमें परस्पर किसी प्रकार का संयोग न था, केवल संघात था। शिक्षित भाई अपने अशिक्षित भाई की मनमानी अवज्ञा कर सकता था लेकिन किसी सहज उपाय से उसको अपनी शिक्षा का अंश नही दे सकता था।

लेकिन जब तक देने का अधिकार न हो तब तक किसी चीज पर पूरा अधिकार नही कहा जा सकता। केवल भोगने का स्वत्व और अपनी आयु की अवधि तक सीमित स्वत्व नाबालिगों और स्त्रियों का अधूरा अधिकार-मात्र होता है। एक समय हमारे अंग्रेजी के पंडित लोग बहुत बड़े पडित थे लेकिन उनका पाडित्य उनके भीतर ही सीमित रहता, देश के लोगों को दान वे न कर सकते थे—इसी-लिए वह पांडित्य केवल विरोध और अशांति की सृष्टि करता था। उस अधूरे पाडित्य में गर्मी तो खूब मिलती, लेकिन रोशनी काफी न मिलती।

इस क्षुद्र सीमा में बँधकर व्याप्तिहीन पांडित्य काफ़ी कुछ उग्र हो उठता है, इतना ही नही उसका प्रधान दोष यह है कि वह नई शिक्षा का मुख्य अंश क्या है

और गौण अंश क्या है इसका चुनाव नहीं कर पाता। इसीलिए पहले-पहल जिन लोगों ने अंग्रेजी सीखी थी उन्होंने अपने चारों ओर के लोगों को अनावश्यक सताया था और समझ लिया था कि मद्य-मांस सेवन करना और खूब शेखी बघारना ही सभ्यता का मुख्य उपकरण है।

चावल की बोरी में से कंकड़ चुनने के लिए बोरी के सब चावलों को किसी बड़े बरतन में फैला देना पड़ता है उसी तरह नई शिक्षा को बहुत लोगों में फैलाए बिना उसके अनाज और कंकड़ को अलग करना दुस्साध्य हो जाता है। अत. शुरू-शुरू में जब नई शिक्षा सब अच्छे फल न देकर बहुत तरह की असंगत फ़िजूल बातें पैदा करती है तब उससे बहुत ज्यादा डरकर उस शिक्षा को रोकने की चेष्टा करना सब समय सद्विवेचना का काम नहीं कहा जा सकता। जो चीज स्वाधीनता से फैल सकती है वह खुद ही अपना सशोधन कर लेती है, जो बँधी रहती है वही दूषित हो उठती है।

इसी कारण से अंग्रेजी शिक्षा जब तक संकीर्ण सीमा में बँधी हुई थी तब तक उस क्षुद्र सीमा में अंग्रेजी सभ्यता के त्याज्य अंश ने संचित होकर समस्त को कलुषित कर लिया था। अब उस दिशा के चारों ओर फैलने से ही उसकी प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई।

लेकिन अंग्रेजी शिक्षा अंग्रेजी भाषा का सहारा लेकर फैली हुई है, ऐसी बात नहीं है। बंगला साहित्य ही उसका प्रधान सहायक रहा है। भारतवर्ष में बंगाली ने एक समय अंग्रेजी राज्य की स्थापना में सहायता की थी; भारतवर्ष में बगाली साहित्य आज अंग्रेजी भावराज्य और ज्ञानराज्य के फैलाने में प्रधान सहकारी हो गया है। इस बगला साहित्य के योग से अंग्रेजी भाव जब घर-बाहर सब जगह सुगम हुए तभी हम अंग्रेजी सभ्यता की अंधी दासता से मुक्त होने के लिए सचेत हो उठे। अंग्रेजी शिक्षा से हमारा समाज आज ओत-प्रोत है इसीलिए हम लोग स्वाधीनता के साथ उसके भले-बुरे उसके मुख्य गौण का विचार करने के अधिकारी हो गए हैं, आज अनेक चित्त अनेक स्थितियों में उसकी परीक्षा करके देख रहे हैं, आज इसी शिक्षा द्वारा बंगाली का मन सजीव हुआ है और बंगाली के मन का आश्रय लेकर वह शिक्षा भी सजीव हो उठी है।

इसी तरह हमारे ज्ञानराज्य के चारों ओर मानसिक वायुमंडल का सृजन होता है। हमारा मन जब सजीव न था तब इस वायुमंडल का अभाव हम लोग उतना न अनुभव करते थे। अब हमारा मानस-प्राण जितना ही सजीव होता जा

रहा है उतना ही हम इस वायुमंडल के लिए व्याकुल हो रहे हैं।

इतने दिनों तक हमें पानी के भीतर बैठे हुए पनडुब्बे की तरह अंग्रेजी साहित्याकाश से नली के जरिये हवा ले आनी पड़ती थी। अब भी हम उस नली को पूरी तरह छोड़ नहीं सके हैं। लेकिन धीरे-धीरे हमारे जीवन-संचार के साथ-साथ हमारे चारों ओर उस वायु का संचार भी आरम्भ हो गया है। हमारी देशी भाषाओं में देशीय साहित्य की हवा उठ रही है।

जब तक बंगाल में साहित्य की हवा नहीं बही थी, वह आंदोलन उपस्थित नहीं हुआ था, जब तक बंगला साहित्य इक्के-दुक्के स्वतंत्र संगीहीन प्रतिभा-शिखरों का सहारा लेकर विच्छिन्न भाव से काल-यापन कर रहा था, तब तक अधिकार के स्वर में माँगने के लिए उसके पास कोई खास चीज न थी। तब तक केवल बलवान् व्यक्ति उसे अपने वीर्यबल से अपनी दोनों बाँहों पर उठाये हुए पालते चले आ रहे थे। अब उसने साधारण लोगों के हृदय में आकर अपना स्थान बना लिया है, अब बंगाल में सभी जगह वह अबाध अधिकार प्राप्त कर गया है। अब वह अंतःपुर में भी परिचित आत्मीय के समान प्रवेश करता है और विद्वानों की सभा में भी समादृत अतिथि के समान आसन पाता है। अब वे लोग, जिन्होंने अँग्रेजी में शिक्षा पाई है, बंगला भाषा में अपना भाव व्यक्त करने को गौरव की बात समझते हैं, अब बहुत बड़े-बड़े विलायती विद्याभिमानी भी बंगाली पाठकों के निकट ख्याति अर्जन करने को अपनी चेष्टा के अयोग्य नहीं समझते।

पहले जब अंग्रेजी शिक्षा का प्रवाह हमारे समाज में आया था तब उसने केवल एक बालू का मैदान तैयार कर दिया था, वे बालू के ढेर परस्पर असम्पृक्त थे। उनके ऊपर न हम कोई स्थायी रहने की जगह बना सकते थे, न जनसाधारण के प्राणधारण-योग्य फ़सल ही पैदा कर सकते थे। आखिरकार उसी पर जब बंगला साहित्य की उपजाऊ गीली मिट्टी पड़ी तब जाकर एक दृढ़ तट बँधा और तब केवल इतना ही नहीं हुआ कि बंगाल के बिखरे हुए आदमियों ने एक होने का उपक्रम किया बल्कि तब बंगाली हृदय के चिरंतन आहार और आश्रय की व्यवस्था हुई। अब यह जीवनशालिनी, जीवनदायिनी मातृभाषा अपनी संतानों से अपने अधिकार की प्रार्थना कर रही है।

७ अप्रैल १८९५ (चैत्र १३०१) को वंगीय साहित्य परिषद् के प्रथम वार्षिक अधिवेशन में दिया गया भाषण। १८९५ (वैशाख १३०२) में 'साधना' में प्रकाशित हुआ।

पञ्चम खण्ड

साहित्य के पथ पर

वास्तविकता

लोग कुछ भी ठीक से नही कर रहे हैं, संसार को जैसा होना चाहिए था वैसा नही हो रहा है, समय खराब है—ये सब दुश्चिन्ताएँ प्रकट करके आदमी बड़े आराम से पड़ा रहता है, उसके आहार-निद्रा में कोई बाधा नही पड़ती, यह चीज़ प्रायः देखने मे आती है। दुश्चिन्ता की आग सर्दी की आग-जैसी उपादेय होती है; पास तो रहे, लेकिन शरीर में न लगे।

लिहाज़ा अगर कोई ऐसा कहे कि आजकल बंगाल के कवि जिस साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं उसमें वास्तविकता नही है, वह जनसाधारण के लिए उपयोगी नही है, उससे लोकशिक्षा का काम नहीं चलेगा, तो बहुत संभव है कि मैं भी देश की स्थिति के सम्बन्ध में उद्वेग प्रकट करके कहता, 'बात तो ठीक है,' और अपने-आपको इस दल के बाहर रखता।

लेकिन मेरा ही नाम लेकर यह बात कहने से दूसरों का चाहे जितना मनोरंजन हो, मैं उस मनोरंजन मे खुले मन से योग नही दे सकता।

बात यह है कि कोहबर मे दूल्हे और पाठकों की सभा मे लेखक की प्रायः एक ही दशा होती है। दोनों ही के कान में बहुत-सी गालियाँ और दिल्लगी की आवाज़ें पड़ती हैं, जो कि उन्हें चुपचाप सहनी पड़ती है। उनको वे सहते है तो इसीलिए कि एक जगह पर उनकी जीत रहती है। कोई कितना ही सताये दूल्हे की दुल्हन को तो कोई छीन न ले जायगा और जो लेखक है उसकी रचना तो उसके पास रहेगी ही।

अतः अपने सम्बन्ध में मैं कुछ न कहूँगा। लेकिन इस अवसर पर साहित्य के बारे में सामान्य रूप से कुछ कहा जा सकता है। वह बिलकुल अप्रासंगिक न होगा। क्योंकि यद्यपि पहले नम्बर पर मेरी रचनाओं को ही सेशन सुपुर्द किया गया है तो भी ऐसा कुछ सुना जाता है कि आजकल के प्रायः सभी लेखकों का यही अपराध है।

वास्तविकता न रहना निश्चय ही एक बड़ा धोखा है। चीज़ कुछ भी न मिली

मगर दाम दिया और खुश होकर हँसते-हँसते चले गए ऐसे तमाम हतबुद्धि लोगों के लिए पक्के-पोढ़े अभिभावक नियुक्त होने चाहिएँ। वही आदमी अभिभावक वनने के योग्य है जिसे कवि लोग कला-कौशल दिखाकर झट से ठग न सकें, जो कटाक्ष से समझ सकें कि वस्तु कहाँ पर है, और कहाँ पर नही है। अतः जो लोग अवास्तविक साहित्य के सम्वन्ध मे देश को सतर्क कर रहे हैं वे लोग नावालिग और नालायक पाठको के लिए कोर्ट आफ वार्ड्स खोलने का काम कर रहे हैं।

लेकिन समालोचक चाहे जितने ही वड़े विद्वान् क्यो न हों वे चिरकाल तक पाठको को अपनी गोद मे लिये सँभालकर वैठे रहेगे, यह चीज न तो धाय के लिए है और न उसकी गोद के बच्चे के लिए। पाठकों को अच्छी तरह से समझा देना चाहिए कि वस्तु क्या है और क्या नही है।

मुश्किल यही है कि वस्तु एक नही है और सब जगह हम एक ही वस्तु की खोज या चर्चा नही करते। मनुष्य की प्रकृति बहुमुखी होती है, उसकी आवश्यकताएँ अनेक प्रकार की होती है और इसीलिए उसे तरह-तरह की वस्तुओ की खोज करनी पड़ती है।

इस वक्त सवाल यही है कि साहित्य मे हम किस वस्तु को खोजते हैं। उस्ताद लोग कहते है वह रस-वस्तु है। कहने की जरूरत नही कि यहाँ पर रस-साहित्य की ही बात हो रही है। यह रस ऐसी चीज है जिसकी वास्तविकता के सम्बन्ध में बहस छिड़ने पर हाथापाई तक की नौवत आ जाती है और एक पक्ष या दूसरे पक्ष के पटखनी खा जाने पर भी निर्णय पर नही पहुँच पाते।

रस ऐसी चीज है जो रसिक की अपेक्षा रखती है, केवल अपने जोर से वह अपने को प्रमाणित नही कर सकती। संसार मे विद्वान्, बुद्धिमान्, देशहितैषी, लोकहितैषी आदि भाँति-भाँति के अच्छे लोग हैं, लेकिन जिस प्रकार दमयन्ती ने सब देवताओं को छोड़कर नल के गले मे माला डाली थी उसी प्रकार रसभारती स्वयवर-सभा मे और सबको छोड़कर केवल रसिक को खोजती रहती है।

आलोचक जी छाती फुलाकर ताल ठोककर कहते है, "मैं ही तो हूँ वह रसिक।" उनकी बात काटने का साहस नही होता; लेकिन अरसिक अपने को अरसिक समझता हो, संसार मे ऐसी अभिज्ञता दिखाई नही पडती। मुझे कौन-सी चीज अच्छी लगी और कौन-सी अच्छी नही लगी, यही रस-परीक्षा की अंतिम मीमांसा होती है। इसीलिए साहित्य-सम्मालोचन में विनय नही होती, उसी तरह साहित्य-समालोचना मे कोई किसी तरह की पूँजी के लिए सब्र नही करता। क्योंकि समा-

लोचक का पद एकदम निरापद होता है।

साहित्य की परख यदि इतनी ही अनिश्चित हो तो उन लोगो के लिए, जो साहित्य की रचना करते हैं, उपाय क्या है। झटपट वाला कोई उपाय मुझे नही दिखाई पड़ता। अर्थात् अगर वे कोई निश्चित फल जानना चाहें तो उस जानने का भार उन्हे अपने पडपोते को देना होगा। नकद या विदाई जो कुछ उनके भाग्य में जुटे उसके ऊपर बहुत जोर डालने से काम न चलेगा।

रस-विचार करते समय व्यक्तिगत और कालगत भूलो का सशोधन करने के लिए जब विचार्य पदार्थ को अनेक व्यक्तियों और दीर्घकाल के बीच से ले जाते हैं तभी संदेह मिटता है।

किसी कवि की रचना में साहित्य—वस्तु है कि नही इसकी परख करने वाले समझदार लोग कवि के समसामयिकों में निश्चय ही अनेक होगे लेकिन वही इसके योग्य है कि नही इस बात का अंतिम निर्णय अधिकारपूर्वक घोषित करने पर ठगा जाना असंभव नही।

ऐसी स्थिति मे लेखक को एक सुविधा यह रहती है कि वह उन्ही लोगो को समझदार मान सकता है जो उसकी रचना को पसद करते हैं। दूसरे पक्ष को अगर वे योग्य ही न समझें तो ऐसा कोई न्यायालय पास मे नही है जहाँ इसके खिलाफ नालिश की जा सके। काल की अदालत मे अवश्य इसका विचार चलता रहता है लेकिन उस दीवानी अदालत के समान दीर्घसूत्री अदालत अंग्रेजो के मुल्क में भी नही है। इस जगह पर कवि की ही जीत होती है, क्योंकि शुरू से उसीका ही दखल होता है। काल का पियादा जिस दिन उसकी ख्याति की चौहद्दी की खूँटी उखाडने आयगा उस दिन समालोचक यह तमाशा देखने के लिए बैठा न रहेगा।

जो लोग आधुनिक बंगला साहित्य में वास्तविकता की तलाश करके एकदम निराश हो गए हैं वे मेरी बात के जवाब मे कहेंगे, "यह ठीक नही है तराजू-बटखरे से रस नाम की चीज को तोला नही जा सकता, लेकिन यह रस नामक पदार्थ किसी वस्तु का आश्रय लेकर ही तो प्रकट होता है। उसी जगह पर हम लोगों को वास्तविकता का विचार करने के लिए सुयोग मिलता है।"

निस्संदेह रस का एक आधार होता है। उसे तौला जा सकता है इसमें भी संदेह नही। लेकिन क्या उसी वस्तुपिण्ड को तौलकर साहित्य के मूल्य की परख होगी।

रस में एक चिरतनता होती है। मान्धाता के राज में मनुष्य ने जिस रस का उपयोग किया है आज भी वह खत्म नहीं हुआ। लेकिन वस्तु की दर बाजार के अनुसार इस बेला उस बेला बदलती रहती है।

अच्छा, मान लो मैं कविता को वास्तविक बनाने का लोभ अब और सँभाल नहीं पा रहा हूँ। मैं खोजने लगा कि देश में सबसे अधिक कौन-सी चीज वास्तविक हो उठी है। मैंने देखा कि ब्राह्मण-सभा देश में रेलवे-सिगनल के खम्भे के समान लाल-लाल आँखें करके अपने एक पैर पर जोर देकर खूब अकड़कर खड़ी है। कायस्थ लोग जनेऊ पहनेंगे ही और ब्राह्मण-सभा उनका जनेऊ छीनेगी ही, यह घटना बंगाल में विश्व की सब घटनाओं से अधिक बड़ी है। इसलिए अगर बंगाली कवि इसको अपनी रचना में जगह न दे तो समझना होगा कि वास्तविकता के सम्बन्ध में उसकी चेतना अत्यंत क्षीण है। यह समझकर मैंने 'जनेऊ संहार' काव्य लिखा। उसका वस्तुपिंड वजन में कम नहीं हुआ; लेकिन हाय रे, सरस्वती अपना आसन वस्तुपिंड के ऊपर रखेंगी या कमल के ऊपर।

यह दृष्टांत देने का एक प्रयोजन है। विचारकों के मत में वास्तविकता किस चीज को कहते हैं, उसका एक सूत्र मेरी पकड़ में आया है। मेरे खिलाफ एक फरियादी ने कहा है, मेरी समस्त रचनाओं में वास्तविकता का उपकरण थोड़ा-सा जो कहीं मिलता है तो वह 'गोरा' उपन्यास में।

गोरा उपन्यास में क्या वस्तु है या नहीं है इस बात को उस उपन्यास का लेखक सबसे कम समझता है। लोगों के मुँह से मैंने सुना है कि उसमें प्रचलित हिंदुओं की अच्छी व्याख्या मिलती है। इससे अंदाजा करता हूँ कि वही वास्तविकता का एक लक्षण है।

वर्तमान समय में कुछ विशेष कारणों से हिन्दू अपने हिन्दुत्व को लेकर भयकर उग्र हो उठा है। उसके सम्बन्ध में उसके मन का भाव अपनी सहज स्थिति में नहीं है। विश्व-रचना में यह हिन्दुत्व ही विधाता की चरम कीर्ति है और इसी सृष्टि में अपनी सब शक्ति खर्च करके अब वह और किसी चीज में आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं—यही हमारा नारा है। साहित्य की वास्तविकता तोलते समय यही नारा बटखरा बन जाता है। कालिदास को हम अच्छा कहते हैं, क्योंकि उनके काव्य में हिन्दुत्व है। बंकिम को हम अच्छा कहते हैं, क्योंकि पति के प्रति हिन्दू-पत्नी का जो मनोभाव हिन्दू-शास्त्र-सम्मत है वह उनकी नायिकाओं में दिखाई पड़ता है, या निंदा करते हैं तो इसलिए कि वह चीज काफी मात्रा में नहीं है।

अन्य देशों में भी ऐसा ही होता है। इंगलैंड मे इम्पीरियलिज्म का बुखार जब एक-एक घंटे पर बढ रहा था तब अंग्रेज कवियों का एक दल काव्य मे उसीकी रक्तवर्ण वास्तविकता का प्रलाप कर रहा था।

उसके साथ अगर तुलना की जाय तो वर्ड्सवर्थ की कविता मे वास्तविकता कहाँ है। उन्होंने विश्व-प्रकृति में जो एक आनन्दमय आविर्भाव देख पाया था उसके साथ—ब्रिटिश जनसाधारण की शिक्षा-दीक्षा, अभ्यास, आचार-विचार का क्या सम्बन्ध था। उसके भाव की रागिनी निर्जनवासी अकेले कवि की हृदय-बाँसुरी में बज उठी थी—अंग्रेजी की स्वदेशी हाट में तुलकर बिक सके ऐसा वस्तुपिंड उसमें क्या है, मैं जानना चाहता हूँ।

और कीट्स-शैली—इनके काव्य मे वास्तविकता का निर्धारण किस आधार पर होगा। अंग्रेजों के जातीय चित्त के सुर के साथ सुर मिलाकर क्या उन्होंने बख्शीश और वाहवाही पाई थी। जो सब समालोचक साहित्य की हाट मे वास्तविकता की दलाली करते रहते है उन्होने वर्ड्सवर्थ की कविता का आदर किस प्रकार किया था, इतिहास इसे जानता है। शैली को उनके देश ने उस दिन अस्पृश्य-अंत्यज के समान घर मे घुसने नही दिया और कीट्स को मृत्यु-बाण मारा।

और भी आधुनिक दृष्टांत टेनिसन है। वे विक्टोरियन युग के प्रचलित लोकधर्म के कवि हैं। इसीसे उनका प्रभाव देश मे सर्वव्यापी था। लेकिन विक्टोरियन युग की वास्तविकता जितनी ही क्षीण होती जा रही है टेनिसन का आसन भी उतना ही संकीर्ण होता जा रहा है। उनका काव्य जिस गुण के कारण टिका रहेगा वह चिरंतन रस का गुण है, उसमे विक्टोरियन ब्रिटिश-वस्तु बड़ी मात्रा में है इस कारण नही—वह स्थूल वस्तु हर रोज ढहती जा रही है।

हमारे समय के लेखकों का मोटा अपराध यही है कि हमने अंग्रेजी पढी है। अंग्रेजी शिक्षा बंगालियों के लिए वास्तविक नही, अतः वह वास्तविकता का कारण भी नही है और इसीलिए अब का साहित्य देश के जनसाधारण को शिक्षा और आनंद नही दे पाता।

ठीक बात है। लेकिन देश के जिन लोगों ने अंग्रेजी नही सीखी उनकी तुलना में हमारी संख्या तो नगण्य है। उनकी कलम तो कोई छीन नही लेता। हम केवल अपनी अवास्तविकता के जोर से देश के सब वास्तविक लोगों के ऊपर जीत पा लेंगे, यह स्वाभाविक बात नही।

हो सकता है कि जवाब में सुनूँ कि हम लोग हार रहे हैं। जिन्होंने अंग्रेजी नही सीखी वही देश के वास्तविक साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं, वही टिकेगा और उसीसे लोकशिक्षा होगी।

ऐसा ही हो तो फिर चिन्ता किस बात की। वास्तविक साहित्य, यथार्थवादी साहित्य का विपुल क्षेत्र और आयोजन देश-भर में फैला हुआ है, उसके बीच में यहाँ-वहाँ यथार्थवादी साहित्य एक क्षण भी टिक न सकेगा।

लेकिन उस वृहत् यथार्थवादी साहित्य को आँख से देख पाना कारगर होता, एक आदर्श मिलता। जब तक उसका परिचय नहीं है तब तक अगर जबरदस्ती उसको मान लूँ तो वह वास्तविक न होगा, काल्पनिक होगा।

लेकिन तो भी इधर अंग्रेजी पढ़े लोगों ने जिस साहित्य की सृष्टि की, उससे नाराज होकर उसको गाली देने पर भी वह बढ़ता जा रहा है, निंदा करने पर भी उसे अस्वीकार तो नही किया जा सकता। यही यथार्थ का प्रकृत लक्षण है। यह जो कोई-कोई आदमी खामखाह नाराज होकर उसे उड़ा देने की कोशिश कर रहे हैं उसका भी कारण यही है कि यह स्वप्न नहीं, माया नहीं, यथार्थ है। तुमने देखा नही क्या, एंग्लो-इंडियन अखबार अक्सर कहते हैं कि भारतवर्ष में बंगाली जाति को गिना ही नही जा सकता। उनकी बात की तेजी देखकर ही समझ में आ जाता है कि वे बंगालियों की विशेष रूप से गिनती कर रहे हैं, किसी तरह उन्हें भूल ही नही पाते।

अंग्रेजी शिक्षा ने पारस की तरह हमारे जीवन का स्पर्श किया, उसने हमारे भीतर के यथार्थ को ही जगाया। जो लोग इस यथार्थ से डरते हैं, जो लोग बँधे-टँके नियमों की जंजीर को ही ठीक समझते है, वे चाहे अंग्रेज हों चाहे बंगाली, वे इस शिक्षा को भ्रम और इस व्याकरण को मिथ्या कहकर उड़ा देने का स्वाँग भरते है। उनका बँधा हुआ तर्क यही है कि एक देश का आघात दूसरे देश को सचेत नही करता। लेकिन दूर देश की दखिखनी हवा देशांतर में साहित्य कुंज में फूलों को जगाती है, इतिहास इसका प्रमाण देता है। जहाँ से हो जैसे हो, जीवन के आघात से जीवन जाग उठता है, मानव-चित्त का यह एक, चिरंतन सच्चा व्यापार है।

लेकिन लोक-शिक्षा का क्या होगा।

उस बात की जवाबदेही साहित्य की नही।

लोग अगर साहित्य से शिक्षा पाने की चेष्टा करें तो पा भी सकते है; लेकिन

साहित्य लोगों को शिक्षा देने की बात ही नही सोचता। किसी देश मे भी साहित्य ने स्कूल-मास्टरी का जिम्मा नही लिया। देश के सव लोग रामायण-महाभारत पढ़ते हैं, उसका कारण यह नही है कि वे किसानो की भाषा में लिखे हुए हैं या उनमें दुखियों, कगालों की घर-गृहस्थी की बात वर्णित है। उसमे वडे-वड़े राजाओं, बड़े-वडे राक्षसों, वड़े-वड़े वीरों और वडे-वडे बन्दरों की वड़ी-वडी पूंछो की कहानी ही है। शुरू से लेकर आखिर तक सव-कुछ असाधारण है। साधारण लोगो ने अपनी गरज से इस साहित्य को पढना सीखा है।

साधारण लोग मेघदूत, कुमारसभव, शकुन्तला नही पढ़ते। वहुत सभव है कि दिङ्नागाचार्य ने इन कुछ पुस्तको में यथार्थ का अभाव देखा था। मेघदूत की तो खैर बात ही नही। कालिदास स्वय इन यथार्थवादियों के भय से एक जगह पर नितांत अकविजनोचित कैफियत देने के लिए बाध्य हुए थे—'*कामार्त्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाश्चेतनेपु।*'

मैंने अकविजनोचित इसलिए कहा कि कविमात्र चेतन-अचेतन मे सामंजस्य उत्पन्न कर देते है, क्योंकि वे विश्व के मित्र होते है, न्याय के अध्यापक नही। शकुन्तला का चतुर्थ अंक पढने से ही फिर कुछ समझने को बाकी न रहेगा।

लेकिन मैं कहता हूँ कि यदि कालिदास का काव्य अच्छा हो तो वह सभी आदमियों के लिए सव युगों के भडार मे सचित रहेगा—आज साधारण आदमी ने जो कुछ नही समझा उसे कल का साधारण आदमी हो सकता है कि समझे, कम-से-कम हम ऐसी आशा करते है। लेकिन कालिदास अगर कवि न होकर लोक-हितैपी होते तो वे शायद पाँचवी शताब्दी की उज्जयिनी के किसानो की प्राथमिक शिक्षा के लिए उपयोगी पुस्तकें लिखते—ऐसा होता तो उसके वाद इतनी सव शताब्दियों की क्या दशा होती।

तुम क्या यह सोचते हो कि तव कोई लोकहितैपी नही था? जनसाधारण की नैतिक और जाठरिक उन्नति किस प्रकार हो सकती है इस बात को सोचकर क्या किसी ने कोई पुस्तक नही लिखी? लेकिन वह साहित्य है क्या? क्लास की पढ़ाई ख़त्म होते ही साल वीतते ही स्कूली किताबों की जो हालत होती है उनकी भी वही हालत हुई है अर्थात् स्वेद-कम्प-रोमांच के भीतर से होकर बिलकुल दशम दशा।

जो अच्छा है उसको पाने के लिए साधना करनी होगी—राजा के बेटे को भी करनी होगी, किसान के बेटे को भी। राजा के बेटे को इतनी सुविधा है कि

उसके पास साधना करने के लिए समय है, किसान के बेटे के पास नहीं। लेकिन वह सामाजिक व्यवस्था का तर्क है—अगर प्रतिकार कर सको तो करो, किसी को आपत्ति न होगी। उसके मारे तानसेन अपने मीठे सुर तैयार करने के लिए बैठे न रहेंगे। उनकी सृष्टि आनंद की सृष्टि है, वह जो है सो है, और किसी मतलब से वह और कुछ हो ही नहीं सकती। जो रस-पिपासु हैं वे यत्न करके सीखकर उन ध्रुपदों के गहरे मधुकोष में प्रवेश करेंगे। निश्चय ही जब तक जनसाधारण उस मधुकोष का रास्ता न जानेंगे तब तक तानसेन का गाना उनके निकट बिलकुल अयथार्थ बना रहेगा, यह बात माननी ही होगी। इसीलिए मैं कह रहा था कि कौन-सी चीज कहाँ पर खोजनी होगी, किस तरह खोजनी होगी, कौन उसे खोज पाने का अधिकारी है, यह तो मनमाने ढंग से एक बात कहकर प्रमाणित या अप्रमाणित नहीं किया जा सकता।

तो फिर कवियों का सहारा क्या है? किसी एक चीज के ऊपर जोर देकर उन्होंने उसके ऊपर अपना भार डाल दिया है। निश्चय ही डाल दिया है। वह है भीतर की अनुभूति और आत्म-प्रसाद। कवि यदि एक वेदनामय चैतन्य लेकर उत्पन्न होते हैं, यदि वे अपनी प्रकृति द्वारा ही विश्व-प्रकृति और मानव-प्रकृति के साथ आत्मीयता स्थापित करते है, यदि शिक्षा, अभ्यास, प्रथा, शास्त्र आदि जड आवरणों के भीतर से वे केवल दस जनों के नियम से विश्व के साथ व्यवहार नहीं करते, तो वे निखिल सृष्टि के संस्पर्श से जो कुछ अनुभव करेंगे उसकी नितांत यथार्थता के सम्बन्ध में उनके मन में कोई संदेह न रहेगा। उन्होंने विश्व-वस्तु और विश्व-रस को बिलकुल सम्मिलित रूप से अपने जीवन में उपलब्ध किया है, इसीसे उनकी शक्ति है। मैं पहले ही कह आया हूँ कि बाहर की हाट की वस्तु की दर बराबर उठती-गिरती रहती है—वहाँ पर अनेक मुनियों के मत होते हैं, तरह-तरह के लोगों की तरह-तरह की फर्माइशें होती हैं, विभिन्न युगों के विभिन्न फैशन होते हैं। यथार्थ के उस शोर-गुल में पड़कर कवि का काव्य हाट का काव्य हो जायगा। उनके हृदय में जो ध्रुव आदर्श है पूरी तरह उसके ही ऊपर निर्भर होने के अलावा कोई उपाय नहीं है। वह आदर्श हिन्दू का आदर्श या अंग्रेज का आदर्श नहीं है, वह लोकहित का और स्कूल-मास्टरी का आदर्श भी नहीं है। वह आनंद-मय है और इसीलिए अनिर्वचनीय। कवि जानते है कि जो चीज उनके निकट इतनी सत्य है वह दूसरे किसी के लिए मिथ्या नहीं हो सकती। यदि किसी के लिए वह मिथ्या हो तो वह मिथ्या ही मिथ्या है—जो आदमी आँख बन्द किये हुए है

उसके लिए प्रकाश जिस तरह मिथ्या है वैसे ही यह चीज भी मिथ्या है। काव्य की यथार्थता के सम्बन्ध में कवि के भीतर स्वय जो प्रमाण है विश्व मे भी वही प्रमाण है, कवि इस बात को जानता है। उस प्रमाण की अनुभूति सबको नही होती—इसीलिए विचारक के आसन पर जो चाहे बैठकर जैसी चाहे राय दे सकता है, लेकिन डिग्री जारी करने के समय वह राय चलेगी ही, ऐसा नही कहा जा सकता।

कवि की स्वानुभूति के जिस उपादान की बात मैंने कही वह सब कवियो मे सब समय विशुद्ध रहती हो ऐसी बात नही है। अनेक कारणों से वह कभी ढक उठती है, कभी विकृत हो जाती है, कभी नकद मूल्य के प्रलोभन मे उसके ऊपर बाजार में चलने वाले आदर्शों की नकल पर कृत्रिम नक्शे काटे जाते हैं—इसीलिए उसका सब अंश चिरंतन नही होता और सब अशो का समान आदर हो भी नही सकता। अतः कवि चाहे नाराज हों चाहे खुश, उनके काव्य पर विचार करना ही होगा—और जो लोग उनका काव्य पढेंगे वे सभी उस पर विचार करेंगे—उस विचार मे सब एकमत न होंगे। मोटे रूप मे यदि वे अपने मन में सच्चा आत्म-प्रसाद पाते हों तो समझना चाहिए कि उन्हे अपना प्राप्य मिल गया। यह ठीक है कि पावनता से अधिक लोभ आदमी को ऊपरी आमदनी का होता है। इसीलिए बाहर, आस-पास, कोनों-अंतरों में इतना ज्यादा हाथ फैलाना पडता है। वही पर संकट है। क्योंकि लोभ में पाप है, पाप मे मृत्यु।

'सबुज पत्र' जुलाई-अगस्त १६१४ (श्रावण १३२१) मे प्रकाशित। उन दिनों बंगला जगत् मे 'साहित्य में यथार्थवाद' विषय पर विवाद चल रहा था, जिसमें रवीन्द्रनाथ पर निरन्तर प्रहार हो रहा था। यह निबन्ध अपनी सफ़ाई मे लिखा गया था।

सभापति का अभिभाषण

साहित्य-साधना के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। एक है कर्मकाण्ड। सभा-समिति का सभापतित्व करके दरबार लगाना, ग्रंथावली का सम्पादन करना, समाचार-पत्र चलाना—ये सब कर्मकाण्ड के भीतर आते हैं। जो लोग इस मार्ग से परिचित हैं वे जानते हैं कि कैसे स्वच्छन्द भाव से साहित्य-संसार का काम चलाना पड़ता है। उसके बाद का मार्ग है ज्ञानकाण्ड, जैसे इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन आदि की विवेचना। इसके द्वारा ही साहित्यिक सभा जमा करके यश की करतल-ध्वनि प्राप्त की जाती है।

मैं बचपन से ही इन दोनों मार्गों में भटका हुआ हूँ। अब बाकी रहा एक और मार्ग, वह है रस-मार्ग। यह मार्ग पकड़े-पकड़े मैं रस-साहित्य की विवेचना कर सकूँ या न कर सकूँ, मैं करता रहा हूँ यह बात अब छिपी नहीं रही। बहुत दिन पहले निर्जन सूने रास्ते पर रस-अभिसार के लिए निकला था, दूर पर बंशी की ध्वनि सुनकर। लेकिन यह अभिसार-पथ आत्मीयजनों की लोकनिंदा और लांछन के द्वारा कितना दुर्गम हो जाता है यह वे सभी जानते हैं जिन्होंने रस-चर्चा की है।

जो तान घर की सीमा से, प्रयोजन के शासन से, बहुत दूर ले जाती है वही तान मेरे कान में पहुँची थी, इसीसे निकट की बाधाओं के होते हुए मुझे बाहर होना पड़ा। इसीसे आज इस उम्र तक मैं बंशी-ध्वनि और लांछन दोनों ही सुनता आ रहा हूँ। जिस रास्ते पर मैं चला था वह हाट-घाट का रास्ता न था। इसीसे मैं नियम के राज्य की व्यवस्था ठीक से नहीं समझता। रस-मार्ग के पथिक को पग-पग पर नियम तोड़कर चलना होता है, यही बुरा अभ्यास मेरी अस्थि-मज्जा का अंश बन गया। इसीलिए जब मैं नियम के क्षेत्र में खींचकर ले आया जाता हूँ तो कर्म के सौष्ठव की रक्षा नहीं कर पाता।

तब फिर कोई सभापति का पद ग्रहण करने के लिए राजी क्यों हो? इसका प्रथम कारण यह है कि जिन्होंने इस पद के लिए मुझे बुलाया मैं उनका सम्मान करता हूँ, उनका निमंत्रण मैं अस्वीकार न कर सका।

दूसरा कारण यह है कि बंगाल के बाहर के बंगालियों की पुकार जब मेरे पास पहुँची तो मैं अपने ही हृदय के आकर्षणवश उस आमन्त्रण को अस्वीकार न कर सका। इस पुकार को सुनकर मेरे मन ने क्या कहा था वही मैं आज के अभिभाषण मे विस्तार के साथ आपको बतलाऊँगा।

आज जिस प्रकार वसन्तोत्सव के दिन दक्खिनी पवन की अभ्यर्थना में विश्व-प्रकृति पुलकित हो उठी है, धरती के वक्ष पर नये किसलयों के झरने फूट रहे है, उसी प्रकार आज के साहित्य-सम्मेलन के उत्सव मे भी एक वसन्त की पुकार है; यह पुकार आज की नही है।

न जाने कब एक दिन प्राण-समीरन की एक हिलोर बंग देश के चित्त पर से वह गई थी और देखते-देखते साहित्य की बन्द कलियाँ बाधाओं को चीरकर खिल उठी। बाधाएँ भी अनेक थी। नये-नये अंग्रेजी सीखे हुए छात्र उन दिनों अंग्रेजी साहित्य के रस से पागल होकर बंगला भाषा की अवज्ञा करते थे। उधर संस्कृत-साहित्य के ऐश्वर्य-गर्व से संस्कृत के पंडित भी मातृभाषा की अवहेलना करने मे पीछे न थे। लेकिन जिस तरह बहुत दिनों की उपेक्षित भिखारी लड़की बाहर की समस्त अकिंचनता के होते हुए अचानक एक दिन अपने भीतर से फूटने वाले यौवन की परिपूर्णता से विलक्षण सुंदर होकर गौरव के साथ विश्व के सौंदर्य-लोक में अपना आसन जमाती है उसी तरह अनादृत बंगला भाषा भी एक दिन सहसा न जाने किस भावावेग की उमंग से अपनी बहुत दिनों की दीनता को काट-कर महिमान्वित हो उठी। उसका उस दिन का वह दैन्य-विजयी भाव-यौवन का स्वरूप ही आज इस निमन्त्रण-पत्र के साथ मेरे स्मृति-मंदिर में आया।

मनुष्य का परिचय तभी पूर्ण होता है जब वह यथार्थ भाव से अपने को व्यक्त कर पाता है। लेकिन अभिव्यक्ति तो केवल अपने भीतर नही हो सकती। अभिव्यक्ति होती है अपने साथ अन्य सबके सच्चे सम्बन्ध मे। ऐक्य एक के बीच नही होता, अनेक मे सम्बन्ध का ऐक्य ही ऐक्य है। उस ऐक्य की व्याप्ति और सचाई को लेकर ही व्यक्ति-विशेष और समूह-विशेष का यथार्थ परिचय मिलता है। इस एकता को व्यापक कर पाना, गहरा कर पाना ही हमारी सार्थकता है।

भूगोल के अर्थ मे जिसे हम बंगाल कहते हैं उसमें कोई गहरी एकता मुझे नहीं मिलती, क्योंकि बंगाल केवल मृण्मय पदार्थ नही है, वह चिन्मय भी है। बात इतनी ही नही है कि उसका स्थान विश्व-प्रकृति मे है, उससे अधिक सच्चे रूप में वह हमारे चित्तलोक में है। याद रखना होगा कि बहुत-से पशु-पक्षी भी बंगाल की

मिट्टी मे जन्मे है। लेकिन तो भी रॉयल बंगाल टाइगर के हृदय में बंगाली के साथ एकात्मकता का बोध आत्मीयता के रंग से युक्त नहीं है इसीलिए बंगाली का भक्षण करने में उसे जो आनद मिलता है वह और किसी चीज में नहीं मिलता। किसी मनुष्य का यथार्थ परिचय इस बात से नही मिलता कि उसने किस भूखण्ड में जन्म लिया है।

और फिर, मनुष्य अपनी जातिगत एकता के द्वारा भी अपने परिचय को व्यक्त करना चाहता है। जो सब मनुष्य स्वनियंत्रित राष्ट्रीय विधि-विधान के योग से ऐसे एक राज्यतंत्र की रचना करते हैं जिसके द्वारा वे पर-राज्य से अपने राज्य की स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकते हैं और उसी स्वराज्य-सीमा के शासन और परस्पर सहयोग के द्वारा अपने को सार्वजनिक स्वार्थ के नियमों से अनुशासित और विस्तीर्ण कर पाते है, उन्हीको एक नेशन कहा जाता है। उनमें और चाहे जितने भेद हो, उससे कुछ नही आता-जाता। बंगाली को नेशन नही कहा जा सकता, क्योंकि बंगाली अब तक अपना राष्ट्रीय भाग्य-विधाता नहीं बन सका। दूसरी ओर सामाजिक धर्म-संप्रदायगत एकता के बीच भी विशेष देश के रहने वाले अपना परिचय दे सकते हैं, जैसे कि वे कह सकते हैं कि हम हिन्दू है या मुसलमान हैं। पर कहने की जरूरत नही कि इस सम्बन्ध मे भी बंगाल की अनेकता रह गई है। उसी प्रकार वर्ण-भेद के हिसाब से जो जाति बनती है वहाँ भी बंगाल के भेदो का अंत नही है। और फिर विज्ञानवाद के अनुसार जो वंशगत जाति होती है उसका निर्णय करने के लिए वैज्ञानिक लोग आदमी की लम्बाई, रंग, नाक की ऊँचाई, माथे की चौड़ाई आदि विविधताओं को नाप-जोख करके सूक्ष्म विचार करते हैं और इस माथापच्ची को लेकर पसीना-पसीना होते है। उस हिसाब से हम बंगाली किस वंश में जन्मे हैं, इसके बारे में अगर हम पंडितो का मत लेकर सोचने बैठें तो जरूर रास्ता भटक जायेंगे।

जन्म-लाभ से हमको एक अभिव्यक्ति मिलती है। यह अभिव्यक्ति की पूर्णता ही जीवन की पूर्णता है। रोग, ताप, दुर्बलता, अनशन आदि बाधाओं को काटकर जितने ही सम्पूर्ण रूप में हम जीवधर्म का पालन कर पाते हैं उतना ही हमारे जैविक व्यक्तित्व का विकास होता है। हमारी इस जैविक अभिव्यक्ति का आधार है विश्व-प्रकृति।

लेकिन जल-स्थल-आकाश-आलोक के संबंध-सूत्र से विश्वलोक मे हमे जो अभिव्यक्ति मिलती है वही तो हमारी एक-मात्र अभिव्यक्ति नही है। हमने मनुष्य

के चित्तलोक मे भी जन्म ग्रहण किया है। उसी सार्वजनीन चित्तलोक के साथ संबंध स्थापित करके व्यक्तिगत चित्त की पूर्णता द्वारा हमारी चिन्मय अभिव्यक्ति पूरी होती है। इसी चिन्मय अभिव्यक्ति का वाहन है भाषा। भाषा न होती तो मनुष्यों का एक-दूसरे के साथ भीतर का सबध अत्यत सकीर्ण होता।

इसीसे मैं कहता हूँ कि बगाली सिर्फ इसलिए बगाली नही है कि उसने बगाल जन्म लिया है। बंगला भाषा के भीतर से मनुष्य के चित्तलोक मे आने-जाने का विशेष अधिकार उसे मिला है, इसीलिए वह बगाली है। भाषा आत्मीयता का आधार होती है, वह मनुष्य की जैविक प्रवृत्ति से ज्यादा गहरी चीज होती है। आजकल मातृभाषा का गौरवबोध बगाली के लिए अत्यन्त आनद का विषय हो गया है, क्योंकि भाषा के बीच से उनका परस्पर परिचय सभव हो सका है और वह दूसरो को भी अपना यथार्थ परिचय दे पा रहा है।

मनुष्य की अभिव्यक्ति के दो पक्ष है। एक पक्ष है उसकी स्वानुभूति और दूसरा पक्ष है अन्य सबके निकट उसका अपने को व्यक्त करना। वह यदि अगोचर हो तो सब-कुछ नितात विफल हो जाता है। यदि अपने ही निकट उसकी अभिव्यक्ति क्षीण हुई तो दूसरे के निकट भी वह अपने को व्यक्त नही कर सका। वहाँ पर वह क्षुद्र होकर रह गया। जहाँ पर वह अपने को व्यक्त कर सका वही पर उसका महत्त्व प्रस्फुटित हुआ।

इस परिचय की सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा सबल और सतेज होनी चाहिए। भाषा यदि स्वच्छ न हो, दरिद्र हो, जडताग्रस्त हो तो मनोविश्व मे मनुष्य की अभिव्यक्ति अपूर्ण रह जाती है। बगला भाषा एक समय गँवई ढंग की थी। उसके माध्यम मे दार्शनिक चिन्तन और गहरे भाव व्यक्त करने मे अनेक बाधाएँ थी। इसीसे तब बगाली को सब लोग गँवई के रूप मे जानते थे। इसीसे वे लोग जो संस्कृत भाषा की चर्चा करते थे और संस्कृत शास्त्र के माध्यम से विश्वसत्य के साथ परिचित हुए थे वे पूरे मन से बंगला भाषा का सम्मान नही कर सके। बंगला के पाचालि-साहित्य और पयार उनके लेखे नगण्य थे। अनादर का फल क्या होता है ? अनादृत मनुष्य अपने को अनादरणीय समझने लग जाता है; सोचता है कि वह स्वभावतः ज्योतिहीन है। लेकिन यह तो सच बात नही; आत्म-अभिव्यक्ति के अभाव मे ही वह अपने को भूल जाता है। जब वह अपने को व्यक्त करने का ठीक उपलक्ष्य पाता है तो फिर वह अपने निकट स्वयं प्रच्छन्न नही रहता। उपयुक्त आधार न मिलने पर प्रदीप अपनी शिखा के सबध में स्वयं

अन्धा रहता है। अतः क्योंकि मनुष्य की आत्म-अभिव्यक्ति का प्रधान वाहन भाषा होती है इसलिए उसका सबसे बड़ा काम है—भाषा का दैन्य दूर करके अपना यथार्थ परिचय पाना और पूर्ण परिचय को विश्व के सामने उद्घाटित करना। मुझे याद आता है, हमारे बचपन में बंगाल में एक दिन भावों के तपस्वी बंकिमचंद्र ने न जाने किस उद्बोधन-मन्त्र का उच्चारण किया था कि उससे एका एक जैसे बहुत दिनों का कृष्ण-पक्ष अपने काले पृष्ठ को पलटकर शुक्ल-पक्ष के रूप में आविर्भूत हुआ। तब जो सम्पदा हमारे निकट उद्घाटित हुई थी केवल उसके लिए हमारा आनंद रहा हो, ऐसी बात नहीं है। लेकिन हमने अचानक अपने सामने देखा कि असीम आशा का क्षेत्र फैला हुआ है। क्या होगा, कितना हमको मिलेगा, भावी-काल कौन-सी अभावनीय चीज लेकर आयगा, इनके कौतूहल से मन भर उठा।

यह जो मन में अनुभूति जागती है कि शायद सौभाग्य का कहीं अन्त नहीं, यह जो हृदय के स्पन्दन में आगन्तुक असीम की पगध्वनि सुनाई पड़ती है, इसीसे सृष्टि का कार्य आगे बढ़ता है। सभी विभागों में ऐसा ही होता है। एक दिन राष्ट्रीय क्षेत्र में बंगालियों की और भारतवासियों की आशाएँ संकीर्ण सीमा में बँधी हुई थीं। इसीसे कांग्रेस ने सोचा था कि जितना कुछ अंग्रेज हाथ में दे देगा उसीको प्रसाद के रूप में ग्रहण करके हम बड़े हो जायँगे। लेकिन यह सीमाबद्ध आशा जिस दिन मिट गई उस दिन समझ में आया कि मेरे अपने भीतर जो शक्ति है उसके द्वारा ही मैं देश की सब सम्पदाओं को ले आ सकूँगा। इस तरह की असीम आशा के द्वारा ही असाध्य कार्य सिद्ध होते हैं। आशा को जंजीरों में जकड़ देने से कोई बड़ा काम नहीं होता। बंगाली को इस असीमता का परिचय कहाँ पर मिला है ? वहीं पर जहाँ वह अपने जगत् की स्वयं ही सृष्टि करके उसके बीच विराज सका है। मनुष्य अपने जगत् में विहार न कर सके, दूसरे का दिया खाय, दूसरे के घर में रहे तो उसके दुःख का अन्त नहीं रहता। इसीसे तो कहा है : 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'। मेरा जो धर्म है वह मेरी सृष्टि की मूल शक्ति है, मैं स्वयं अपना आश्रयस्थल तैयार करके उसमें विराजूँगा। प्रत्येक जाति की अपनी सृष्टि उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार विचित्र आकार धारण करती है। वह राष्ट्र, समाज, साहित्य, शिल्प-कला आदि नाना क्षेत्रों में अपने जगत् की विशेष प्रकार से रचना करके उसमें सचरण करने का अधिकार प्राप्त करती है। बंगाली जाति ने अपनी आनंदमयी सत्ता को प्रकट करने का एक-मात्र क्षेत्र पाया है बंगला भाषा में। एक समय इसी भाषा में ऐसी एक शक्ति का संचार हुआ था जिससे

वह नाना रचना-रूपों मे उद्घाटित हो उठी थी, जिस प्रकार बीज अपनी प्राण-शक्ति के आलोडन से अपने आवरण को चीरकर अंकुर को जन्म देता है कुछ-कुछ वैसा ही। यदि उसकी यह शक्ति नितांत क्षीण होती तो उसका साहित्य अच्छी तरह आत्म-समर्थन न कर सकता। विदेश से आने वाली भाव-धारा बाढ़ की तरह उसे धो-पोछकर साफ़ कर देती।

इस तरह लुप्त हो जाने का परिचय हमे अन्यत्र मिला है। भारतवर्ष के अन्य अनेक स्थानो में अग्रेजी-चर्चा खूब प्रबल है। यहाँ पर स्वजातियो के बीच, परम आत्मीयो के बीच पत्र-व्यवहार अंग्रेजी भाषा में होता है। ऐसी दीन दशा है कि पिता-पुत्र के बीच भी केवल भावो का नही सामान्य समाचारों का आदान-प्रदान भी विदेशी भाषा की सहायता से होता है। राष्ट्रीय अधिकार को पाने का आग्रह प्रकट करते हुए जिस मुख से वह, 'बन्देमातरम्' कहता है उसी मुख से माँ का दिया हुआ अधिकार जो मातृभाषा है उसका असम्मान करते हुए मन मे उसे कोई संकोच नही होता।

बंगाल मे भी इस प्रकार के आत्म-असम्मान का लक्षण बिलकुल न हो ऐसा मैं नही कह सकता। तो भी इतना है कि इस सम्बन्ध में बगाली के मन मे एक लज्जा की चेतना उत्पन्न हो गई है। आज के दिन बगालियो के डाकघर के रास्ते मे बंगला चिट्ठियों की ही भीड़ सबसे ज्यादा होती है।

मातृभाषा के प्रति सचमुच अगर सम्मान का भाव मन मे हो तो अपने देश वाले को, अपने आत्मीय को अग्रेजी मे चिट्ठी लिखने के समान भद्दी बात कोई कर नही सकता।

एक समय बंगाल मे ऐसा हुआ था कि अंग्रेजी मे कविता लिखने मे लोगो के आग्रह की सीमा न थी। तब अंग्रेजी मे रचना कर सकना, अग्रेजी में बोल सकना असाधारण गौरव की बात थी। आजकल बंगाल में उसका उल्टा ही हो रहा है। अब कुछ लोग आक्षेप के स्वर मे कहते है कि मद्रासी लोग बंगालियों से ज्यादा अच्छी अंग्रेजी बोल सकते हैं। इस अभियोग को हम सिर पर मुकुट के समान धारण करते है।

आज बगाल के बाहर यह बंग साहित्य सम्मेलन अकस्मात् आत्म-अभिव्यक्ति के लिए उत्सुक हो उठा है; इस आग्रह का कारण है, बंगाली ने अपना प्राण देकर एक प्राणवान् साहित्य गढकर खड़ा किया है। जहाँ पर बंगाल का केवल भौगोलिक अधिकार है वहाँ पर वह मानचित्र की सीमा-परिधि को छोड़ नही पाता।

यहाँ पर उसका देश विधाता का बनाया हुआ देश है, पूरा-पूरा उसका स्वदेश नही। लेकिन भाषा-वसुन्धरा का आश्रय लेकर उसका चित्त जिस मानस-देश में रहता है वह देश उसकी धरती की सीमाओ से बँधा हुआ नहीं है, वही देश उसकी अपनी जाति का बनाया हुआ देश है। आज बंगाली उसी देश को नदी, प्रान्तर, पर्वत का अतिक्रमण करते हुए दूर-दूर तक फैला हुआ देख पा रहा है, इसीलिए उसका आनन्द बगाल की सीमा से लेकर बंगला की सीमा के बाहर तक फैल रहा है। वह खण्डित देश-काल के बाहर अपने चित्त के अधिकार को उपलब्ध कर रहा है।

इतिहास पढ़ने पर पता चलता है कि एक समय इंग्लैंड और स्काटलैंड में विरोध का अन्त न था। इस द्वन्द्व का समाधान कैसे हुआ ? स्काटलैंड के किसी राजपुत्र को सिंहासन पर बैठाकर ही नहीं। असल में जब चौसर आदि कवियों के समय में अंग्रेजी भाषा साहित्य-सम्पदाशाली हो उठी तब उसके प्रभाव ने फैलकर स्काटलैंड को आकर्षित किया। उस भाषा ने अपने ऐश्वर्य की शक्ति से स्काटलैंड की वरमाला जीती थी। इस तरह दो विरोधी जातियाँ भाषा के क्षेत्र में एकत्र होकर आपस मे मिली। ज्ञान के भाव के एक ही पथ की सहयात्री होकर आत्मीयता के बंधन को मन के भीतर स्वीकार करने से उनके बाहर के भेद दूर हुए। दूर प्रदेशों में रहने वाले बंगाली जो बंगला भाषा को पकड़े रहना चाहते हैं, प्रवास की भाषा को जो स्वीकार नही करना चाहते, उसका भी कारण यही है कि साहित्य-सम्पदाशाली बंगला भाषा की शक्ति ने उनके मन को जीत लिया है। इसीलिए, चाहे वह कितनी ही दूर क्यो न हों, अपनी भाषा के गौरव-बोध के सूत्र में बंगाल में बगाली के साथ उसका सम्बन्ध गहरा बना रहता है। इस सम्बन्ध को तोड़ने मे उन्हे पीड़ा होती है, इसको उपलब्ध करने में उन्हें आनन्द मिलता है।

बचपन मे ऐसी आलोचना भी मैंने सुनी है कि बंगाली ने बंगला भाषा की चर्चा में अपना मन जो लगाया है उससे भारतीय एकता मे बाधा पड़ती है। कारण, भाषा की शक्ति बढ़ती रहने पर उसके दृढ बंधन को शिथिल करना कठिन होता है। उन दिनों बंगला साहित्य यदि उन्नति न करता तो सम्भव था कि आज हम उसके प्रति ममता तोडकर निर्विकार चित्त से कोई साधारण भाषा ग्रहण करके बैठ जाते। लेकिन भाषा नाम की जो चीज है उसका जीवन-धर्म होता है। उसको साँचे में ढालकर, मशीन मे डालकर, फ़र्माइश के अनुसार नही गढ़ा जा सकता। उसके नियम को स्वीकार करके ही उसका पूरा फल मिलता है। उसके

विरुद्ध दिशा में चलने पर वह बाँझ हो जाती है। एक दिन फ्रेडरिक महान् के समय मे फ्रास की भाषा के प्रति जर्मनी की लोलुपता दिखाई पडी थी। लेकिन वह टिकी नही। क्योकि फ्रांस की प्रकृति से फ्रांस की भाषा को विच्छिन्न कर लेने पर उससे प्राण का काम नही चलाया जा सकता। मैं शेर का चमड़ा लेकर आसन बना सकता हूँ, घर की सजावट कर सकता हूँ; लेकिन अपने चमड़े की अदला-बदली उससे नही कर सकता।

हमे स्वीकार करना ही होगा कि जिस तरह हमने माँ की गोद मे जन्म लिया है उसी तरह मातृ-भाषा की गोद मे भी जन्म लिया है, ये दोनो माताएँ हमारे लिए सजीव और अपरिहार्य है।

अपने व्यवहार के अलावा हमारे लिए मातृ-भाषा की और भी एक बड़ी सार्थकता है। हमारी भाषा जब हमारे अपने मनोभावों का उत्कृष्ट वाहन होती है तभी अन्य भाषाओ के मर्मगत भावों के साथ हमारा सहज और सत्य सम्बन्ध स्थापित हो पाता है। मैं बचपन में स्कूल से भागा हूँ लेकिन बूढा होने पर फिर वही स्कूल मुझे लौटा ले आया है। इसीसे मैंने बच्चो को पढाकर कुछ जानकारी प्राप्त की है। हमारे विद्यालय में अनेक श्रेणियों के छात्र आये है, उनमे कभी-कभी अंग्रेज़ी सीखे हुए बंगाली लड़के भी हमें मिले हैं—मैंने देखा है कि उनको अंग्रेजी सिखाना सबसे कठिन काम है। जो बंगाली का लड़का बंगला नही जानता उसे अंग्रेजी सिखायें भी तो कैसे। भिखारी के साथ दाता का सम्बन्ध आपस के आंतरिक मिलन का सम्बन्ध नही है। भाषा-शिक्षा में अगर ऐसा ही हो अर्थात् एक ओर खाली झोली और दूसरी ओर दान का अन्न, तो ग्रहीता को बिलकुल शुरू से शुरू करना पड़ता है। लेकिन इस भिक्षा-वृत्ति के ऊपर आधारित आजीविका से कभी कल्याण नही होता। अपनी भाषा से दाम चुकाकर उसके प्रतिदान में दूसरी भाषा को अपनाना ही सहज होता है।

इसलिए जब प्रत्येक देश अपनी भाषा में पूर्णता प्राप्त करेगा तभी अन्य देशो की भाषा के साथ उसका सच्चा सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा। भाषा की इसी सहयोगिता से प्रत्येक जाति का साहित्य और भी उज्ज्वल होकर प्रकाशवान् होने का सुयोग पाता है। जो नदी मेरे गाँव के पास से होकर बहती है उसमे जैसे गाँव के इस पार उस पार डोंगी से आने-जाने का सिलसिला चलता है, उसी तरह उस डोंगी में बिक्री की चीजें ले जाकर विदेशो के साथ कार-बार हो सकता है। क्योंकि उस बहती हुई नदी के साथ और बहुत-सी नदियों का सघन सम्बन्ध होता है।

यूरोप मे एक समय लैटिन भाषा ज्ञान-चर्चा की एक-मात्र साधारण भाषा थी। जब तक वह रही तब तक यूरोप की एकता बाह्य एकता रही और उसमें गहराई न थी। लेकिन आजकल यूरोप ने अनेक विद्या-धाराओं के सम्मिलन से जो महत्त्व प्राप्त किया है वह आज तक अन्य किसी महादेश में सम्भव नही हुआ। इन अलग-अलग देशो की विद्याओं का निरन्तर गतिशील सम्मिलन यूरोप के अनेक देशो के अनेक भाषाओं के सम्बन्ध से ही हो सका है, एक भाषा के द्वारा कभी न हो सकता। आज के दिन यूरोप में राष्ट्रीय वैषम्य का अन्त नही है लेकिन उसकी विद्या का साम्य आज भी प्रबल है। ज्ञान-सम्मिलन की उज्ज्वलता से दिशाएँ अभिभूत हो गई हैं। उस महादेश में दीपावली उत्सव का जो विराट् आयोजन हुआ है उसको सम्पन्न करने के लिए वहाँ का प्रत्येक देश अपनी दीप-शिखा जलाकर ले आया है। जहाँ पर यथार्थ मिलन होता है वहीं पर यथार्थ शक्ति होती है। आज के दिन यूरोप की यथार्थ शक्ति उसकी ज्ञान-सहकारिता मे है।

हमारे देश मे भी इस बात को ध्यान में रखना होगा। आजकल भारतवर्ष में परस्पर भावों के आदान-प्रदान की भाषा अंग्रेज़ी है। दूसरी एक भाषा को भी भारतव्यापी मिलन का वाहन बनाने का प्रस्ताव हुआ। लेकिन इस तरह यथार्थ समन्वय नही हो सकता; सम्भव है एकाकारता हो सके। लेकिन एकता नही हो सकती, क्योंकि यह एकाकारता बनावटी और छिछली चीज है। यह केवल बाहर से, सबको एक ही रस्सी में बाँधकर मिलाने का प्रयास मात्र है। जहाँ पर हृदयों का विनिमय होता है वहाँ पर स्वतंत्रता और विशिष्टता रहने पर ही यथार्थ मिलन हो सकता है। लेकिन अगर बाहरी बंधनों से मनुष्य को मिलाने के लिए जबरदस्ती की जाय तो उसका परिणाम परम शत्रुता होती है, क्योंकि वह मिलन केवल जंजीरों या नियम-व्यवस्था का मिलन होता है।

रूस ने अपने अधिकृत छोटे-छोटे देशों की भाषा को मारकर उन्हें रूसी भाषा में मिलाने की चेष्टा की थी। बेल्जियन फ्लेमिश लोगो की भाषा को भुलवाकर ही बच सकती है। लेकिन भाषा का अधिकार भौगोलिक अधिकार से बड़ा होता है इसीसे यहाँ पर जबरदस्ती नही चलती। बेल्जियम फ्लेमिश लोगों का अनैक्य नहीं सह सका इसीसे उसने उन्हें राष्ट्रीय एकता के बन्धन में बाँधना चाहा। लेकिन वह एकता गहरी नही है इसलिए स्थायी भित्ति के ऊपर खड़ी नही रह सकती। साम्राज्य-बन्धन की दुहाई देकर जो एकता स्थापित करने की चेष्टा की जाती है

वह एक बड़ी विडम्बना है। आज यूरोप के बड़े-बड़े दास-व्यवसायी राष्ट्र अपने अधीन देशों की जनता को एक जुए में जोतकर उन्हें कोड़ा मारकर अपने इम्पीरियलिज्म का रथ चला रहे हैं। रथ के वाहन जो घोड़े हैं उनमे आपस में कोई आत्मीयता नही। लेकिन सारथी का उससे कुछ नहीं आता-जाता। उसे तो लौ लगी है आगे बढ़ने की, और वह रथ के घोड़ों को कस-बाँधकर, खींच-तानकर बेतहाशा चाबुक मारकर आगे बढ़ा रहा है। नही तो उसका गतिवेग थम जायगा। जो लोग ऐसा बाहरी साम्य चाहते हैं वे भाषाओं की विविधता पर स्टीम-रोलर चलाकर अपने राज-रथ का रास्ता बराबर करना चाहते हैं। लेकिन पाँच विभिन्न फूलों को कूटकर उनका दलिया पकाने से वह शतदल नही कहा जा सकता। जंगल के विभिन्न पत्र-पुष्पो में जो एकता है वह वसंत की एकता है। इसलिए कि वसंत के समागम में फागुन की हवा से उन सबकी मंजरियाँ मुकुलित हो उठती हैं। उनकी विविधता के अन्तराल में जिस वसंत की एक ही वाणी दौड़ रही है, उसके कारण वे एक हैं और आपस मे मिले हुए हैं। राष्ट्रीय क्षेत्र मे जबरदस्त लोग कहा करते है कि आदमी को अच्छी तरह बाँध-बूँधकर, मार-कूटकर प्रयोजन की सिद्धि करनी होगी—इस तरह रस्सी लेकर बाँधने से ही शायद एकता स्थापित हो सकती होगी। अद्वैत में जो परम मुक्त शिव हैं उनको वे लोग नहीं चाहते। द्वैत को बाँध-छानकर बस्ते से बन्द कर लेने में जो अद्वैत का धोखा है, वही उनको पसंद है। लेकिन जिन्होने सच्चे अद्वैत को अपने भीतर पाया है वे तो उन्हें बाहर नहीं खोजते। बाहर जो एक है वह तो प्रलय है, एकाकारता है और भीतर जो एक है वह है सृष्टि, वही एकता है। एक हुआ पंचत्व दूसरा हुआ पंचायन।

आज के इस साहित्य-सम्मेलन मे बंगाल के पड़ोसी अनेक बन्धु भी जमा हुए हैं। वे अगर इस सम्मेलन में जमा होकर निमंत्रण का गौरव प्राप्त करने मे मन मे कोई बाधा अनुभव न करें तो समझना चाहिए कि एक बड़ा काम हुआ। अच्छा हो कि हम बंगालियों के अपने अत्यधिक आत्माभिमान से मिलन-यज्ञ में विघ्न न डालें। दक्ष ने तो अपने आभिजात्य के अभिमान से ही शिव को रुष्ट कर दिया था।

जिस देश में हिन्दी भाषा प्रचलित है उस देश मे प्रवासी बंगाली बंगला भाषा का क्षेत्र तैयार कर रहे हैं, इससे बंगालियों के इस प्रतिष्ठान का दायित्व बहुत बढ़ गया है। इस उत्तर भारत की काशी मे इन्हें क्या मिला, उन्होंने क्या देखा, आत्मीयजनों की सहयोगिता से क्या पाया यह उन्हें हमको बतलाना होगा। हम

लोग जो दूर रहते हैं वे यहाँ की इन सब बातों से परिचित नहीं। उत्तर भारत के लोगों को हमने मानचित्र या गजेटियर की मदद से देखा है। बंगाली जब अपनी भाषा के माध्यम से उनके साथ परिचय बढ़ाकर सौहार्द का रास्ता खोलेंगे तो उससे कल्याण होगा। प्रेम की साधना का एक प्रधान सोपान ज्ञान की साधना है।

आपस के परिचय का अभाव ही मनुष्य के भेदों को बड़ा बना देता है। जब भीतर का परिचय नहीं होता तब बाहर का अनैक्य ही दिखाई पड़ता है और उससे पग-पग पर अवज्ञा का संचार होता है। आज बंगला भाषा का सहारा लेकर उत्तर भारत के साथ इस आंतरिक परिचय का प्रवाह बंगाल की ओर धावित हो। उत्तर भारत के आधुनिक और प्राचीन साहित्य में जो श्रेष्ठ सम्पदाएँ हैं, जो सबकी श्रद्धा जगा सकती है, उन्हें संग्रह करके यहाँ के साहित्यिक दूर बंगाल देश में भेजेंगे— इस प्रकार भाषा के माध्यम से बंगाल के साथ उत्तर भारत का परिचय और भी घनिष्ठ होगा।

मैं हिन्दी नहीं जानता, लेकिन अपने आश्रम के एक मित्र से मैंने सबसे पहले प्राचीन हिन्दी साहित्य की अद्भुत रत्न-राशि का थोड़ा-बहुत परिचय प्राप्त किया है। प्राचीन हिन्दी कवियों के ऐसे सब गान मैंने उनसे सुने हैं जिन्हें सुनकर ऐसा लगता है कि जैसे वे आधुनिक युग के हों। इसका मतलब है कि सच्चा काव्य सदा आधुनिक रहता है। मैंने समझा कि जिस हिन्दी भाषा के क्षेत्र में भावों की ऐसी सुनहरी फसल उगी है वह भाषा अगर कुछ दिन परती भी पड़ी रही तो भी उसकी स्वाभाविक उर्वरता मर नहीं सकती, वहाँ पर एक बार फिर खेती का सुदिन आयगा और पौष मास का नवान्न-उत्सव होगा। इस प्रकार एक समय अपने मित्र की सहायता से इस देश की भाषा और साहित्य के साथ मेरी श्रद्धा का सम्बन्ध स्थापित हुआ था। उत्तर-पश्चिम के साथ यह श्रद्धा का सम्बन्ध ही हमारी साधना का विषय होना चाहिए। 'मा विद्विषावहै।'

आज बसंत-समागम में जंगल की पत्ती-पत्ती में पुलक का संचार हो रहा है। पेड़ के सूखे पत्ते झर गए हैं। ऐसे दिन में जो लोग हिसाब के नीरस पन्ने उलटने में व्यस्त हैं वे इस देशव्यापी वसंतोत्सव के छंद में योग न दे सके। वे पीछे पड़ गए। देश में आज जिस पोलीटिकल आवेग का संचार हुआ है—उसका चाहे जितना मूल्य हो वह बाहर की चीज है। उसके नफ़े-नुकसान के हिसाब से कहीं बड़ी बात वह गहरी आत्मिक प्रेरणा है जिसके प्रभाव से इस बंगला भाषा और साहित्य का ऐसा उन्मुक्त विकास हुआ है। स्वास्थ्य की जो स्वाभाविक प्राणगत क्रिया है वह

अगोचर रूप में काम करती है, शायद इसीलिए व्यस्तवागीश लोग उसकी अपेक्षा दवाईखाने की ज्वाइंट स्टाक कम्पनी को ज्यादा बड़ा समझते हैं—यहाँ तक कि उसके लिए स्वास्थ्य-विसर्जन करने के लिए भी राजी हैं। सम्मान के लिए आदमी सिरोपा की प्रार्थना करता है, और उसकी जरूरत भी हो सकती है, लेकिन सिरोपा से आदमी का सिर बड़ा नही हो जाता। असल गौरव की बात मस्तिष्क में होती है सिरोपा मे नही, प्राण के सृष्टिघर में होती है दूकान के कारखानाघर मे नही। वसंत बगाल के चित्त-उपवन मे प्राण-देवता का दाक्षिण्य लेकर आ पहुँचा है, यह हुई बिलकुल भीतर की खबर, अखबार की खबर नही—इसकी घोषणा का दायित्व कवियों पर है। मैं आज वही कवि का कर्त्तव्य करने के लिए आया हूँ, मैं यह कहने के लिए आया हूँ कि पाषाणी अहल्या के ऊपर रामचद्र का पद-स्पर्श हुआ है—यह दृश्य बंगला साहित्य मे देखा गया है, यही हम सबके लिए बड़ी आशा की बात है। आज बगाल से दूर होते हुए बंगालियों के हृदय-क्षेत्र में उसी आशा और पुलक का सचार हो। बहुत ज्यादा दिनों की बात नही है, अधिक-से-अधिक साठ बरस से बंगला साहित्य कथा मे, छंद मे, गान मे, भाव में शक्तिशाली हो उठा है। इस शक्ति का यही पर अंत नही है, हमारे मन में आशा और विश्वास का सचार हो। हम इस शक्ति को चिरजीवी करें। जहाँ भी मानव-शक्ति भाषा और साहित्य में अभिव्यक्त हुई है वही पर मनुष्य ने अमरता पाई है और पाया है मानव जाति को सभा मे अपना आसन और वरमाला।

अभी थोड़े दिन हुए मारबुर्ग विश्वविद्यालय से वहाँ के अध्यापक डॉ० आटो ने मुझको लिखा है कि वे शातिनिकेतन मे बंगला-साहित्य की चर्चा करने के लिए एक अध्यापक को भेजना चाहते हैं। वे यहाँ से शिक्षा प्राप्त करके जब लौटेंगे तो उस विश्वविद्यालय में बंगला भाषा की 'चेयर' कायम की जायगी। यह इच्छा दस साल पहले किसी विदेशी के मन मे न जागी थी।

आज वंग-वाणी का उत्सव खुल गया। जो लोग उसकी धारा की खोज मे भागे आये उन सबकी मेजबानी का भार मेरे ऊपर है। हममें आशा और साहस हो तो यह काम निश्चय ही हो सकेगा। हम सब मिलकर उस भविष्यत् के लिए उन्मुख रहेंगे। इस अध्यवसाय में बंगाल यदि विशेष गौरव अर्जित करे तो वह क्या सारे भारतवर्ष की चीज न होगी? पेड़ की किसी भी शाखा मे फूल खिले, वह क्या सारे पेड़ का नही होता? अरण्य की जो वनस्पति फूल-फल से भर उठी अगर उसीके लिए भौंरे दौड़े आयें तो समग्र अरण्य आदरपूर्वक उनका स्वागत करता है।

आज बंगला के प्रांगण में ही यदि अतिथियों का समागम हो तो इसमें क्या हानि है। वे भारतवर्ष के क्षेत्र में ही आकर हमसे मिले हैं, भारतवासियों को यह मानना होगा। बंगला-साहित्य आज परम श्रद्धा से उन मधुव्रतियों का आवाहन करे।

जून १९२३ (ज्येष्ठ १३३०) में 'शांतिनिकेतन पत्रिका' में प्रकाशित। ३ मार्च १९२३ को वाराणसी में सम्पन्न प्रवासी बंग साहित्य सम्मेलन में दिया गया भाषण।

साहित्य-विचार

साहित्य का विषय व्यक्तिगत होता है, श्रेणीगत नहीं। यहाँ पर मैं 'व्यक्ति' शब्द के धातुमूलक अर्थ पर ही जोर देना चाहता हूँ। अपनी विशेषता के भीतर से जो व्यक्त हो उठा है वही व्यक्ति है। वह व्यक्ति स्वतंत्र है। विश्व-जगत् में पूरी तरह से उसके अनुरूप दूसरा नही है।

व्यक्तिरूप की यही व्यक्तता सबमें समान नही होती, कोई सुस्पष्ट होता है कोई अस्पष्ट। अन्ततः जो मनुष्य उपलब्धि करता है उसके लिए। साहित्य का व्यक्ति केवल मनुष्य नही होता; विश्व का जो भी कोई पदार्थ साहित्य में सुस्पष्ट है वही व्यक्ति है—जीव-जंतु, पेड़-पौधे, नद-पहाड़, समुद्र, अच्छी चीज, बुरी चीज, वस्तु की चीज, भाव की चीज, सभी कुछ व्यक्ति है—अपनी एकांतिकता से यदि वह व्यक्ति न हो सकी तो साहित्य में वह लज्जित होती है।

जिस गुण से ये सब साहित्य में इतना व्यक्त हो उठते हैं कि हमारा चित्त उन्हें स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता है, वही गुण दुर्लभ है—वही गुण साहित्य-रचयिता का होता है। वह रजोगुण भी नही है, तमोगुण भी नही है, वह कल्पना-शक्ति और रचना-शक्ति का गुण है।

पृथ्वी के असंख्य मनुष्यो को, असंख्य चीजों को हम पूरी-पूरी तरह देख नही पाते। प्रयोजन की दृष्टि से या सासारिक प्रभाव की दृष्टि से वे पुलिस इंस्पेक्टर या डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट के समान ही दरस-परस मे बड़े संभ्रान्त लग सकते हैं, लेकिन व्यक्ति के रूप मे वे हजारों पुलिस इंस्पेक्टरों और डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेटों के समान ही महत्त्वहीन होते है; यहाँ तक कि जिन लोगों के ऊपर उनका अधिकार है उनमे से भी बहुतों से अधिक। अतः वे क्षणिक वर्तमान स्थिति के बाहर मनुष्य के अन्तरंग रूप में प्रकाशवान् नही है लेकिन साहित्य-रचयिता अपनी सृष्टि-शक्ति के गुण से उनको भी चिरकालीन रूप में व्यक्त करके खड़ा कर सकता है। तब वे ब्रिटिश साम्राज्य के दण्ड-विधाताओं की किसी श्रेणी या पद के प्रतिनिधि के रूप

मे नही, केवल अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के मूल्य से मूल्यवान् होते हैं। इसलिए नही कि धनी हैं या मानी है या ज्ञानी है या संत हैं या इसलिए कि सत, तम गुण वाले है, वे समादृत हैं तो इसलिए कि स्पष्ट व्यक्त हो सके हैं। इस व्यक्त रूप के साहित्यिक मूल्यों का निर्णय और उसकी व्याख्या करना सहज नही। इसीलिए साहित्य-विचार में बहुत-से लोग व्यक्ति-परिचय के दुरूह कर्त्तव्य को झाँसा देकर श्रेणी का परिचय देते रहते हैं। इस सहज पंथ को साधारणतः हमारे देश के पाठक अश्रद्धा की दृष्टि से नही देखते, मैं समझता हूँ कि इसका प्रधान कारण यह है कि हमारा देश जात-पाँत मानने वालों का देश है। हमारी आँखों मे मनुष्य के परिचय से अधिक जाति का परिचय ही दिखाई पड़ता है। हम बड़ा आदमी उसे कहते हैं जिसका बड़ा पद है, जिसके पास बहुत रुपया है। हम लोग जाति का बोझ, श्रेणी का बोझ बहुत दिनों से अपनी पीठ पर ढोते आ रहे है, व्यक्तिगत मनुष्य पंक्ति-पूजक समाज के धक्के खाता हुआ हमारे देश मे सदा से संकुचित है। बँधे-टके रीति-रिवाजों का बन्धन हमारे देश मे सभी जगह दिखाई पड़ता है। इसलिए जो साधु-साहित्य हमारे देश मे एक समय प्रचलित था उसमे व्यक्ति का वर्णन शिष्ट-साहित्य-प्रथा-सम्मत था, श्रेणीगत था। तब कुमुद-कल्हार-शोभित सरोवर थे, जुही-चमेली-मल्लिका-मालती-विकसित वसंत ऋतु थी। तब की सब सुन्दरियों का गमन गजेन्द्र-गमन था, उनके अंग-प्रत्यंग बिम्ब-दाडिम सुमेरु के बँधे-टके नियमों से अनुशासित थे। श्रेणी के कुहरे मे व्यक्ति खोया हुआ था। उस धुंधली दृष्टि की मनोवृत्ति हमसे विदा हो गई हो यह कहना मुश्किल है। यह धुंधली दृष्टि ही साहित्य-रचना और अनुभूति की सबसे बड़ी शत्रु है। क्योंकि साहित्य मे रस-रूप की सृष्टि होती है। सृष्टि मात्र का मतलब ही है अभिव्यक्ति।

इसलिए मैं देखता हूँ हमारे देश के साहित्य-विचार में व्यक्ति के परिचय को अलग करके श्रेणी के परिचय पर ही अधिक जोर दिया जाता है।

साहित्य में 'अच्छा लगा-बुरा लगा' यही अंतिम बात है। विज्ञान में सत्य-मिथ्या का विचार ही अंतिम विचार होता है। इसी कारण से वैज्ञानिक की अंतिम अपील विचारक के व्यक्तिगत संस्कार के ऊपर प्रमाण में होती है। लेकिन अच्छा-बुरा लगना रुचि की बात होती है, उसके ऊपर और किसी अपील को अयोग्यतम व्यक्ति भी अस्वीकार कर सकता है। इसी कारण से संसार का सबसे अधिक अरक्षित असहाय जीव साहित्य-रचयिता होता है। मृदु-स्वभाव हरिण भागकर अपनी जान बचाता है। लेकिन कवि छपे हुए अक्षरों के काले जाल में फँसकर पकड़ा जाता है।

इस बात को लेकर आक्षेप करने से कोई लाभ नही, अपने अनिवार्य कर्मफल के ऊपर वस नही चलता।

जब रुचि की मार खानी पडे तो उसे चुपचाप सह लेना ही अच्छा है, क्योंकि साहित्य-रचयिता के भाग्यचक्र के मध्य में रुचि के अच्छे और बुरे ग्रहों का चिर-निर्दिष्ट स्थान है। लेकिन जब बाहर से पत्थर आकर बरस रहे हों, झाड़ू हाथ मे लेकर धूमकेतु उपस्थित हो, उपग्रहों के उपसर्ग आ रहे हों तब सिर सहलाकर कहना पड़ता है कि यह तो अतिरिक्त मार है। बंगला-साहित्य के अन्त.पुर मे श्रेणी की परख करने वाले बाहर से घुस आए हैं, कोई उनका रास्ता रोकने वाला नही है। बाउल कवि दुखी होकर कहता है कि फूलों के वन में जौहरी घुस आया है, वह कमल को कसौटी पर घिसता फिर रहा है और इस तरह फूल को लज्जित कर रहा है।

हम सहज ही भूल जाते हैं कि जाति-निर्णय विज्ञान में होता है, जाति का विवरण इतिहास मे होता है, साहित्य में जाति-विचार नही होता, वहाँ पर और सब-कुछ भूलकर व्यक्ति की प्रधानता स्वीकार कर लेनी होगी। अमुक कुलीन ब्राह्मण है इस परिचय से ही अत्यन्त अयोग्य मनुष्य भी घर-घर जाकर वरमाला लूटता हुआ घूम सकता है, लेकिन उससे व्यक्ति के रूप में उसकी योग्यता प्रमाणित नहीं होती। वह आदमी कुलीन है कि नही, उसकी वंशतालिका देखकर सभी कह सकते हैं लेकिन व्यक्तिगत योग्यता का निर्णय करने के लिए जिस समझदार आदमी की जरूरत है उसको खोज पाना दूभर है। इसलिए समाज मे साधारणतः मनुष्य को श्रेणियों के चौखटे मे बाँट दिया जाता है; जाति-कुल की मर्यादा देना, धन की मर्यादा देना सहज है। इस विचार से समाज व्यक्ति के प्रति सदा अन्याय करता है, श्रेणी के कठघरे के बाहर योग्य व्यक्ति का स्थान अयोग्य व्यक्ति की पंक्ति के नीचे पड़ता है। लेकिन साहित्य जगन्नाथ का क्षेत्र है, यहाँ पर जाति की खातिर व्यक्ति का अपमान नही चलता। यहाँ तक कि यहाँ पर वर्ण-शंकर-दोष भी दोष नहीं, यहाँ पर महाभारत की जैसी ही उदारता है। कृष्णद्वैपायन के जन्म-इतिहास को लेकर यहाँ पर कोई उनके सम्मान का अपहरण नहीं करता, वे अपनी महिमा से ही महान् है। लेकिन तो भी हमारे देश में जिस तरह देव-मंदिर-प्रवेश मे जाति-विचार को कोई नास्तिकता नही समझता उसी तरह साहित्य के सरस्वती-मंदिर के पण्डे दरवाजे पर कुल का विचार करने मे संकोच नही करते। और कुछ भी नही तो यही कह बैठते हैं कि इस रचना का ढंग या स्वभाव विशुद्ध भारतीय नही

है, इसके कुल मे यवन-स्पर्श-दोष है। देवी भारती स्वयं इस तरह का कोई विचार नही रखती लेकिन पण्डे इसको लेकर बड़ा शोर मचाते हैं। चीन के चित्रों का विश्लेषण करने से प्रमाणित हो सकता है कि उसके किसी अंश मे भारतीय बौद्धो का संस्पर्श हुआ है—लेकिन वह शुद्ध इतिहास की बात है, सारस्वत विचार की बात नही। उस चित्र के व्यक्तित्व को देखो यदि रूप-अभिव्यक्ति में कोई दोष न हो तो वही पर उसके इतिहास का कलक मिट गया। मनुष्य के मन पर मनुष्य का प्रभाव चारो ओर से आता रहता है। यदि अनुचित या अयोग्य प्रभाव न हो तो उसे स्वीकार करने और ग्रहण करने की क्षमता का न होना ही लज्जा का विषय है—उससे चित्त की निर्जीवता प्रमाणित होती है। नील नदी के तीर से वर्षा के मेघ उठकर आते है। लेकिन यथा समय वह भारत की ही वर्षा होती है। उसके भारत का मयूर यदि नाच उठे तो किसी शुचि वायुग्रस्त स्वदेशाभिमानी को उसकी भर्त्सना न करनी चाहिए—मोर अगर न नाचता तो मैं समझता कि मर गया शायद। ऐसे रेगिस्तान हैं जिन्होंने उस मेघ का तिरस्कार करके उसे अपनी सीमा से बाहर ठेल दिया है। वे रेगिस्तान अपनी विशुद्ध पवित्रता लिये हुए अपने शुभ्र आकार मे बने रहे, उनके ऊपर रस के विधाता का शाप है, वे कभी प्राणवान् न हो सकेंगे। बगाल मे ऐसा मंतव्य सुनने में आता है कि दाशु राय की पाचाली श्रेष्ठ है क्योकि वह विशुद्ध स्वदेशी है।

यह अंधे अभिमान की बात है। इस अभिमान मे एक दिन श्रीमती ने कहा था, "दूती, अब मैं कभी काला मेघ न निहारूँगी।" विषम स्थितियों मे इस तरह का भाव मन में आता है, यह बात मान भी ली जाय—पर वह खंडिता नारी के मुँह की बात है, मन की बात नही, लेकिन जब तत्त्वज्ञानी आकर कहता है, सात्त्विकता भारतीयता है, राजसिकता यूरोपीयता है—और यह कहकर वे साहित्य की खाना-तलाशी लेने लगते हैं, लाइनें चुन-चुनकर राजसिकता के प्रमाण बाहर करके काव्य को अलग-अलग खानों मे बैठाने का ठप्पा मार देते हैं, किसी को जाति में रखते हैं किसी को जाति-बाहर करते हैं—तब मन बिलकुल हताश हो जाता है।

एक समय जब भारतीय प्रभाव प्राणपूर्ण था तब पूर्व एशिया और मध्य एशिया उसके निकट संस्पर्श में आकर देखते-देखते अनन्त शिल्प-सम्पदा से अद्भुत रूप मे चरितार्थ हो उठे थे। उससे एशिया मे नवजागरण आया था। उसकी वजह से भारत के बाहर एशिया का कोई अंग तनिक भी लज्जित नही हुआ था। क्योंकि जिस किसी दान में शाश्वत सत्य है उसको जब कोई आदमी सच्चे रूप में अपना

जानकार स्वीकार कर पाता है तभी वह दान सचमुच उसका अपना बनता है। चोरी अनुकरण में है, स्वीकरण मे कोई चोरी नहीं। मनुष्य की सभी बड़ी-बड़ी सभ्यताओ ने इसी स्वीकरण-शक्ति के प्रभाव से पूर्ण माहात्म्य पाया है। वर्तमान युग मे यूरोप सभी प्रकार की विद्याओं और कलाओं से महिमाशाली है। चारों ओर उसका प्रभाव अनेक रूपों में फैला हुआ है। इस प्रभाव की प्रेरणा से यूरोप के बाहर भी देश-देश में चित्त-जागरण दिखाई पड़ रहा है। इस जागरण की निन्दा करना विशुद्ध मूढ़ता है। यूरोप ने जिस किसी सत्य को व्यक्त किया है उसके ऊपर सब मनुष्यों का अधिकार है। लेकिन उस अधिकार को आत्मशक्ति द्वारा प्रमाणित करना पड़ता है, उसे अपना बनाकर अपने प्राण के संग मिला लेना चाहिए। हमारी स्वदेशानुभूति, हमारा साहित्य यूरोप के प्रभाव से उज्जीवित है, बंगाल के लिए यह गौरव की बात है। शरत् चटर्जी की कहानियाँ, बैताल पच्चीसी, हातिमताई, गुलबकावली या कादम्बरी-वासवदत्ता के समान जो नहीं हुई, यूरोपीय कथा-साहित्य के ढंग की हुई, इससे उनका अबगालीपन या रजोगुण प्रमाणित नहीं होता, इससे प्रतिभा की प्राणवत्ता प्रमाणित होती है। हवा मे सत्य का जो प्रभाव उड़ता रहता है वह चाहे दूर से आये चाहे पास से, उसको प्रतिभासपन्न चित्त सबसे पहले अनुभव करता है और स्वीकार करता है, जो प्रतिभाहीन हैं वही उसे दूर ठेलना चाहते हैं और क्योंकि उन्हीं लोगो का दल बड़ा है और उनकी जड़ता दूर होने में बहुत देर लगती है इसीलिए प्रतिभा के भाग्य में बहुत दिनों तक दुःख भोगना लिखा होता है। इसलिए मैं कहता हूँ कि साहित्य का विचार करते समय विदेशी प्रभाव या विदेशी प्रकृति का लांछन लगाकर वर्णसंकरता या व्रात्यता का तर्क न उठाया जाय। इसी प्रसग में एक और भी श्रेणी-विचार की बात मेरे मन में आई है। मन में आने का कारण यह है कि अभी कुछ दिन हुए मेरे 'योगायोग' उपन्यास के कुमू के चरित्र के सम्बन्ध में आलोचना करते हुए किसी लेखिका ने मुझको पत्र लिखा है। उससे मैंने समझा कि साहित्य में नारी को भी एक स्वतंत्र श्रेणी में खड़ा करके देखने की एक उत्तेजना सम्प्रति प्रबल हो उठी है। जिस तरह आजकल तरुणों का दल एकाएक व्यक्ति की सीमा लाँघकर दलपति की खुशामद करके बिना कोई मूल्य चुकाए एक अत्यंत उच्च और विशेष श्रेणी मे पहुँच गया है, नारियों की भी वही दशा है। साहित्य की नारी में नारीत्व नामक कोई श्रेणीगत साधारण गुण है कि नहीं, यही तर्क साहित्य-विचार में प्रधानता पाने की चेष्टा कर रहा है। इसीलिए कुमू व्यक्तिगत रूप से सम्पूर्ण कुमू है कि नहीं यह

साहित्य-संगत प्रश्न किसी-किसी की लेखनी पर आकर इस रूप में बदल गया है कि कुमू मानव-समाज में नारी नामक जाति के प्रतिनिधि का पद ले पा रही है कि नहीं अर्थात् उसको लेकर समस्त नारी-प्रकृति का उत्कर्ष स्थापित किया गया है कि नहीं। मानव-प्रकृति का जो कुछ साधारण गुण है उसीके प्रति मनोविज्ञान का लक्ष्य है और व्यक्ति विशेष की जो अनन्य साधारण प्रकृति है उसीके प्रति साहित्य का लक्ष्य है। यह कहने की तो खैर जैसे जरूरत ही नहीं कि नारी का चित्रण अ-नारी के रूप में करना पागलपन है। वस्तुतः उसकी आलोचना करना अनावश्यक है, साहित्य मे यदि कुमू को कोई आदर मिले तो वह व्यक्तिगत रूप में कुमू को मिलेगा, नारी-श्रेणी के प्रतिनिधि के रूप में नहीं।

बात उठी है कि साहित्य का विचार करते समय विशेषणमूलक पद्धति श्रद्धेय है कि नहीं। इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले विचारणीय हैं—क्या संग्रह करने के लिए विश्लेषण। विचारणीय साहित्य के उत्पादन के अंश ? मैं कहता हूँ कि वह बहुत आवश्यक नही है। क्योंकि उपादानों के एकत्र करने से सृष्टि नही होती। समग्र सृष्टि अपने समस्त अंशों से बहुत बढ़कर होती है। कितना बढ़कर, इसका हिसाब नहीं लगाया जा सकता। उसे नापा नही जा सकता, तौला जा नही सकता, वह है रूप रहस्य, सब सृष्टि के मूल मे प्रच्छन्न। प्रत्येक सृष्टि में वही अद्वैत है, बहुतो मे वह व्याप्त है, लेकिन बहुतों द्वारा उसे नापा नही जा सकता। वह स-कल है अर्थात् उसमें सब अंश हैं तो भी वह निष्कल है, उसे अंशों में खंडित करने ही वह नहीं रहती। अतः साहित्य में समग्र को समग्र दृष्टि से ही देखना होगा। आजकल साइकोएनालिसिस की बातें बहुतो के मन को पकडकर बैठी हुई हैं। सृष्टि में अविश्लेष्य समग्रता के गौरव को छोटा करने का मनोभाव जाग उठा है। मनुष्य के चित्त के उपकरणों मे नाना प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं—काम, क्रोध, अहंकार आदि। अलग-अलग करके देखने में जो वस्तु-परिचय मिलता है, सम्मिलित रूप में देखने में वह नही मिलता। चरित्र का विकास प्रवृत्तियों के गूढ अस्तित्व के द्वारा नही सृष्टि-प्रक्रिया के अभावनीय योग-साधन द्वारा ही होता है। आजकल अंश का विश्लेषण उस योग के रहस्य को लाँघने का उपक्रम कर रहा है।

बुद्धदेव के चरित्र के विविध उपादानो में काम-प्रवृत्ति भी थी, उनके यौवन के इतिहास से इस बात को सहज ही प्रमाणित किया जा सकता है। जो रहता है वह जाता नही और अगर चला जाय तो उससे स्वभाव में अपूर्णता आ जाती है।

चरित्र में परिवर्तन या उत्कर्ष निषेध के द्वारा नही योग के द्वारा सम्पन्न होता है। उस योग के द्वारा जो परिचय समग्र रूप से प्रकाशमान है, वही हुआ बुद्धदेव के चरित्र का सत्। प्रच्छन्नता मे से विशेष उपकरण खीचकर बाहर लाने से उनका सत्य नही पाया जा सकता। विश्लेषण में हीरे और अंगारे मे कोई अन्तर नही होता, सृष्टि के इंद्रजाल में होता है। संदेश मे कार्बन है, नाइट्रोजन है लेकिन उन उपकरणों के द्वारा सदेश के सम्बन्ध मे अन्तिम विचार करने पर उसे बहुत बेमेल और स्वादहीन पदार्थों के साथ एक ही श्रेणी मे डालना होगा, लेकिन ऐसा करने से सदेश का चरम परिचय आच्छन्न हो जाता है। कार्बन और नाइट्रोजन के बीच से उसको पकड पाने पर भी जोर देकर कहना होगा कि सदेश सड़े मांस की श्रेणी में नही डाला जा सकता। क्योंकि दोनो का उपादान एक है लेकिन अभिव्यक्ति स्वतन्त्र है। चतुर व्यक्ति कहेगा, अभिव्यक्ति तो चातुर्य है, इसके उत्तर मे कहना पड़ेगा, विश्व-जगत् भी उसी चातुर्य का नाम है।

वह हो लेकिन तो भी रस-भोग का विश्लेषण किया जा सकता है। मान लो आम है। वह जिस रूप में भोग्य है वह चीज वनस्पति-विज्ञान के परे है, भोग के सम्बन्ध मे उसकी रमणीयता की व्याख्या करने के प्रसग मे कहा जा सकता है कि इस फल में सबसे पहले जो चीज मन को खीचती है उसके प्राण का लावण्य, यही पर वह संदेश से श्रेष्ठतर है। आम मे जो वर्णमाधुरी है वह जीव-विधाता की प्रेरणा से आम के भीतर से उद्भासित है। सभी फलों के साथ वह अविच्छिन्न रूप में एक है। आँख को भुलावा देने के लिए संदेश मे जाफरान देकर उसे रगीन बनाया जा सकता है—लेकिन वह जड़ पदार्थ की वर्ण-योजना है, प्राण-पदार्थ की वर्ण-उद्भावना नही। उसके साथ-साथ आम मे स्पर्श की सुकुमारता है, सौरभ का सौजन्य है। फिर उसका छिलका अलग करने पर उसके रस की उदारता प्रकट होती है। इस प्रकार आम के सम्बन्ध मे रस-भोग की विशेषता को समझाकर बतलाने को हम कहेगे आम का रस-विचार। यहाँ पर देशाभिमानी आकर परिचय-पत्र मे कह सकता है, आम सच्चा भारतीय है, यह उसके प्रचुर त्याग की उदारतामूलक सात्विकता से प्रमाणित होता है, और रसभरी, गूसबेरी विलायती हैं क्योंकि उनके रस का अंश उनके बीज के अश से अधिक नही होता। दूसरे की तुष्टि की अपेक्षा वे अपने प्रयोजन को ही बड़ा समझते है अतः वे राजसिक है। यह बात देशात्मबोध के अनुकूल हो सकती है, लेकिन इस तरह की निर्मूल या समूल तत्त्वालोचना रसशास्त्र में बिलकुल असंगत है।

संक्षेप में मेरी बात इतनी है—साहित्य का विचार साहित्य की व्याख्या है, साहित्य का विश्लेषण नहीं। यह व्याख्या मुख्यतः साहित्य विषय के व्यक्ति को लेकर होती है उसके जाति-कुल को लेकर नहीं। अवश्य, साहित्य का ऐतिहासिक विचार या तात्विक विचार हो सकता है। उस तरह के विचार का शास्त्रीय प्रयोजन हो सकता है, पर उसका कोई साहित्यिक प्रयोजन नहीं है।

अक्तूबर-नवम्बर १९२९ (कार्तिक १३३६) में 'प्रवासी' में प्रकाशित। प्रो० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता की अध्यक्षता में आयोजित प्रेसीडेन्सी कालिज कलकत्ता की रवीन्द्र-परिचय-सभा में दिया गया भाषण।

बंगला साहित्य का क्रमिक विकास

एक समय कलकत्ता अप्रसिद्ध, असंस्कृत गाँव था, वहाँ पर विदेशी वाणिज्य की हाट बैठी, गाँव के श्यामल आवेष्टन को हटाकर शहर का उद्धत रूप प्रकट होने लगा। उसी शहर ने आधुनिक काल के लिए आसन बिछा दिया, वाणिज्य और राष्ट्र के पथ मे एक के बाद दूसरे क्षितिज तक वह आसन फैल चला।

इस उपलक्ष्य में वर्तमान युग के वेगवान् चित्त का संस्पर्श बंगाल को लगा-वर्तमान युग का प्रधान लक्षण यही है कि वह संकीर्ण प्रादेशिकता मे बँधा हुआ नही है और व्यक्तिगत मूढ कल्पनाओ से जुडा हुआ है। क्या विज्ञान में और क्या साहित्य में, उसकी भूमिका समस्त देश और समस्त काल है। भौगोलिक सीमा का अतिक्रमण करने के साथ-साथ आधुनिक सभ्यता सभी मनुष्यो के हृदय के साथ मानसिक लेन-देन के व्यवहार को प्रशस्त करती रही है।

एक ओर वाणिज्य और राष्ट्र-विस्तार में पश्चिम के लोगों और उनके अनुवर्तियों की कठोर शक्ति से सारी पृथ्वी अभिभूत है, दूसरी ओर पूर्व पश्चिम सभी जगह आधुनिक काल के प्रधान वाहन पश्चिमी संस्कृति का अमोघ प्रभाव फैला हुआ है। न चाहते हुए भी हम वैषयिक क्षेत्र में पश्चिम के आक्रमण को रोक न सके, लेकिन पश्चिमी संस्कृति को हम लोग धीरे-धीरे स्वय स्वीकार किये ले रहे हैं। इस स्वेच्छापूर्वक अंगीकार का स्वाभाविक कारण है इस संस्कृति की बंधन-हीनता, चित्त-लोक मे इसकी सर्वत्रगामिता—नाना धाराओं मे उसका अबाध प्रवाह। उसमें नित्य-उद्योगशील विकास-धर्म निरन्तर सम्मुख रहता है; वह किसी अदम्य, कठिन निश्चल संस्कार के जाल में पृथ्वी के कोने-कोने में स्थविर भाव से बँधी हुई नही है; उसने राष्ट्रीय और मानसिक स्वाधीनता के गौरव की घोषणा की है—सब तरह के युक्तिहीन अंधविश्वासों के अपमान से मनुष्य के मन को मुक्त करने के लिए इसका प्रयास है। यह संस्कृति अपने विज्ञान में, दर्शन में, साहित्य मे विश्व और मानव-लोक के सब विभागों में सब विषयों की खोज में लगी हुई है, हर चीज की परीक्षा कर रही है, उसका विश्लेपण, सगठन, वर्णन कर रही है,

मनोवृत्ति की गहराई में जाकर समस्त सूक्ष्म और स्थूल रहस्यों को खोल रही है। उसकी अनन्त जिज्ञासा-वृत्ति के लिए प्रयोजन के होने और न होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसकी रचना छोटे-बड़े सब क्षेत्रों में उपादान संग्रह करने में निपुण है। यह विराट् साधना अपनी वेगवान् प्रशस्त गति के द्वारा ही अपनी भाषा और भंगिमा को यथायथ अत्युक्तिविहीन और कृत्रिमता के जंजाल से मुक्त बना लेती है।

इस संस्कृति की सोन-छड़ी ने जैसे ही बंगाल देश का स्पर्श किया वह जाग पड़ा। इस चीज को लेकर बंगाली सचमुच गौरव कर सकता है। सजल मेघ चाहे नील नदी के तट से आये और चाहे पूर्व-समुद्र के वक्ष से, उसकी वर्षा में उर्वरा भूमि तत्क्षण अपने अन्तर का सम्बन्ध उसके साथ स्थापित कर लेती है—मरुभूमि उसको अस्वीकार करने का जो अहंकार करती है उस अहंकार की निष्फलता शोचनीय है। मनुष्य के हृदय से पैदा होने वाली जो भी चीज ग्रहणीय है उसके सामने आते ही उसको पहचान सकने और उसका स्वागत कर सकने की उदार शक्ति का आदर करना ही होगा। चित्त की सम्पदा को संग्रह करने की अक्षमता ही बर्बरता है, उस अक्षमता को ही जो आदमी मानसिक आभिजात्य समझता है वह दया का पात्र है।

सबसे पहले बंगाली युवकों ने अंग्रेजी शिक्षा को छात्र के रूप में ही ग्रहण किया। उसने उधार ली हुई साज-सज्जा के समान ही उसको चंचल बनाये रखा, बाहर से पाई हुई चीज का अहंकार निरंतर सिर उठाए खड़ा रहा। अंग्रेजी साहित्य के ऐश्वर्य-भोग का अधिकार तब दुर्लभ था और थोड़े ही लोग उस पर अधिकार कर सकते थे, इसी कारण अंग्रेजी पढ़े हुए लोगों की यह संकीर्ण श्रेणी अपनी नई-नई शिक्षा का व्यवहार अस्वाभाविक आडंबर के साथ करती।

बातचीत में, चिट्ठी-पत्री में, साहित्य-रचना में अंग्रेजी भाषा के बाहर पैर बढ़ाना उस समय के शिक्षित लोगों के लिए अकुलीनता का लक्षण था। तब बंगला भाषा संस्कृत पंडितों और बंगला पंडितों दोनों ही के लिए अस्पृश्य थी। इस भाषा की दरिद्रता से वे लोग लज्जा अनुभव करते। इस भाषा को वे लोग ऐसी एक छिछली पतली नदी के समान समझते जिसके घुटने बराबर पानी में गँवई-गाँव के लोगों का रोज का साधारण घरेलू काम भर चल सकता है, लेकिन देश-विदेश का पण्यवाही जहाज नहीं चल सकता।

तो भी यह बात माननी होगी कि इस अहकार के मूल मे पश्चिम महादेश मे ली हुई नूतन साहित्य-रस के सम्भोग की सहज शक्ति थी। यह विस्मय का विषय है क्योंकि उनके पुराने संस्कारो के साथ इसका सम्पूर्ण पार्थक्य था। बहुत दिनों से मन की जमीन ठीक से न चलने के कारण घास-फूंस से भरी हुई थी, लेकिन उसके भीतर फलवती होने की शक्ति छिपी थी इसीमे कृषि की सूचना मिलते ही उसने हुंकारी भरने मे देर न की। पहले की अवस्था से उसकी वर्तमान स्थिति में जो अन्तर दिखाई पड़ा वह बडा तेज और विराट् था। उसका एक आश्चर्यजनक प्रमाण राममोहनराय मे दिखाई पड़ता है। उस दिन उन्होंने जिस बंगला भाषा में 'ब्रह्मसूत्र' के अनुवाद और व्याख्या के कार्य मे अपने-आपको लगाया उस भाषा के पूर्व-परिचय मे ऐसा कुछ भी न था। किसके भरोसे उसके ऊपर इतने भारी बोझ को डाल देना सहज-सम्भव जान पडता। बंगला भाषा में तब साहित्यिक गद्य दिखाई देना शुरू ही हुआ था, नदी के तट पर हाल की पड़ी हुई गीली मिट्टी की तह के समान। इस कच्चे गद्य पर ही दुर्बोध तत्त्वालोचन की भारी दीवार खड़ी करने मे राममोहन को संकोच नही हुआ।

इन्होंने जिस प्रकार गद्य मे उसी प्रकार पद्य मे असीम साहस का परिचय दिया मधुसूदन ने। उनका मन पाश्चात्य होमर-मिल्टन-रचित महाकाव्यो से बना था। उसके रस मे वे गहराई से डूबे थे इसीलिए केवल उसका भोग करके चुप न रह सके। आषाढ के आकाश मे सजल नील मेघों से गर्जन उतरा, गिरिगुहा से उसके अनुकरण मे प्रतिध्वनि उठी और आनन्द से चंचल मयूर ने आकाश की ओर सिर उठाकर अपनी केकाध्वनि से हुकारी भरी। मधुसूदन ने सगीत के दुर्निवार उत्साह की घोषणा करने के लिए अपनी भाषा को ही छाती से लगा लिया। जो यन्त्र क्षीणध्वनि इकतारा था उसकी अवज्ञा करके उसे उन्होने छोड़ नही दिया, उसी पर उन्होंने गम्भीर सुरों के बहुत-से तार चढाकर उसे रुद्रवीणा बना लिया। यह यन्त्र बिलकुल नया, उसके हाथ का गढा हुआ था। लेकिन उनका यह साहस तो व्यर्थ नही हुआ। अपरिचित अमित्राक्षर छद के धनगर्जन-स्वर रथ पर चढकर बंगला साहित्य में वही पहली बार आधुनिक काव्य की 'राजवदुन्नतध्वनि' का आविर्भाव हुआ—लेकिन उसका आदरपूर्वक आवाहन करने में बंगाल को अधिक समय तो नही लगा। लेकिन तो भी इसके कुछ ही पहले के साहित्य का जो नमूना मिलता है। उससे क्या दूर से भी इसकी कोई तुलना की जा सकती है ?

मै जानता हूँ अब भी हमारे देश मे ऐसे आदमी मिलते है जो उसी प्राचीन

काल की अनुप्रास-कंटकित शिथिल भाषा की पौराणिक पांचाली आदि गानों को ही विशुद्ध नेशनल साहित्य की संज्ञा देकर आधुनिक साहित्य के प्रतिकूल कटाक्ष करते रहते हैं। कहने की जरूरत नही कि अधिकतर वह केवल एक बहाना होता है। वे स्वयं सचमुच उसी साहित्य के रस का उपभोग करने में एकांत भाव से लगे रहते हों, रचना मे या आलोचना मे उसका प्रमाण नही मिलता। भू-निर्माण के किसी आदि-पर्व से हिमालय की पर्वत-श्रेणी का जन्म हुआ, आज तक वह विचलित नही हुई, पर्वत के लिए ही यह चीज सम्भव है। मनुष्य का चित्त तो एक जगह ठहरी रहने वाली चीज नही; भीतर-बाहर चारों तरफ से उसके ऊपर तरह-तरह के प्रभाव बरावर काम करते रहते हैं, उसकी जानकारी का विस्तार और स्थिति का परिवर्तन निरंतर होता रहता है, वह यदि जडवत् निश्चल न हो तो उसकी आत्म-अभिव्यक्ति मे भाँति-भाँति के परिवर्तन होंगे ही, नेशनल आदर्श नाम देकर किसी एक सुदूर भूतकालीन आदर्श के बंधन मे अपने को बाँध रखना उसके लिए स्वाभाविक ही नही, वैसे ही जैसे चीन की स्त्रियों के पाँव का बंधन स्वाभाविक नही। उस बंधन को नेशनल नाम की छाप देकर गर्व करना आत्मछलना है। साहित्य में बगाली के मन को बहुत दिनों की आचार संकीर्णता से जल्दी ही जो मुक्ति मिल गई थी, उससे उसकी चित्तशक्ति की असाधारणता ही प्रमाणित होती है।

नवयुग के प्राणवान् साहित्य के स्पर्श से कल्पना-वृत्ति जैसे ही नव प्रभात मे जागी वैसे ही मधुसूदन की प्रतिमा ने तब की बंगला भाषा की पगडंडी को आधुनिक यज्ञ की रथ-यात्रा के उपयुक्त बना देने को दुस्साहस नही समझा। उन्हे अपनी शक्ति पर आस्था थी इसीलिए कवि ने बंगला भाषा पर अपनी आस्था का परिचय दिया; निर्भीक होकर बंगला भाषा को आधुनिकता की ऐसी दीक्षा दी जो पूर्वानुवृत्ति से बिलकुल स्वतंत्र थी। बंगवाणी को गम्भीर स्वर-निर्घोष से मंडित करने के लिए मधुसूदन संस्कृत के भण्डार से जो शब्द निस्संकोच लेने लगे वे भी नये थे, बंगला पयार के सनातन समविभक्त बाँध को तोडकर उसके ऊपर से अमित्राक्षर की जो बन्या बहा दी वह भी नई थी और महाकाव्य खण्डकाव्य-रचना की जिस रीति का अवलंबन किया वह भी बंगला भाषा में नई थी। यह काम धीरे-धीरे पाठक के मन को सहा-सहाकर बहुत सावधानी से नही किया गया, शास्त्रीय प्रथा के मगलाचरण की परवाह किये बिना वे एक क्षण मे आँधी की पीठ पर कविता को उठाकर ले आए। प्राचीन सिंहद्वार के बेड़े टूट गए।

माइकेल साहित्य में जो युगांतर लाये उसके कुछ ही समय बाद का मेरा जन्म है। मेरी उम्र जब छोटी थी तब मैंने देखा है कि कितने युवक अंग्रेजी साहित्य के सौन्दर्य से विह्वल थे। वे शेक्सपियर, मिल्टन, वायरन, मेकाले, वर्क के पन्ने-के-पन्ने प्रवल उत्तेजना के साथ दुहराते चले जाते, लेकिन उसके साथ-ही-साथ उनके समय में ही वगला साहित्य मे जिस नये प्राण का संचार हो रहा था उसको उन्होने देखा ही नही। उसे वे ध्यान देने के योग्य भी नही समझते थे। वह जैसे साहित्य में भोर की वेला हो जिसमे किसी-किसी की नींद टूट गई थी और बहुता की नही टूटी थी। तब तक आकाश मे प्रभात की ज्योतिर्मयी प्रत्याशा अरुणालोक के स्वाक्षर घोपित न हुई थी।

बंकिम की लेखनी ने उसके कुछ पहले ही साहित्य में अभियान की यात्रा आरम्भ की थी। उन दिनों अत पुर में वरगद की छाँह में यहाँ दुर्गेश-नंदिनी मृणालिनी, कपाल कुण्डला घूमती-फिरती दिखाई पड़ती थी। जिन्होने उनका रस पाया है वे यद्यपि उस समय की नवीना थी पर तो भी प्राचीन कालीन संस्कार के बाहर उनकी गति न थी और कुछ न सही, उन्होने अंग्रेजी नही पढ़ी थी। यह वात माननी ही होगी कि बंकिम अपने उपन्यास मे आधुनिक ढंग का रूप और रस लाये थे। उनकी भापा पूर्ववर्ती प्राकृत वगला और सस्कृत वगला से वहुत भिन्न है। इसमे कोई संदेह नही है कि उनकी रचना का आदर्श विपय, भाव-भंगी सवमे पाश्चात्य आदर्श का अनुगत था। उस समय जिन्हे इस वात का अभिमान था कि वे अग्रेजी भापा के विद्वान् है उन्होंने तब भी उनकी रचनाओं का समुचित आदर नही किया है लेकिन तो भी हमने देखा है कि उनकी रचनाओं को अग्रेजी-शिक्षाहीन तरुणियो के हृदय में प्रवेश करने में बाधा नही हुई। इसीसे साहित्य मे आधुनिकता के आविर्भाव को अब और न रोका जा सका। इसी नई रचना-नीति के भीतर से तब का वंगाली मन सदा के मानसिक अभ्यास के सकीर्ण घेरे को लाँघ सका—कि जैसे असूर्यम्पश्या अत.पुरचारिणी अपनी दीवार से घिरे हुए आँगन के बाहर आकर खडी हो सकी हो। संभव है यह मुक्ति सनातन रीति के अनुकूल न हो, लेकिन वह चिरंतन मानव-प्रकृति के अनुकूल है, इसका प्रमाण देखते-देखते सब तरफ मिलने लगा।

ऐसे समय मे 'वंग दर्शन' मासिक पत्र दिखाई दिया। तब से वंगाली के हृदय मे नये वंगला साहित्य का अधिकार देखते-देखते सव जगह अबाध रूप से फैल गया। जो लोग अंग्रेजी भापा मे प्रवीण थे उन्होंने भी विस्मयपूर्वक उसे स्वीकार

कर लिया। इसमें कोई संदेह नहीं है कि नये साहित्य के वातावरण के प्रभाव से उस समय की तरुणी पठिकाओं की मानसिक प्रकृति में परिवर्तन होने लगा था। सभी तरुणियां रोमाण्टिक हुई जा रही हैं, यही तब के व्यंग-रसिकों के प्रहसन का विषय हो उठा। यह बात सच है। क्लासिक अर्थात् हमेशा से चली आती हुई रीति के बाहर ही रोमाण्टिक का लीला-क्षेत्र है। रोमाण्टिक के मुक्त क्षेत्र मे हृदय विहार करता है। वहां अनजान रास्ते पर भावावेग की अतिशयता सम्भव है। यह चीज पूर्ववर्ती बँधे-टके नियमों का अनुवर्तन करने की तुलना मे विपद्-जनक यहाँ तक कि हास्यजनक भी हो सकती है, यह आशका इसमें रहती है। कल्पना के पैरों मे अब तक जो डण्डा-बेड़ी पड़ी हुई थी उससे मुक्ति पाने पर अगर फिर किसी तरह की कोई जंजीर न हो तो चलते समय हर क्षण भद्दे ढंग से गिर पड़ने का डर रहता है, लेकिन बड़े परिप्रेक्ष्य मे रखकर देखने पर पता चलता है कि चेतना की बहुमुखी शिक्षा की मुक्ति कुल मिलाकर सब तरह के स्खलन के अतिक्रमण का संशोधन करती चलती है।

जो हो, आधुनिक बंगला साहित्य का गतिवेग बंगाल के लड़के-लड़कियों को किस रास्ते पर लिए जा रहा है, यहाँ पर उसकी विवेचना करने का कोई प्रसंग नही है। इस सभा मे ही बगला साहित्य की विशेष सफलता का जो प्रमाण उप-स्थित हुआ है, आज उसीके बारे मे सभा के कार्यारम्भ के पहले सूत्र के रूप में कुछ कहना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

एक समय ऐसा भी था जब बगाली परिवार बंगाली प्रदेश के बाहर दो-एक पीढ़ी बिताते-बिताते ही बंगला भाषा भूल जाते थे। भाषा का सम्बन्ध हृदय की नाड़ी का सम्बन्ध है—वह सम्बन्ध एकदम टूट जाने से मनुष्य की परम्परागत बुद्धि-शक्ति और हृदय-वृत्ति पूरी तरह बदल जाती हैं। बंगालियों के चित्त की जो विशेषता है मानव-संसार मे निस्संदेह उसका एक विशेष मूल्य है। जहाँ पर हम उस चीज को खोते हैं वहीं पर समस्त बंगाली जाति के लिए बड़ी क्षति का कारण उपस्थित हो जाता है। नदी के किनारे जो जमीन है वहाँ पर अगर बाँध न हो तो किनारे की जमीन थोड़ा-थोड़ा कटते-कटते ढह जाती है। फसल की आशा फिर नही रहती। अगर कोई महावृक्ष उस मिट्टी की गहराई मे दूर तक अपनी जड़-शोर फैलाकर उस जमीन को पकड़ रखे तो पानी की चोट से उस भूमि की रक्षा होती है। बंगला साहित्य ने बंगाल देश के चित्त-क्षेत्र को वैसी ही छाया दी है, फल दिया है, गहरी एकता और स्थायित्व दिया है। हल्की चोट से यह खंडित

नही होता। एक समय हमारे राष्ट्रपतियों ने बंगाल देश के बीच मे दीवार खड़ी कर देने का जो प्रस्ताव किया था वह यदि और भी पचास बरस पहले किया गया होता तो उसकी आशंका हमें इतने तीव्र आघात से विचलित न कर पाती। इस बीच बंगाल के मर्मस्थल में जो अखण्ड आत्मबोध प्रस्फुटित हुआ है उसका प्रधानतम कारण बंगला साहित्य है। राष्ट्र-व्यवस्था के विचार से बंगाल देश को खंडित करने का फल यह होगा कि उसकी भाषा, उसकी संस्कृति खंडित होगी, इस विपत्ति की सम्भावना के प्रति बंगाली उदासीन नही रह सकता। बंगालियों के चित्त के इस ऐक्य-बोध ने साहित्य के योग से उनकी चेतना को व्यापक रूप में, गहरे रूप में अपने वश में कर लिया है। इसी कारण से आज बंगाली चाहे जहाँ जितनी दूर जाय वह भाषा और साहित्य के बन्धन से बंगाल देश के साथ जुड़ा रहता है। कुछ समय पहले बंगाली का लड़का विलायत जाने पर भाषा में और व्यवहार मे जिस तरह ढिठाई से अपने बंगाली न होने का आडम्बर करता था, अब वह बात प्रायः नही है—क्योंकि बंगला भाषा में जो संस्कृति आज उज्ज्वल है उसके प्रति श्रद्धा न व्यक्त करना और उसके सम्बन्ध मे अनभिज्ञ होना ही आज लज्जा की बात हो गई है।

राष्ट्रीय ऐक्य-साधना की ओर से भारतवर्ष में बंगेतर प्रदेश के प्रति प्रवास शब्द का प्रयोग आपत्तिकर हो सकता है लेकिन यहाँ की बोली को छोड़कर, वास्तविकता के आधार पर भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों मे सहज आत्मीयता की साधारण भूमिका मिलती है या नही इस तर्क को छोड़ भी दें तो साहित्य की दृष्टि से भारत के अन्य प्रदेश बंगालियों के लिए परदेश हैं यह बात माननी होगी। इस सम्बन्ध में हमारा पार्थक्य इतना अधिक है कि अन्य प्रदेशों की वर्तमान संस्कृति के साथ बंगला संस्कृति का सामंजस्य असम्भव है। इसके अलावा संस्कृति का प्रधान वाहन जो भाषा है उसके सम्बन्ध मे बंगाल के साथ दूसरे प्रदेशों की भाषा का केवल व्याकरण का भेद नही, अभिव्यक्ति का भेद है। अर्थात् भावों की और सत्य की अभिव्यक्ति के लिए बंगला भाषा ने अनेक प्रभावशाली लोगों की सहायता से जो रूप और शक्ति प्राप्त की है, वह अन्य प्रदेशो की भाषा में नहीं मिलती, या उसकी दिशा और है। लेकिन तो भी यह सम्भव है कि वे सब भाषाएँ अनेक विषयों में बंगला से श्रेष्ठतर हैं। अन्य प्रदेशवासियों के संग व्यक्तिगत रूप मे बंगाली हृदय का मिलन असम्भव नही है इसका अत्यंत सुन्दर उदाहरण मैंने देखा है, जैसे दिवंगत अतुलप्रसाद सेन। वे जब उत्तर-पश्चिम में थे तब मनुष्य के

रूप मे उनके हृदय का मिलन वहाँ के लोगों के हृदय से था लेकिन साहित्य-रचयिता या साहित्य-रसिक के रूप में वे वहाँ पर परदेशी ही थे, यह बात स्वीकार करनी होगी।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि आज प्रवासी बंग साहित्य सम्मेलन बंगालियों की अंतरतम ऐक्य चेतना को प्रमाणित कर रहा है। जिस तरह नदी अपने प्रवाह के अनेक मोडों पर भिन्न-भिन्न दिशाओं वाले तटों को एक कर लेती है, उसी तरह आधुनिक बंगला भाषा और साहित्य नाना देश-प्रदेश के बंगालियों के हृदय में होकर वह रही है और उसे एक प्राणधारा में मिला रही है। बंगालियों ने साहित्य में अपने को व्यक्त किया है, अपने निकट वे अब अगोचर नही हैं, इसीलिए वे चाहे जहाँ जायें अपने को भूल नही सकते। इस आत्मानुभूति में उनका गहरा आनन्द हर वर्ष अनेक स्थानों पर अनेक सम्मेलनों में बार-बार उच्छ्वसित हो रहा है।

मगर साहित्य के मामले में सम्मेलन का कोई वास्तविक अर्थ नही। दुनिया में दस जनो के मिलने से बहुत-से काम होते हैं लेकिन साहित्य उनमें से नही है। साहित्य एकात रूप से अकेले आदमी की सृष्टि होता है। राष्ट्रीय, व्यावसायिक, सामाजिक या धार्मिक साम्प्रदायिक अनुष्ठानों मे दल बनाना आवश्यक होता है। लेकिन साहित्य का साधक योगी के समान, तपस्वी के समान अकेला होता है। बहुत बार उसका काम दस जनों की राय के विरुद्ध होता है। मधुसूदन ने कहा था, "मधुचक्र रचूँगा"। वह कवि का मधुचक्र अकेले मधुकर का होता है। मधुसूदन जिस दिन अपने मधुकोष में मधु भर रहे थे उस दिन बंगला साहित्य के कुंज वन में मधुमक्खियाँ ही कितनी थी। तब से तरह-तरह के विचारों के मानने वाले अकेले आदमियों ने मिलकर बंगला साहित्य को यह चित्र-विचित्र रूप दिया। इन बहुत-से स्रष्टाओं की एकांत तपस्या से उत्पन्न साहित्य-लोक में बंगाल के चित्त ने अपना अंतरतम आनन्दभवन पाया है, सम्मेलन इसीके उत्सव हैं। बंगला साहित्य यदि दलबद्ध लोगों की सृष्टि होता तो आज उसकी कैसी दुर्गति होती यह सोचकर ही जी काँप उठता है। बंगाल हमेशा से दलों मे बटकर झगडा करने मे समर्थ रहा है लेकिन दल नहीं बना सकता। एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र करने में, झगडा करने में, जात मारने मे उसे स्वाभाविक आनन्द मिलता है—हमारे सनातन चण्डी मंडप की उत्पत्ति उसी 'आनन्दाध्येय' मे है। मनुष्य का सबसे निकटतम जो संबंध-बन्धन विवाह होता है, शुरू से ही उस बन्धन को अकारण अपमान से जर्जरित

करने की वरपक्ष वालों की मनोवृत्ति ही तो बंगाल की सनातन विशेषता रही है। इसके अतिरिक्त कवि-दगल के प्रतियोगिता-क्षेत्र में एक-दूसरे के प्रति व्यक्तिगत अश्राव्य गाली-वर्षा का आनन्द उठाने के लिए जो लोग एक समय भीड़ लगाया करते थे, वह इसलिए नही कि किसी पक्ष के प्रति विशेष शत्रुतावश उसको धिक्कारने का उच्छ्वसित उल्लास उनके भीतर होता था—उसके मूल में निंदा के मादक रस के उपयोग की निर्वैयक्तिक वृत्ति ही होती है—आज वर्तमान बंगला साहित्य में भी वंगालियो के इस टूटते हुए मन की कुत्सा-मुखरित निष्ठुर पीडन-निपुणता सदैव उद्यत रहती है। वह हमारे क्रूर अट्टहास को जगाने वाली फूहड, दु.शील मनोरंजन की सामग्री है। आज तो मैं देखता हूँ—बंगाल के छोटे-बडे, जाने-अनजाने, प्रकट-गुप्त अनेक कंठों मे तरकस से निकलकर शब्दबेधी रक्त-पिपासु बाणों ने आकाश को ढक लिया है। इस अद्भुत आत्मलाघवकारी महोत्साह मे बंगाली अपने साहित्य के पुर्जे--पुर्जे बिखेर दे सकता था, एक-दूसरे को शाप देते-देते साहित्य के महाश्मशान मे भूतो के कीर्तन का आयोजन करने मे उसे देर न लगती—लेकिन साहित्य कोआपरेटिव वाणिज्य नही है, ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनी नही है, म्यूनिसिपल कारपोरेशन नही है, सूने में चलने वाले अकेले आदमी की चीज है इसीलिए वह सब तरफ के आघातों से दामन बचाकर अबतक जीवित रह सका है। ईर्ष्या-परायण बंगाली इसी एक चीज की सृष्टि कर सका है। क्योंकि उसमें बहुत-से लोगों के मिलकर काम करने की ज़रूरत नही होती। साहित्य-रचना मे वंगाली अपनी एक-मात्र कीर्ति को प्रत्यक्ष देख रहा है इसीलिए उस चीज को लेकर उसे इतना आनन्द होता है। अपनी सृष्टि के बीच वृहत् एकता के क्षेत्र मे बंगाली आज गौरव करने के लिए आया है। जो बिखरे हुए थे बे-मिल गए है, जो दूर थे वे आपस की निकटता मे स्वदेश की निकटता अनुभव कर रहे हैं। महत् साहित्य-प्रवाहिनी में बंगाली चित्त की पंकिलता भी मिश्रित हो रही है। इसमे दु.ख और लज्जा का कारण तो है, लेकिन चिन्ता का अधिक कारण नही है,क्योंकि सभी जगह सत्साहित्य स्वभावत: सब देशों का, सब कालो का साहित्य होता है, जो कुछ स्थायित्वधर्मी होता है वह स्वत: छँटकर उसके बीच टिका रह जाता है और वे सब चीजें जो क्षणजीवी है, वे ग्लानिकर उत्पात कर सकती है; लेकिन हमेशा के लिए टिके रहने का अधिकार उन्हें नही। गंगा की पुण्य धारा में रोग के बीज भी न जाने कितने तैरते रहते हैं लेकिन स्रोत मे उनकी प्रधानता नही दिखाई पड़ती। अपने-आप उनकी शुद्धि और लोप होता रहता है, क्योंकि महानदी महा-

नाला तो होती नहीं। बंगाली का जो कुछ श्रेष्ठ है, शाश्वत है, जो समस्त मानव-जाति की वेदी पर चढ़ाने योग्य है उसीको हमारा वर्तमान काल भावी काल के उत्तराधिकार के रूप में रख जायगा। साहित्य में बंगाली के जिस परिचय की सृष्टि हो रही है उसके आत्मसम्मान की रक्षा वह विश्व-सभा में करेगा, कलुष की गंदगी से बचेगा, विश्व-देवता के निकट बंगाल के अर्घ्य के रूप में वह अपना आदर पायगा। बंगाली आज उसी महान् आशा को अपनी रगों में अनुभव कर रहा है इसीलिए हर साल अलग-अलग स्थानों में सम्मेलनों के रूप में बार-बार वह बंगभारती की जयध्वनि की घोषणा करने में लगा है। उसकी आशा सार्थक हो, युग-युग में वाणी-तीर्थ-पथ-यात्री आते रहें, बंग-देश अपने हृदय में उदारतर मनुष्यत्व की आकांक्षा लेकर आय, भीतर-बाहर के सब प्रकार के बंधनों से मुक्ति पाने का साधन-मंत्र लेकर आय।

'विचित्रा' (माघ १३४१) में प्रकाशित। २७ दिसम्बर १९३४ को कलकत्ता में सम्पन्न प्रवासी बंग साहित्य सम्मेलन के १२वें अधिवेशन में दिया गया भाषण।

उत्सर्ग-पत्र

श्रीमान् अमियचंद्र चक्रवर्ती कल्याणीयेषु,

रस-साहित्य के रहस्य की विवेचना बहुत दिनों से आग्रहपूर्वक करता आ रहा हूँ, अलग-अलग तारीखों के इन लेखों में इसका परिचय तुम्हें मिलेगा। इस प्रसंग में एक ही बात मैंने बार-बार कई तरह से कही है। वह मैं तुम्हें इस पुस्तक की भूमिका में बतला दूँ।

मन लगाकर इस जगत् को केवल हम जानते हैं। यह जानना दो प्रकार का होता है।

ज्ञान से हम विषय को जानते है। इसे जानने में ज्ञाता पीछे रहता है और ज्ञेय लक्ष्य के रूप में सामने रहता है। भाव से हम अपने को जानते हैं। उसमे विषय उपलक्ष्य के रूप में अपने साथ मिला हुआ रहता है।

विषय को जानने का काम विज्ञान का है। इसे जानने से अपने व्यक्तित्व को दूर रखने की साधना ही विज्ञान की साधना है। मनुष्य के स्वयं अपने को देखने के लिए साहित्य है, उसकी सचाई मनुष्य की अपनी उपलब्धि मे होती है, विषय की यथार्थता में नहीं। वह अद्भुत हो, अतथ्य हो उससे कुछ नहीं आता-जाता। यहाँ तक कि उस अद्भुत की, अतथ्य की उपलब्धि यदि गहरी हो, घनी हो तो साहित्य उसीको सत्य मान लेता है। मनुष्य बचपन से ही अनेक प्रकार से अपने को उपलब्ध करने का भूखा रहता है; इसीसे परी-कहानियों का जन्म हुआ। कल्पना के जगत् में वह अनेक प्रकार के रूप लेना चाहता है—राम भी बनना चाहता है, हनुमान भी बनना चाहता है, ठीक-ठीक बन जाय इसीमें उसकी खुशी है। उसका मन पेड़ के साथ पेड़ बन जाता है, नदी के साथ नदी। मन मिलना चाहता है, मिलकर खुश होता है। अपने को लेकर मनुष्य की यह जो विचित्र लीला चलती है, यही साहित्य का काम है। इस लीला में सुन्दर भी है, असुन्दर भी है।

एक दिन हमने निश्चयपूर्वक स्थिर कर रखा था कि सौंदर्य-रचना ही साहित्य का प्रधान कार्य है। लेकिन इस मत के साथ साहित्य और आर्ट की अभिज्ञता का

मेल नही बैठता, यह देखकर मन को बड़ा खटका लगा था। माँड्‌दत्त को सुन्दर नही कहा जा सकता—साहित्य के सौदर्य को प्रचलित सौदर्य की धारणा में नहीं बाँधा जा सका।

तब मन मे आया कि इतने दिन तक हम जिस बात को उल्टा करके कह रहे थे उसीको सीधा करके कहने की जरूरत है। हम कहते थे कि सुन्दर आनंद देता है इसीसे साहित्य का कार-बार सुन्दर को लेकर चलता है। वस्तुतः हमें कहना चाहिए कि जो आनद देता है उसीको मन सुन्दर कहता है और वही साहित्य की सामग्री है। साहित्य किस प्रकार इस सौंदर्य-बोध को जगाता है यह बात गौण है, गहरे बोध के द्वारा ही सुन्दर अपने को प्रमाणित करता है। उसको हम सुन्दर कहें या न कहे उसमे कुछ नही आता-जाता, विश्व के अनेक उपेक्षितों में मन उसीको अंगीकार कर लेता है।

साहित्य के बाहर इस सुन्दर का क्षेत्र संकीर्ण है। वहाँ पर कोई अनिष्टकर चीज आनद नही देती, क्योंकि मनुष्य अपने प्राणतत्त्व के अधिकार मे होता है। साहित्य मे देती है, नही तो कोई 'ओथेलो' नाटक को छू न सकता। यह प्रश्न मेरे मन को तग कर रहा था कि साहित्य मे दुःखकर कहानी क्यो आनंद देती है और क्यो हम इसीलिए उसे सौंदर्य की कोटि मे रखते है।

मन से उत्तर आया, चारो ओर की रसहीनता में जब हमारी चेतना में कोई स्पन्दन नही होता तब वह अस्पष्टता ही दुःखकर होती है। तब आत्म-उपलब्धि म्लान पड़ जाती है। मैं जो मैं हूँ, इसकी उपलब्धि जो चीज मुझे खूब गहरी करा दे उसीमें आनद है। जब सामने या चारो ओर ऐसा कुछ होता है जिसके संबंध मे मैं उदासीन नही हूँ, जिसकी उपलब्धि मेरी चेतना को उद्बोधित करती है, तो उसके आस्वाद मे ही मैं अपने-आपको घने रूप मे पाता हूँ। इसीके अभाव में अवसाद होता है। वस्तुतः मन जितना ही अस्तित्व के निपेध की ओर जाता है उतना ही उसे दुःख होता है।

दुःख की तीव्र उपलब्धि भी आनंद देने वाली होती है। क्योंकि वह बड़े गहरे रूप में मेरे होने की अस्मिता की सूचना देती है केवल अनिष्ट की आशका आकर बाधा देती है। यह आशंका न होती तो हम दुःख को भी सुन्दर कहते। दुःख हमे खोलता है, अपने नजदीक अपने-आपको धुँधलके मे नही रहने देता। गहरा दुःख भूमा है, ट्रेजेडी में वही भूमा है, उसी भूमा मे मुग्ध है। मनुष्य वास्तविक जगत् मे भय, दुःख, विपत्ति को हर प्रकार से वर्जनीय समझता है लेकिन तो भी अपनी

आत्म-अभिज्ञता को प्रबल और बहुल करने के लिए उसे जबतक ये न मिलें उसकी तृप्ति नही होती; अपनी इस स्वाभाविक इच्छा की तृप्ति मनुष्य साहित्य और आर्ट मे करता है। इसको लीला कहते हैं, कल्पना में अपनी विशुद्ध बिना मिलावट की उपलब्धि। रामलीला मे मनुष्य खुश होकर योग देने जाता है, लीला न होती तो हृदय फट जाता।

यही बात जिस दिन पहली बार स्पष्ट रूप से मन में आई उसी दिन कवि कीट्स की वाणी ध्यान मे आई Truth is beauty, beauty is truth अर्थात् जिस सत्य को हम 'हृदा मनीषा मनसा' उपलब्ध करते है वही सुन्दर है। उसीमें हम अपने-आपको पाते हैं। यही बात याज्ञवल्क्य ने कही है कि जो भी वस्तु मुझे प्रिय है उसमे मैं अपने को ही सच्चे रूप मे पाता हूँ इसीलिए वह मुझे प्रिय और सुन्दर लगती है।

मनुष्य अपने इस प्रिय के क्षेत्र को अर्थात् अपनी सुस्पष्ट उपलब्धि के क्षेत्र को साहित्य में प्रतिदिन विस्तीर्ण करता है। उसकी बाधाहीन अनेक रूपिणी वृहत् लीला का जगत् साहित्य है।

सृष्टिकर्ता को हमारे शास्त्रो मे लीलामय कहा है। अर्थात् वे अपना रस-विचित्र परिचय अपनी सृष्टि मे पाते है। मनुष्य भी अपने भीतर से अपनी सृष्टि करते-करते नाना भावों, नाना रसों मे अपने को पाता है। मनुष्य भी लीलामय है। मनुष्य के साहित्य मे, आर्ट मे उसी लीला का इतिहास लिखित-अंकित होता चलता है।

अंग्रेजी मे जिसको 'रियल' कहते है साहित्य मे आर्ट मे वह चीज वही है जिसे मनुष्य अपने भीतर से स्वीकार करने के लिए बाध्य है। तर्क द्वारा नही, प्रमाण द्वारा नही, एकात उपलब्धि द्वारा। मन जिसको कहे 'यह तो निश्चय देखा—खूब समझा', जगत् के हजार अचिह्नितो मे से जिसके ऊपर वह अपने हस्ताक्षर की सील-मुहर लगा देता है, जिसे वह अपने चिर-स्वीकृत संसार मे शामिल कर लेता है, वह असुन्दर होते हुए भी मनोरम होता है, वह रस के स्वरूप की सनद लेकर आता है।

सौंदर्य की अभिव्यक्ति ही साहित्य या आर्ट का मुख्य लक्ष्य नही है। इस संबंध मे हमारे देश में अलंकार-शास्त्र ने अंतिम बात कही है 'रसात्मक वाक्यं काव्यम्'।

मनुष्य बाधाहीन लीला के क्षेत्र में भाँति-भाँति के आस्वादनों मे अपने को

पाना चाहता है। उसी वृहत् विचित्र लीलाजगत् की सृष्टि साहित्य है।

लेकिन इसमे मूल्यभेद की वात उठ सकती है, क्योंकि यह तो विज्ञान नही है। सब उपलब्धियो का एक मूल्य नही होता! आनंद-संभोग मे निर्वाचन करने का कर्त्तव्य तो मनुष्य का है ही। मनस्तत्त्व के कौतूहल को चरितार्थ करना वैज्ञानिक बुद्धि का काम है। उस बुद्धि में पागलपन का बिखरा-बिखरा गड्डमड्ड असयम और अप्रमत्त आनंद की गहराई प्रायः समान आसन पाते है। लेकिन आनंद-सम्भोग में स्वभावतः मनुष्य का चुनाव रहता है। कभी-कभी अतितृप्ति से अस्वस्थ होने पर मनुष्य इस सहज बात को भूलने-सा लगता है। तब वह विरक्त होकर बड़ीधृष्टता से कुपथ्य द्वारा मुंह का मज़ा बदलना चाहता है। कुपथ्य मे तीखापन ज्यादा होता है इसीसे जब मुँह जलने लगता है तो उसीका मन मौज का चरम आयोजन समझ लेता है। लेकिन फिर एक दिन मन के स्वस्थ होनेपर मनुष्य काहमेशा का स्वभाव लौट आता है, सहज सम्भोग के दिन लौट आते हैं। तब का साहित्य क्षणिक आधुनिकता की भंगिमा छोड़कर चिरकालीन साहित्य के साथ सरल भाव से मिल जाता है।

श्री अमियचन्द्र चक्रवर्ती के लिए सितम्बर १९३६
(८ आश्विन १३४२) को शांतिनिकेतन में लिखा गया
समर्पण।

षष्ठ खण्ड

साहित्य का स्वरूप

१. काव्य और छन्द
२. गद्यकाव्य
३. साहित्य में ऐतिहासिकता

काव्य और छन्द

गद्य-काव्य को लेकर सदेही पाठकों के मन में तर्क चल रहा है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नही।

छन्द में जो वेग है उसी वेग के दवाव से रसगर्भ वाक्य सहज ही हृदय में प्रवेश करते हैं, मन को हिला देते हैं—यह बात स्वीकार करनी होगी।

इतना ही नही। जिस संसार के व्यवहार मे गद्य अनेक विभागो मे अनेक प्रकार के काम मर-खपकर करता है, काव्य का जगत् उससे पृथक् है। पद्य की भाषा-विशिष्टता इसी बात को स्पष्ट करती है, स्पष्ट होने ही से मन अपने क्षेत्र मे उसका स्वागत करने के लिए प्रस्तुत हो सकता है। गेरुआ बाना पहने हुए संन्यासी जतला देता है कि वह गृहस्थों से अलग है, उसी क्षण भक्त का मन आगे बढ़कर उसके पाँव के पास पहुँच जाता है—ऐसा न हो तो सन्यासी के भक्ति के व्यवसाय मे क्षति हो।

लेकिन कहने की जरूरत नही कि संन्यास-धर्म का मुख्य तत्त्व उसके गेरुआ बाने में नही होता, वह होता है उसकी साधना की सचाई मे। इस बात को जो समझता है उसका मन गेरुआ वाने के अभाव में और भी अधिक आकृष्ट होता है। वह कहता है मैं अपनी चिन्तन-शक्ति से सत्य को पहचानूंगा, उस गेरुआ कपड़े से नही—जो बहुत-से असत्य को ढके रहता है।

छन्द ही ऐकान्तिक रूप से काव्य हो, ऐसी बात नही है। काव्य की मूल वस्तु है रस; छन्द आनुषंगिक रूप से इसी रस का परिचय देता है।

वह दो ओर से सहायक होता है। एक तो यह कि उसमे स्वभावतः मन को लहरा देने की शक्ति होती है और दूसरी बात है पाठक का चिर-अभ्यस्त संस्कार। यह संस्कार की बात सोचने की चीज है। एक समय था कि नियमित अंशों मे विभक्त छन्द ही अच्छी काव्य-भाषा की पंक्ति में बैठने के योग्य समझा जाता था। उस समय हमारे काम का अभ्यास भी उसीके अनुकूल था; तब छन्द में तुक रखना भी अपरिहार्य था।

ऐसे समय में मधुसूदन बंगला साहित्य में हमारे संस्कारों के प्रतिकूल अमित्राक्षर छन्द लेकर आए। उसमें तुक नही रही। उसमें लाइनों के चौखटे तो एक बराबर सजे होते थे लेकिन छन्द बराबर उन चौखटो को तोड़ता हुआ चलता था। अर्थात् उसकी भंगिमा तो पद्य-जैसी थी लेकिन व्यवहार था गद्य-जैसा।

संस्कारों की अनित्यता का और एक प्रमाण दूं। एक समय कुलवधू की परिभाषा यह थी कि वह अंत.पुर में रहती है। पहले-पहले जो कुल-स्त्रियाँ निस्संकोच अंत.पुर से बाहर निकल आईं उन्होने जनसाधारण के संस्कार को आघात लगाया, इसीलिए उनको संदेह की आँखों से देखा गया और प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उनको अपमानित किया गया, प्रहसन की नायिका के समान उन्हें अट्टहास का विषय बनाया गया, सभी कुछ तो हुआ। उस समय जो लड़कियाँ साहस करके विश्वविद्यालय के पुरुष छात्रों के साथ एक ही जगह बैठकर पढ़ती थी उनके संबंध में लोगों के कापुरुष आचरण की बात सबको मालूम है।

क्रमशः संज्ञा बदलती रही है। कुल-स्त्रियाँ आज भी निस्संशय कुल-स्त्री ही हैं यद्यपि अंत.पुर के बन्धनो से वे मुक्त हैं।

उसी तरह आज कोई अमित्राक्षर छन्द की तुकविहीन असमानता को काव्य-रीति का विरोधी नही समझता। पर इसमे संदेह नही कि पहले के विधान को यह छन्द लाँघकर बहुत दूर निकल आया है।

यह काम काफी आसानी से हुआ था क्योंकि उस समय अंग्रेजी पढ़े-लिखे पाठकगण मिल्टन-शेक्सपियर के छन्द का आदर करने के लिए बाध्य हुए थे।

अमित्राक्षर छन्द को जात में शामिल कर लेने के संबंध में साहित्यिक सनातनी लोग यह कहेंगे कि यद्यपि यह छन्द चौदह अक्षरो की परिधि से बाहर निकल जाता है लेकिन तो भी पयार की लय को वह नही छोड़ता।

अर्थात् लय की रक्षा करके इस छन्द ने काव्य के धर्म की रक्षा की है, इस तरह का एक विश्वास अमित्राक्षर के संबंध मे लोगो को जकड़े हुए है। वे कहना चाहते हैं कि पयार के साथ यह नाड़ी-संबंध न रहने पर काव्य काव्य ही नही हो सकता। क्या हो सकता है और क्या नही हो सकता यह तो होने के ऊपर निर्भर करता है, लोगों के अभ्यास के ऊपर नहीं—यह बात अमित्राक्षर छन्द ही पहले सिद्ध कर चुका है। आज गद्यकाव्य के ऊपर यह प्रमाणित करने का भार आ पड़ा है कि गद्य में काव्य का संचरण असाध्य नही है।

घुड़सवार सेना भी सेना है और पैदल सेना भी सेना—उनका आधारगत

मेल कहाँ पर है ? जहाँ पर लड़ाई करके जीतना ही उन दोनों की साधना का लक्ष्य है।

काव्य का लक्ष्य है हृदय जीतना—चाहे पद्य के घोड़े पर चढ़कर हो चाहे गद्य के पैरों को चलाकर हो। इस उद्देश्य-सिद्धि की क्षमता के आधार पर ही उन पर विचार करना होगा। हार का मतलब हार है, चाहे वह घोड़े पर चढ़कर हो और चाहे पाँव-पियादे चलकर। छन्द मे लिखे होने से ही रचना काव्य नही हो जाती, इसके हजारों प्रमाण हैं; गद्य-रचना भी काव्य का नाम लेने से काव्य न हो जायगी, इसके अनेकानेक प्रमाण जुटते रहेंगे।

छन्द की एक सुविधा यह है कि इसमे स्वतः एक माधुर्य होता है, और कुछ न भी हो तो यही एक लाभ है। सस्ते सदेश मे छेने का अश नगण्य हो सकता है लेकिन और कुछ हो न हो, चीनी तो उसमें मिलती ही है।

पर सहज ही संतुष्ट न होने वाला एक ऐसा हठीला आदमी भी होता है जिसे अपने-आपको चीनी से बहलाने मे शर्म मालूम होती है। मन को बहलाने वाले माल-मसाले को छोड़कर केवल शुद्ध माल देकर ही उन्हें जीता जा सकेगा, ऐसी उनकी जिद है। वे यही कहना चाहते हैं कि काव्य नाम की जो असली चीज है वह केवल छन्द-अछन्द को लेकर नही होती, उसका गौरव उसकी आतरिक सार्थकता में होता है।

चाहे गद्य हो चाहे पद्य, रचना मात्र में एक स्वाभाविक छन्द रहता है। पद्य मे वह प्रत्यक्ष होता है, गद्य मे अतर्निहित होता है। उस निगूढ़ छन्द को यातना पहुँचाने से काव्य आहत होता है। पद्य के छन्द को समझने की चर्चा बँधे नियमो के रास्ते पर चल सकती है लेकिन गद्य के छन्द का परिमाण-बोध यदि सहज रूप से मन में न हो तो अलकार-शास्त्र की सहायता से इसकी दुर्गमता पार नही की जा सकती। लेकिन तो भी बहुत-से लोग इस बात को भूल जाते हैं कि जिस कारण से गद्य सहज होता है उसी कारण से गद्य का छन्द सहज नही होता। सहजता के प्रलोभन मे ही भयानक खतरे का सामना करना पड़ता है, और वह यह कि असतर्कता अपने-आप आ जाती है। असतर्कता ही कला-लक्ष्मी का अपमान करती है और कला-लक्ष्मी इसका बदला लेती है अकृतार्थता देकर। असतर्क लेखकों के हाथ मे गद्य-काव्य अवज्ञा और परिहास के उपादान ढेर-के-ढेर खड़े कर देगा, ऐसी आशंका निराधार नही है; लेकिन तो भी यह मोटी बात कहनी ही होगी जो सचमुच काव्य है वह गद्य होने पर भी काव्य है, गद्य न होने पर भी काव्य है।

और अंत मे यह एक बात कहने की है कि काव्य दैनंदिन संसार की अपरिमार्जित यथार्थता से जितना दूर था, अब उतना दूर नही है। अब वह सबको अपने रसलोक में समेट लेना चाहता है—अब वह स्वर्गारोहण के समय भी अपने साथ वाले कुत्ते को नही छोड़ता।

यथार्थ जगत् और रस के जगत् का समन्वय करने में गद्य उपयोगी होगा, क्योंकि वह शुचिवायुग्रस्त नही होता।

दो महीने बाद ११ नवम्बर १९३९ को रवीन्द्रनाथ भोंग्पू (दार्जिलिंग) लौटे। यह भाषण अगले दिन (१२ नवम्बर को) दिया गया।

गद्यकाव्य

कुछ ऐसे विषय हैं जिनकी जलवायु अत्यंत सूक्ष्म होती है, कुछ भी करो आसानी से वे पकड़ में नहीं आते। पकड़ने-छूने को लेकर तर्क द्वारा आघात-प्रतिघात चलता रहता है। लेकिन विषय-वस्तु जब अनिर्वचनीयता के कोठे में आकर बैठ जाती है तब यह किस तरह से समझाया जाय कि वह हृदयगम्य हुई या नहीं। उसके लिए अच्छा लगने, बुरा लगने की एक सहज क्षमता और विस्तृत अभिज्ञता होनी चाहिए। विज्ञान पर अधिकार करने के लिए साधना की आवश्यकता होती है। लेकिन रुचि एक ऐसी चीज है जिसके लिए कहा जा सकता है कि वह साधना से नहीं मिलती, उसको पाने का बँधा हुआ मार्ग 'न मेधया न बहुना श्रुतेन' होता है। अपनी सहज व्यक्तिगत रुचि के अनुसार मैं यह कह सकता हूँ कि यह चीज मुझे अच्छी लगती है।

इस रुचि में आकर जुड़ जाता है अपना स्वभाव, चिन्तन का अभ्यास, समाज का परिवेश और इच्छा। ये सब यदि भद्र, व्यापक और सूक्ष्मबोध-शक्तिमान हों तो उस रुचि को साहित्य-पथ के आलोक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन रुचि का शुभ सम्मिलन कहीं पर सत्य परिणाम पर पहुँचा है या नहीं इसको मानने के लिए भी दूसरी ओर रुचि-चर्चा का सच्चा आदर्श होना चाहिए। अतः रुचिगत विचार में एक अनिश्चयता रह जाती है। साहित्य-क्षेत्र में युग-युग में इसके प्रमाण मिलते रहे हैं। विज्ञान-दर्शन के संबंध में जो आदमी यथोचित चर्चा नहीं करता वह बड़े नम्र ढंग से कहता है, 'मुझे कोई मत रखने का अधिकार नहीं है।' साहित्य और शिल्प में, रस-सृष्टि की सभा में, मत-विरोध का कोलाहल देखकर अंतत: हताश होकर कहने की इच्छा होती है, 'भिन्न रुचिर्हि लोकः'। जहाँ पर साधना की कोई बात ही नहीं वहीं दम्भ का अन्त नहीं होता, और इसीलिए रुचिभेद के झगड़े को लेकर हाथापाई भी होती रहती है। इसीसे वररुचि की बात मन में आती है, 'अरसिकेषु रसस्य निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।' स्वयं कवि के निकट अधिकारी और अनधिकारी का प्रसंग सहज होता

है। उसकी लिखी चीज किसे अच्छी लगी किसे नही लगी, इसी कसौटी पर वह श्रेणियाँ बना लेता है। इसीलिए हमेशा से पारखियों के साथ शिल्पियों का झगड़ा चलता आया है। इसमें संदेह नही कि स्वयं कवि कालिदास को भी इस बात के लिए दु ख उठाना पडा था। सुनते हैं कि मेघदूत में स्थूल हस्तावलेप के प्रति संकेत है। जिन सब कविताओ मे प्रथागत भाषा और छंद का अनुसरण किया जाता है उनमें अन्तत. बाहर की ओर से पाठकों को चलने-फिरने में रुकावट नहीं होती। लेकिन कही-कही विशेष किसी रस के अनुसंधान में कवि को अभ्यास का पथ लाँघना पड़ता है। तब कुछ-न-कुछ समय के लिए पाठकों के आराम में बाधा पड़ती है इसीलिए वे नए रस को इस तरह भीतर ले आना अस्वीकार करते हैं और दंड देने की बात कहते हैं। जब तक चलते-चलते पगडंडी नहीं बन जाती तब तक रास्ता बनाने वालों के विरुद्ध राहगीरों का एक झगड़ा खड़ा रहता है। इसी अशांति के समय कवि ढिठाई से कहता है, 'तुम्हारी अपेक्षा मेरा ही मत प्रामाणिक है।' पाठक कहते हैं भोजन प्रस्तुत करने वाले की अपेक्षा उसका उपभोग करने वाले का ही अधिकार ज्यादा होता है। लेकिन इतिहास में इस बात का प्रमाण नहीं मिलता; हमेशा देखा गया है कि नए की उपेक्षा करते-करते ही नये के स्वागत का पथ प्रशस्त हुआ है।

कुछ दिनों से मैंने कोई-कोई कविता गद्य में लिखनी शुरू की है। साधारण लोगों के निकट अभी से ही उसे समादर मिलने लगेगा, ऐसी आशा करना असगत है, लेकिन मैं यह नही मान पाता कि तत्काल समादर न पाना ही उसकी निष्फलता का प्रमाण है। ऐसे द्वन्द्व के स्थल पर कवि आत्मप्रत्यय का सम्मान करने के लिए बाध्य है। मैं बहुत दिनों से रस-सृष्टि की साधना कर रहा हूँ, हो सकता है कि मैंने बहुतों को आनंद दिया हो; यह भी हो सकता है कि इसमें सफल नहीं हुआ। तो भी इस विषय में मेरी बहुत दिनों की संचित जो अभिज्ञता है उसकी दुहाई देकर मैं दो-एक बातें कहूँगा। आप मेरी सब बातें मान लेंगे ऐसी कोई दुराशा मेरे मन में नही है।

तर्क यह चल रहा है कि गद्य का रूप लेकर काव्य आत्मरक्षा कर सकता है कि नही। इतने दिन तक काव्य को जिस रूप में देखा गया है और उस देखने के साथ आनंद का जो सम्बन्ध है, गद्यकाव्य में उसका व्यतिक्रम होता है। केवल प्रधान का व्यतिक्रम नहीं उसके स्वरूप में भी व्याघात हो रहा है। इस समय तर्क का विषय यह है कि काव्य का स्वरूप एकांतभाव से छंदोबंध सज्जा के ऊपर

निर्भर करता है या नही। कुछ लोग सोचते हैं कि करता है, मैं सोचता हूँ कि नहीं करता। अलंकरण के बाहरी आवरण से मुक्त होकर काव्य सहज ही अपनी अभिव्यक्ति कर सकता है, इस विषय मे अपनी निजी अभिज्ञता से दृष्टांत दूँगा। आप सब जानते हैं कि मैंने जबाला-पुत्र सत्यकाम की कहानी को आधार बनाकर एक कविता लिखी है। मैंने यह गल्प सहज गद्य की भाषा में छांदोग्य उपनिषद् में पढ़ी थी और तत्काल उसे सच्चा काव्य मान लेने मे मुझे कोई बाधा नही हुई। उपाख्यान मात्र है—काव्य-विचारक इसको बाहर से देखकर काव्य के पर्याय में स्थान देने के लिए असम्भव हो सकते है क्योंकि यह अनुष्टुप त्रिष्टुप या मंदाक्रांता छंद मे तो रचा नही गया। मेरा कहना है कि इसीलिए वह श्रेष्ठ काव्य हो सका, दूसरे किसी आकस्मिक कारण से नही। यह सत्यकाम की कहानी अगर छंद में बाँधकर रची जाती तो हल्की पड जाती।

सत्रहवी शताब्दी में कुछ गुमनाम लेखको ने ग्रीक और हिब्रू बाइबिल का अनुवाद अंग्रेजी मे किया। यह बात माननी ही होगी कि सॉलोमन का गीत, डेविड की गाथा सच्चा काव्य है। इस अनुवाद की भाषा की अद्भुत शक्ति है। इनमें काव्य का रस और रूप निस्संदेह प्रस्फुटित कर दिया है। इन गीतों में गद्य छंद का जो मुक्त पदक्षेप है उसको यदि पद्य-प्रथा की जंजीर मे बाँधा जाता तो सब चौपट हो जाता।

यजुर्वेद में हम जिस उदात्त छंद का साक्षात्कार करते है उसको हम पद्य नही कहते, मंत्र कहते है। हम सभी जानते है कि पद्य का लक्ष्य है शब्द के अर्थ को ध्वनि के भीतर मे मन की गहराई में ले जाना। वहाँ पर वह केवल अर्थवान ही नही ध्वनिमान भी होता है। मैं निस्सदेह कह सकता हूँ कि इस गद्य मंत्र की सार्थकता बहुतो ने मन के भीतर अनुभव की है, क्योकि ध्वनि थम जाने पर भी उसकी गूँज नही थमती।

एक समय किसी असावधान क्षण मे मैने अपनी 'गीताजलि' का अंग्रेजी गद्य मे अनुवाद किया। विशिष्ट अंग्रेज साहित्यिको ने मेरे अनुवाद को अपने साहित्य के अग के रूप मे ग्रहण कर लिया। यहाँ तक कि अंग्रेजी 'गीताजलि' को उपलक्ष्य बनाकर इतनी प्रशंसा की गई कि मैं उसको अत्युक्ति समझकर संकुचित हुआ था। मैं विदेशी था, मेरे काव्य में तुक या छंद का चिन्ह तक न था, तब भी जब उन्होंने उसके भीतर सम्पूर्ण काव्य का रस पाया तो उस बात को मुझे स्वीकार करना ही पड़ा। मेरे मन में विचार आया था कि अंग्रेजी गद्य मे मेरे काव्य को रूप देने से

कोई क्षति नहीं हुई, बल्कि अगर पद्य में अनुवाद करता तो वह धिक्कार और अश्रद्धा का पात्र होता।

मुझे याद आता है कि एक बार मैंने श्रीमान् सत्येन्द्र से कहा था, "तुम छंद के राजा हो, एक बार जरा अछंद की शक्ति से, बाँध तोड़कर, काव्य के स्रोत को प्रवाहित तो करो!" सत्येन्द्र के समान विविध छंदों के सृष्टा बंगला में कम ही हैं। हो सकता है कि अभ्यास ने उनके रास्ते में रुकावट डाली हो, उन्होंने मेरे प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। मैंने स्वयं इस काव्य-रचना की चेष्टा की थी 'लिपिका' में, पर यह ठीक है कि मैंने पद्य के समान पद तोड़कर नहीं दिखाया। 'लिपिका' लिखने के बाद बहुत दिन तक फिर मैंने गद्यकाव्य नहीं लिखा। शायद साहस नहीं हुआ इसीलिए।

काव्य-भाषा का एक वजन होता है, समय होता है, उसीको छंद कहते हैं। गद्य को ऐसी कोई चिन्ता नहीं होती, वह छाती फुलाकर चलता है। इसीलिए राष्ट्रनीति आदि दैनंदिन व्यवहार की चीजें प्रांजल गद्य में लिखी जा सकती हैं, लेकिन गद्य को काव्य के प्रवर्त्तन के लिए शिल्पित किया जाता है। तब वह काव्य की गति में ऐसी कुछ अभिव्यक्ति पाता है जो गद्य के दैनंदिन व्यवहार से परे है। गद्य है इसीलिए उसके भीतर अति-माधुर्य, अति-लालित्य की मादकता नहीं रह सकती। कोमल और कठोर के मिलने से एक संयत ढंग का भाईचारा पैदा होता है। नटी के नाच में शिक्षित, पटु, अलंकृत पदक्षेप होता है। दूसरी ओर सुघर चलने वाली किसी तरुणी की चाल में संतुलन की रक्षा का एक स्वाभाविक नियम होता है। इस सहज सुन्दर चलन के ढंग में एक अशिक्षित छंद होता है, जो उसके रक्त में होता है, उसके अंग में होता है। गद्य-काव्य की चाल भी ऐसी ही होती है—अनियमित उच्छृंखल गति नहीं, संयत पदक्षेप।

आज ही मैं मुहम्मदी पत्रिका देख रहा था, किसी सज्जन ने लिखा है कि रवि ठाकुर की गद्य-कविता का रस उन्हें अपने सादे गद्य में ही मिलता है। दृष्टांत-स्वरूप लेखक ने कहा है कि 'शेषेर कविता' में मूलत: काव्य-रस से अभिषिक्त गुण आ गया है। अगर ऐसा हो तब क्या जमाने से बाहर निकलने के लिए काव्य की जात गई। यहाँ पर मेरा प्रश्न यह है कि हमने क्या ऐसा काव्य नहीं पढ़ा है जो गद्य का वक्तव्य कहता है जैसे कि ब्राउनिंग। और क्या ऐसा गद्य भी नहीं पढ़ा जिसमें कवि-कल्पना का आनंद मिलता है। गद्य और पद्य के बीच जेठ और अनुज-पत्नी का सम्बन्ध मैं नहीं मानता। मेरी समझ में वे भाई और बहन के

समान होते है। इसीसे जब मैं देखता हूँ कि गद्य मे पद्य का रस और पद्य मे गद्य का गाम्भीर्य, इन दोनो का सहज आदान-प्रदान होता है तो मै इसमे आपत्ति नही करता।

रुचि-भेद को लेकर झगड़ा करने से कोई लाभ नही। इतना ही कह सकता हूँ कि मैंने ऐसे अनेक गद्यकाव्य लिखे है जिनकी विषय-वस्तु को और किसी रूप में व्यक्त न कर सकता था। उसमे एक सहज दैनंदिन भाव है, हो सकता है कि सज्जा न हो लेकिन रूप है और इसीलिए उनको सच्चे अर्थ मे मै काव्यगोत्रीय समझता हूँ। यह बात उठ सकती है कि गद्यकाव्य क्या है। मैं कहूँगा कि वह क्या है और कैसा है, यह मै नही जानता। इतना जानता हूँ कि इसका काव्य-रस एक ऐसी चीज है जो युक्ति देकर प्रमाणित करने की नही। जो मुझको वचनातीत का आस्वाद देता है वह गद्य या पद्य किसी भी रूप मे आये मैं उसे काव्य कहकर ग्रहण करने से मुँह न फेरूँगा।

२६ अगस्त १६३६ को विश्व भारती के विद्यार्थियो को दिया गया भाषण। दिसम्बर १६३६ (पौष १३४६) मे 'प्रवासी' मे प्रकाशित।

साहित्य में ऐतिहासिकता

हम लोग इतिहास के द्वारा ही पूरी तरह परिचालित होते हैं, यह बात मैंने बार-बार सुनी है और बार-बार भीतर-ही-भीतर खूब जोर से सिर हिलाया है। इस तर्क का समाधान मेरे अपने हृदय में ही है, जहां पर मैं और कुछ नहीं केवल कवि हूं। वहां पर मैं सृष्टिकर्त्ता हूं, अकेला हूं, मुक्त हूं। बाहर की अधिकतर घटनाओं के जाल में बँधा हुआ नहीं हूं। ऐतिहासिक पंडित जब मुझे मेरे उस काव्य-सृष्टि के केन्द्र से घसीटकर बाहर ले आता है तो मुझे वह चीज असह्य हो जाती है। इसलिए एक बार कवि-जीवन की आरम्भिक सूचना के भीतर पैठा जाय।

सर्दी की रात है—भोर का समय, धुंधला-धुंधला-सा प्रकाश अँधेरे को चीरकर दिखाई पड़ना शुरू हो रहा है। हम लोगों का रहन-सहन गरीबों के समान था। गरम कपड़ों की बहुतायत बिलकुल न थी। हम शरीर पर बस एक कुर्ता डालकर गरम लिहाफ के भीतर से बाहर निकल आते। लेकिन इस तरह हड़बड़ाकर निकल आने की कोई जरूरत न थी और मैं भी सब लोगों की तरह कम-से-कम छः बजे तक आराम के साथ गुड़ीमुड़ी होकर पड़ा रह सकता था। लेकिन मेरे लिए गति न थी। हमारे घर के भीतर का बगीचा भी हमारी ही तरह दरिद्र था। उसकी प्रधान सम्पदा थी पूरब की दीवार के किनारे-किनारे की नारियल के पेड़ों की एक कतार। उन नारियलों के कांपते हुए पत्तों पर रोशनी पड़ेगी, ओस की बूंदें झिलमिलायेंगी, देर करके उठने से मेरे रोज के इस देखने में बाधा पड़ेगी इसीलिए मुझे इतनी जल्दी थी। मैं मन-ही-मन सोचता कि सवेरे के इस आनंद की अभ्यर्थना सब लड़कों के मन में आग्रह जगाती होगी। यह बात अगर सच होती तो सभी लड़कों के स्वभाव में इसके कारण की सहज निष्पत्ति हो जाती। मैं अपनी इस प्रबल उत्सुकता के वेग में दूसरों से अलग नहीं हूं, मैं भी साधारण लड़कों-जैसा ही हूं, यह समझ में आ जाने पर और किसी व्याख्या की जरूरत नहीं पड़ती। लेकिन उम्र कुछ और बढ़ने पर मैंने देखा कि दूसरे किसी लड़के के मन में पेड़-पौधों के

ऊपर आलोक का स्पंदन मात्र देखने की ऐसी व्यग्रता बिलकुल न थी। मैंने देखा कि जो लड़के मेरे साथ-साथ बड़े हुए थे उन्हें किसी तरह इस पागलपन की श्रेणी में न रखा जा सकता था। वही क्यों, चारों ओर ऐसा कोई न था जो असमय सर्दी के कपड़े अलग करके, रोशनी का खेल एक दिन भी न देख पाने पर अपने को वंचित अनुभव करता। इसके पीछे किसी इतिहास का कोई साँचा नहीं है। अगर होता तो सवेरे के वक्त इस अभागे बगीचे में भीड़ जम जाती और एक होड़ मच जाती कि कौन सबसे आगे आकर पूरे दृश्य को अपने भीतर ग्रहण कर रहा है। कवि जो है सो यही। स्कूल से साढ़े चार बजे लौटा हूँ। आते ही देखता हूँ कि हमारे मकान के तितल्ले के ऊपर घने नीले बादल घिरे हुए हैं, देखकर कैसा अच्छा लगता। उस दिन की बात आज भी मेरे मन में है, लेकिन उस दिन के इतिहास में मुझको छोड़कर और किसी दूसरे व्यक्ति ने उन बादलों को उन आँखों से नहीं देखा और पुलकित नहीं हुआ। यहीं पर दिखाई दिया अकेला रवीन्द्रनाथ। एक दिन स्कूल से लौटकर मैंने अपने मकान के पश्चिमी बरामदे में खड़े होकर एक बड़ी अद्भुत चीज देखी। धोबी के घर से गधा आकर चर रहा है—यह गधा ब्रिटिश साम्राज्य-नीति का पुतला न था, यह हमारे समाज का चिरंतन गधा था, इसके व्यवहार में आदि-काल से कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ—और एक गाय बड़े स्नेह से उसके शरीर को चाट रही थी। यह जो प्राण की ओर प्राण का खिंचाव मुझे दिखाई दिया उसे मैं आज तक नहीं भूल सका। लेकिन यह बात मैं निश्चय-पूर्वक जानता हूँ कि उस दिन के समूचे इतिहास में एक रवीन्द्रनाथ ने ही इस दृश्य को मुग्ध आँखों से देखा था। उस दिन के इतिहास ने और किसी व्यक्ति को उसे देखने का गहरा तात्पर्य इस तरह नहीं बतलाया। अपने सृष्टि-क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ अकेला है, कोई इतिहास उसको साधारण के साथ नहीं बाँधता। इतिहास जहाँ पर साधारण है वहाँ पर वह ब्रिटिश सब्जेक्ट था, पर रवीन्द्रनाथ न था। वहाँ पर राष्ट्रीय परिवर्तन की चित्र-विचित्र लीला चल रही थी लेकिन नारियल के पत्तों पर जो रोशनी झिलमिला रही थी वह ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की लाई हुई चीज न थी। मेरी अंतरात्मा किसी रहस्यमय इतिहास के बीच विकसित हो रही थी। और हर रोज अपने को तरह-तरह से अपने आनंद रूप में व्यक्त कर रही थी। हमारे उपनिषद् में है: *'न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति'*—आत्मा सृष्टिकर्ता के रूप में पुत्र-स्नेह के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करना चाहती है इसीसे पुत्र-

स्नेह उसके लिए मूल्यवान है। जो सृष्टिकर्ता है उसके लिए सृष्टि का उपकरण जुटाता है, थोड़ा-बहुत इतिहास, थोड़ा-बहुत उसका सामाजिक परिवेश; लेकिन यह उपकरण उसको बनाता नहीं। इन उपकरणों का उपयोग करके वह अपने को स्रष्टा के रूप में अभिव्यक्ति देता है। अनेक घटनाएँ हैं जिन्हें जानना चाहिए। वह जानना आकस्मिक जानना होता है। एक समय जब से मैंने बौद्ध कहानी और ऐतिहासिक कहानियाँ जानीं तब वे स्पष्ट आकार ग्रहण करके मेरे मन में सृष्टि की प्रेरणा लेकर आईं। अकस्मात् 'कथा ओ काहिनी' की गल्प-धारा झरने के समान अनेक शाखाओं में फूट उठी। उस समय शिक्षा में इस सब इतिवृत्त को जानने का अवकाश था इसलिए कहा जा सकता है कि 'कथा ओ काहिनी' उसी काल की विशेष रचना है। लेकिन इस 'कथा ओ काहिनी' के रूप और रस ने एक-मात्र रवीन्द्रनाथ के मन में आनंद की हलचल मचाई थी। उसका कारण इतिहास नहीं है, रवीन्द्र की अन्तरात्मा ही उसका कारण है—इसीसे तो कहा है, आत्मा ही कर्त्ता है। उसको नेपथ्य में रखकर ऐतिहासिक उपकरण का आडम्बर करना किसी-किसी मन के लिए गर्व का विषय होता है, और उसी जगह वह सृष्टिकर्त्ता के आनंद को थोड़ी-बहुत मात्रा में अपनी ओर अपहरण करके ले आता है। लेकिन सृष्टिकर्त्ता जानता है कि यह सब गौण है। संन्यासी उपगुप्त बौद्ध इतिहास के समस्त आयोजन में एक-मात्र रवीन्द्रनाथ के निकट अपनी महिमा और अपनी करुणा लेकर प्रकट हुए थे। यह वस्तु यदि वास्तव में ऐतिहासिक होती तो सारे देश में 'कथा ओ काहिनी' का ढेर लग जाता। दूसरा कोई व्यक्ति इसके पहले और इसके बाद में इन सब चित्रों को ठीक इस तरह से नहीं देख सका। वस्तुतः उन्हें आनंद मिला इसी कारण से, कवि के इस सृष्टिकर्तृत्व की विशिष्टता से। एक दिन जब मैंने बंगाल की नदियों पर घूमकर उनके प्राण की लीला अनुभव की थी तब मेरी अंतरात्मा ने अपने अन्दर में उस सब सुख-दुःख के रंग-बिरंगे आभास को अंतःकरण में सँजोकर जिस प्रकार महीनों तक बंगाल के गाँवों के चित्र रचे थे, वैसा और किसी ने उसके पहले नहीं किया था। बात यह है कि सृष्टिकर्त्ता अपनी रचनाशाला में अकेला काम करता है। वह विश्वकर्मा के ही समान अपने को देकर रचना करता है। उस दिन कवि ने जो ग्रामचित्र देखे निस्सदेह उनमें राष्ट्रीय इतिहास का आघात-प्रतिघात था। लेकिन उसकी सृष्टि में मानव-जीवन के उस सुख-दुःख का इतिहास प्रतिबिम्बित हुआ था जो सारे इतिहास का अतिक्रमण करके बराबर चला आ रहा है। कृषि-क्षेत्र में, गाँव के रीति-रिवाजों पर्वों में, अपने

दैनंदिन सुख-दुःख को लिये-दिये—कभी मुगल राज्य में, कभी अंग्रेजी राज्य मे—उसकी अति सरल मानवता की अभिव्यक्ति बराबर चलती रही है—वही प्रतिबिम्बित हुई थी 'गल्पगुच्छ' मे, कोई सामंत-तन्त्र नही, कोई राष्ट्रतंत्र नही। आजकल के समालोचक जिस विस्तीर्ण इतिहास के बीच अबाध सचरण करते है उसका कम-से-कम बारह आना मैं जानता ही नही। शायद इसीलिए मुझे और भी ज्यादा चिढ होती है। मेरा मन कहता है, 'चूल्हे में जाय तुम्हारा इतिहास।' मेरी सृष्टि-नौका को पतवार पकड़े हुए है वह आत्मा जिसकी अपनी अभिव्यक्ति के लिए पुत्र के स्नेह की आवश्यकता है, जो जगत् के अनेकानेक सुख-दु.खों को आत्मसात् करके चित्र-विचित्र रचना मे आनद पाती है और आनंद बाँटती है। जीवन के इतिहास की सब बात तो कही नही गई लेकिन वह इतिहास गौण है। केवल सृष्टिकर्ता मनुष्य की आत्म-अभिव्यक्ति की कामना से वह युग-युगान्तर से इस ओर प्रवृत्त हुई है। उसीको बड़ा करके देखो उस इतिहास को, जो विराट् के बीच सृष्टिकर्ता मनुष्य का सारथी बना हुआ है—वह इतिहास से परे है, वह मानव-आत्मा के केन्द्रस्थल में है। हमारे उपनिषद् इस बात को जानते थे और उन उपनिषदों से मैंने जो सदेश ग्रहण किया है वह मैंने ही किया है, उसमे मेरा ही कृतित्व है।

इस वार्तालाप के नोट प्रो० बुद्धदेव बोस ने १९४१ की गर्मियो में लिखे थे। रवीन्द्रनाथ ने इसकी पाडुलिपि देखकर स्वीकृति दी थी। 'प्रवासी' (ज्येष्ठ-आषढ १३४८) में प्रकाशित।

सप्तम खण्ड

प्राचीन साहित्य

१. रामायण
२. शकुन्तला
३. काव्य की उपेक्षिताएँ

रामायण

(श्रीयुत दिनेशचंद्र सेन महाशय की 'रामायणी कथा' की भूमिका-स्वरूप रचित)

मोटे रूप मे काव्य के दो भाग किये जायें। किसी काव्य मे अकेले कवि की कथा होती है और किसी काव्य मे वृहत् समुदाय की कथा होती है।

अकेले कवि की कथा का अभिप्राय यह नही है कि वह और किसी के लिए अधिगम्य नही है, ऐसा होता तो उसे पागलपन कहते। उसका अर्थ यही है कि कवि मे वह क्षमता है जिससे उसके निजी सुख-दु ख, निजी कल्पना, निजी जीवन की अभिज्ञता के भीतर से होकर विश्व-मानव का चिरतन हृदयावेग और जीवन की मर्मकथा अपने-आप बज उठती है।

जिस तरह से यह कवियों की एक श्रेणी है वैसे ही दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जिनकी रचना के भीतर से एक समग्र देश, एक समग्र युग अपने हृदय को अपनी अभिज्ञता को व्यक्त करके उसे मानव की चिरतन सामग्री बना देता है।

इसी दूसरी श्रेणी के कवि को महाकवि की संज्ञा दी जाती है। समग्र देश की समग्र जाति की सरस्वती इन्हें अपना आश्रय बना पाती है, ये लोग जो रचना करते हैं वह किसी व्यक्ति-विशेष की रचना नही जान पडती। ऐसा लगता है कि जैसे वह विशाल वनस्पति के समान देश की धरती मे पैदा होकर उसी देश को आश्रय और छाया दे रही है। कालिदास की 'शकुन्तला' और 'कुमार सम्भव' में विशेष रूप से कवि के निपुण हाथो का परिचय हमको मिलता है। लेकिन रामायण, महाभारत को देखकर ऐसा लगता है कि जैसे वे गगा और हिमालय के समान भारत के ही हो, व्यास-वाल्मीकि निमित मात्र हों।

सच तो यह है कि व्यास-वाल्मीकि किसी का नाम न था। वह तो एक उद्देश्य से किया हुआ नामकरण मात्र है। इसमें बड़े विशाल दो ग्रन्थ, हमारे समस्त भारतवर्ष को समेटे हुए दो काव्य अपने रचनाकार कवियो के नाम खो बैठे हैं—कवि अपने काव्य में ऐसा छिप गया है।

हमारे देश में जिस तरह रामायण-महाभारत हैं, उसी तरह प्राचीन ग्रीस में इलियड और ओडीसी थे। वे समस्त ग्रीस के हृदय-कमल से उत्पन्न हुए थे और उसीमे निवास करते थे। कवि होमर ने अपने देश-काल के कठ को भाषा दी थी। वही वाक्य पानी के सोते की तरह अपने-अपने देश के निगूढ अंतस्तल से फूटकर सदा-सदा से उसको प्लावित करता रहा है।

किसी आधुनिक काव्य में ऐसी व्यापकता नही दिखाई पड़ती। मिल्टन के 'पैराडाइज लास्ट' में भाषा का गाम्भीर्य, छंद की महत्ता, रस की गहराई चाहे जितनी क्यों न हो वह देश का धन नही है, वह लायब्रेरी के आदर की सामग्री है।

अत. गिनती के कुछ प्राचीन काव्यों को एक ही श्रेणी मे डालकर अगर उन्हे एक नाम देना हो तो महाकाव्य को छोड़कर और क्या नाम दिया जा सकता है? ये लोग प्राचीन कालो के देव-दैत्यो के समान महाकाय थे, इनकी जाति अब लुप्त हो गई है।

प्राचीन आर्य सभ्यता की एक धारा यूरोप मे और एक धारा भारत में प्रवाहित हुई है। यूरोप की धारा मे दो महाकाव्यों ने और भारत की धारा मे दो महाकाव्यो ने अपनी कथा और संगीत की रक्षा की है।

हम विदेशी है, हम निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि ग्रीस अपनी समस्त प्रकृति को अपने दोनो काव्यो मे व्यक्त कर पाया है या नही, लेकिन यह निश्चित है कि भारतवर्ष ने रामायण-महाभारत में अपना सब-कुछ डाल दिया, कुछ भी बाकी नही छोड़ा।

इसीलिए शताब्दियों पर शताब्दियाँ बीत रही हैं लेकिन रामायण-महाभारत का स्रोत भारतवर्ष मे तनिक भी नही सूखा है। प्रतिदिन गाँव-गाँव मे, घर-घर मे उन्हे पढ़ा जा रहा है, पसारी की दूकान से लेकर राजा के महल तक सब जगह उन्हें एक-जैसा आदर मिलता है। धन्य हैं वे दोनों कवि जिनका नाम काल के महाप्रान्तर में खो गया है लेकिन जिनकी वाणी कोटि-कोटि नर-नारियों के द्वार-द्वार पर आज भी शक्ति और शांति की धारा को पहुँचा रही है, शत-शत प्राचीन शताब्दियों की उपजाऊ गीली मिट्टी निरंतर ले आकर भारतवर्ष की हृदय-भूमि को आज भी उर्वर बना रही है।

ऐसी स्थिति मे रामायण-महाभारत को केवल महाकाव्य कहने से काम नही चलेगा, वे इतिहास भी हैं। घटनावली का इतिहास नही, क्योंकि वैसा इतिहास समय-विशेष का सहारा लेता है, रामायण-महाभारत भारतवर्ष का चिरंतन

इतिहास है। अन्य इतिहास युग-युग मे कितने परिवर्तित हुए लेकिन इस इतिहास में परिवर्तन नही हुआ। भारतवर्ष की जो साधना है सकल्प है, उन्हीका इतिहास इन दो विराट् काव्य-सौधो मे चिरंतन सिंहासन पर विराजमान है।

इसी कारण रामायण-महाभारत की समालोचना अन्य काव्यो की समालोचना के आदर्श से पृथक् है। राम का चरित्र ऊँचा है कि नीचा, लक्ष्मण का चरित्र हमे अच्छा लगता है कि बुरा, यह आलोचना काफी नही है। मौन होकर श्रद्धा के साथ विचार करना होगा कि समस्त भारतवर्ष ने हजारो साल से इन्हें किस प्रकार ग्रहण किया है।

रामायण मे भारतवर्ष क्या कह रहा है, रामायण मे भारतवर्ष किस आदर्श को महान् कहकर स्वीकार कर रहा है, यही वर्तमान क्षेत्र मे हमारे विनयपूर्वक विचार करने का विषय है।

वीर रस-प्रधान काव्य को ही 'एपिक' कहते है, ऐसी ही साधारणजनो की धारणा है। उसका कारण यह है कि जिस देश में, जिस काल मे वीर रस के गौरव को प्रधानता मिली है उस देश और उस काल मे स्वभावत. एपिक वीर रस-प्रधान हो गया है। रामायण मे भी युद्ध-व्यापार यथेष्ट है, राम का बाहुबल भी सामान्य नही है लेकिन तो भी रामायण मे जिस रस को सबसे अधिक प्रधानता मिली है वह वीर रस नही है। उसमें बाहुबल का गौरव घोषित नही हुआ, युद्ध घटना ही उसके वर्णन का मुख्य विषय नही है।

यह काव्य देवता की अवतार-लीला को लेकर ही रचा गया हो, ऐसी बात भी नही है। कवि वाल्मीकि के निकट राम अवतार न थे, वे मनुष्य ही थे, पंडित लोग इसको प्रमाणित करेंगे। इस भूमिका मे पांडित्य के लिए स्थान नही है। यहाँ पर मैं संक्षेप में इतना ही कहूँगा कि कवि ने रामायण मे मनुष्य के चरित्र का वर्णन न करके देवता के चरित्र का वर्णन किया होता तो उससे रामायण का गौरव घटता और उसका काव्यांश भी उसी अनुपात में मति-ग्रस्त होता। राम का चरित्र मनुष्य का चरित्र होने के नाते ही महिमा से मंडित है।

आदि कांड के प्रथम सर्ग में वाल्मीकि ने जब अपने काव्य के उपयुक्त नायक की खोज करते हुए बहुत गुणों का उल्लेख करके नारद से पूछा—

समग्रा रूपिणी लक्ष्मीः कमेकं संश्रिता नरम्

किस एक नर का आश्रय लेकर समग्रा लक्ष्मी ने रूप ग्रहण किया है, तो नारद ने कहा—

देवेष्वपि पश्यामि कश्चिदेभिर्गुणैर्युतं
श्रूयतां तु गुणैरेभिर्योयुक्तो नरचंद्रमाः।

"ऐसा गुण-युक्त पुरुष देवताओं में तो मुझे दिखाई नहीं पड़ता इसलिए जिन नर-चंद्रमा में ये सब गुण हैं उनकी कथा सुनो !"

रामायण उसी नरचंद्रमा की कथा है, देवता की कथा नहीं। रामायण में देवता ने अपने को छोटा करके मनुष्य नहीं बनाया, मनुष्य ही अपने गुण से देवता हो उठा है।

मनुष्य के ही चरम आदर्श की स्थापना के लिए भारत के कवि ने महाकाव्य की रचना की है और उस दिन से लेकर आज तक मनुष्य के इस आदर्श चरित्र का वर्णन भारत का पाठक-समाज बड़े आग्रह के साथ पढ़ता आ रहा है।

रामायण की प्रधान विशेषता यह है कि उसने घर की बात को ही बड़ा करके दिखाया है। पिता-पुत्र में, भाई-भाई में, पति-पत्नी में जो धर्म का बंधन है, जो प्रीति और भक्ति का सम्बन्ध है, रामायण ने उसे इतना महान् कर दिया है कि वह अत्यन्त सहज रूप में महाकाव्य के उपयुक्त हो गया है। देश-विजय, शत्रु-विनाश, दो प्रबल विरोधी पक्षों में प्रचण्ड आघात-प्रतिघात, यही सब बातें साधारणतः महाकाव्य में आंदोलन और उद्दीपन का संचार करती हैं। लेकिन रामायण की महिमा राम-रावण-युद्ध को लेकर नहीं है, वह युद्ध-घटना भी राम और सीता के दाम्पत्य प्रेम को ही उज्ज्वल करके दिखलाने का निमित्त मात्र है। पिता के प्रति पुत्र का आज्ञा-पालन, भाई के लिए भाई का आत्म-त्याग, पति-पत्नी में एक-दूसरे के लिए निष्ठा और प्रजा के लिए राजा का कर्त्तव्य कितनी दूर तक जा सकता है, रामायण इसी चीज को दिखलाती है। इस प्रकार व्यक्ति-विशेष के प्रधानतया घर के सम्पर्कों को किसी देश के महाकाव्य में इस तरह वर्णनीय विषय नहीं समझा गया।

इससे केवल कवि का परिचय नहीं, भारतवर्ष का परिचय मिलता है। इससे समझ में आयगा कि गृह और गृहधर्म को भारतवर्ष कितना महत्त्व देता है। हमारे देश में गृहस्थ आश्रम का जो इतना ऊँचा स्थान था, इस काव्य में उसीको प्रमाणित किया गया है। गृहस्थाश्रम हमारे अपने सुख के लिए सुविधा के लिए न था, गृहस्थाश्रम पूरे समाज को समेटकर रखता था और मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाता था। गृहस्थाश्रम भारतवर्षीय आर्य समाज की भित्ति है। रामायण उसी गृहस्थाश्रम का काव्य है। उसी गृहस्थाश्रम धर्म को ही रामायण ने प्रतिकूल

स्थितियों में डालकर वनवास के कष्टों के बीच विशेष गौरव प्रदान किया है। कैकेयी और मथरा के कुचक्र के कठोर आघात से अयोध्या का राजगृह बिखर गया, तो भी रामायण ने इस गृहस्थ धर्म की दुर्भेद्य दृढता घोषित की है। बाहुबल नही, विजय की इच्छा नही, राष्ट्र-गौरव नही, शात रस मे डूबे हुए गृहस्थ धर्म को ही रामायण मे करुणा के अश्रुजल से अभिषिक्त करके उसे महान् वीरता के ऊपर प्रतिष्ठित किया है।

श्रद्धाहीन पाठक कह सकते है कि ऐसी अवस्था मे चरित्र-वर्णन अतिशयोक्ति का रूप ले लेता है।

यथायथ की सीमा कहाँ पर है और कल्पना की कौन-सी सीमा लाँघने पर काव्य-कला अतिशयता पर पहुँच जाती है, इसका समाधान एक शब्द में नही हो सकता। जिन विदेशी समालोचको ने कहा है कि 'रामायण मे चरित्र-वर्णन अति-प्राकृत हुआ है' उनसे मै यही कहूँगा कि प्रकृति-भेद से जो चीज एक के लिए अतिप्राकृत है वही दूसरे के लिए प्राकृत है। भारतवर्ष रामायण मे अतिप्राकृत की अतिशयता नही देखता।

जहाँ पर जो आदर्श प्रचलित होता है उसे बहुत पीछे छोड आने पर वहाँ के लोगो को वह ग्राह्य ही नही होता। अपने श्रुति-यत्र मे हम जितनी सख्या वाले शब्द-तरग का आघात उपलब्ध कर पाते है उसकी सीमा है, उस सीमा के ऊपर के सप्तक पर सुर को चढा दिया जाय तो हमारे कान उसे ग्रहण ही नही करते। काव्य में चरित्र और भावों की उद्भावना के सम्बन्ध मे भी यह बात लागू होती है।

अगर यह सच हो तो यह बात हजारो बरस से प्रमाणित हो गई है कि रामा-यण की कथा में भारतवर्ष रच-मात्र भी अतिशयोक्ति नही देखता। इस रामायण-कथा से भारतवर्ष के आबाल-वृद्ध-वनिता, ऊँच-नीच सब लोग शिक्षा पाते हैं और शिक्षा ही नही आनद पाते हैं, वे उसको केवल शिरोधार्य नही करते, हृदय में स्थान देते है, वह उनका कोरा धर्मशास्त्र नही है, काव्य है।

राम जो एक ही समय में हमारे निकट देवता भी है और मनुष्य भी, रामायण जो एक ही समय मे हमारी भक्ति भी पाती है और प्रीति भी, यह कभी संभव न होता यदि इस महाग्रन्थ का कवित्व भारतवर्ष के लिए केवल सुदूर कल्पनालोक की सामग्री होता—यदि हम उसे अपनी संसार-सीमा के भीतर भी पकड़ न पाते होते।

ऐसे ग्रन्थ को अगर दूसरे देश के समालोचक अपने काव्य-विचार के आदर्श के अनुसार अस्वाभाविक कहें तो इससे उनके देश के साथ तुलना करने पर भारतवर्ष की और भी एक विशेषता प्रकट होती है। भारतवर्ष रामायण में अपनी मनचाही चीज पाता है।

रामायण और महाभारत को भी मैं विशेषतः इसी रूप में देखता हूँ। इसके सरल अनुष्टुप छंद में भारतवर्ष का हृदय-पिंड सहस्रों वर्षों से स्पंदित होता आ रहा है।

मित्रवर श्रीयुत दिनेशचंद्र सेन महाशय ने जब मुझसे रामायण-चरित्र की अपनी इस समालोचना की एक भूमिका लिखने का अनुरोध किया तो मैं अपनी अस्वस्थता और अवकाशहीनता के बावजूद इन्कार न कर सका। कवि-कथा की आवृत्ति भक्त की भाषा में करके उन्होंने अपनी भक्ति को चरितार्थ किया है। ऐसी पूजा के आवेश से भरी हुई व्याख्या ही मेरे विचार में समालोचना है, इसी उपाय से एक हृदय की भक्ति दूसरे हृदय में संचरित होती है। हमारी आजकल की समालोचना मोल-भाव का दूसरा नाम है, क्योंकि साहित्य अब बाजार की चीज बन गया है। बाद को कहीं ऐसा न लगे कि हम ठगे गए इसलिए सब लोग चतुराई से मोल-तोल करने वालों का पल्ला पकड़ने को उत्सुक हैं। इस प्रकार के मोल-तोल की उपयोगिता अवश्य है, लेकिन तो भी मैं कहूँगा कि यथार्थ समालोचना पूजा होती है, समालोचक पुजारी-पुरोहित होता है, उसका काम बस इतना है कि वह अपने या सर्वसाधारण के भक्ति-विगलित विस्मय को वाणी देता है।

भक्त दिनेशचंद्र ने उसी पूजा-मंदिर के आँगन में खड़े होकर आरती शुरू की है। मुझको अचानक उन्होंने घण्टा हिलाने का भार दिया। एक किनारे खड़ा होकर मैं यही कर रहा हूँ। आडंबर चढ़ाकर उसकी पूजा को ढक लेने में मुझे संकोच होता है, मैं केवल इतना कहना चाहता हूँ कि पाठकगण वाल्मीकि की रामचरित-कथा को केवल कवि के काव्य के रूप में न देखें, उसे भारतवर्ष की रामायण समझें। तब वे सच्चे अर्थों में रामायण द्वारा भारतवर्ष को और भारतवर्ष द्वारा रामायण को समझ सकेंगे। इस बात को याद रखें कि भारतवर्ष ने कोई ऐतिहासिक गौरव-कथा नहीं बल्कि परिपूर्ण मानव का आदर्श चरित्र सुनना चाहा था और आज तक वही सुनता आ रहा है, उसी अश्रांत आनंद से। यह उसने कभी नहीं कहा कि बात को बहुत बढ़ाकर कहा गया है और न यही कहा कि यह तो केवल काव्य-कथा है। भारतवासी के लिए उसके अपने घर के लोग इतने सत्य नहीं हैं

जितने कि राम, लक्ष्मण, सीता उसके लिए सत्य हैं।

परिपूर्णता के प्रति भारतवर्ष की एक हार्दिक आकांक्षा रही है। इसीसे वह उसे यथार्थ सत्य से परे समझकर उसकी अवज्ञा नहीं करता, उसका अविश्वास नहीं करता। इसको भी वह यथार्थ सत्य के रूप में स्वीकार कर लेता है और इसीसे उसे आनंद मिलता है। इसी परिपूर्णता की आकांक्षा को जगाकर और तृप्त करके रामायण के कवि ने भारतवर्ष के भक्त हृदय को सदा-सदा के लिए खरीद लिया है।

जो जाति खण्ड-सत्य को प्रधानता देती है, जो लोग यथार्थ का अनुसरण करने से नहीं थकते, जो लोग काव्य को प्रकृति का दर्पण-मात्र कहते हैं, उन्होंने संसार में बहुत-से काम किये हैं, वे विशेष रूप में विशेष प्रकार से कृतार्थ हुए हैं, मानव जाति उनके प्रति ऋणी है। दूसरी ओर जो लोग कहते हैं 'भूमैव सुख भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य.' जो परिपूर्ण परिणति में समस्त खंडता की सुषमा, समस्त विरोधों की शांति पाने के लिए साधना करते रहे हैं—उनका ऋण भी कभी चुकाया न जा सकेगा। उनका परिचय लुप्त होने पर, उनका उपदेश विस्मृत हो जाने पर मानव-सभ्यता अपने धूल और धुएं से भरे हुए कारखाने की जनता के बीच निःश्वास-कलुषित, घुटे हुए आकाश में पल-पल पर पीड़ित होकर, दुर्बल होकर मरती रहेगी। रामायण उसी अखंड अमृत-पिपासुओं का शाश्वत परिचय सहन कर रहा है। इसमें जो भाई-भाई का स्नेह, जो सत्यपरता, जो पातिव्रत, जो प्रभु-भक्ति वर्णित हुई है उसके प्रति यदि हम सरल श्रद्धा और हृदय की भक्ति बनाए रख सकें तो हमारे कारखाने के झरोखे से महासमुद्र की निर्मल वायु भीतर आ सकेगी।

जनवरी १६०४ (पौष १३१०) में 'बंग दर्शन' में प्रकाशित। डॉ० दिनेशचन्द्र सेन की 'रामायण-कथा' की भूमिका के रूप में लिखा गया।

शकुन्तला

शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' नाटक के साथ कालिदास की 'शकुन्तला' की तुलना मन में सहज ही उठ सकती है। इनका बाह्य सादृश्य और आंतरिक विभिन्नता ध्यानपूर्वक विचार करने की चीज है।

निर्जनलालिता मिराण्डा के साथ राजकुमार फर्दीनंद का प्रणय तापसकुमारी शकुन्तला के साथ दुष्यंत के प्रणय के अनुरूप है। घटनास्थल में भी सादृश्य है, एक ओर समुद्र से घिरा हुआ द्वीप है और दूसरी ओर तपोवन।

इस प्रकार दोनों के आख्यान के मूल में साम्य दिखाई पड़ता है लेकिन काव्य-रस का स्वाद बिलकुल विभिन्न है, यह पढ़कर ही अनुभव कर पाता हूँ।

यूरोप के कविकुलगुरु गेटे ने मात्र एक श्लोक में शकुन्तला की समालोचना लिखी है; उन्होंने काव्य को खण्ड-खण्ड विच्छिन्न नहीं किया। उनका श्लोक दीये की बत्ती की लौ-जैसा छोटा है लेकिन वह दीपशिखा के समान ही समग्र शकुन्तला को एक क्षण में उद्भासित करके दिखा देता है। उन्होंने वह एक बात यह कही थी कि अगर कोई तरुणाई का फूल और प्रौढ़ावस्था का फल, स्वर्ग और मर्त्य, दोनों को एक साथ देखना चाहे तो उसे शकुन्तला में यह चीज मिलेगी।

बहुत-से लोग इसे कवि का उच्छ्वास-मात्र समझकर किंचित् उपेक्षा से उसे पढ़ते हैं। मोटे रूप में वे यह समझते हैं कि इसका मतलब है गेटे के मतानुसार शकुन्तला काव्य बहुत उपादेय है, लेकिन ऐसी बात नहीं। गेटे का यह श्लोक आनंद की अत्युक्ति नहीं, रसज्ञ का विचार है। इसमें एक विशेषता है। कवि ने विशेष रूप से कहा है कि शकुन्तला में एक गहरी परिणति का भाव है, फूल की फल में परिणति, मर्त्य की स्वर्ग में परिणति, स्वभाव की धर्म में परिणति। 'मेघदूत' में जिस प्रकार पूर्व-मेघ और उत्तर-मेघ हैं—पूर्व-मेघ में पृथ्वी के चित्र-विचित्र सौन्दर्य का पर्यटन करके उत्तर-मेघ में अलकापुरी के सनातन सौन्दर्य में पहुँचा जाता है—उसी प्रकार शकुन्तला में एक पूर्व-मिलन है और एक उत्तर-मिलन। प्रथम अंक के उसी मर्त्य लोक के चंचल सौन्दर्यमय रंग-भरे पूर्व-मिलन

से स्वर्गतपोवन में शाश्वत आनदमय उत्तर-मिलन तक की यात्रा ही 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक है। यह केवल किसी विशेष भाव की अवतारणा नही है, किसी विशेष चरित्र का विकास नही है, यह समस्त काव्य को एक लोक से दूसरे लोक मे ले जाना है—प्रेम को स्वभाव-सौन्दर्य के देश से मंगल-सौन्दर्य के अक्षय स्वर्ग-धाम मे पहुँचा देना है। मैंने इस प्रसग के बारे मे अपने एक अन्य निबध मे विस्तार से विचार किया है, अतः यहाँ पर उसकी पुनरुक्ति नही करना चाहता।

स्वर्ग और मर्त्य का यह जो मिलन है, कालिदास ने अत्यत सहज भावसे उसे कर दिखाया है। फूल को उन्होंने इतने स्वाभाविक ढग से फल के रूप मे फला दिया है, मर्त्य की सीमा को उन्होने इस तरह स्वर्ग के साथ मिला दिया है कि बीच में कोई व्यवधान किसी को नही दिखाई पड़ता। प्रथम अक मे शकुन्तला के पतन में कवि ने मर्त्य लोक की मिट्टी की कोई चीज गुप्त नही रखी उनमे वासना का प्रभाव कहाँ तक है इसको कवि ने दुष्यत और शकुन्तला दोनो के व्यवहार मे स्पष्ट रूप से दिखा दिया है। जवानी के पागलपन का हाव-भाव, लीला-चाचल्य, परम लज्जा के साथ प्रबल आत्म-अभिव्यक्ति का सघर्ष सब-कुछ कवि ने व्यक्त किया है। यह शकुन्तला की सरलता का निदर्शन है। अनुकूल अवसर पर इस भावावेश के आकस्मिक आविर्भाव के लिए वह पहले से प्रस्तुत न थी। उसने अपने दमन का, गोपन का उपाय नही कर रखा था। जो हिरनी व्याघ्र को नही पहचानती उसको तीर लगते क्या देर लगती है? शकुन्तला पंचशर को ठीक से पहचानती न थी, इसीलिए उसका मर्मस्थान अरक्षित था। वह न तो कंदर्प का अविश्वास करती थी और न दुष्यंत का। जिस प्रकार उस अरण्य में, जहाँ सदा ही शिकार होता रहता है, शिकारी को अपने-आपको और भी अधिक छिपाना पड़ता है, उसी प्रकार जिस समाज मे स्त्री-पुरुष का सदा सहज रूप से मिलन होता रहता है वहाँ पर मीनकेतु को बहुत सावधानी से अपने-आपको छिपाकर काम करना पड़ता है। तपोवन की हिरनी जिस प्रकार अशंकित होती है, तपोवन की बालिका भी वैसी ही असतर्क है।

शकुन्तला का पतन जिस प्रकार अति सहज रूप में चित्रित हुआ है उसी प्रकार उस पतन के बावजूद उसके चरित्र की और भी गहरी पवित्रता, उसका स्वाभाविक अक्षुण्ण सतीत्व अत्यंत अनायास रूप मे खिल उठा है। यह भी उसकी सरलता का परिचायक है। कमरे के अन्दर जो कृत्रिम फूल सजाकर रखा जाता है उसकी धूल रोज न झाड़ने से काम नही चलता। लेकिन जंगल के फूल की धूल झाड़ने के

लिए आदमी नहीं रखना पड़ता—वह अनावृत रहता है, उसके शरीर में धूल भी लगती है तो भी न जाने कैसे वह सहज ही अपनी सुन्दर निर्मलता को बनाये हुए चलता है। शकुन्तला को भी धूल लगी थी लेकिन वह यह स्वयं भी न जान पाई, वह जंगल की सरल मृगी के समान, निर्झर की जल-धारा के समान मलिनता के संस्पर्श में भी अनायास ही निर्मल है।

कालिदास ने अपनी इस आश्रम में पली हुई अकुण्ठितयौवना शकुन्तला को शासन-रहित स्वभाव के पथ पर छोड़ दिया है, आखिर तक कहीं कोई बाधा उसके रास्ते में नहीं खड़ी थी। दूसरी ओर उन्होंने उसको मानवती दुःखशीला नियमचारिणी सती-धर्म की आदर्शरूपिणी के रूप में प्रस्फुटित किया है। एक ओर वह तरु-लता-फल-फूल के समान आत्मविस्मृत है, स्वभाव-धर्म की अनुगता है और दूसरी ओर उसकी आंतरिक नारी-प्रकृति संयत है, सहिष्णु है, वह एकाग्र तपःपरायणा है, कल्याण-धर्म के शासन में पूरी तरह नियंत्रित है। कालिदास ने अपूर्व कौशल से अपनी नायिका को चपलता और धैर्य के, स्वभाव और नियम के, नदी और समुद्र के ठीक मुहाने पर स्थापित करके दिखाया है। उसका पिता ऋषि है, उसकी माता अप्सरा, उसका जन्म व्रतभंग में हुआ, लालन-पालन तपोवन में। तपोवन ऐसा स्थान है जहाँ स्वभाव और तपस्या, सौन्दर्य और संयम, एक जगह मिले हुए रहते हैं। वहाँ पर समाज का कृत्रिम विधान नहीं होता लेकिन तो भी धर्म का कठोर नियम विराजमान रहता है। गान्धर्व विवाह भी ऐसी ही चीज है—उसमें स्वभाव की उद्दामता भी है लेकिन साथ ही विवाह का सामाजिक बन्धन भी है। बन्धन और अबन्धन के संगम पर स्थापित होकर ही शकुन्तला नाटक ने एक विशेष सौन्दर्य प्राप्त किया है। उसका सुख-दुःख, मिलन-वियोग सब-कुछ उन्हीं दोनों के आघात-प्रतिघात से होता है। शकुन्तला में दो विपरीत तत्त्वों के एकत्र समावेश की घोषणा गेटे ने अपनी समालोचना में क्यों की है, यह गहराई से देखने पर ही समझ में आता है।

'टेम्पेस्ट' में यह भाव नहीं है। रहे भी क्यों ? शकुन्तला भी सुन्दरी है, मिरांदा भी सुन्दरी है, क्या इसीलिए दोनों की आँख-नाक में अविकल सादृश्य की आशा की जा सकती है ? दोनों में अवस्था का, घटना का, प्रकृति का सम्पूर्ण अन्तर है। मिरांदा बचपन से जिस निर्जनता में पली थी, शकुन्तला के लिए वह निर्जनता न थी। मिरांदा एक-मात्र पिता के साहचर्य में बड़ी हुई है इसीलिए उसकी प्रकृति को स्वाभाविक रूप से विकसित होने का अवसर नहीं मिला। शकुन्तला समानवयसी

सखियों के साथ बड़ी हुई है; पारस्परिक उत्ताप अनुकरण, भावों के आदान-प्रदान, हास-परिहास, बातचीत में उनका स्वाभाविक विकास हो रहा था। शकुन्तला यदि निरंतर कण्व मुनि के ही साथ रहती तो उसके विकास में बाधा होती, तब उसकी सरलता अज्ञता की पर्यायवाची होती और वह स्त्री-ऋष्यशृंग बन गई होती। वस्तुतः शकुन्तला की सरलता स्वभावगत है और मिरांदा की सरलता बहिर्घटनागत। दोनों की स्थितियों में जो अन्तर है उसमें यही बात संगम थी। मिरांदा के समान शकुन्तला की सरलता अज्ञान द्वारा चारों ओर से सुरक्षित नहीं है। शकुन्तला का यौवन अभी हाल ही में विकसित हुआ है और उसकी छेड़-छाड़ करने वाली सखियाँ इस सम्बन्ध में उसे भूला नहीं रहने देतीं, यह हमें पहले अंक में ही देखने को मिलता है। उसने लज्जा करना भी सीख लिया है। लेकिन यह सब बाहर की चीजें हैं। उसकी सरलता ज्यादा गहरी है, उसकी पवित्रता अधिक आंतरिक है। कवि ने अंत तक दिखलाया है कि बाहर की कोई अभिज्ञता उसका स्पर्श नहीं कर पाती। शकुन्तला की सरलता आभ्यंतरिक है। यह नहीं कि वह दुनिया की कोई बात नहीं जानती, इसलिए कि तपोवन समाज से एकदम बाहर नहीं है, तपोवन में भी गृहस्थ धर्म का पालन होता था। बाहर के संबंध में शकुन्तला अनभिज्ञ अवश्य है, पर अज्ञ नहीं। लेकिन उसके हृदय में विश्वास का सिंहासन है। उसी विश्वासनिष्ठ सरलता ने थोड़ी देर के लिए उसे पतित कर दिया है लेकिन हमेशा के लिए उसका उद्धार भी कर दिया है, दारुण-से-दारुण विश्वासघात के आघात में भी उसे धैर्य, क्षमा, कल्याण पर स्थित रखा है। मिरांदा की सरलता की अग्निपरीक्षा नहीं हुई, संसार-ज्ञान का आघात उसे नहीं लगा—हमने उसको केवल पहली अवस्था में देखा है, शकुन्तला को कवि ने पहली से लेकर अन्तिम अवस्था तक दिखलाया है।

ऐसे स्थान पर तुलनात्मक समालोचना व्यर्थ हो जाती है, हम भी इस बात को स्वीकार करते हैं। इन दोनों काव्यों को पास-पास रखने पर दोनों के साम्य की अपेक्षा उनका अन्तर और भी ज्यादा प्रकट हो जाता है। इस अंतर की विवेचना भी दोनों नाटकों को अच्छी तरह समझने में सहायक हो सकती है। हमने इसी आशा से इस निबन्ध को उठाया है।

मिरांदा को हम तरंगघातमुखर, ऊँचे-नीचे निर्जन द्वीप में देखते हैं लेकिन उस द्वीप-प्रकृति के साथ उसकी कोई घनिष्ठता नहीं है। जिस भूमि ने बचपन से उसको पाला है उस भूमि से उसको अलग करने पर किसी जगह उसको कोई

तनाव अनुभव न होगा। यहाँ पर मिरांदा को आदमियों का साथ नहीं मिलता, यह अभाव ही केवल उसके चरित्र में प्रतिफलित हुआ है, लेकिन यहाँ के समुद्र-पर्वत के साथ उसके अन्तःकरण का कोई भावात्मक योग हम नहीं देख पाते। निर्जन द्वीप को हम कवि के वर्णन में ही देखते हैं, मिरांदा के भीतर से नहीं देखते। यह द्वीप केवल काव्य के आख्यान के लिए आवश्यक है, चरित्र के लिए बहुत आवश्यक नहीं है।

शकुन्तला के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। शकुन्तला तपोवन का अंग है। तपोवन को दूर रखने से केवल नाटक के आख्यान को व्याघात नहीं पहुंचता, स्वयं शकुन्तला ही अपूर्ण हो जाती है। शकुन्तला मिरांदा के समान सबसे पृथक् नहीं है, वह अपने चारों ओर के परिवेश के साथ एकात्म भाव से जुड़ी हुई है। उसका मधुर चरित्र अरण्य की छाया और माधवीलता की पुष्प-मंजरी के साथ व्याप्त और विकसित हुआ है, पशु-पक्षियों की सच्ची मैत्री के साथ गहरे ढंग से बँधा हुआ है। कालिदास अपने नाटक में जिस बाहरी प्रकृति का वर्णन करते हैं उसे बाहर नहीं छोड़ देते, शकुन्तला के चरित्र में उसे प्रस्फुटित करते हैं। इसीलिए मैं कह रहा था कि शकुन्तला को उसके काव्यगत परिवेश से बाहर ले आना कठिन है।

फर्दीनन्द के साथ प्रणय-व्यापार में ही मिरांदा का प्रधान परिचय मिलता है और तूफान के समय टूटी हुई नाव के अभागों के लिए उसकी व्याकुलता में ही उसके व्यथित हृदय की करुणा व्यक्त होती है। शकुन्तला का परिचय इससे कहीं ज्यादा व्यापक है। दुष्यंत के दिखाई पड़ने के बहुत पहले ही उसका माधुर्य अनेक प्रकार से व्यक्त हो उठता था। उसकी हृदय-लतिका चेतन-अचेतन सबको स्नेह के ललित बन्धन से बड़े सुन्दर ढंग से बाँधती है। वह तपोवन के पेड़-पौधों को पानी देने के साथ-साथ बहन का स्नेह भी देती है। वह नवकुसुम यौवन जंगल की चाँदनी को स्नेह-भरी आँखों से अपने कोमल हृदय में ग्रहण करती है। शकुन्तला जब तपोवन छोड़कर अपने पति के घर जा रही है तब पग-पग पर उसे पीछे से कोई चीज खींचती है, पग-पग पर उसे वेदना होती है। वन से मनुष्य का वियोग इतना मर्मांतक और करुण हो सकता है यह चीज संसार के समस्त साहित्य में केवल 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के चतुर्थ अंक में दिखाई पड़ती है। इस काव्य में जिस प्रकार स्वभाव और धर्म-नियम का मिलन होता है उसी प्रकार मनुष्य और प्रकृति का मिलन होता है। मैं सोचता हूँ कि वि-सदृशों में ऐसा एकांत मिलन का भाव

भारतवर्ष को छोड़कर और किसी देश में सम्भव नहीं हो सकता।

'टैम्पेस्ट' में बाह्य प्रकृति ने एरियल के रूप में मनुष्य का आकार धारण किया है लेकिन तो भी वह मनुष्य की आत्मीयता से दूर ही रहता है। मनुष्य के साथ उसका सम्बन्ध अनिच्छुक सेवक का है। वह स्वाधीन होना चाहता है। लेकिन मानव-शक्ति द्वारा पीड़ित और आबद्ध होकर दास के समान रहता है। उसके हृदय में स्नेह नहीं है, आँख में आँसू नहीं है। मिरादा का नारी-हृदय भी उसको स्नेह नहीं दे पाता। द्वीप से यात्रा करने के समय प्रासपेरो और मिरादा के साथ एरियल की स्नेह-भरी विदाई की बातें नहीं होती। 'टैम्पेस्ट' में उत्पीड़न है शासन है, दमन है शकुन्तला में प्रीति है, शांति है, सद्भाव है। 'टैम्पेस्ट' में प्रकृति मनुष्य का रूप धरकर भी उसके साथ हृदय के सम्बन्ध में बँध नहीं पाती, शकुन्तला में पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आत्म-भाव की रक्षा करते हुए भी मनुष्य के साथ मधुर आत्मीयता के सम्बन्ध में बँध गए हैं।

'शकुन्तला' के आरम्भ में ही जब धनुर्बाणधारी राजा के सामने यह करुण निषेध-वाणी गूँजी, "भो-भो राजन् आश्रम मृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्य.", तब काव्य का एक मूल स्वर बज उठा। यह निषेध आश्रम मृग के साथ-साथ तापस-कुमारी शकुन्तला को भी करुणा के आच्छादन से ढक लेता है। ऋषि कहते हैं—

मृदु ए मृगदेहे
ऐसे ना-शर।
आगुन देवे के हे
फूलेर' पर !
कोथा हे महाराज,
मृगेर प्राण !
कोथाय जेनी बाज
तोमार बाण !

यह बात शकुन्तला पर भी ठीक उतरती है। शकुन्तला के प्रति भी राजा का प्रणय-शर-निक्षेप दारुण है ! प्रणय-व्यवसाय में राजा पक्का और कठिन खिलाड़ी है—कितना कठिन इसका परिचय अन्यत्र मिलता है—और इस आश्रम की पली हुई बालिका की अनभिज्ञता और सरलता बड़ी ही सुकुमार और करुण है। हाय, जिस प्रकार मृग कातर वाक्य द्वारा रक्षणीय है उसी प्रकार शकुन्तला भी है। 'द्वौ अपि अत्र आरण्यकौ'।

मृग के प्रति इस करुण वाक्य की प्रतिध्वनि मिटते-न-मिटते हम देखते हैं कि वल्कलवसना तापस-कन्या सखियो के साथ थालों मे पानी भरने मे लगी है, अपने तरु-भाई और लता-बहनो के बीच अपनी रोज की स्नेह-सेवा मे लगी है। केवल वल्कलवसन मे ही नही, भाव-भगी में भी शकुन्तला जैसे उन तरु-लताओ में से ही एक हो। इसीसे दुष्यत कहते हैं—

अधर किसलय-रॉगिमा-आँका,
युगल बाहु येन कोमल शाखा,
हृदयलोभनीय कुसुम-हेन,
तनुते यौवन फूटे छे येन !

नाटक के आरभ मे ही शांति-सौन्दर्य-सवलित ऐसा एक सम्पूर्ण जीवन निभृत पुष्प-पल्लवों के बीच दैनंदिन आश्रम-धर्म, अतिथि-सेवा, सखी-स्नेह और विश्व-वात्सल्य को लिये हुए हमारे सामने दिखाई पड़ा। वह ऐसा अखण्ड है, ऐसा आनन्ददायक है कि हमको बस यही आशंका होती है, कहीं ऐसा न हो कि पीछे चोट लगने पर यह टूट जाय। दोनों बाँहें उठाकर दुष्यत को रोकते हुए कहने की इच्छा होती है, तीर मत मारना, मत मारना—यह परिपूर्ण सौन्दर्य चूर मत कर देना !

जब देखते-देखते दुष्यंत-शकुन्तला का प्रणय प्रगाढ़ हो उठता है तब प्रथम अक के अन्त मे नेपथ्य मे अकस्मात् आर्त्त स्वर उठता है, "भो भो तपस्विगण, तुम लोग तपोवन के प्राणियो की रक्षा के लिए सतर्क रहो। मृगया-विहारी राजा दुष्यंत अब आया ही चाहते हैं !"

यह समूची तपोवन-भूमि का क्रन्दन है और उन तपोवन-प्राणियो मे एक शकुन्तला भी है। लेकिन कोई उसकी रक्षा न कर सका।

उसी तपोवन से जब शकुन्तला जा रही है तब कण्व ने पुकारकर कहा, "सन्निहित तपोवन तरुगण—

तोमादेर जल ना करि दान
ये आगे जल ना करित पान,
साध छिलो यार साजिते तबु
स्नेहे पाताटि ना छिंड़ित कभु,
तोमादेर फुल फुटित यबे
ये जन मातित महोत्सवे,

पतिगृहे सेइ बालिका जाय,
तुमरा सकले देह विदाय !"

चेतन-अचेतन सबके साथ ऐसी अन्तरंग आत्मीयता, ऐसा स्नेह और कल्याण का वचन।

शकुन्तला ने कहा, "हला प्रियम्वदे, आर्यपुत्र को देखने के लिए मेरा प्राण आकुल है तो भी आश्रम छोड़कर जाने के लिए मेरे पैर जैसे उठते ही नहीं।"

प्रियम्वदा ने कहा, "केवल तुम्ही तपोवन के विरह से कातर नहीं हो, तुम्हारे आसन्न वियोग मे तपोवन की भी यही दशा है—

मृगेर गलि पड़े मुखेर तृण,
मयूर नाचे ना ये आर,
खसिया पड़े पाता लतिका हते
येन से आँखि जलधार।'

शकुन्तला ने कण्व से कहा, "तात, यह जो कुटिया के किनारे विचरती हुई गर्भमथरा मृग-वधू है, जब निर्विघ्न प्रसव करे तो यह प्रिय संवाद मुझ तक पहुँचाने के लिए तुम मेरे पास एक आदमी भेज देना !"

कण्व ने कहा, "हरगिज न भूलूँगा।"

शकुन्तला ने पीछे से किसी के रोकने पर कहा, "यह कौन मेरा कपड़ा पकड़कर खींच रहा है।"

कण्व ने कहा, "वत्से,—

इगुदिर तैल दिते स्नेह सहकारे
कुशक्षत हले मुख यार,
श्यामाधान्यमुष्टि दिये पालियाछ यारे
एइ मृग पुत्र से तोमार।"

शकुन्तला ने उससे कहा, "और छौने, तू अब क्यो मुझ सहवास परित्यक्तागिनी के पीछे-पीछे आ रहा है ! तुझे जनते ही जब तेरी माँ मर गई थी तब से मैंने ही तुझे पाल-पोसकर बडा किया है। मैं अब चली, तात तुझे देखेंगे, तू लौट जा !"

इस प्रकार सब तरु-लता मृग-पक्षियों से विदा लेकर रोते-रोते शकुन्तला तपोवन से चली गई।

लता के साथ फूल का जैसा सम्बन्ध होता है तपोवन के साथ शकुन्तला का

भी वैसा ही सम्बन्ध है।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में जिस प्रकार अनसूया, प्रियम्वदा, कण्व, दुष्यंत हैं उसी प्रकार तपोवन की प्रकृति भी एक विशेष पात्र है। उस मूक प्रकृति को किसी नाटक में ऐसा प्रधान और ऐसा आवश्यक स्थान दिया जा सकता है यह मैं समझता हूँ कि संस्कृत साहित्य को छोड़कर और कहीं दिखाई नहीं पड़ता। प्रकृति को मनुष्य का रूप देकर, उसके मुँह में बातचीत डालकर नाट्य-रूपक की रचना हो सकती है, लेकिन प्रकृति को प्रकृत बनाये रखकर उसे ऐसा सजीव, ऐसा प्रत्यक्ष, ऐसा व्यापक, ऐसा अंतरंग बना देना, उसके द्वारा नाटक में ऐसे काम करा लेना यह तो और कहीं मेरे देखने में नहीं आया। जहाँ पर बाह्य प्रकृति को दूर करके अलग करके सोचा जाता है—जहाँ पर मनुष्य अपने चारों ओर दीवार उठाकर संसार में सब जगह केवल व्यवधान की रचना करता रहता है वहाँ के साहित्य में इस प्रकार की सृष्टि सम्भव नहीं।

'उत्तररामचरित' में भी प्रकृति के साथ मनुष्य का आत्मीयवत् सौहार्द इसी प्रकार व्यक्त हुआ है। राजमहल में रहते हुए भी सीता का प्राण उसी जंगल के लिए रो रहा है। वहाँ तमसा नदी और वसंत-वन-लक्ष्मी उनकी प्रिय सखियाँ हैं, वहाँ मोर और हाथी के बच्चे उनके दत्तक पुत्र हैं और तरु-लताएँ उनका परिजन वर्ग है।

'टैम्पेस्ट' नाटक में मनुष्य अपने को मंगल भाव से प्रीतिपूर्वक विश्व में प्रसारित करके बड़ा नहीं होता, विश्व को छोटा करके, उसका दमन करके स्वयं अधिपति होना चाहता है। वस्तुतः आधिपत्य को लेकर द्वन्द्व विरोध और प्रयास ही 'टैम्पेस्ट' का मूल भाव है। उसमें प्रास्पेरो स्वराज्य का अधिकार छिन जाने पर मन्त्र-बल से प्रकृति-राज्य पर अपना कठोर आधिपत्य फैलाता है। उसमें जो थोड़े-से प्राणी आसन्न मृत्यु के हाथों से किसी प्रकार बचकर किनारे पहुँचते हैं उनमें भी इसी शून्य प्रायद्वीप के भीतर आधिपत्य को लेकर षड्यन्त्र, विश्वासघात और गुप्त हत्या की चेष्टा होती है। परिणामतः उनकी निवृत्ति तो हुई लेकिन समाप्ति भी हुई, यह बात कोई नहीं कह सकता। दानव-प्रकृति भय से, शासन से और अवसर के अभाव से पीड़ित केलिबन के समान मौन-स्तब्ध रही आई, लेकिन उसके दाँतों में नखों में विष बाकी रह गया। जिसकी जो प्राप्य सम्पत्ति थी वह उसे मिली। पर सम्पत्ति-लाभ तो बाह्य लाभ है, वह विषयी समुदाय का लक्ष्य हो सकता है पर काव्य का चरम परिणाम तो नहीं है।

'टेम्पेस्ट' नाटक का नाम जैसा है उसके भीतरी व्यापार भी वैसे ही हैं। मनुष्य और प्रकृति मे विरोध, मनुष्य और मनुष्य मे विरोध—और उस विरोध के मूल मे क्षमता-लाभ का प्रयास। इसका तो आरम्भ ही विक्षोभ से होता है।

मनुष्य की अदम्य प्रवृत्ति इसी प्रकार तूफान उठाती रहती है। इन सब प्रवृत्तियों को हिंस्र पशु के समान शासन, दमन, उत्पीड़न द्वारा सयत भी रखना पड़ता है। लेकिन इस प्रकार शक्ति द्वारा शक्ति को रोक-थाम, यह तो केवल परिस्थिति के अनुसार काम चलाने की एक प्रणाली है। हमारी आध्यात्मिक प्रकृति इसको परिणाम के रूप में स्वीकार नही कर पाती; सौन्दर्य के द्वारा, प्रेम के द्वारा, मगल के द्वारा, पाप भीतर से बिलकुल विलुप्त-विलीन हो जायगा, यही हमारी आध्यात्मिक प्रकृति की आकांक्षा है। ससार मे सहस्र बाधा है—व्यतिक्रम होते हुए भी इसके प्रति मानव-हृदय का एक लक्ष्य रहता है। साहित्य उसी लक्ष्य-साधन के निगूढ़ प्रयास को व्यक्त करता रहता है। वह अच्छे को सुन्दर, श्रेय को प्रिय और पुण्य को हृदय का धन बना देता है। फलाफल-निर्णय और विभीषिका द्वारा हमको कल्याण-पथ पर लगाये रखना बाहर का काम है—वह दण्डनीति और धर्मनीति का विषय हो सकता है—पर उच्च साहित्य अतरात्मा के भीतर का रास्ता ही पकड़ना चाहता है। वह स्वभाव-नि.सृत अश्रुजल से कलंक को धोता है, आतरिक घृणा से पाप को जलाता है और सहज आनद से पुण्य की अभ्यर्थना करता है।

कालिदास ने भी अपने नाटक मे कठोर प्रवृत्ति के दावानल को अनुताप चित्त के आँसुओं की वर्षा से बुझाया है। लेकिन उन्होंने व्याधि को लेकर बहुत अधिक विवेचना नही की, उन्होने अपना आभास दिया है और देकर उस पर पर्दा खीच दिया है। संसार में ऐसे स्थल पर जो बात स्वभावत हो सकती थी उसको उन्होंने दुर्वासा के शाप द्वारा होते दिखलाया है। ऐसा न किया होता तो यह चीज इतनी निष्ठुर और क्षोभजनक हो जाती कि उससे पूरे नाटक की पूरी शांति और सामजस्य भंग हो जाता। 'शकुन्तला' मे कालिदास ने जिस रस को अपना लक्ष्य बनाया है, उसकी रक्षा ऐसी प्रबल हलचल में न हो पाती। दु ख वेदना को उन्होंने बराबर ही रखा है केवल वीभत्स कदर्यता को कवि ने ढक दिया है।

लेकिन कालिदास ने उस आवरण मे इतना-सा एक छंद रहने दिया है जिससे पाप का आभास मिलता है। अब उसी बात को उठाता हूँ।

पचम अंक में शकुन्तला का प्रत्याख्यान होता है। उस अंक के आरम्भ मे ही

कवि ने राजा की प्रणय-रंगभूमि की यवनिका थोड़ी देर के लिए जरा-सी सरका दी है। राजप्रेयसी हसपदिका नेपथ्य मे संगीतशाला मे अकेली बैठी गा रही है—

नवमधुलोभो ओगो मधुकर,
चूतमञ्जरि चुमि
कमलनिवासे जे प्रीति पेयेछ
केमने भुलिले तुमि !

राजा के अंत.पुर से आने वाला व्यथित हृदय का यह अश्रुसिक्त गान हमारे मन पर बड़ा आघात करता है। विशेष आघात इसलिए करता है कि उसके पहले ही शकुन्तला के साथ दुष्यंत की प्रेमलीला हमारे चित्त पर अधिकार कर चुकी रहती है। इससे पहले वाले अक मे ही शकुन्तला ऋषिवृद्ध कण्व का आशीर्वाद और अरण्य के सब प्राणियो और वनस्पतियो का मगलाचरण ग्रहण करके बहुत ही स्निग्ध-करुण, बहुत ही पवित्र-मधुर भाव से पति के गृह की ओर यात्रा करती है। उसके लिए जिस प्रेम और जिस गृह का चित्र हमारे आशा-पटल पर अंकित हो उठता है परवर्ती अंक के आरम्भ मे ही उस चित्र पर दाग लग जाता है।

विदूषक ने जब पूछा, "इस गाने का अक्षरार्थ तुमने समझा क्या ?" तो राजा ने हल्के से मुस्कराकर उत्तर दिया, "सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः—हम केवल एक बार प्रणय करके छोड देते है, इसीलिए देवी वसुमति को लेकर हम इनकी प्रबल भर्त्सना के भागी बने है। सखे माधव्य, तुम मेरा नाम लेकर हंसपदिका से कहो कि तुमने बड़े निपुण ढंग से मेरी भर्त्सना की है···जाओ, चतुर नागर-वृत्ति से यह बात उनसे कहो !"

पंचम अंक के प्रारम्भ में राजा के चपल प्रणय का यह परिचय निरर्थक नही। इसके द्वारा कवि ने निपुण कौशल से दिखलाया है कि जो चीज दुर्वासा के शाप से घटित हुई थी उसका बीज स्वभाव मे था। काव्य की दृष्टि से जिसको आकस्मिक बनाकर दिखाया गया है वह प्राकृतिक है।

चतुर्थ अंक से पचम अंक में आते ही हम सहसा कुछ दूसरे ही वायुमंडल मे पहुँच जाते हैं। अब तक हम जैसे एक मानस-लोक में थे, वहाँ के नियम यहाँ के नियम नही हैं। उस तपोवन का सुर यहाँ के सुर से कैसे मेल खायगा ! वहाँ पर जो बात बड़े सहज-सुन्दर ढंग मे अनायास हुई थी यहाँ पर उसकी क्या दशा होगी, यह सोचकर ही मन मे आशंका जागती है। इसीसे पचम अंक के आरम्भ मे ही जब हम देखते हैं कि नागर-वृत्ति के बीच हृदय यहाँ बहुत कठोर है, प्रणय बहुत

जटिल है और मिलन का पथ सहज नहीं है तब हमारा उस वन का सौन्दर्य-स्वप्न टूटने-टूटने को हो जाता है। ऋषि-शिष्य शार्ङ्गरव ने राजभवन में प्रवेश करके कहा, "जैसे आग से घिरे हुए घर में आ पड़ा हूँ।" शारद्वत् ने कहा, "तेल से चिपचिपाये हुए व्यक्ति को देखकर नहाये हुए व्यक्ति को, अशुचि व्यक्ति को देखकर शुचि व्यक्ति को, सोये हुए को देखकर जागे हुए को और बन्धन में जकड़े हुए व्यक्ति को देखकर स्वाधीन पुरुष को जैसा लगता है, इन सब विषयी लोगों को देखकर मुझे वैसा ही लग रहा है।—कि जैसे किसी दूसरे ही लोक में आ पड़े हों।" ऋषिकुमारों ने सहज ही इसको अनुभव कर लिया।—पंचम अंक के आरम्भ में कवि ने अनेक प्रकार के आभासों द्वारा हमें इस बात के लिए तैयार कर लिया जिसमें शकुन्तला का प्रत्याख्यान अकस्मात् हमारे ऊपर बहुत अधिक आघात न करे। हंसपदिका का सरल करुण गीत इस क्रूर काण्ड की भूमिका बन जाता है। इसके बाद प्रत्याख्यान जब अकस्मात् वज्र की तरह शकुन्तला के सिर पर टूट पड़ा तब यह तपोवन की दुहिता, विध्वस्त हाथों के बाण से आहत मृगी के समान विस्मय से, त्रास से, वेदना से विह्वल होकर व्याकुल आँखों से ताकती रह गई। तपोवन के फूलों पर आग गिर पड़ी। शकुन्तला को भीतर-बाहर छाया और सौन्दर्य से ढके रहने वाला जो एक तपोवन प्रत्यक्ष-परोक्ष ढंग से विराज रहा था वह इस वज्रपात से शकुन्तला के चारों ओर हमेशा के लिए ढह पड़ा। शकुन्तला बिलकुल अनावृत हो गई। कहाँ हैं तात कण्व, कहाँ है माता गौतमी, कहाँ है अनसूया प्रियम्वदा, कहाँ है उन सब तरु-लताओं, पशु-पक्षियों के साथ स्नेह का संबंध, माधुर्य का योग, वह सुन्दर शांति, वह निर्मल जीवन! इस एक क्षण की प्रलय की चोट से शकुन्तला का कितना कुछ विलुप्त हो गया यह देखकर हम स्तम्भित हो जाते हैं। नाटक के पहले चार अंकों में जो संगीत-ध्वनि उठी थी वह एक मुहूर्त में ही निःशब्द हो गई।

उसके बाद शकुन्तला के चारों ओर कैसी गहरी स्तब्धता, कैसा विराट् सूनापन है। जो शकुन्तला अपने कोमल हृदय के प्रभाव से, अपने चारों ओर के विश्व को समेटकर सबको अपना बनाये रखती थी वह आज कैसी अकेली है! अपने उस विराट् सूनेपन को शकुन्तला अपने एक-मात्र महान् दुःख के द्वारा पूर्ण करके जी रही है। कालिदास उसको कण्व के तपोवन में लौटा जो नहीं ले गए, यह उनके असामान्य कवित्व का परिचय है। पूर्व-परिचित वन-भूमि के साथ उसका पहले का मिलन अब संभव नहीं रहा। कण्व के आश्रम से यात्रा करते समय

तपोवन के साथ शकुन्तला का केवल बाह्य विच्छेद हुआ था, दुष्यंत के भवन से लौटकर वह विच्छेद पूर्ण हो गया; वह शकुन्तला अब नहीं रही। अब विश्व के साथ उसका संबंध बदल गया, अब उसे उसके पुराने संबंधों के बीच स्थापित करने से असामंजस्य अत्यंत निष्ठुर भाव से प्रकट होता। इस समय इस दुखिनी के लिए उसके बड़े दुःख के उपयुक्त सूनापन आवश्यक है। सखीविहीन नये तपोवन में कालिदास ने शकुन्तला-विरह-दुःख की प्रत्यक्ष अवतारणा नहीं की। कवि ने नीरव रहकर शकुन्तला के चारों ओर की नीरवता और शून्यता हमारे हृदय में घनीभूत कर दी। कवि यदि शकुन्तला को कण्व के आश्रम में लौटा ले जाकर इसी तरह चुप रह जाते तो वह आश्रम ही कहानी कहता। वहाँ की तरु-लताओं का क्रन्दन, सखियों का विलाप अपने-आप हमारे हृदय में गूंजता रहता। किन्तु अपरिचित मारीच के तपोवन में सब-कुछ हमारे निकट स्तब्ध है, नीरव है, केवल विश्व-विरहित शकुन्तला का नियम-संयत धीर-गंभीर अपरिमेय दुःख हमारे मानस-नेत्रों के सामने ध्यानासन में विराजमान रहता है। इस ध्यानमग्न दुःख के सम्मुख कवि ने अकेले खड़े होकर अपने होंठों पर तर्जनी रख ली है और इसी निषेध के संकेत से समस्त प्रश्न को नीरव कर दिया है और समस्त विश्व को दूर ठेल दिया है।

दुष्यंत अब अनुताप में जल रहा है। यही अनुताप समस्या है। इस अनुताप के भीतर से शकुन्तला को यदि न पाया जाता तो शकुन्तला को पाने का कोई गौरव न होता। हाथ बढ़ाने से ही जो पा लिया जाय उसे पाना नहीं कहते, पाना आसान नहीं है। यौवन के उन्माद के आकस्मिक तूफान में शकुन्तला को एक क्षण में उड़ा ले जाने से उसको पूरी तरह पाया न जा सकता। पाने की उत्कृष्ट प्रणाली साधना है, तपस्या है। जो अनायास ही हाथ में आ गया था वह अनायास ही खो गया। जो आवेश की मुट्ठी में पकड़ा हुआ रहता है वह शिथिल भाव से स्खलित होकर गिर जाता है। इसीलिए कवि ने एक-दूसरे को यथार्थ रूप में चिरंतन रूप में पाने के लिए दुष्यंत और शकुन्तला को लम्बी कठिन तपस्या में प्रवृत्त किया। राज-सभा में प्रवेश करते ही दुष्यंत ने यदि तत्क्षण शकुन्तला को ग्रहण कर लिया होता तो शकुन्तला हंसपदिका के ही दल की एक और रमणी होकर उनके अंतःपुर के एक कोने में स्थान पा जाती। बहुवल्लभ राजा की ऐसी कितनी ही विलासिनी प्रेयसियाँ केवल क्षण-भर के सौभाग्य की स्मृति लिये हुए अनादर के अंधकार में अनावश्यक जीवन बिता रही हैं। सकृत् कृत प्रणयोऽयं जनः।

शकुन्तला के सौभाग्य से ही दुष्यंत ने निष्ठुर कठोरता से उसको छोड़ दिया था। अपने ऊपर अपनी इसी निष्ठुरता के प्रतिघात से ही दुष्यंत शकुन्तला के सम्बन्ध में अब अचेतन न रह सका, दिन-रात परम वेदना के उत्ताप से शकुन्तला उसके विगलित हृदय के साथ घुलने-मिलने लगी, उसने उसके भीतर-बाहर को ओत-प्रोत कर दिया। ऐसी अभिज्ञता राजा के जीवन में कभी न हुई थी, उन्हें यथार्थ प्रेम का उपाय और अवसर न मिला था। राजा थे इसीलिए इस सम्बन्ध में अभागे थे। उनकी इच्छा अनायास ही मिट जाती थी इसीलिए साधना का धन उनके हाथ नहीं लगा। इस बार विधाता ने कठिन दुःख के बीच डालकर राजा को प्रकृत प्रेम का अधिकारी बनाया—अब से उनकी नागरिक-वृत्ति बिलकुल बंद हो गई।

इस प्रकार कालिदास ने पाप को हृदय के भीतर से अपनी आग से आप ही दग्ध किया है, बाहर से राख से ढक नहीं दिया। समस्त प्रपंच की समाप्ति पर अग्नि-सत्कार करके नाटक समाप्त हुआ है, पाठक का हृदय एक संशयहीन परिपूर्ण परिणति में शांति-लाभ करता है। बाहर से अकस्मात् बीज पड़ने से जो विष वृक्ष उत्पन्न होता है उसको गहरे पैठकर भीतर से निर्मूल किये बिना उखाड़ा नहीं जा सकता। कालिदास ने दुष्यंत-शकुन्तला के बाहर के मिलन को दुःख के गहन पथ रास्ते से ले जाकर भीतर के मिलन में सार्थक कर दिया। इसीलिए कवि गेटे कहते हैं कि तरुणाई का फूल और प्रौढ़ता का फल, मर्त्य और स्वर्ग इनको अगर कोई एक ही जगह पाना चाहे तो शकुन्तला में देख पा सकता है।

मिली हुई है। उसी स्वर्ग में अपराध ने अनजाने ही प्रवेश किया और कीड़े के कुतरे हुए फूल की तरह सौन्दर्य बिगड़ गया। और फिर लज्जा, संशय, दुःख, विच्छेद, अनुताप। और सबके अंत में विशुद्धतर, उन्नततर स्वर्गलोक में क्षमा, प्रीति और शांति। शकुन्तला को एक साथ ही Paradise Lost और Paradise Regained कहा जा सकता है।

पहला स्वर्ग बड़ा ही कोमल और आरक्षित है। यद्यपि वह सुन्दर भी है और सम्पूर्ण भी, लेकिन कमल के पत्ते पर पड़ी हुई ओस की बूंद की तरह जल्दी ही झर जाने वाला है। इस संकीर्ण सम्पूर्णता की सुकुमारता से मुक्ति पाना ही अच्छा है, यह सदा के लिए नहीं है और इसमें हमारी सर्वांगीण तृप्ति नहीं है; अपराध ने पागल हाथी की तरह आकर यहाँ की कमल के पत्तों की बाड़ तोड़ दी है; आलोड़न के विक्षोभ में समस्त हृदय को मथ डाला। सहज स्वर्ग उतने ही सहज रूप में नष्ट हो गया। बाकी रह गया साधना का स्वर्ग। अनुताप के द्वारा, तपस्या के द्वारा जब उस स्वर्ग को जीता गया तब और कोई शंका न रही। यह स्वर्ग शाश्वत है।

मनुष्य का जीवन भी ऐसा ही है। बच्चा जिस सरल स्वर्ग में रहता है वह सुन्दर होता है, सम्पूर्ण होता है लेकिन छोटा होता है। प्रौढ़ावस्था की सब अस्थिरता और विक्षोभ, समस्त अपराधों का आघात और अनुताप का दाग जीवन के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है। शिशु काल की शांति से बाहर निकलकर संसार के विरोध-विप्लव के बीच पड़े बिना प्रौढ़ावस्था की परिपूर्ण शांति की आशा वृथा है। प्रभात की स्निग्धता को दोपहर की गर्मी जला डालती है तभी साँझ का लोक-लोकान्तरव्यापी विराम आता है। पाप से अपराध के क्षणभंगुर को तोड़ देता है और अनुताप से वेदना से चिरस्थायी को गढ़कर खड़ा कर देता है। शकुन्तला काव्य में कवि ने इसी स्वर्गच्युति से लेकर स्वर्गप्राप्ति तक सब-कुछ दिखलाया है।

विश्व-प्रकृति जैसे बाहर से प्रशांत और सुन्दर होती है लेकिन उसकी प्रचण्ड शक्ति दिन-रात भीतर-ही-भीतर काम करती रहती है, उसीका प्रतिरूप हम 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में देखते हैं। ऐसा अद्भुत संयम हमने और किसी नाटक में नहीं देखा। प्रवृत्ति की प्रबलता को व्यक्त करने का अवसर मात्र पाते ही यूरोपीय कविगण जैसे पागल हो उठते हैं। प्रवृत्ति कितनी दूर तक जा सकती है इसे अतिशयोक्ति द्वारा व्यक्त करना उन्हें अच्छा लगता है। शेक्सपियर के

'रोमियो जूलियट' आदि नाटकों में इसके अनेकानेक दृष्टांत मिलते हैं। शकुन्तला के समान प्रशांत, गंभीर, संयत, सम्पूर्ण नाटक शेक्सपियर के नाटकों में एक भी नहीं। दुष्यंत-शकुन्तला के बीच जितना प्रेमालाप है वह बहुत संक्षिप्त है, उसका अधिकांश आभास और इंगित में व्यक्त हुआ है, कालिदास ने कहीं भी रास छोड़ी नहीं। दूसरा कवि जहाँ पर लेखनी को दौड़ाने का अवसर खोजता उन्होंने वहीं पर उसको यकायक रोक दिया। दुष्यंत तपोवन से राजधानी लौटकर शकुन्तला की कोई खोज-खबर नहीं लेते। इस प्रसंग में विलाप-परिताप की बातें बहुत-सी हो सकती थीं लेकिन शकुन्तला के मुँह में कवि ने एक भी बात नहीं डाली। केवल दुर्वासा के प्रति आतिथ्य में असावधानी देखकर हम उस अभागिन की स्थिति की यथासंभव कल्पना कर सकते हैं। शकुन्तला के प्रति कण्व का एकांत स्नेह विदाई के समय कितने गाम्भीर्य और संयम के साथ कितने थोड़े से शब्दों में व्यक्त हुआ है। अनसूया, प्रियम्वदा की सखी को विरहवेदना क्षण-क्षण पर दो-एक बातों में जैसे बाँध को लाँघने की चेष्टा करके फिर भीतर-ही-भीतर ठिठक जाती है। प्रत्याख्यान के दृश्य में भय, लज्जा, मान-अभिमान, अनुनय, भर्त्सना, विलाप सब-कुछ है लेकिन कितने थोड़े में। जिस शकुन्तला ने सुख के समय सरल असंशय के साथ अपने को विसर्जित कर दिया था वह दुःख के समय, दारुण अपमान के समय अपनी हृदय-वृत्ति की अप्रगल्भ मर्यादा की रक्षा ऐसे अद्‌भुत संयम के साथ करेगी, यह किसने सोचा था। यह प्रत्याख्यान के बाद की नीरवता कितनी व्यापक है, कितनी गहरी। कण्व नीरव, अनसूया-प्रियम्वदा नीरव, मालिनीतीरतपोवन नीरव और सबसे अधिक नीरव शकुन्तला। हृदय-वृत्ति में उथल-पुथल मचा देने का ऐसा अवसर क्या और किसी नाटक में इस प्रकार निःशब्द उपस्थित हुआ है। दुष्यंत के अपराध को दुर्वासा के शाप से ढाँक देना, यह भी कवि का संयम है। दुष्ट प्रवृत्ति की कठोरता को उन्मुक्त भाव से उच्छृंखल ढंग से दिखाने का जो प्रलोभन हो सकता था उसको भी कवि ने रोका। उनकी काव्य-लक्ष्मी ने उनको बरजते हुए कहा है—

> न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
> मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः।

दुष्यंत ने जब काव्य में विपुल विक्षोभ का कारण लेकर पागल होकर प्रवेश किया तब कवि के हृदय में यह ध्वनि उठी—

बँधी हुई दासता का बाह्य काम नहीं है, यह सौंदर्य का काम है, प्रीति का काम है, आत्मीयता का काम है, मन के भीतर का काम है।

'टैम्पेस्ट' में शक्ति है, शकुन्तला मे शांति है। 'टैम्पेस्ट' में शक्ति के द्वारा जय होती है, शकुन्तला में मंगल के द्वारा सिद्धि होती है। 'टैम्पेस्ट' मे आधे रास्ते एक दरार है, शकुन्तला का अवसान पूर्णता में होता है। 'टैम्पेस्ट' की मिराडा सरल माधुर्य से रची हुई है लेकिन उस सरलता का आधार अज्ञान और अनभिज्ञता है, शकुन्तला की सरलता अपराध और दुःख के गहरे परिचय के बाद धैर्य और क्षमा से परिपक्व है, गंभीर और स्थायी है। गेटे की समालोचना का अनुसरण करते हुए मैं फिर कहता हूँ कि शकुन्तला मे आरम्भ के तरुण सौंदर्य ने मगलमय चरम परिणति को प्राप्त होकर मर्त्य को स्वर्ग से मिला दिया है।

अक्तूबर १६०२ (आश्विन १३०६) मे 'बग-दर्शन' में प्रकाशित।

उस पंचवीरमतिगर्विता क्षत्रिय नारी का दीप्त तेज इस तरुण कोमल नाम से पद-पद पर खण्डित होता।

अतएव इस नाम के लिए मैं वाल्मीकि का कृतज्ञ हूँ। कविगुरु ने इसके प्रति बहुत अन्याय किया है लेकिन दैवयोग से उन्होने इसका नाम माडवी या श्रुतकीर्ति नहीं रखा, यह एक विशेष सौभाग्य की बात है। माडवी और श्रुतकीर्ति के सबध में हम कुछ नही जानते, जानने की उत्सुकता भी नही है।

उर्मिला को हमने केवल दुल्हन के वेश मे देखा, विदेह नगरी की विवाह-सभा मे। उसके बाद जब से उसने रघुराज-कुल के विशाल अंत पुर मे प्रवेश किया तब मे फिर कभी किसी दिन उसे देखा हो, ऐसा नही लगता। वह उसका विवाह-सभा का दुल्हन के वेश वाला चित्र ही मन मे रह गया। उर्मिला चिरवधू है—निर्वाक्‌ कुण्ठिता, नि शब्दचारिणी। भवभूति के काव्य मे भी उसका यही चित्र एक क्षण के लिए प्रकट हुआ था। सीता ने स्नेहभरे नटखटपन से बस एक बार उसके ऊपर तर्जनी रखकर अपने देवर से पूछा, "वत्स, यह कौन है?" लक्ष्मण ने लजाकर मुस्कराते हुए मन-ही-मन कहा, "ओ हो, आर्या उर्मिला की बात पूछ रही है।" यह कहकर तत्क्षण लज्जा से उस चित्र को ढाँक दिया और फिर रामचन्द्र के इतने विविध सुख-दु ख के चित्रों मे किसी कौतूहल की उँगली एक बार भी फिर इस चित्र पर नही पड़ी। उर्मिला तो बस दुल्हन है।

अपने तरुण शुभ्र ललाट पर जिस दिन उर्मिला ने पहली बार सिंदूर का टीका लगाया था, उसी दिन के जैसी नई-नवेली बहू वह चिरकाल तक बनी रही। लेकिन जिस दिन राम के अभिषेक-मंगलाचरण के आयोजन मे अंत पुरिकाएँ लगी हुई थी उस दिन क्या यह दुल्हन भी माथे तक आधा घूँघट डाले रघुकुल-लक्ष्मियों के साथ प्रसन्न-वदन मागल्य-रचना मे अत्यधिक व्यस्त न थी! और जिस दिन अयोध्या को अँधेरा करके दो किशोर राज-भ्राता सीता देवी को साथ लेकर तपस्वी-वेश में बाहर रास्ते पर निकल आए उस दिन वधू उर्मिला राजभवन के किस निभृत शयनकक्ष में धूलिशय्या पर वृन्तच्युत मुकुल के समान पड़ी हुई थी यह कौन जानता है! उस दिन के विश्वव्यापी विलाप मे इस टूटते हुए छोटे-से कोमल हृदय के असह्य दु ख को किसने देखा था। जो ऋषि कवि क्रौंच-विरहिणी का वैधव्य दु.ख एक क्षण के लिए नही सह सके उन्होने भी एक बार उसकी ओर न ताका।

लक्ष्मण ने राम के लिए सब तरह से आत्मोत्सर्ग किया, वह गौरव गाथा भारतवर्ष के घर-घर मे आज भी घोषित हो रही है। लेकिन सीता के लिए उर्मिला

का आत्मोत्सर्ग न तो संसार में कोई जानता है और न काव्य में। लक्ष्मण ने अपनी देवतातुल्य युगल जोड़ी के लिए केवल अपना उत्सर्ग किया था, उर्मिला ने अपने से अधिक अपने स्वामी का दान किया था, यह बात काव्य में नहीं लिखी गई। सीता के अश्रु-जल में उर्मिला बिलकुल धुल-पुंछ गई।

लक्ष्मण तो बारह बरस तक अपने उपास्य प्रियजनों के प्रिय कार्य में लगे रहे, उर्मिला ने नारी जीवन के वे बारह श्रेष्ठ वर्ष कैसे काटे। सलज्ज नवप्रेम मुदित विकासोन्मुख हृदय-मुकुल लेकर जब पहली बार स्वामी के साथ उसके मधुरतम परिचय के आरम्भ की वेला थी उसी मुहूर्त में लक्ष्मण सीतादेवी के रक्तचरणक्षेप के प्रति दृष्टि झुकाए वन को चले गए, जब लौटे तब इतने लम्बे समय तक प्रणय-आलोक से वंचित नववधू के हृदय में क्या वही नवीनता रह गई थी। बाद को कोई सीता के साथ उर्मिला के परम दुःख की तुलना करने लगे, क्या इसी डर से कवियों ने सीता के स्वर्ण-मंदिर से इस शोकोज्ज्वल महा-दुःखिनी को बिलकुल बाहर कर दिया है—जानकी के पैरों के पास बैठाने का साहस भी नहीं कर सके।

संस्कृत-काव्य की और दो तपस्विनियाँ हमारे हृदय-क्षेत्र में तपोवन बनाकर रहती हैं। प्रियम्वदा और अनसूया। वे पति के घर जाती हुई शकुन्तला को विदा करके रास्ते के बीच से रोते-रोते लौट आईं; नाटक में फिर उन्होंने प्रवेश नहीं किया, सीधे हमारे हृदय में आकर आश्रय लिया।

जानता हूँ काव्य में सबके समान अधिकार नहीं हो सकते। कठिन-हृदय कवि अपने नायक-नायिकाओं के लिए कितनी अक्षय प्रतिमाएँ गढ़-गढ़कर निर्मम चित्त से विसर्जित कर देते हैं। लेकिन वे काव्य के प्रयोजन को समझकर जिसको जहाँ पर समाप्त कर देते हैं वही क्या वे पूरी तरह समाप्त हो जाते हैं? दीप्तरोप दोनों ऋषि-शिष्य और हतबुद्धि बिलख-बिलखकर रोती हुई गौतमी ने जब तपोवन में लौटकर दोनों उत्सुक उत्कण्ठित सखियों को राजसभा का वृत्तात बतलाया तब उन सखियों का क्या हाल हुआ यह शकुन्तला नाटक के लिए बिलकुल अनावश्यक है, लेकिन क्या इसीलिए वह बिनकही असीम वेदना वहीं समाप्त हो गई? क्या हमारे हृदय में बिना छन्द-भाषा के हमेशा के लिए पागल की तरह चक्कर नहीं लगाने लगी?

काव्य हीरे के टुकड़े-जैसा कठोर होता है। जब सोचकर देखता हूँ कि प्रियम्वदा-अनसूया शकुन्तला के लिए क्या थीं, यह लगता है कि दुहिता के सबसे बड़े दुःख के समय ही उन सखियों को बिलकुल अनावश्यक लाछन लगाकर एकदम

बाहर कर देना काव्य के लिए न्यायसंगत हो सकता है, लेकिन है वह बहुत ही निष्ठुर बात।

शकुन्तला के सुख-सौंदर्य गौरव-गरिमा को बढाने के लिए ही इन दोनो लावण्य-प्रतिमाओ ने अपना सब-कुछ देकर उसे अपनी बाँहो मे घेर रखा था। तीनो सखियाँ जब पानी के घडे लेकर अकाल-विकसित नई मालती के नीचे आकर खडी हुई तब दुष्यत ने क्या अकेले शकुन्तला को चाहा था ? तब किसने हास्य से, कौतुक से, नवयौवन के चपल माधुर्य से शकुन्तला को पूर्णता दी थी ? इन्ही दोनों तापसी सखियो ने। अकेली शकुन्तला केवल एक-तिहाई अश है। शकुन्तला का अधिकाश अनसूया और प्रियम्वदा है, शकुन्तला ही उनमें सबसे कम है। बारह आना प्रेमालाप तो उन्होने सुचारु रूप से सपन्न कर दिया। तृतीय अक मे जहाँ एकाकिनी शकुन्तला के साथ दुष्यत की प्रेमाकुलता का वर्णन है वहाँ कवि बहुत-कुछ शक्तिहीन हो गए थे—किसी तरह जल्दी से गौतमी को ले आकर उन्होने अपनी रक्षा की—क्योकि जिन्होने शकुन्तला को घेरकर पूर्णता दी थी वे ही वहाँ पर न थी। वृन्तच्युत फूल पर दिन का सारा प्रखर आलोक सहा नही जाता, वृन्त के बन्धन और पल्लव के हल्के-से अतराल के रहने पर वह आलोक उसके ऊपर उतने कमनीय कोमल ढंग से नही पड़ता। नाटक के उन्ही थोड़े-से पन्नो मे सखी-विहीन शकुन्तला इतने स्पष्ट रूप से असहाय, असम्पूर्ण, अनावृत्त दिखाई पड़ती है कि जैसे उसकी ओर ध्यान से देखने मे सकोच मालूम होता है, बीच मे ही आर्या गौतमी के अकस्मात् आ जाने से पाठक मन-ही-मन आराम पाते है।

मैं तो सोचता हूँ कि राजसभा मे दुष्यत जो शकुन्तला को पहचान नही सके उसका प्रधान कारण यही था कि उसके साथ मे अनसूया-प्रियम्वदा न थी। एक तो तपोवन से बाहर और फिर खडित शकुन्तला—पहचानना मुश्किल हो सकता है।

शकुन्तला ने विदा ली और फिर जब सखियाँ सूने तपोवन मे लौटी तब क्या अपनी बचपन की सहचरी का विरह ही उनका एक-मात्र दु.ख था ? शकुन्तला के अभाव को छोडकर क्या इस बीच तपोवन मे और कोई परिवर्तन नही हुआ ? हाय, उन्होंने ज्ञानवृक्ष का फल खा लिया है, जो कुछ न जानती थी वह जान गई हैं। काव्य की काल्पनिक नायिका का विवरण पढ़कर नही, अपनी प्रियतमा सखी के विदीर्ण हृदय के बीच से। अब से तीसरे पहर थालों मे पानी सीचते समय क्या वे रह-रहकर खो न जायँगी ? अब क्या वे रह-रहकर पत्तो के मर्मर से चौककर अशोक-तरु के अन्तराल मे छिपे हुए किसी आगन्तुक की आशका न करेंगी ? मृग-

छौना अब क्या उनका पूरा-पूरा स्नेह पायगा।

अभी मैं उन सखी-भाव से मुक्त, सबसे अलग-थलग अनसूया और प्रियम्वदा को मर्मरित तपोवन में उनके अपने जीवन की कहानी के सूत्र में ढूँढकर लौट रहा हूँ। ये छाया तो नहीं है, शकुन्तला के साथ-साथ एक दिगंत से उठकर दूसरे दिगत में उनका अस्त तो नहीं होता। ये जीवंत हैं, मूर्तिमती हैं। रचित काव्य के बाहरी प्रदेश में, अनभिनीत नाटक के नेपथ्य में अब वे बड़ी हो गई हैं; कसा हुआ वल्कल अब उनके यौवन को बाँधकर नहीं रख पाता; अब उनकी किलकारी के ऊपर अंतर्घन भाव का आवेग नववर्षा की प्रथम मेघमाला के समान अश्रुगंभीर छाया फेंक रहा है। अब बहुधा उन अनमनी युवतियों की कुटिया के आँगन से अतिथि आकर लौट जाता है। हम भी लौट आए।

संस्कृत साहित्य में एक अनादृत और है। उससे पाठकों का परिचय कराने में मुझे संकोच होता है। वह कोई बड़ी नायिका नहीं है, वह कादम्बरी की पत्रलेखा है। उसने जहाँ आकर नन्ही-सी जगह में आश्रय लिया है वहाँ उसके आने का रत्ती-भर प्रयोजन न था। वह स्थान उसके लिए बहुत संकीर्ण है, जरा-सा भी इधर-उधर पैर फेंकने में संकट है।

इस आख्यायिका में पत्रलेखा जिस सुकुमार संबंध-सूत्र में बँधी हुई है वैसा संबंध और किसी साहित्य में कहीं नहीं देखा। तो भी कवि ने बड़े सहज ढंग से, सरल चित्त से अपूर्व संबंध-बन्धन की अवतारणा की है, कहीं भी इस मकड़ी के जाले पर इतना-सा भी जोर नहीं पड़ता जिससे एक क्षण के लिए भी उसके टूट जाने की रंचमात्र आशंका हो सके।

युवराज चंद्रापीड़ जब अध्ययन पूरा करके महल में लौट आए तो एक दिन सवेरे उनके कमरे में कैलाश नाम के एक कंचुकी ने प्रवेश किया—उसके पीछे-पीछे एक कन्या—नवयौवन, मस्तक पर बीरबहूटी के समान लाल कपड़े का घूँघट, ललाट पर चंदन का तिलक, कमर में सोने की करधनी, कोमल शरीर-लता की प्रत्येक रेखा जैसे अभी-अभी नई-नई अंकित की गई हो, यह तरुणी अपनी लावण्य-प्रभा से महल को भरती हुई घुँघरुओं की झंकार वाले चरणों से कंचुकी के पीछे-पीछे आई।

कंचुकी ने प्रणाम करके, धरती पर दाहिना हाथ टेककर कहा—"कुमार, अपनी माता महादेवी विलासवती ने संदेश भेजा है: 'यह कन्या पराजित कुलुतेश्वर की दुहिता है, बंदिनी है, इसका नाम पत्रलेखा है। इस अनाथ राजकन्या को मैंने

अब तक अपनी ही कन्या के समान पाला है, अब मैं इसको तुम्हारी ताम्बूल वाहिनी बनाकर भेजती हूँ। इसको साधारण सेवक-सेविकाओ के समान मत देखना, बालिका के समान इसका लालन-पालन करके अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार चपलता से इसको बचाना, शिष्या के समान समझना, मित्र के समान समस्त प्रणय-व्यापारो में इसको अपना अंतरग बनाना, और इस कल्याणी को ऐसे सब कार्यों मे नियुक्त करना जिनसे यह सदा-सदा के लिए तुम्हारी परिचारिका बन सके'।"

कैलाश के यह कहते ही पत्रलेखा ने चन्द्रापीड़ को बहुत झुककर प्रणाम किया और चन्द्रापीड़ ने उसको निर्निमेष नेत्रों से काफी देर तक देखकर "माँ ने जैसा आदेश दिया है वैसा ही होगा।" कहकर दूत को विदा कर दिया।

पत्रलेखा पत्नी नही है, प्रेयसी भी नही है, किंकरी भी नही है, पुरुप की सहचरी है। इस प्रकार का अनोखा सखीत्व दो समुद्रो के बीच एक बालू के तट के समान है। कैसे उसकी रक्षा हो। युवा कुमार-कुमारी के बीच अनादिकाल से जो चिरतन प्रबल आकर्पण चला आता है वह दोनो दिशाओ से सकीर्ण इस बाँध को तोड़कर उसे लाँघ क्यो नही जाता।

लेकिन कवि ने उस अनाथ राजकन्या को सदा के लिए इस दुर्वल आश्रय के बीच बैठा रखा है, इस घेरे से बाल बराबर भी कभी उसे बाहर नही आने दिया। हतमानिनी बदिनी के प्रति कवि की उपेक्षा इससे अधिक और क्या हो सकती है ? एक सूक्ष्म यवनिका के परदे मे रहते हुए भी उसे अपना स्वाभाविक स्थान नही मिला। पुरुप के हृदय की बगल मे वह जागती बैठी रही, लेकिन भीतर पैर न रख सकी। किसी दिन किसी असतर्क वसन्ती हवा मे भी इस सखीत्व का परदा तनिक भी उड़ न सका।

तो भी सखीत्व में लेशमात्र अन्तराल न था। कवि कहते है, पत्रलेखा उसी पहले दिन से चन्द्रापीड़ के दर्शनमात्र से सेवारस मे विभोर होकर, दिन नही, रात नही, उठते-बैठते-घूमते छाया के समान राजपुत्र के साथ बराबर लगी रही, उसका पार्श्व कभी न छोडा। उससे मिलने के बाद चन्द्रापीड की प्रीति भी उसके प्रति प्रतिक्षण बढती रही। प्रतिदिन इसके लिए प्रसाद बचाकर उन्होने रखा और समस्त विश्वास-कार्यो मे इसको अपना अंतरंग समझने लगे, ऐसा अन्तरंग जो अलग ही न किया जा सके।

यह संबंध अपनी मधुरता मे अपूर्व है लेकिन इसमें नारी-अधिकार की पूर्णता नही है। नारी के साथ नारी का जिस प्रकार का लज्जाबोधक सखी-संपर्क हो

सकता है पुरुष के साथ उसकी वैसी ही निस्संकोच निकटता में पत्रलेखा की नारी-मर्यादा के प्रति कादम्बरीकार की जो एक अवज्ञा व्यक्त होती है उससे क्या पाठक को चोट नहीं लगती ? कैसी चोट ? आशंका की नहीं, संशय की नहीं। क्योंकि कवि यदि आशका और संशय के लिए लेशमात्र भी स्थान रखते तो उसे हम पत्र-लेखा के नारीत्व के प्रति थोड़ा-सा सम्मान समझकर ग्रहण करते। लेकिन इन दो तरुण-तरुणियों के बीच लज्जा, आशका और सदेह की कांपती हुई स्निग्ध छाया तक नहीं है। पत्रलेखा अपने अनूठे संबंध के कारण अन्तपुर को छोड़ ही देती है लेकिन स्त्री-पुरुष के परस्पर पास होने पर स्वभावतः जो एक संकोच-संभ्रम यहाँ तक कि सहास छलना का एक कांपता हुआ झीना परदा अपने-आप तैयार हो जाता है, इनके बीच वह भी नहीं है। इसी कारण से हमारे मन मे इस अन्त.पुर-विच्युता अन्त.पुरिका के लिए सदा दु.ख जागता रहता है।

चन्द्रापीड़ के साथ पत्रलेखा की निकटता भी असाधारण है। दिग्विजय-यात्रा के समय एक ही हाथी की पीठ पर पत्रलेखा को सामने बिठाकर राजपुत्र आसन ग्रहण करते हैं। रात को शिविर मे जब चन्द्रापीड़ अपनी शय्या के पास लेटे हुए पुरुष-सखा वैशम्पायन के साथ बातचीत करते रहते हैं तब पास ही जमीन पर बिछी हुई सुजनी पर सखी पत्रलेखा सोती रहती है।

अन्त में जब कादम्बरी के साथ चन्द्रापीड़ का प्रणय-संघटन हुआ तब भी पत्र-लेखा अपने क्षुद्र स्थान पर ज्यो-की-त्यो बनी रही, क्योंकि पुरुष के हृदय में नारी जितना आसन पा सकती है उसका एक संकीर्णतम कोना-भर उसके अधिकार मे था, जब वहाँ पर महामहोत्सव के लिए जगह बनानी पड़ी तब उसको उस नन्हे-से कोने से हटाने की जरूरत भी न हुई।

कादम्बरी के मन मे पत्रलेखा के प्रति ईर्ष्या का आभास तक न था। यहाँ तक कि कादम्बरी ने उसे अपनी प्रिय सखी के रूप मे स्नेहपूर्वक जो ग्रहण किया वह भी इसीलिए कि चन्द्रापीड़ के साथ पत्रलेखा का प्रीति-संबंध था। कादम्बरी काव्य मे पत्रलेखा जिस अनोखे भूखण्ड मे है वहाँ पर ईर्ष्या, सशय, संकट, वेदना कुछ भी नहीं है, वह स्वर्ग के समान निष्कंटक है लेकिन स्वर्ग का अमृत-बिन्दु वहाँ कहाँ है।

प्रेम का उच्छ्वसित अमृत-पान उसके सामने ही चल रहा है। उसकी गध से भी क्या किसी दिन उसकी किसी शिरा का रक्त चंचल न हो उठा। वह क्या चद्रापीड़ की छाया है। राजपुत्र के तप्त यौवन की तनिक भी गर्मी क्या उसे स्पर्श

नही करती। कवि ने इस प्रश्न का उत्तर देने की भी जरूरत नही समझी। काव्य-सृष्टि में वह इतनी उपेक्षिता है।

पत्रलेखा जब कुछ समय तक कादम्बरी के साथ रहने के बाद समाचार लेकर चंद्रापीड के पास लौट आई, जब उसने मुस्कराकर दूर से ही चन्द्रापीड़ के प्रति प्रीति व्यक्त करते हुए नमस्कार किया, तब पत्रलेखा प्रकृतिवल्लभा होते हुए भी चन्द्रापीड़ को इसलिए प्रियतर लगी कि वह कादम्बरी की कृपा से प्राप्त एक और सौभाग्य के समान थी। युवराज ने अपने आसन से उठकर बड़े स्नेह मे उसे गले लगा लिया।

चन्द्रापीड़ के इस आदर, इस आलिंगन के द्वारा ही कवि ने पत्रलेखा का अनादर किया है। हम कहते है, कवि अधा है। एक के बाद एक, कादम्बरी और महाश्वेता की ओर टकटकी लगाकर देखते-देखते उसकी आँखे झुलस गई है, इस क्षुद्र वंदिनी को वह देख नही पाता। उसमे जो प्रणय की प्यास लिये हुए सदा-सदा से वचित एक नारी-हृदय रह गया है, उसकी बात उन्हे बिलकुल भूल गई। बाणभट्ट की कल्पना मुक्तहस्त है, स्थान और पात्र का विचार किये बिना उन्होंने सर्वत्र अजस्र वर्षा की है। उनकी सारी कृपणता केवल इस अनाथ राजकन्या के प्रति है। अपने पक्षपात से दूषित अधेपन के कारण पत्रलेखा के हृदय की निगूढतम बात वे जरा भी न जान सके। वे सोचते है कि उन्होंने लहरो को जहाँ तक आने की अनुमति दी है वही तक आकर वे रुक गई है, पूर्ण चन्द्रोदय मे भी उन्होंने उनके आदेश का उल्लघन नही किया है। इसीसे कादम्बरी पढ़कर मन मे यही बात आती है कि अन्य सब नायिकाओं की कथा अनावश्यक विस्तार के साथ वर्णित हुई है, लेकिन पत्रलेखा की बात बिलकुल नही कही गई।

अक्तूबर-नवम्बर १८९९ (आश्विन-कार्तिक १३०६) मे
'प्रदीप' में प्रकाशित।

अष्टम खण्ड

लोक-साहित्य

१. बच्चों को बहलाने के लोकगीत

बच्चों को बहलाने के लोकगीत

बंगला भाषा में बच्चों को बहलाने के जो सब स्त्री-सुलभ लोकगीत प्रचलित हैं, मैं कुछ दिनों से उनका संग्रह करने में लगा था। हमारी भाषा और समाज के इतिहास-निर्णय के लिए उन लोकगीतों का विशेष मूल्य हो सकता है, लेकिन मुझे तो उनमें जो एक सहज स्वाभाविक काव्य-रस है वही अधिक प्यारा लगा था।

मुझे कौन-सी चीज अच्छी लगती है या नही लगती यह बात कहकर समालोचना शुरू करने में मुझे डर महसूस होता है, क्योंकि निपुण समालोचक इस तरह की रचना को अहमिका के अपराध का दोषी मानते है।

उनके प्रति मेरा सविनय निवेदन यह है कि वे अगर ध्यानपूर्वक देखेंगे तो पायेंगे कि यह अहमिका अहंकार नही बल्कि उसका उल्टा है। जो उपयुक्त समालोचक है उनके पास एक तराजू है, उन्होंने साहित्य का एक बँधा-टँका वजन और उसके साथ-साथ बहुत-से बँधे-टँके बोल पा लिए है, जो कोई रचना उनके आगे उपस्थित की जाती है उसकी पीठ पर वे निसंकोच उपयुक्त नम्बर और मुहर लगा सकते हैं।

लेकिन अक्षमता और अनभिज्ञतावश वह वजन जिन्हे नही मिला, उन्हे समालोचना के क्षेत्र मे एक-मात्र अपने अनुराग-विराग के ऊपर निर्भर करना होता है। अतः ऐसे आदमी के लिए साहित्य के संबंध में वेदवाक्य प्रचलित करने की चेष्टा धृष्टता की बात होगी। कौन-सी रचना अच्छी है या बुरी है यह न कहकर कौन रचना मुझे अच्छी लगी या बुरी लगी, यह बात स्वीकार कर लेना ही उनके लिए उचित है।

अगर कोई पूछे कि यह बात कौन जानना चाहता है तो मैं जवाब दूंगा कि साहित्य में सब लोग यही बात सुनते आ रहे हैं। साहित्य की समालोचना को ही समालोचना कहा जाता है, लेकिन अधिकांश साहित्य ही प्रकृति और मानव-जीवन की समालोचना-मात्र होता है। प्रकृति के संबंध मे, मनुष्य के संबंध में, घटना के संबंध में जब कवि अपने आनंद, विषाद, विस्मय को व्यक्त करता है

और अपने उन मनोभावो को केवल आवेग के द्वारा और रचना-कौशल से दूसरे के मन मे सचरित कर देने की चेष्टा करता है, तब कोई उसे अपराधी नही ठहराता। तब पाठक भी अहमिका के होते हुए केवल इतना ही देखते है कि 'कवि की बात मेरे मन के साथ मिल रही है या नही।' काव्य-समालोचक भी यदि युक्ति-तर्क और श्रेणी-निर्णय की दिशा छोड़कर काव्य-पाठ से उत्पन्न मनोभाव उपहार के रूप मे पाठकों को देने के लिए उद्यत हों तो इसके लिए उनको दोषी ठहराना उचित नही।

विशेषतः आज मैं जो बात स्वीकार करने बैठा हूँ उसमे आत्मकथा का किंचित् अंश रहेगा ही। बच्चों को बहलाने के इन लोकगीतों में मुझे जो रस मिलता है उसे बचपन की स्मृति से अलग करके देखना मेरे लिए असंभव है। उन लोकगीतो का माधुर्य कहाँ तक मेरी बाल्य-स्मृति पर और कहाँ तक साहित्य के चिरस्थायी आदर्श के ऊपर निर्भर करता है इसका निर्णय करने योग्य विश्लेषण-शक्ति वर्तमान लेखक में नही है, यह बात शुरू में ही कबूल कर लेना अच्छा होगा।

'वृष्टि पड़े टापर-टुपर नदी एलो बान' यह कड़ी बचपन में मेरे लिए मोह-मन्त्र के समान थी और वह मोह आज भी मैं भूल नही सका। मैं अपने मन की उस मुग्ध अवस्था को याद करके देखे विना स्पष्ट समझ न सकूँगा कि उन लोक-गीतों का माधुर्य और उपयोगिता क्या है। समझ न सकूँगा कि क्यो इतने महा-काव्य और खण्डकाव्य, इतनी तत्त्वकथा और नीति-प्रचार, मानव का इतना प्राणपण प्रयत्न, इतना स्वेद-सिक्त व्यायाम प्रतिदिन व्यर्थ और विस्मृत हो रहा है और उधर ये सब असंगत, अर्थ-हीन-जैसे, मनचाहे बनाये हुए श्लोक लोक-स्मृति में चिरकाल से प्रवाहित होते आ रहे है।

इन सब लोकगीतों में एक चिरंतनता है। किसी का किसी काल में कोई रचयिता था, इसका परिचय तक नहीं है और किस शक-सवत् की किस तारीख को इसकी रचना हुई थी ऐसा प्रश्न भी किसी के मन में नही जागता। इसी स्वाभाविक शाश्वत गुण से ये आज रचे जाने पर भी पुराने हैं और हजार बरस पहले रचे जाने पर भी नये है।

ठीक से देखने पर बच्चे-जैसा पुराना और कुछ नहीं है। देश, काल, शिक्षा, प्रथा के अनुसार वयस्क मनुष्यों में कितने नये परिवर्तन हुए हैं लेकिन बच्चा हजारो साल पहले जैसा था आज भी वैसा ही है, वही अपरिवर्तनीय पुरातन बारम्बार आदमी के घर मे बच्चे का रूप धरकर जन्म लेता है लेकिन तो भी सबसे पहले

दिन वह जैसा नया था, जैसा सुकुमार था, जैसा भोला था, जैसा मीठा था आज भी ठीक वैसा ही है। इस जीवन-चिरतनता का कारण यह है कि शिशु प्रकृति की सृष्टि है जबकि वयस्क आदमी बहुत अंशों में आदमी की अपने हाथ की रचना होता है। उसी तरह ये लोकगीत भी शिशु साहित्य हैं, वे मनुष्य के मन मे अपने-आप जन्मे हैं।

अपने-आप जन्मे हैं यह बात कहने का एक विशेष तात्पर्य है। स्वभावतः हमारे मन मे विश्वजगत् का प्रतिबिम्ब और प्रतिध्वनि छिन्न-विच्छिन्न रूप में घूमती रहती है। वे विचित्र रूप धारण करती हैं और अकस्मात् प्रसंग से प्रसगातर पर जा पहुँचती है। जिस तरह हवा मे रास्ते की धूल, फूल का पराग, असंख्य गंध, विचित्र शब्द, विच्छिन्न पल्लव, पानी की बूँदें, पृथ्वी की भाप—ये आवर्तित, आलोडित जगत् के विचित्र, ऊपर फेंके हुए उड़ते हुए खडाश सदैव निरर्थक भाव से घूमते-फिरते रहते हैं, उसी तरह हमारे मन में भी ऐसा ही होता है। वहाँ भी हमारी नित्य-प्रवाहित चेतना में कितने वर्ण, गध, शब्द, कितनी कल्पना की भाप, कितने विचारों का आभास, कितने भाषा के छिन्न खड, हमारे व्यवहार-जगत् के कितने सैकड़ों परित्यक्त, विस्मृत, विच्युत पदार्थ अलक्षित अनावश्यक भाव से तैरते रहते हैं।

जब हम सचेत भाव से किसी विशेष दिशा मे लक्ष्य करके सोचते हैं तब यह सब गुंजन थम जाता है, यह सब रेणुजाल उड़ जाता है, यह सब छायामयी मरीचिका एक क्षण में हट जाती है; हमारी कल्पना, हमारी बुद्धि एक विशेष एकता का सहारा लेकर एकाग्र भाव से प्रवाहित होती रहती है। हमारा मन नामक पदार्थ इतना अधिक प्रभुत्वशाली है कि जब वह सजग होकर बाहर आता है तब उसके प्रभाव से हमारे अतर्जगत् और बहिर्जगत् का अधिकाश ढक उठता है—उसीके शासन, उसीके विधान, उसीकी बात, उसीके अनुचर-परिवार से सारा संसार भर उठता है। सोचकर देखो, आकाश मे पक्षी की पुकार, पत्ते का मर्मर, जल का कल्लोल, नगर-बस्ती की मिली-जुली ध्वनियाँ, छोटे-बड़े सहस्रों प्रकार के कितने ही कलशब्द निरतर ध्वनित हो रहे हैं—और हमारे चारों ओर कितना कम्पन, कितना आंदोलन, कितना जाना, कितना आना, छायालोक के न जाने कितने चचल लीला-प्रवाह निरंतर चक्कर लगा रहे हैं—और तो भी उनका कितना थोड़ा अंश हमें गोचर होता है; इसका प्रधान कारण यही है कि मछुए के समान हमारा मन ऐक्य-जाल फेंककर एक बार में एक खेप में जितना कुछ पकड़

पाता है उतना ही ग्रहण करता है, बाकी सब छूट जाता है। वह जब देखता है तो ठीक से सुनता नहीं, सुनता है तो ठीक से देखता नहीं और जब सोचता है तो न ठीक से देखता है, न सुनता है। अपने उद्देश्य के पथ से वह तमाम अनावश्यक पदार्थों को बहुत-कुछ दूर कर दे सकता है। इस क्षमता के बल से ही वह इस जगत् के असीम वैचित्र्य में भी अपने निकट अपनी प्रधानता की रक्षा कर सका है। पुराणों में हम पढ़ते हैं कि प्राचीन काल में किसी-किसी महात्मा ने इच्छा-मृत्यु की क्षमता प्राप्त कर ली थी; हमारे मन में इच्छा-अंधता और इच्छा-बधिरता की शक्ति है; और इस शक्ति का प्रयोग उसे पग-पग पर करना पड़ता है इसीलिए जन्म से लेकर मृत्यु तक जगत् का अधिकांश उसकी चेतना के बाहर बाहर निकल जाता है। वह स्वयं विशेष उद्योगपूर्वक जिसे ग्रहण करता है और अपनी आवश्यकता और प्रकृति के अनुसार गठित कर लेता है उसीको वह उपलब्ध करता है; चारों ओर, यहाँ तक कि मानस-प्रदेश में जो घट रहा है, उठ रहा है उसकी भी वह ठीक से खोज-खबर नहीं रखता।

सहज स्थिति में हमारे मानसाकाश में स्वप्न के समान जो सब छायाएँ और शब्द जैसे किसी अलक्ष्य वायु-प्रभाव से दैवचालित होकर कभी संलग्न और कभी विच्छिन्न भाव से विविध आकार और वर्ण परिवर्तनपूर्वक बराबर मेघ-रचना करते हुए घूमते रहते हैं वे यदि किसी अचेतन पट के ऊपर अपना प्रतिबिम्ब-प्रवाह चिन्हित कर जा सकते तो उसके साथ हम अपने विवेच्य इन लोकगीतों का बहुत सादृश्य देख पाते। ये लोकगीत हमारे निरंतर परिवर्तित अंतराकाश की छाया-मात्र हैं, तरल स्वच्छ सरोवर के ऊपर मेघ-क्रीडित नभो-मंडल की छाया के समान। इसीलिए मैंने कहा था कि ये अपने-आप जन्मे हैं।

यहाँ पर उदाहरण-स्वरूप दो-एक लोकगीत उद्धृत करने के पहले पाठकों से क्षमा माँगता हूँ। पहली बात तो यह कि इन लोकगीतों के साथ हमेशा से जो स्नेहार्द्र सरल मधुर कंठ ध्वनित होता आ रहा है उसे मेरे-जैसे मर्यादा-भीरु गंभीर-स्वभाव वयस्क पुरुष की लेखनी क्योंकर पकड़ सकेगी ? वे सब सुधास्निग्ध स्वर पाठकगण अपने घर में, अपनी बाल्य-स्मृति से, मन-ही-मन संग्रह कर लेंगे। उनके साथ जो स्नेह, जो संगीत, जो संध्या-प्रदीप-आलोकित सौन्दर्य-छवि चिरकाल से रली-मिली रही है उसे मैं किस मोहमंत्र से पाठकों के सम्मुख लाकर उपस्थित करूँगा ! मेरा विश्वास है कि इन लोकगीतों में भी वह मोहमंत्र है।

दूसरी बात यह कि बाकायदा बँधी-टँकी साधु भाषा के प्रबंध के बीच इन

सब घरेलू, सीधी-सादी, असंस्कृत स्त्रियों-जैसे लोकगीतों को लाकर खड़ा कर देना उसके प्रति कुछ अत्याचार करना होगा—जैसे अदालत के गवाही के कठघरे मे घर की बहू को लाकर खड़ा कर देना। लेकिन और कोई उपाय नही है। अदालत का काम अदालत के नियमों से होता है, प्रबंध के नियमानुसार प्रबंध की रचना करनी होती है—उतनी निष्ठुरता अपरिहार्य है।

यमुनावती सरस्वती काल यमुनार बिये।
यमुना यावेन श्वशुरबाड़ि काजितला दिये॥
काजि-फुल कुड़ते पेये गेलुम माला।
हात झुमझुम पा-झुमझुम सीतारामेर खेला॥
नाचो तो सीताराम कांकाल बेंकिये।
आलोचाल देव टापाल भरिये॥
आलोचाल खेते खेते गला हल काठ।
हेयाय तो जल नेइ त्रिपूर्णिर घाट॥
त्रिपूर्णिर घाटे दुटो माछ भेसेछे।
एकटि निलेन गुरुठाकुर एकटि निलेन के॥
तार बोनके बिये करि ओड़फुल दिये॥
ओड़ फुल कुड़ते हये गेल बेला।
तार बोनके बिये करि ठिक दुक्षुर बेला।

इसमें भावों का परस्पर संबंध नही है, यह बात नितांत पक्षपाती समालोचक को भी स्वीकार करनी ही होगी। कई असलग्न चित्र अत्यंत सामान्य प्रसंगसूत्र का आधार लेकर उपस्थित हुए हैं। एक तो यही दिखाई पड़ता है कि इसमे कोई भी अच्छे-बुरे का विचार नही है, कि जैसे कवित्व के सिंहद्वार पर शरद् ऋतु की निस्तब्ध दोपहर की मीठी गर्मी में दरबान इतमीनान से पैर फैलाये सो रहा है। बातें, भाव, किसी प्रकार का कोई परिचय देने के लिए ठहरे बिना, कोई बहाना ढूँढ़े बिना, मजे से दरबान का पैर हटाकर, यहाँ तक कि बीच-बीच में अपने छोटे-छोटे हाथों से उसका कान मलकर, कल्पना के गगनचुंबी माया-प्रासाद में मनमाने ढंग से आ-जा रहे है; दरबान अगर ऊँघते-ऊँघते अचानक एक बार जाग उठता तो वे सब आनन-फानन, कौन कहाँ भाग खड़े होते कि ठौर-ठिकाना न मिलता किसी का।

यमुनावती सरस्वती जो भी हो, आगामी कल उसका शुभ विवाह है इस बात

का स्पष्ट उल्लेख दिखाई पड़ता है। निस्संदेह, विवाह के बाद उन्हें यथासमय फाजीतला होकर अपनी ससुराल जाना पड़ेगा यह बात उठाये बिना भी काम चल सकता था; जो हो इस सबके बावजूद वह बात सरासर अप्रासंगिक नहीं है। लेकिन विवाह के लिए किसी प्रकार का उद्योग या उसके लिए किसी की तिल-भर उत्सुकता हो, इसका कोई परिचय नहीं मिलता। इन लोकगीतों का राज्य ऐसा राज्य नहीं है। वहाँ पर सभी कुछ इसी तरह अनायास घट सकता है और इसी तरह अनायास नहीं भी घट सकता कि किसी को किसी चीज के लिए तनिक भी दुश्चिन्ताग्रस्त या परेशान नहीं होना पड़ता। अतः आगामी कल श्रीमती यमुनावती के विवाह का दिन स्थिर होने पर भी उस घटना को बिन्दु-मात्र प्रधानता नहीं दी गई। तब यह बात शुरू में ही क्यों उठाई गई, इसकी जवाबदेही के लिए भी कोई परेशान नहीं है। काजीफूल कौन-सा फूल है यह मैं नगरवासी ठीक से नहीं बतला सकता लेकिन यह स्पष्ट अनुमान करता हूँ कि यमुनावती नामक कन्या के आसन्न विवाह के साथ उक्त पुष्प-संग्रह का कोई संबंध नहीं है। और यकायक बीच में से सीता-राम ने क्यों अपने हाथ का कंगन और पाँव का नूपुर झुमझुम करते हुए नाचना शुरू कर दिया इसका भी कोई कारण मैं रत्ती-भर न दिखा सकूँगा। अर्वा चावल का प्रलोभन एक बड़ा कारण हो सकता है लेकिन वह कारण हमें सीताराम के आकस्मिक नृत्य से भुलावा देकर हठात् त्रिपूर्णा के घाट पर पहुँचा देता है। उस घाट पर दो मछलियों का तैरकर ऊपर उठ आना कोई आश्चर्य की चीज नहीं है, लेकिन विशेष आश्चर्य की बात यह है कि उन दो मछलियों में से एक को लोग जो उठा ले गए है, उसका कोई उद्देश्य न पाने पर भी हमारा दृढ़-प्रतिज्ञ रचयिता किस कारण से उसीकी बहन से विवाह करने के लिए एकाएक स्थिर-संकल्प हो बैठा और फिर प्रचलित विवाह-प्रथा की पूरी तरह उपेक्षा करके एक-मात्र ओड़फूल-संग्रह के द्वारा ही इस शुभकर्म के आयोजन को यथेष्ट समझा और जो लग्न स्थिर की वह भी किसी नये या पुराने पंजिकाकार के मत से प्रशस्त नहीं।

यह तो हुआ कविता का बँधान। हमारे हाथ में अगर रचना का भार होता तो हम निश्चय ही ऐसे कौशल से प्लाट बाँधते जिससे प्रथमभोक्त यमुनावती ही ग्रन्थ के अन्तिम परिच्छेद में उसी त्रिपूर्णी-घाट के अनिर्दिष्ट व्यक्ति की अज्ञात बहन के रूप में खड़ी हो जाती और ठीक दुपहरिया में ओड़फूल की माला एक-दूसरे के गले में डालकर जो गान्धर्व-विवाह सम्पन्न होता उसमें सभी सहृदय

पाठक तृप्त होते।

लेकिन बालक की प्रकृति में मन का प्रताप बहुत-कुछ क्षीण होता है। जगत्-संसार और उसकी अपनी कल्पना उस पर अलग-अलग आघात करती है; एक के बाद दूसरी आकर उपस्थित होती है। मन का बंधन उसके लिए पीडाजनक होता है। मुसंलग्न कार्य-कारण-सूत्र पकड़कर चीज़ को शुरू से लेकर आखिर तक पकड़े-पकड़े चलना उसके लिए दुस्साध्य होता है। वहिर्जगत् मे समुद्र के किनारे बैठकर बच्चा बालू का घरौंदा बनाता है, मानस-जगत् के समुद्र के किनारे भी वह आनन्द से बैठकर बालू का घर बनाता रहता है। बालू को बालू से जोड़ा नहीं जा सकता, वह स्थायी नही होता—लेकिन बालू में यह जो जोड़े न जा सकने का गुण है इसी के कारण बच्चे के स्थापत्य के लिए वह सबसे अच्छा उपकरण है। क्षण-भर में मुट्ठी-मुट्ठी-भर बालू इकट्ठा करके एक ऊँचा आकार बनाया जा सकता है—और अगर वह मनपसंद न हुआ तो उसका संशोधन करना भी अत्यत सहज होता है और थकान मालूम होने पर भी फौरन पैर की एक ठोकर से उसे जमीन पर बिछाकर लीलामय सृजनकर्ता हल्का दिल लिये हुए घर लौट सकता है। लेकिन जहाँ पर अच्छी तरह ईंट-पर-ईंट जमाकर काम करना जरूरी है वहाँ पर कर्ता को भी जल्दी ही काम का नियम मानकर चलना पड़ता है। बच्चा नियम मानकर नही चल सकता—वह अभी-अभी तो नियमहीन इच्छा-आनन्दमय स्वर्गलोक से आ रहा है। अभी वह हमारी तरह बहुत दिनों की नियम की दासता का अभ्यस्त नहीं हुआ इसीलिए वह अपनी क्षुद्र शक्ति के अनुसार समुद्र के किनारे बालू का घर और मन में इन लोकगीतों का चित्र मनमाने ढंग से रचकर मर्त्य लोक में देवता की जगत्-लीला का अनुकरण करता है। इसीलिए हमारे शास्त्रों में सदा ईश्वर के कार्य की तुलना बालक की लीला के साथ की जाती है, दोनों मे एक इच्छामय आनन्द का सादृश्य है।

ऊपर उद्धृत कविता में सलग्नता नही है लेकिन चित्र है। काजीतला, त्रिपूर्णी का घाट और ओड़वन की घटनाएँ स्वप्न के समान अद्भुत हैं, लेकिन स्वप्न के ही समान सत्यवत् भी है।

स्वप्न के समान सत्य कहने से पाठक मेरी बुद्धि की सजगता के सम्बन्ध में संदेहशील न हों। अनेक दार्शनिक पण्डितो ने प्रत्यक्ष जगत् को स्वप्न कहकर उड़ा दिया है। लेकिन वही पण्डित स्वप्न को नही उड़ा सके। उन्होने कहा, प्रत्यक्ष सत्य नहीं है—तब फिर क्या है? नहीं, स्वप्न सत्य है। अतः दिखाई पड़ता है कि

प्रबल युक्ति से सत्य को सहज ही अस्वीकार किया जा सकता है लेकिन स्वप्न को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। केवल जागते समय के स्वप्न नहीं, नींद के स्वप्न के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। तीक्ष्ण-बुद्धि पण्डितों के भी वश की बात नहीं है कि स्वप्नावस्था में स्वप्न का अविश्वास करें। जाग्रत अवस्था में वे सम्भव सत्य पर भी संदेह करने से बाज नहीं आते, लेकिन स्वप्नावस्था में वे असंभव में असम्भव वस्तु को भी बिना संशय ग्रहण करते हैं। अतः विश्वासजनकता नामक जो गुण सत्य का सर्वप्रधान गुण होना चाहिए वह जैसा स्वप्न में है वैसा और किसी चीज में नहीं।

इससे पाठक समझ सकेंगे कि प्रत्यक्ष जगत् हमारे लिए जितना सत्य है, लोरियों का स्वप्नदर्शी बालक के लिए उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सत्य है। इसीलिए बहुत बार हम सत्य को भी असम्भव कहकर छोड़ देते हैं और बच्चे असम्भव को भी सत्य कहकर ग्रहण कर लेते हैं।

> बृष्टि पड़े टापुर-टुपुर नदी एल बान।
> शिबु ठाकुरेर बिये हल तिन कन्ये दान॥
> एक कन्ये राँधेन बाड़ेन एक कन्ये खान।
> एक कन्ये ना खेये बापेर बाड़ि यान॥

इस उम्र में यह लोकगीत सुनते ही सबसे पहले ऐसा लगता है कि शिबू ठाकुर ने जिन तीन कन्याओं से विवाह किया है उनमें बीच वाली कन्या ही सबसे अधिक बुद्धिमती है। लेकिन एक उम्र ऐसी भी थी जब इस तरह के चरित्र-विश्लेषण की क्षमता मुझमें न थी। तब यह चार पंक्तियाँ मेरे बाल्यकाल के मेघदूत के समान थीं। मेरे मानस-पट पर एक घने बादलों से ढका हुआ बदली का दिन और उत्ताल तरंगित नदी मूर्तिमान होकर दिखाई देती। फिर मैं देखता कि उसी नदी के किनारे बालू के मैदान पर बस दो-एक डोंगियाँ बँधी है और शिबू ठाकुर की नवविवाहिता बहुएँ चढ़ती-उतरती हुई रसोई की तैयारी कर रही हैं। सच बात कहने में क्या बुराई, शिबू ठाकुर का जीवन बड़े सुख का जीवन जान पड़ता और चित्त थोड़ा व्याकुल हो जाता। यहाँ तक कि तीसरी बहू का बहुत नाराज होकर जल्दी-जल्दी पैर उठाते हुए मैके की ओर चल देना भी मेरे इस सुख-चित्र में कोई व्याघात न डाल सकता। यह निर्बोध तब तक यह न समझ सकता था कि उस एक पंक्ति में अभागे शिबू ठाकुर के जीवन का कौन-सा एक हृदय-विदारक शोकावह परिणाम

सूचित हुआ है। लेकिन मैं पहले ही कह चुका हूँ कि तब मेरे मन की गति चरित्र-विश्लेषण की अपेक्षा चित्र-रचना की ओर ही अधिक थी। अब मैं इस बात को समझ पा रहा हूँ कि हतबुद्धि शिबू ठाकुर को अपनी छोटी बहू का इस प्रकार अकस्मात् मैके चल देना कोई बड़ा सुहाना दृष्ट न लगा होगा।

यह शिबू ठाकुर क्या कभी कोई था, यह बात भी कभी-कभी मन में आती है। हो सकता है कि रहा हो। हो सकता है कि इस लोकगीत में पुराने विस्मृत इतिहास का नन्हा-सा टूटा-फूटा अंश बाकी रह गया हो। हो सकता है कि दूसरे किसी लोकगीत में इसका और एक टुकड़ा मिले।

ए पार गंगा, ओ पार गंगा, मध्यिखाने चर।
तारि मध्ये बसे आछे शिव सदागर॥
शिव गेल श्वशुरबाड़ि, बसते दिल पिंड़े।
जलपान करिते दिल शालिधानेर चिंड़े॥
शालिधानेर चिंड़े नय रे, बिन्निधानेर खइ।
मोटा मोटा सब रि कला, कागमारे दइ॥

मुझे संदेह होता है कि शिबू ठाकुर और शिबू सौदागर एक ही आदमी होगा। दाम्पत्य-सम्बन्ध का दोनों को खास शौक है और मैं समझता हूँ कि खाने-पीने के बारे में भी उनके मन में अवहेलना का भाव नहीं है। इसके ऊपर से गंगा के बीच में जो स्थान चुन लिया गया है वह भी नवविवाहितों के प्रथम प्रणय-यापन के लिए अत्यन्त उपयुक्त स्थान है।

इस स्थल पर पाठक लक्ष्य करेंगे कि पहले असावधानीवश शिबू सौदागर के जलपान के स्थान पर शालीधान के चिवड़े का उल्लेख किया गया था, लेकिन दूसरे ही क्षण संशोधन करके कहा गया, "शालिधानेर चिंड़े नय रे बिन्निधानेर खइ" (शालिधान का चिवड़ा नहीं बिन्नी धान की खोई) कि जैसे घटना के सत्य के सम्बन्ध में तिल-भर इधर-उधर होने के लिए गुंजाइश न हो। लेकिन तो भी इस संशोधन के द्वारा वर्णित फलाहार कुछ बहुत विशेष हो गया हो, जमाई के आदर के सम्बन्ध में ससुराल का गौरव और भी अधिक उज्ज्वल रूप में प्रस्फुटित हो उठा हो, यह भी मैं नहीं कह सकता। लेकिन इस क्षेत्र में कवि का लक्ष्य ससुराल की मर्यादा की अपेक्षा सत्य की मर्यादा की रक्षा के प्रति अधिक दिखाई पड़ता है। यह भी मैं पूरे विश्वास के साथ नहीं कह सकता। लगता है कि यह भी स्वप्न-जैसा है। मैं समझता हूँ कि शालिधान का चिवड़ा देखते-देखते बिन्नी धान की खोई

बन गया। शायद शिबू ठाकुर भी इसी तरह कभी शिबू सौदागर में परिणत हो गया हो, लेकिन कौन कह सकता है।

सुना जाता है कि मंगल और बृहस्पति के कक्ष में कई छोटे-छोटे ग्रह हैं। कुछ लोग कहते हैं कि एक बड़ा ग्रह टूटकर खण्ड-खण्ड हो गया है। ये बच्चों को बह-लाने के लोकगीत भी मुझे वैसे ही खण्ड-जगत् जान पड़ते हैं। अनेक प्राचीन इतिहास प्राचीन स्मृति के चूर्ण अंश इन सब लोकगीतों में बिखरे हुए हैं, कोई पुरातत्त्ववेत्ता अब उन्हें जोड़कर एक नहीं कर सकता लेकिन हमारी कल्पना इन खण्डहरों में उसी विस्मृत प्राचीन जगत् का सुदूर और साथ ही निकट परिचय प्राप्त करने की चेष्टा करती है।

यह कहने की जरूरत नही कि बालक की कल्पना इस ऐतिहासिक ऐक्य-रचना के लिए उत्सुक नही होती। उसके लिए सब-कुछ वर्तमान होता है और सारा गौरव उसी वर्तमान का होता है। वह केवल प्रत्यक्ष चित्र देखता है और उस चित्र को भाव के आँसुओं की भाप से धुँधला नही करना चाहता।

नीचे उद्धृत लोकगीत में असंलग्न चित्र जैसे चिड़ियों के झुंड के समान उड़ रहे हैं। इनमें से प्रत्येक की इस द्रुतगति से बच्चे का चित्त बार-बार नये-नये आघात पाकर विचलित होता रहता है।

नोटन मोटन पायरागुलि झोंटन रेखेछे।
बड़ो साहेबेर बिबिगुलि नाइते एसेछे॥
दु पारे दुइ रुइ कातला भेसे उठेछे।
दादर हाते कलम छिल छुँड़े मेरेछे॥
ओ पारेते दुटि मेये नाइते नेबेछे।
झुनु झुनु चुलगाछटि झाड़ते लेगेछे॥
के रेखेछे के रेखेछे, दादा रेखेछे।
आज दादार ढेला फेला, काल दादार बे॥
दादा यावे कोन्‌खान दे। बकुलतला दे।
बकुलफुल कुड़ते कुड़ते पेये गेलुम माला॥
रामधनुके बाद्दि बाजे सीतेनाथेर खेला।
सीतेनाथ बले रे भाइ चालकड़ाइ खाब॥
चालकड़ाइ खेते खेते गला हल काठ।
हेथा होथा, जल पाब चितपुरेर माठ॥

चितपुरे माठेते मासि चिक् चिक् करे।
सोना-मुखे रोव नेगे रक्त फेटे पड़े॥

इनमें से कोई भी चित्र हमें पकड़कर नहीं रखता, हम भी किसी चित्र को पकड़कर नहीं रख सकते। लोटन कबूतर, बड़े साहब को बीबियाँ, आर-पार दिखाई पड़ती हुई दो रोहू मछलियाँ, दूसरे किनारे नहाती हुई दो लड़कियाँ, दादा का ब्याह, इंद्रधनुष के बाजे के साथ सीतानाथ का खेल और दोपहर की धूप में तपी हुई बालू से चिकने मैदान में आगभभूका चेहरा—यह सब-कुछ स्वप्न-जैसा है। उस पार जो दो लड़कियाँ नहा रही हैं और बाल झाड़ते वक्त उनके दोनों हाथों की चूड़ियाँ झुनझुन बज रही हैं, वे चित्र के रूप में प्रत्यक्ष सत्य हैं लेकिन प्रासंगिकता की दृष्टि से विचित्र स्वप्न।

पाठकों को यह बात भी याद रखनी चाहिए कि स्वप्न की रचना करना बहुत कठिन होता है। किसी को एकाएक ऐसा लग सकता है कि जैसे-तैसे लिखने से ही लोकगीत लिखा जा सकता है। लेकिन वह जैसा-तैसा भाव पाना सहज नहीं। संसार के सब कार्यों में हमारा ऐसा अभ्यास हो गया है कि सहज भाव की अपेक्षा सचेष्ट भाव ही हमारे लिए सहज हो उठा है। न बुलाने पर भी व्यस्तवागीश चेष्टा सब कामों में अपने-आप आकर हाज़िर हो जाती है। और वह जहाँ पर हस्तक्षेप करती है वहीं पर भाव अपना छोटा-सा मेघाकार त्यागकर अड्डा जमा लेते हैं,हवा में उड़ने की क्षमता उनमें फिर नहीं रह जाती। इसीलिए लोकगीत जिसके लिए सहज है उसके लिए अत्यन्त सहज है लेकिन जिसके लिए थोड़ा भी कठिन है उसके लिए एकदम असाध्य है। जो सबसे अधिक सरल है वही सबसे अधिक कठिन है, सहज का प्रधान लक्षण यही है।

मैं समझता हूँ कि पाठक यह भी लक्ष्य करेंगे कि हमने पहले जो लोकगीत उद्धृत किया है उसके साथ यह लोकगीत क्योंकर मिल गया है। जिस तरह मेघ से मेघ, स्वप्न में स्वप्न मिल जाता है उसी तरह लोकगीत भी एक-दूसरे में घुले-मिले रहते हैं, इसके लिए कोई कवि चोरी का अभियोग नहीं लगाता और कोई समालोचक भी भाव-विपर्यय का दोष नहीं देता। सचमुच ये लोकगीत मानसिक मेघ-राज्य की लीला हैं, वहाँ पर सीमा या आकार या अधिकार का निर्णय नहीं होता। वहाँ पर पुलिस या आईन-कानून का कोई सम्पर्क नहीं दिखाई पड़ता। दूसरी जगह से प्राप्त यह निम्नांकित लोकगीत मनोयोगपूर्वक देखिए :

ओ पारे जन्तिगाछटि जन्ति बड़ो फले।
गो जन्तिर माथा खेये प्राण प्राण केमन करे॥
प्राण करे हाइढाइ गला हल काठ।
कतक्षणे याब रे भाइ हरगौरीर माठ॥
हरगौरीर माठ रे भाइ पाका पाका पान।
पान किनलाम, चुन किनलाम, ननदे भाजे खेलाय।
एकटि पान हाराले दादाके ब'ले देलाय॥
दादा दादा डाक छाड़ि दादा नाइको बाड़ि।
सुबल सुबल डाक छाड़ि सुबल आछे बाड़ि॥
आज सुबलेर अधिवास काल सुबलेर बिये।
सुबलके निये याब आमि दिग्नगर दिये॥
दिग्नगरेर मेयेगुलि नाइते बसेछे।
मोटा मोटा चुलगुलि गो पेते बसेछे॥
चिकन चिकन चुलगुलि झाड़ते नेगेछे।
हाते तादेर देवशांखा मेघ नेगेछे॥
गलाय तादेर तक्तिमाला रवत छुटेछे।
परने तादेर डुरे शाड़ि घुरे पड़ेछे॥
दुइ दिके दुइ कात्ला माछ भेसे उठेछे।
एकटि निलेन गुरु ठाकुर एकटि निलेन टिये॥
टियेर मार बिये।
लाल गामछा दिये॥
अशथेर पाता धने।
गौरी बेटि कने॥
नका बेटा बर।
ट्याम् कुड़ कुड़ बाद्दि बाजे चड़क-डांगाय घर॥

इन सब लोकगीतों में से तथ्य का अन्वेषण करने पर बड़े संकट में पड़ना होगा। पहले लोकगीत में हमने देखा है कि अर्धा पायस खाकर सीताराम नामक नृत्यप्रिय मुग्ध बालक को पानी पीने के लिए त्रिपूर्णी के घाट जाना पड़ा था; दूसरे लोकगीत में हम देखते हैं कि सीताराम कड़ी-भात खाकर पानी की खोज में विष्णु-पुर के मैदान में जा पहुँचा, लेकिन तीसरे लोकगीत में दिखाई पड़ता है कि सीता-

राम भी नहीं सीतानाथ भी नहीं बल्कि कोई एक अभागिनी भौजाई की विद्वेष-परायणा ननद जतिफल खाने के बाद प्यास से व्याकुल होकर हरगौरी के मैदान में पानी लाने गई थी और फिर असावधान भौजाई के तुच्छ अपराध को दादा से कहने के लिए मुहल्ले को सिर पर उठा लिया था।

यही तो तीनो लोकगीतो मे असगति है। इसके अलावा हर लोकगीत में अपने ही भीतर घटना को धारावाहिकता नही दिखाई पड़ती। खूब समझ मे आता है कि अधिकांश बात बनाई हुई है लेकिन हम यह भी देखते है कि बात बनाते समय लोग प्रमाण के प्राचुर्य द्वारा उसको सत्य की अपेक्षा और भी अधिक विश्वासयोग बना देते है लेकिन इस क्षेत्र मे उस चीज के बारे मे सोचा तक नही गया। इनकी बातें सच भी नहीं हैं झूठ भी नही हैं, दोनो से परे है वह जो लोकगीत मे एक जगह पर सुबल के विवाह का उल्लेख है वह कोई असम्भव घटना नही है। लेकिन सत्य भी नही जान पड़ती।

दादा दादा डाकछाड़ि बादा नाइको बाड़ि।
सुबल सुबल डाक छाड़ि, सुबल आछे बाड़ि॥

जिस तरह सुबल का नाम मुंह पर आते ही मुंह से निकल गया, "आज सुबलेर अधिवास, काल सुबलेर बिये।" वह बात भी स्थायी नही हुई, झट दिग्नगर की लम्बे बालो वाली लड़कियो की बात उठी। स्वप्न में भी ठीक ऐसा ही होता है। चाहे शब्द-सादृश्य या अन्य किसी बेमेल तुच्छ सम्बन्ध का सहारा लेकर क्षण-क्षण में एक बात से दूसरी बात बनती जाती है। क्षण-भर पहले उसके होने का कोई कारण ही न था, क्षण-भर बाद भी उसकी सम्भावना बिना चेष्टा किये हट जाती है। सुबल के विवाह को चाहे पाठक तत्कालीन और तत्स्थानीय किसी सच्ची घटना का आभास समझें तो भी सभी एकमत से स्वीकार करेंगे कि "लाल गामछा दिये टियेर मार बिये" किसी प्रकार सामयिक इतिहास मे स्थान नही पा सकता। क्योंकि टिये जाति में विधवा-विवाह प्रचलित होने पर भी लाल गामछा का व्यवहार उक्त संप्रदाय में कभी सुना नही गया, लेकिन जिनके आगे छंद के ताल-ताल में मीठे कंठ से यह सब असंलग्न असम्भव घटनाएँ उपस्थित की जाती हैं वे विश्वास भी नही करते, संदेह भी नही करते, वे मन की आंखों से स्वप्नवत् प्रत्यक्षवत् चित्र देखते जाते हैं।

'मेमेली छड़ा' नाम से इसका प्रकाशन 'साधना' के आश्विन-कार्तिक १३०१ के अंक में हुआ था। इन लोरियों का संग्रह रवीन्द्रनाथ ने वंगीय साहित्य परिषद् की पत्रिका में माघ १३०१ मे प्रकाशित कराया था। इस क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ प्रवर्त्तक थे।

नवम खण्ड

आधुनिक साहित्य

१. बंकिमचन्द्र

वंकिमचंद्र

वंकिम की नई प्रतिमा जब लक्ष्मी के रूप में सुधापात्र हाथ में लेकर बंगाल के सम्मुख आविर्भूत हुई तब उस समय के पुराने लोगों ने वंकिम की रचना का सम्मानपूर्वक आनंद के साथ स्वागत नहीं किया।

तब वंकिम को बहुत उपहास, विद्रूप, ग्लानि सहनी पड़ी थी। उन पर लोगों के एक दल का तीव्र विद्वेष था और जो क्षुद्र लेखक-संप्रदाय उनका अनुकरण करने की विफल चेष्टा करता था वही अपना ऋण छिपाने के प्रयास में उनको सबसे अधिक गाली देता था।

और फिर आजकल जो पाठकों और लेखकों के नये संप्रदाय उत्पन्न हुए हैं उन्हें भी वंकिम के समग्र प्रभाव को हृदय में अनुभव करने का अवकाश नहीं मिला। वे वंकिम की गढ़ी हुई साहित्य-भूमि पर ही भूमिष्ठ हुए हैं, वंकिम के निकट वे कितने रूपों में कितने प्रकार से ऋणी हैं इसका हिसाब अलग करके वे देख नहीं पा रहे हैं।

लेकिन वर्तमान लेखक के सौभाग्य से, हमारे साथ जब वंकिम का प्रथम साक्षात्कार हुआ तब तक साहित्य आदि के संबंध में कोई पूर्वग्रह हमारे मन में बद्धमूल नहीं हुआ था और वर्तमान काल का नूतन भाव-प्रवाह भी हमारे निकट अपरिचित, अनभ्यस्त था। जिस तरह उस समय बंगला साहित्य में प्रभात और संध्या का मिलन हो रहा था उसी तरह हमारे लिए भी वह वय:संधि काल था। वंकिम ने बंगला साहित्य के प्रभात का सूर्योदय किया, हमारा हृदय-कमल वहीं पहली बार प्रस्फुटित हुआ।

पहले क्या था और बाद को क्या मिला यह हमने दो युगों के संधिस्थल पर खड़े होकर एक क्षण में ही अनुभव कर लिया। कहाँ गया वह अंधकार, कहाँ गई वह एकरूपता वह निद्रा—कहाँ गया वह 'विजय वसंत', वह 'गुलबकावली', वह लड़कों को बहलाने की कहानियाँ—कहाँ से आया इतना प्रकाश, इतनी आशा इतना संगीत, इतना वैचित्र्य! बंग दर्शन तब जैसे आषाढ़ की प्रथम वर्षा के समान 'समागतो राजवदुन्नतध्वनि' हो। और मूसलाधार भावों की वर्षा में बंगला

साहित्य की पूर्व-वाहिनी, पश्चिम-वाहिनी सब नदी-निर्झरिणियाँ एकाएक भर उठी और यौवन के आनद वेग से दौड़ने लगी। कितने काव्य, नाटक, उपन्यास, कितने लेख, कितनी समालोचनाएँ, कितने मासिक पत्र, कितने समाचार-पत्र—सबने बगभूमि को जाग्रत प्रभात-कलरव से मुखरित कर दिया। बंगला भाषा देखते-देखते बचपन से यौवन मे पहुँच गई।

हमने किशोरावस्था मे बंगला साहित्य में भावो के उस नये समागम का महोत्सव देखा था, सारे देश को अपने भीतर समेटकर जो आशा का आनंद नया-नया हिलोरें ले रहा था उसको अनुभव किया था, इसलिए आज रह-रहकर निराशा होती है। ऐसा लगता है कि उस दिन हृदय में जिस अपरिमेय आशा का संचार हुआ था उसके अनुरूप फल की प्राप्ति नही हो सकी, जीवन का वह वेग अब नही है। लेकिन यह निराशा बहुत-कुछ निर्मूल है। पहले समागम का प्रबल उच्छ्वास कभी स्थायी नही हो सकता। उस नये आनद और नई आशा की स्मृति के साथ वर्तमान की तुलना करना ही अन्याय है। विवाह के पहले दिन वंशी की ध्वनि जिस रागिनी में बजती है वह रागिनी सदा नही रहती। उस दिन तो केवल शुद्ध आनद और आशा होती है, उसके बाद से शुरू होते हैं तरह-तरह के कर्त्तव्य, मिले-जुले दुख-सुख, छोटे-मोटे बाधा-विघ्न, विरह-मिलन का चक्र फिर तो यो ही गहरे गभीर ढग से तरह-तरह के रास्तो से होकर तरह-तरह के शोक-ताप झेलकर संसार-पथ पर अग्रसर होगा, सब दिन वह नौबत नही बजेगी। तो भी उस एक दिन के उत्सव की स्मृति कठोर कर्तव्य-पथ पर सदा आनंद का संचार करती रहती है।

बकिमचंद्र ने अपने हाथ मे जिस दिन बगला भाषा के साथ नवयौवन प्राप्त भावों का परिणय कराया था उस दिन की सर्वव्यापी प्रफुल्लता और आनंद-उत्सव हमारे मन मे है। वह दिन अब नही है। आज तरह-तरह की रचनाएँ, तरह-तरह के मत, तरह-तरह की आलोचनाएँ आकर उपस्थित हो गई हैं। आज किसी दिन भावों का स्रोत मद हो जाता है और किसी दिन थोड़ा सबल हो उठता है।

ऐसा ही होता रहता है और ऐसा ही होना जरूरी है। लेकिन किसके प्रसाद से ऐसा होना सभव हुआ यह बात याद रखनी होगी। हम अपने अभिमान मे सदा यह भूल जाते है।

भूल जाते है इसका पहला प्रमाण यह है कि हम राममोहन राय को अपने

वर्तमान बंग-देश के निर्माता के रूप मे नहीं जानते। क्या राजनीति, क्या विद्या-शिक्षा, क्या समाज, क्या भाषा आधुनिक बंगाल में ऐसा कुछ भी नही है जिसका सूत्रपात राममोहन राय ने अपने हाथ से नही किया। यहाँ तक कि आज देश मे प्राचीन शास्त्रालोचना के प्रति जो एक नया उत्साह दिखाई पड़ रहा है, उसके भी पथ-प्रदर्शक राममोहन राय हैं। जब नई शिक्षा के अभिमान में स्वभावतः प्राचीन शास्त्रो के प्रति अवज्ञा उत्पन्न होने की संभावना थी तब राममोहन राय ने साधारण लोगो के लिए दुर्बोध, विस्मृतप्राय वेद, पुराण, तंत्र से सार लेकर प्राचीन शास्त्रों का गौरव उज्ज्वल रखा था।

बंगाल आज उसी राममोहन राय के निकट किसी तरह हृदय से कृतज्ञता नही स्वीकार करना चाहता। राममोहन ने बंगला साहित्य को ग्रैनाइट के धरातल पर स्थापित करके उसे डूब जाने की स्थिति से उबार लिया था, बंकिमचंद्र उसीके ऊपर प्रतिभा का प्रवाह डालकर उपजाऊ गीली मिट्टी की तहें जमा गए है। आज बंगला भाषा मजबूत घर बनाने के योग्य ही नही है बल्कि उर्वरा शस्यश्यामला हो उठी है। रहने की भूमि सच्चे अर्थों में मातृभूमि बन गई है। अब हमारे मन का आहार प्रायः घर के द्वार पर ही फल रहा है।

मातृभाषा की फलहीन दशा को मिटाकर जिन्होंने उसे इतनी गौरवशालिनी बनाया है उन्होंने बंगाली जाति का कितना बड़ा और कैसा चिरस्थायी उपकार किया है, यह बात अगर किसी को समझाने की जरूरत पड़े तो इससे बड़ा दुर्भाग्य और कुछ नही हो सकता। उससे पहले कोई बंगला को आदर की दृष्टि से न देखता था। संस्कृत पंडित उसे ग्राम्य और अंग्रेजी पंडित उसे बर्बर समझते थे। बंगला भाषा में भी कीर्ति उपार्जित की जा सकती है, यह वे सपने मे भी न सोच सकते थे। इसीलिए वे बड़ी कृपा करके केवल स्त्रियो और बच्चों के लिए देशीय भाषा मे सरल पाठ्य पुस्तको की रचना करते। जो लोग उन सब पुस्तकों की सरलता और पाठ्य-योग्यता के संबध मे जानना चाहें वे रेवेरेण्ड कृष्णमोहन बंद्योपाध्याय-रचित एन्ट्रेन्स-पाठ्य बंगला ग्रन्थ में दाँत गड़ाने का प्रयत्न करके देखें। असम्मानित बंगला भाषा भी तब अत्यंत दीन-मलिन भाव से काल-यापन कर रही थी; उसमें कितना सौन्दर्य, कितनी महिमा छिपी हुई है यह उसी दरिद्रता को भेदकर प्रकट न हो पाता था। जहाँ मातृभाषा की इतनी अवहेलना होती हो, वहाँ कोई मानव-जीवन की शुष्कता, शून्यता, दीनता दूर नही कर सकता।

ऐसे समय मे तब तक के शिक्षितो में श्रेष्ठ बंकिमचंद्र ने अपनी सारी शिक्षा, सारा अनुराग, सारी प्रतिभा, उसी दीन-हीन बंगला भाषा के चरणों में भेंट चढ़ा दी। उस समय उन्होंने यह जो असाधारण काम किया, उसका हम आज पूरी तरह अनुमान भी जो नहीं कर पाते, यह भी उन्हीका प्रसाद है।

तब उनकी तुलना में अनेक अर्धशिक्षित प्रतिभाहीन व्यक्ति अंग्रेजी में दो सतरें लिखकर घमड से फूल उठते थे। वे अंग्रेजी के समुद्र मे ऊदबिलाव की तरह बालू का बाँध बना रहे हैं, यह समझने की शक्ति भी उनके अदर न थी।

बंकिमचंद्र ने जो उस अभिमान और ख्याति की संभावना को निर्भय-निस्सकोच त्याग दिया और जो विषय उस समय के विद्वानों के लिए उपेक्षित था उसमें जिस प्रकार अपनी सारी शक्ति लगा दी, उससे बडा वीरता का परिचय और क्या हो सकता है ? सारी क्षमता रहते हुए अपने समकक्ष लोगों के उत्साह और उसकी प्रशसा के प्रलोभन को छोडकर एक अपरीक्षित, अपरिचित अनाहत अँधेरे रास्ते पर अपने नये जीवन की समस्त आशा, उद्यम, क्षमता को ले जाना कितने विश्वास और साहस के बल पर ही हो सकता है, इसका हिसाब लगाना आसान नही।

इतना ही नही। उन्होंने अपनी शिक्षा के गर्व में बंगला भाषा के प्रति अनुग्रह नही दिखलाया, श्रद्धा और केवल श्रद्धा और व्यक्त की। जितनी कुछ आशा, आकाक्षा, सौन्दर्य, प्रेम, महत्त्व, भक्ति, देशानुराग था, शिक्षित परिणत बुद्धि के जितने कुछ शिक्षा से प्राप्त और चिंतन मे उत्पन्न धनरत्न थे, सब-कुछ उन्होंने निस्संकोच बगला भाषा के हाथो मे अर्पित कर दिया। उस अनादर से मलिन भाषा के मुखमंडल पर इस परम सौभाग्य के गर्व से देखते-देखते अपूर्व लक्ष्मी-श्री प्रस्फुटित हो उठी।

और वे लोग जिन्होंने पहले अवहेलना की थी, बंगला भाषा के यौवन-सौंदर्य से आकृष्ट होकर एक-एक करके पास आने लगे। बंगला साहित्य प्रतिदिन गौरव से परिपूर्ण होने लगा।

बंकिम ने जो भारी बोझ अपने कधो पर उठाया था वह और किसी के बस का न था। पहली बात तो यह कि बंगला भाषा तब जिस स्थिति मे थी उसमें वह शिक्षित व्यक्तियों के सब तरह के भावों को व्यक्त कर सकती है, यह विश्वास करना और खोज निकालना ही विशेष क्षमता का काम था। दूसरे, जहाँ पर साहित्य मे कोई आदर्श न हों जहाँ पाठक असाधारण उत्कर्ष की आशा ही न करता

हो, जहाँ लेखक उपेक्षापूर्वक लिखता हो और पाठक अनुग्रहपूर्वक पढ़ता हो, जहाँ थोड़ा-सा भी अच्छा लिख लेने से वाहवाही मिलती हो और बुरा लिखने पर भी कोई निंदा करना जरूरी न समझता हो, वहाँ केवल अपने मन में स्थित उन्नत आदर्श को सदैव अपने आगे रखे हुए, सामान्य परिश्रम से सुलभ ख्याति पाने के प्रलोभन को दबाते हुए, अथक परिश्रम से अप्रतिहत उद्यम से दुर्गम परिपूर्णता के रास्ते पर आगे बढ़ना असाधारण गौरव का कार्य है। चारों ओर फैली हुई उत्साहहीन जीवनहीन जड़ता के समान भारी बोझ दूसरा नहीं है, उसकी प्रबल गुरुत्वाकर्षण-शक्ति को लाँघकर ऊपर उठना कितनी अथक चेष्टा और बल का काम है, यह आज के साहित्य-व्यवसायी भी थोड़ा-बहुत समझ सकते हैं, और तब यह और भी कितना कठिन था इसका अनुमान करना भी कष्टकर है। जब सभी जगह शिथिलता हो और उस शिथिलता की निंदा न होती हो तब अपने को नियमव्रत में बाँधना बड़े पुरुषार्थी लोगों का ही काम है।

बंकिम ने अपने हृदय के उस आदर्श का सहारा लेकर प्रतिभा के बल से जो कार्य किया वह बड़ा अद्‌भुत है। बंगदर्शन के पूर्ववर्ती और उसके परवर्ती बंगला साहित्य में ऊँच-नीचे का अपरिमित अन्तर है। जिन्होंने दार्जिलिंग से कांचनजंघा की शिखरमाला देखी है वे जानते हैं कि उस अभ्रभेदी शैल-सम्राट् का उदयरवि-रश्मिसमुज्ज्वल तुषार-किरीट चारों ओर की निस्तब्ध चोटियों से कितने ऊपर उठा हुआ है। बंकिमचंद्र के परवर्ती बंगला साहित्य ने भी उस प्रकार आकस्मिक उन्नति प्राप्त की है, एक बार उसीका निरीक्षण करने और हिसाब लगाकर देखने से बंकिम की प्रतिभा का विराट् बल सहज ही अनुमान किया जा सकेगा।

बंकिम ने स्वयं बंगला भाषा को जो श्रद्धा अर्पित की थी, दूसरों से भी वे उसी श्रद्धा की प्रत्याशा रखते थे। पुराने अभ्यासवश कोई अगर साहित्य के साथ खिलवाड़ करने को आता तो बंकिम उसको ऐसा दण्ड देते कि फिर उसे ऐसी धृष्टता करने का साहस न होता।

तब समय और भी कठिन था। बंकिम ने स्वयं एक देशव्यापी भावना का आन्दोलन उपस्थित किया था। उस आन्दोलन के प्रभाव में कितने हृदय चंचल हो उठे थे और अपनी क्षमता की सीमा को न समझते हुए कितने लोगों ने एक छलाँग में लेखक बन जाने की चेष्टा की थी, इसकी गिनती नहीं। लिखने का प्रयास जाग उठा था, लेकिन उसका कोई उच्च आदर्श तब तक नहीं स्थापित हो पाया था। उस समय सव्यसाची बंकिम ने एक हाथ गठन-कार्य में और एक हाथ

बनना चाहते हैं वे दिन-रात बंगाल को अत्युक्तिपूर्ण स्तुति-वाक्यों से प्रसन्न रखने की चेष्टा करते हैं। लेकिन बंकिम की सरस्वती केवल स्तुतिवादिनी न थी, खड्ग-धारिणी भी थी। बंग देश यदि जड़ और प्राणहीन न होता तो कृष्ण-चरित को लेकर वर्तमान पतित हिन्दू-समाज और विकृत हिन्दू धर्म के ऊपर जो अस्त्र-घात उन्होंने किया है उससे उसको पीड़ा पहुँचती और शायद कुछ चेतना भी मिलती। बंकिम के समान तेजस्वी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति को छोड़कर दूसरा कोई भी लोकाचार देशाचार के विरुद्ध इतने निर्भीक, स्पष्ट ढंग का अपना मत व्यक्त करने का साहस न करता। यहाँ तक कि बंकिम ने प्राचीन हिन्दू शास्त्र के प्रति ऐतिहासिक दृष्टि रखते हुए उसके सारवान् और निस्सार भावों को अलग किया है, उसके प्रामाणिक और अप्रामाणिक अंगों का विश्लेषण इतने निस्संकोच भाव से किया है कि आज उसकी तुलना मिलनी कठिन है।

उन्हें विशेषतः दो शत्रुओं के बीच में अपना रास्ता बनाते हुए चलना पड़ा। एक ओर जो लोग अवतार नहीं मानते वे श्रीकृष्ण के ऊपर देवत्व का आरोप करने से विपक्षी हो गए। दूसरी ओर वे लोग जो शास्त्र के प्रत्येक अक्षर और लोकाचार की प्रत्येक प्रथा को अभ्रांत समझते है वे भी विचार लोहास्त्र द्वारा शास्त्र के बीच से काँट-छाँटकर छील-छालकर मनुष्य के महान्तम आदर्श के अनुसार देवताओं को गढ़ने की क्रिया से बहुत प्रसन्न नहीं हुए। ऐसी स्थिति में दूसरा कोई होता तो किसी एक पक्ष को पूरी तरह अपने दल में समेट लेने की इच्छा करता। लेकिन साहित्य-महारथी बंकिम दाएँ-बाएँ दोनों पक्षों के ऊपर तीर चलाते हुए बेधड़क आगे बढ़े हैं—उनकी अपनी प्रतिभा ही उनकी एक-मात्र सहायक थी। उन्होंने अपने विश्वासों को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है—वाक्-चातुर्य द्वारा अपने को या दूसरे को ठगने की कोशिश नहीं की।

कल्पना और काल्पनिकता दोनों में बड़ा भारी अन्तर है। सच्ची कल्पना युक्ति, संयम और सत्य के द्वारा सुनिर्दिष्ट आकार में बँधी होती है—काल्पनिकता में सत्य का आभास-मात्र होता है लेकिन वह अद्भुत अतिरंजना से असंहत रूप में फूली हुई होती है। उसमें जो थोड़ा-बहुत प्रकाश होता है उससे सौ गुना ज्यादा धुआँ होता है। जिसमें क्षमता कम होती है वे प्रायः साहित्य की इस धुआँ देती हुई काल्पनिकता का सहारा लेते हैं, क्योंकि यह देखने में विराट् होती है लेकिन सचमुच बहुत छोटी होती है। पाठकों का एक दल इस प्रकार की प्रकाण्ड, कृत्रिम काल्पनिकता की निपुणता देखकर मुग्ध और अभिभूत हो जाता है और दुर्भाग्य से बंगला

में इस श्रेणी के पाठक कम नहीं हैं।

इस प्रकार की अपरिमित, असंयत कल्पना के देश में बंकिम के समान आदर्श हमारे लिए अत्यन्त मूल्यवान है। कृष्ण-चरित्र में, उद्दाम भावों के आवेग में उनकी कल्पना कहीं उच्छृंखल नहीं होने पाई। शुरू से लेकर आखिर तक सब जगह वे पग-पग पर अपने को संयत करते हुए युक्ति का सुनिर्दिष्ट पथ पकड़े-पकड़े चले हैं। जो कुछ उन्होंने लिखा है उसमें उनकी प्रतिभा व्यक्त हुई है, जो नहीं लिखा उसमें भी उनकी क्षमता कम नहीं प्रकट हुई।

विशेषतः यह विषय ऐसा है कि किसी साधारण बंगाली लेखक के हाथ में पड़ने पर वह इस सुयोग का लाभ उठाकर 'हरि-हरि' 'मरि-मरि' 'हाय-हाय' का खूब शोर मचाता, आँसू बहाता, भाव बदलने के लिए खूब-खूब अंगों को तोड़ता-मरोड़ता और कल्पना के उच्छ्वास, भावों के आवेग और हृदय की अतिशय भावुकता को प्रकट करने का ऐसा अनुकूल अवसर कभी हाथ से न जाने देता, सुविचारित तर्क द्वारा, कठिन सत्य-निर्णय के आग्रह से पग-पग पर अपनी लेखनी पर रोक न लगाता, सबके लिए सुगम सरल पथ को छोड़कर अपने एक कपोल-कल्पित नये आविष्कारको ही सूक्ष्म बुद्धि द्वारा सबसे अधिक प्रधानता देकर वाक्-प्राचुर्य और कल्पना के कुहासे से ढक देता और यथाशक्ति अपने विश्वास और भाषा का लम्बा-चौड़ा ताना-बाना बुनकर अधिक-से-अधिक लोगों को अपने मत के जाल में खींचने की चेष्टा करता।

वस्तुतः हमारे शास्त्रों से इतिहास के उद्धार का कठिन भार केवल बंकिम ले सकते थे। एक ओर हिन्दू शास्त्रों के वास्तविक मर्म को समझने में यूरोपीय लोगों की अक्षमता, दूसरी ओर शास्त्रगत प्रमाणों के निरपेक्ष विचार के सम्बन्ध में हिन्दू लोगों का संकोच—एक ओर ठीक-ठीक परिचय का अभाव, दूसरी ओर अति-परिचयजनित अभ्यास और संस्कारों का अंधापन—यथार्थ इतिहास को इन दोनों संकटों के बीच से उबारना होगा। देशानुराग की सहायता से शास्त्रों के मर्म में पैठना होगा और सत्यानुराग की सहायता से उसके निर्मूल अंशों को छोड़ना होगा। जिस वल्गा के इंगित से लेखनी को वेग देना होगा, उसी वल्गा को खींचकर सदैव लेखनी को संयत करना होगा। इन सब क्षमताओं का सामंजस्य बंकिम के अन्दर था। इसीलिए जब वे मृत्यु से कुछ ही पहले प्राचीन वेद-पुराण का संग्रह करने के लिए बैठे थे तो बंगाली साहित्य को उनसे बड़ी आशा थी लेकिन मृत्यु ने उस आशा को सफल नहीं होने दिया और हमारे भाग्य से जो असम्पन्न रह गया वह

कब सम्पन्न होगा यह कोई नहीं कह सकता।

यह बंकिम की प्रतिभा का एक स्वाभाविक गुण है कि वे सब तरह के अतिरेक और असंगति से अपनी रक्षा कर सके। जिन लोगों ने उनकी रचनाएँ पढ़ी हैं वे जानते हैं कि बंकिम हास्यरस के अच्छे रसिक थे। जिस परिष्कृत बुद्धि का आलोक सभी अतिरेकों और असंगतियों का पर्दा खोल देता है, हास्यरस उसी किरण की एक रश्मि है। कहाँ पहुँचकर कोई चीज हास्यास्पद हो उठती है यह सब लोग अनुभव नहीं कर पाते, लेकिन जो हास्य-रस के रसिक होते हैं उनके अन्त.करण में एक बोधशक्ति होती है जिसके द्वारा वे सदा अपनी ही नहीं दूसरे की बातचीत, आचार-व्यवहार और चरित्र की सुसंगति की सूक्ष्म सीमा तक का सहज ही निर्णय कर लेते हैं।

बंकिम ही सबसे पहले बंगला साहित्य में निर्मल, शुभ्र, संयत हास्य लेकर आए। उसके पहले बंगला साहित्य में हास्य-रस को दूसरे रसों के साथ एक पंक्ति में नहीं बैठाया जाता था। वह नीचे आसन पर बैठकर श्राव्य-अश्राव्य भाषा में भँडेती करके सभाजनों का मनोरंजन करता था। शृंगार-रस के साथ जैसे उसका छेड़-छाड़ का कोई खास रिश्ता था और उसी रस को सब तरह से खींच-तानकर, जगाकर उसका अधिकांश परिहास-विद्रूप प्रकट होता था। यह प्रगल्भ विदूषक चाहे कितना ही प्रिय पात्र क्यों न हो, सम्मान का अधिकारी वह कभी न था। जहाँ किसी विषय की गम्भीर आलोचना होती वहाँ हास्य की चपलता को अलग करने की पूरी चेष्टा की जाती।

बंकिम ने सबसे पहले हास्य-रस को साहित्य की ऊँची श्रेणी में स्थान दिलाया। उन्होंने सबसे पहले यह दिखाया कि हास्य-रस केवल प्रहसन की सीमा में आबद्ध नहीं है, उज्ज्वल, शुभ्र हास्य सब विषयों को आलोकित कर सकता है। उन्होंने सबसे पहले दृष्टांत के द्वारा प्रमाणित कर दिया कि इस हास्य ज्योति के संस्पर्श से किसी विषय की गहराई का गौरव कम नहीं होता, हाँ, उसका सौंदर्य और रमणीयता बढ़ जरूर जाती है; उसका सब प्राण और गति जैसे स्पष्ट होकर चमक उठती है। जिन बंकिम ने बंगला साहित्य की गहराई से अश्रुओं का उत्स उन्मुक्त किया था उन्हीं बंकिम ने आनंद के उदय-शिखर से नवजाग्रत बंगला साहित्य के ऊपर हास्य का प्रकाश बिखेर दिया।

केवल सुसंगति, सुरुचि और शिष्टता की सीमा का निर्णय करने के लिए भी एक स्वाभाविक सूक्ष्म बोध-शक्ति आवश्यक होती है। कभी-कभी अनेक बलिष्ठ

प्रतिभाओ मे इस बोध-शक्ति का अभाव देखा जाता है। लेकिन बंकिम की प्रतिभा मे बल और सुकुमारता का एक सुन्दर सम्मिश्रण था। सच्चे अर्थों मे वीर पुरुष के मन मे नारी-जाति के प्रति जैसा एक संभ्रमपूर्ण सम्मान का भाव रहता है वैसी ही सुरुचि और शील के प्रति बंकिम की बलिष्ठ बुद्धि की एक भद्रजनोचित, वीरोचित, प्रीतिपूर्ण श्रद्धा थी। बंकिम की रचना इसकी साक्षी है। इस लेखक ने किसी दिन पहली बार बंकिम को देखा था उस दिन एक घटना घटी जिससे बंकिम की इस स्वाभाविक सुरुचिप्रियता का प्रमाण मिलता है।

उस दिन लेखक के आत्मीय पूज्यपाद श्रीयुत शौरीन्द्रमोहन ठाकुर महोदय के निमन्त्रण पर उनके मरकत कुंज में कालेज-रियूनियन नामक एक मिलन-सभा बैठी थी। यह कितने दिनों की बात है, ठीक-ठीक मुझे याद नही, पर तब मैं लड़का था। उस दिन वहाँ पर मेरे अपरिचित बहुत-से यशस्वी लोगों का समागम हुआ था। विद्वानो की उसी मण्डली मे एक दुबला-पतला-लम्बा विनोदी, हँस-मुख मूँछ वाला प्रौढ़ व्यक्ति चपकन पहने सीने पर दोनो हाथ बाँधे खड़ा था। देखकर ही ऐसा लगा कि जैसे वे सबसे अलग और अपने मे डूबे हुए हो। और सब जनता का अंश थे, केवल वे जैसे अकेले एक हों। उस दिन और किसी का परिचय जानने की कोई अभिलाषा मेरे मन में नही जगी, लेकिन उनको देखते ही मैं और मेरा एक आत्मीय सगी हम दोनों एक-साथ कुतूहल मे भर उठे। पता लगाने पर मालूम हुआ कि वही लोकविश्रुत बंकिम बाबू है जिनके दर्शन की अभिलाषा हमारे मन में बहुत दिनो मे थी। मुझे याद है पहले दर्शन में ही उनके मुख-मडल की प्रतिभा की प्रखरता और बलिष्ठता तथा सब लोगों से दूर और सबसे अलग होने का उनका वह भाव मेरे मन पर अंकित हो गया था। उसके बाद बहुत बार मैंने उनका साक्षात्कार किया है, उनसे बहुत उत्साह और उपदेश प्राप्त किया है और उनकी मुखश्री को स्नेह के कोमल हास्य से अत्यन्त कमनीय होते देखा है लेकिन प्रथम दर्शन में उनके मुख पर मैंने जो उठी हुई तलवार के समान एक उज्ज्वल, सुतीक्ष्ण प्रबलता देखी थी, वह आज तक मैं भूल नही सका।

उस उत्सव के उपलक्ष्य में एक संस्कृतज्ञ पण्डित एक कमरे मे अपने रचे हुए देशानुरागमूलक सस्कृत श्लोक पढ़कर उनकी व्यवस्था कर रहे थे। बंकिम एक किनारे खड़े सुन रहे थे। पण्डित महाशय ने सहसा एक श्लोक मे पतित भारत-संतान को लक्ष्य करके उन दिनों के ढंग का एक अत्यन्त पण्डिताऊ हास्य का प्रयोग किया, पर वह रस कुछ वीभत्स हो उठा। बंकिम फौरन बहुत शरमाकर दाहिनी

हथेली से अपना चेहरा ढँके हुए बगल के दरवाजे से आनन-फानन दूसरे कमरे मे भाग गए।

बंकिम का वह संकोचपूर्ण पलायन-दृश्य आज तक मेरे मन पर अंकित है।

विचार करके देखा होगा, ईश्वर गुप्त जब साहित्य-गुरु थे तब बंकिम उनके शिष्यों मे थे। उस समय का साहित्य अन्य किसी प्रकार की शिक्षा चाहे दे सके, सुरुचि की शिक्षा के लिए बहुत उपयोगी न था। उस समय के असयत वाक्युद्ध और आदोलन के बीच पलकर बड़े होकर नीचता के प्रति क्षोभ, सुरुचि के प्रति श्रद्धा और शिष्टता के सम्बन्ध मे अक्षुण्ण वेदना-बोध की रक्षा करना कितना अद्भुत काम था, यह सब लोग समझ सकेंगे। दीनबधु भी बंकिम के समसामयिक और उनके मित्र थे लेकिन उनकी रचनाओ मे अन्य क्षमताएँ रहते हुए बंकिम की प्रतिभा की यह ब्राह्मणोचित शुचिता उनमें नही दिखाई पड़ती। उनकी रचनाओ से ईश्वरगुप्त के समय की छाप धुल नही सकी।

हममे से जो लोग साहित्य-व्यवसायी है उन्हें यह कभी न भूलना चाहिए कि वे बंकिम के निकट कितने चिर ऋणी है। एक दिन हमारी बंगला भाषा केवल इकतारे के समान एकतारे से बँधी हुई थी, वह केवल सहज सुर में धर्म-सकीर्तन के लिए उपयोगी था, बंकिम ने अपने हाथ से उसमे एक-एक करके तार चढाये और इस तरह आज उसे वीणा का रूप दे दिया। पहले जिसमे केवल स्थानीय ग्राम्य सुर बजता था वही आज विश्व-सभा मे सुनाने के उपयुक्त ध्रुपद अंग की कलावती रागिनी का आलाप करने के योग्य हो उठा है। वही उनकी अपने हाथ से गढ़ी हुई, स्नेहपालित, क्रोड़संगिनी बंगला भाषा आज बंकिम के लिए बिलख-बिलखकर रो रही है। लेकिन वे इस शोकोच्छ्वास से परे शांतिधाम मे, दुष्कर जीवन-यज्ञ को समाप्त करके निरामय विश्राम कर रहे है। मृत्यु के बाद उनके चेहरे पर एक कोमल प्रसन्नता, एक दु.ख-ताप-हीन गहरी शांति उद्भासित हो उठी थी—कि जैसे मृत्यु उनको जीवन की दोपहरी से तपे हुए, कठोर ससार से स्नेह-शीतल माँ की गोद मे ले गई हो। आज हमारा विलाप-परिताप उनको नही छूता, हमारे भक्ति के उपहार को ग्रहण करने के लिए वह प्रतिभा-ज्योतिर्मय सौम्य प्रसन्न मूर्ति यहाँ भर उपस्थित नही है। हमारा यह शोक, यह भक्ति केवल हमारे अपने कल्याण के लिए है। बंकिम साहित्य क्षेत्र मे जो आदर्श स्थापित कर गए हैं वही आदर्श प्रतिभा इस शोक और भक्ति के द्वारा हमारे मन मे उज्ज्वल और स्थायी रूप से प्रतिष्ठित हो। पत्थर की मूर्ति स्थापित करने का अर्थ और सामर्थ्य

अगर हममें न हो तो एक बार उनके महत्त्व को पूरी तरह से अपने मन में उपलब्ध करके हम उन्हें अपने बंगाली हृदय के स्मरण-स्तंभ में स्थायी बनाकर रखें। अंग्रेज और अंग्रेजों का कानून चिरस्थायी नही है, राजनीतिक धर्मनीतिक, समाज-नीतिक मतामत हजारों बार परिवर्तित हो सकते हैं; जो सब घटनाएँ, जो सब अनुष्ठान आज सबसे प्रधान जान पड़ रहे हैं और जिनके उन्माद के कोलाहल में समाज के ख्यातिहीन, शब्दहीन कर्तव्यों को नगण्य समझा जा रहा है, हो सकता है कल उनकी स्मृति का चिह्न भी न बचे, लेकिन जिन्होंने हमारी मातृ-भाषा को सब तरह के भावों की अभिव्यक्ति के योग्य बनाया है उन्होंने इस अभागे दरिद्र देश को एक अमूल्य सम्पदा दी है, जिसका कभी अन्त न होगा। वे स्थायी जातीय उन्नति का एक-मात्र मूल उपाय स्थापित कर गए हैं। उन्होंने हम लोगों के सामने सच्चे अर्थों मे शोक के बीच सान्त्वना, अवनति के बीच आशा, श्रांति के बीच उत्साह और दारिद्र्य की शून्यता के बीच चिर-सौन्दर्य का अक्षय आगार उद्घाटित कर दिया है। हम लोगो मे जो कुछ अमर है और जो कुछ हम को अमर करेगा उस सब महाशक्ति को धारण करने का, पोषण करने का, व्यक्त करने का और सब जगह प्रचारित करने का एक-मात्र उपाय जो मातृ-भाषा है उसीको उन्होंने बल-वती और महीयसी बनाया है।

रचना विशेष की समालोचना भ्रांत हो सकती है—हमारे निकट जो प्रशंसित है कालांतर में शिक्षा, रुचि और स्थिति के परिवर्तन के अनुसार हमारे उत्तर-वर्तियों के निकट वह निंदित और उपेक्षित हो सकती है लेकिन बंकिम ने बंगला भाषा की क्षमता और बंगला साहित्य की समृद्धि बढ़ा दी है, उन्होंने भगीरथ के समान साधना करके बंगला साहित्य में भावमंदाकिनी को उतारा है और उसी पुण्य स्रोत के स्पर्श से जड़ता के शाप को काटकर हमारी प्राचीन भस्मराशि मे जीवन फूँक दिया है—यह केवल सामयिक मत नही, यह बात किसी विशेष तर्क या रुचि के ऊपर निर्भर नही है, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। इस बात की छाप स्मृति पर लगाकर मैं इस बंगला-लेखकों के गुरु बंगला पाठकों के सुजला-सुफला-मलयजशीतल वंगभूमि की मातृ-वत्सल प्रतिभाशाली संतान से विदा लेता हूँ, जो जीवन की साँझ आने के पहले ही, नये अवकाश और नये उद्यम से नये काम में हाथ डालने के पहले ही अपनी अम्लान प्रतिभारश्मि को बटोरकर और बंगला साहित्याकाश की क्षीणतर ज्योतिष्क-मण्डली के हाथों समर्पित करके पिछली

शताब्दी के अन्तिम वर्ष मे पश्चिम दिगंत-सीमा पर अपने समय से पहले ही अस्त हो गए।

८ अप्रैल १८६६ को बंकिमचन्द्र का स्वर्गवास हो गया। रवीन्द्रनाथ ने चैतन्य लायब्रेरी मे बंकिम पर निबन्ध पढ़ा। यह निबन्ध मई १८६६ (वैशाख १३०१) मे 'साधना' मे प्रकाशित हुआ।

दशम खण्ड

विचित्र प्रबन्ध

लाइब्रेरी

महासमुद्र के सौ बरस के कल्लोल को अगर कोई इस तरह बाँधकर रख पाता कि वह सोते हुए बच्चे की तरह चुप पडा रहता तो उस नीरव महाशब्द के साथ इस लायब्रेरी की तुलना की जा सकती। यहाँ भाषा मौन है, प्रवाह स्थिर हो गया है, मानव-आत्मा का अमर आलोक काले अक्षरों की शृखला से कागज के कारागार में वन्दी है। ये अगर सहसा विद्रोह करके, निस्तब्धता को तोडकर अक्षर की वेडियों को जलाकर एकबारगी बाहर आ जाते! हिमालय के शिखर पर जिस तरह कडी वर्फ में न जाने कितनी बाढें बँधी हुई है उसी तरह इस लायब्रेरी में मानव-हृदय की बाढ को बाँधकर रखा गया है।

बिजली को आदमी लोहे के तार से बाँधता है लेकिन कौन जानता था कि वह मनुष्य के शब्द को निस्शब्दता मे बाँध सकेगा! कौन जानता था कि वह सगीत को, हृदय की आशा को, जाग्रत आत्मा की आनन्दध्वनि को, आकाश की देव-वाणी को कागज में मोड़कर रखेगा! कौन जानता था कि मनुष्य अतीत को वर्तमान मे बंदी करेगा! अतलस्पर्शी काल समुद्र पर बस एक-एक पुस्तक से सेतु बाँध देगा!

लायब्रेरी में हम लोग हजार रास्तों की चौमुहानी पर खडे हैं। कोई रास्ता अनंत समुद्र की ओर उठा है, कोई रास्ता अनत शिखर की ओर उठा है, कोई रास्ता मानव-हृदय की अतल गहराई में उतरा है। जिधर जिसका जी चाहे दौडे, कही कोई बाधा नही। मनुष्य ने अपनी मुक्ति को इस जरा-सी जगह में बाँधकर रख लिया है।

शंख मे जिस तरह समुद्र का शब्द सुनाई पड़ता है उसी तरह तुम क्या इस लाइब्रेरी मे हृदय के उत्थान-पतन का शब्द सुनते हो? यहाँ पर जीवित और मृत व्यक्तियों का हृदय पास-पास एक ही मुहल्ले में रहता है। यहाँ पर वाद और प्रतिवाद दो भाइयों की तरह साथ-साथ रहते है। संशय और विश्वास, संधान और आविष्कार यहाँ पर अंग-से-अंग मिलाकर रहते हैं। यहाँ पर महा-प्राण और

अल्पप्राण परम धैर्य और शांति के साथ जीवन-यात्रा का निर्वाह कर रहे हैं, कोई किसी की उपेक्षा नहीं करता।

कितने नदी, समुद्र, पर्वत पार करके मानव का कंठ यहाँ पर पहुँचा है—कितने सैकड़ों वर्षों के मैदान से यह स्वर आ रहा है। आओ, यहाँ आओ, यहाँ आलोक के जन्म-संगीत का गान हो रहा है।

अमृत लोक की पहली बार खोज करके जिन महापुरुषों ने जब कभी अपने चारों ओर के मनुष्यों को बुलाकर कहा था, "तुम सब अमृत पुत्र हो, तुम दिव्य-धाम में वास करते हो।" उन्हीं महापुरुषों का कंठ हजारों भाषाओं में हजारों वर्षों से इस लायब्रे री में प्रतिध्वनित हो रहा है।

हम जो इस बंग-देश में रहते हैं और हमारे पास करने के लिए क्या कुछ भी नहीं है? हमारे पास क्या ऐसा कोई संवाद नहीं जो हम मानव-समाज को देना चाहें? जगत् के समवेत संगीत में क्या बंग देश ही निस्तब्ध रहेगा!

हमारे पैरों के पास स्थित समुद्र क्या हमसे कुछ नहीं कहता? हमारी गंगा क्या हिमालय के शिखर से कैलाश का कोई गान लेकर नहीं आती? हमारे सिर के ऊपर क्या अनंत नीलाकाश नहीं है? क्या किसी ने वहाँ से अनंत काल की चिर-ज्योतिर्मयी नक्षत्रलिपि मिटा दी है? देश-विदेश से, अतीत-वर्तमान से प्रतिदिन हमारे पास मानव-जाति का पत्र आ रहा है, हम क्या उसके जवाब में बस दो-चार हल्के-फुल्के अंग्रेजी अखबार लिखेंगे? सारे देश असीम काल के पट पर अपना अपना नाम खोद रहे हैं, बंगाली का नाम क्या केवल दर्खास्त के दूसरे पन्ने पर ही लिखा रहेगा? जड़-अदृष्ट के साथ मानव-आत्मा का संग्राम चल रहा है। सैनिकों को बुलाती हुई शृंगध्वनि पृथ्वी की दिशा-दिशा में बज रही है। हम क्या बस अपने आँगन के मचान के लौकी-कुम्हड़े को लेकर मुकदमा और अपील चलाते रहेंगे?

बहुत सालों तक चुप रहते-रहते बंग देश उकता गया। उसको एक बार अपनी भाषा में अपनी बात कहने दो। बंगाली कंठ के साथ मिलकर विश्व-संगीत और भी मधुर हो उठेगा।

'बलाका' जनवरी १८८६ (पौष १२९२) में प्रकाशित।

रंगमंच

भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्य-मंच का वर्णन है। उसमें दृश्य-पट का कोई उल्लेख मुझे नहीं मिला। पर कुछ काम बिगड़ा नहीं इससे।

कला-विद्या जहाँ पर एकेश्वरी हैं वहीं पर उनका पूर्ण गौरव है। सौतन के संग रहने में उनका असम्मान होगा ही होगा। विशेषत. सौतन यदि प्रबल हो। यदि रामायण को सस्वर पढ़ना हो तो आदि-कांड से लेकर उत्तर-काण्ड तक उस स्वर को सदा एक-सा ही रहना पड़ेगा, रागिनी के रूप में उस बेचारे की कभी पदोन्नति नहीं होती। जो उच्च स्तर का काव्य होता है वह अपना संगीत अपने नियम से स्वयं ही जुटा लेता है, अवज्ञापूर्वक बाहर के संगीत की सहायता की उपेक्षा करके। जो उच्च अंग का संगीत है वह अपनी बात अपने नियम से ही कहता है, वह उसके लिए कालिदास और मिल्टन का मुँह नहीं जोहता—नितांत तुच्छतम 'त ऽ न ऽ न ऽ न ऽ, लेकर ही चमत्कार पैदा कर देता है। चित्र में गान में काव्य मिलाकर ललितकला का एक बहुरंगी रूप तैयार किया जा सकता है लेकिन वह बहुत-कुछ खिलवाड़ की, हाट-बाजार की चीज है। उसको राजकीय उत्सव में ऊँचा आसन नहीं दिया जा सकता।

किन्तु श्रव्य-काव्य, दृश्य-काव्य की अपेक्षा, स्वभावतः थोड़ा पराधीन है। बाहर की सहायता से अपने को सार्थक करने के लिए ही विशेष रूप में इसकी सृष्टि हुई है। यह बात उसे स्वीकार करनी पड़ती है कि वह अभिनय किये जाने की राह देख रहा है।

हम यह नहीं स्वीकार करते। जिस प्रकार साध्वी स्त्री पति को छोड़कर और किसी को नहीं चाहती उसी प्रकार अच्छा काव्य भावुक को छोड़कर और किसी की उपेक्षा नहीं करता। साहित्य-पाठ करते समय हम सभी मन-ही-मन अभिनय करते रहते है, यह अभिनय जिस काव्य के सौन्दर्य को नहीं खोलता वह काव्य किसी कवि को यशस्वी नहीं बनाता।

बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि अभिनय-विद्या नितांत पराश्रिता है।

वह अनाथिनी नाटक के लिए बाट जोहती बैठी रहती है। नाटक के गौरव का सहारा लेकर ही वह अपना गौरव दिखा पाती है।

जिस प्रकार स्त्रैण पति लोगों के मजाक का निशाना बनता है उसी प्रकार नाटक यदि अभिनय का मुंह जोहकर अपने को इस-उस दिशा में संकुचित करे तो वह भी उसी तरह उपहास के योग्य हो उठता है। नाटक का भाव ऐसा होना चाहिए कि, "मेरा अभिनय अगर हो तो और न हो तो भाड़ में जाय अभिनय—मेरा कोई नुकसान नही।"

जो भी हो, अभिनय को काव्य की अधीनता स्वीकार करनी ही पड़ती है। लेकिन इसका यह मतलब नही कि उसको सभी कला-विद्याओं की गुलामी करनी पड़ेगी। यदि वह अपना गौरव रखना चाहता है तो जितनी अधीनता के बिना उसकी आत्म-अभिव्यक्ति नही हो सकती उतनी अधीनता को ही वह ग्रहण करे, उससे अधिक सहारा अगर वह किसी चीज का लेता है तो उससे उसका अपना सम्मान होता है।

यह कहने की जरूरत नही कि नाटक मे कही हुई बात अभिनेता के लिए नितांत आवश्यक होती है। कवि उसे जिस हँसी की बात में लगा देता है उसीको लेकर उसे हँसना पडता है और कवि उसे रोने का जो अवसर देता है उसीको लेकर वह रोता है और दर्शकों की आँखों में आँसू खीच लाता है। लेकिन चित्र क्यों। वह अभिनेता के पीछे झूलता रहता है, अभिनेता उसकी सृष्टि नही करता, वह केवल अंकित होता है, हमारे मत मे उससे अभिनेता की अक्षमता और कायरता व्यक्त होती है। इस प्रकार के जिन सब उपायों से वह दर्शकों के मन मे विभ्रम पैदा करके अपना काम आसान बना लेता है, वे सब चित्रकार से भीख माँगे हुए है।

इतना ही नही, जो दर्शक तुम्हारा अभिनय देखने आता है उसके पास क्या अपनी फूटी कौड़ी भी नही होती? वह क्या बच्चा होता है? क्या उस पर बिलकुल भरोसा नही किया जा सकता? अगर यही सच हो तो ऐसे लोगो को डबल दाम देने पर भी टिकट न बेचना चाहिए।

यह कोई अदालत के सामने गवाही देना तो है नही कि हर बात को हलफ उठाकर प्रमाणित करना होगा। जो लोग विश्वास करने के लिए, आनंद उठाने के लिए आये हैं उनको ठगने के लिए इतना आयोजन क्यों। वे अपनी कल्पना-शक्ति घर पर ताले मे तो बंद करके आते नही। थोड़ा-सा तुम समझाओगे, थोड़ा-

मा वह खुद समझेंगे, तुम्हारे साथ उनका ऐसा ही कुछ समझौता है।

दुष्यंत पेड़ की जड़ के पास ओट मे खड़े होकर शकुन्तला की अपनी सखियो से बातचीत सुन रहे हैं। बहुत अच्छा। बातचीत खूब मजा ले-लेकर किये जाओ। असली पेड की जड़ मेरे सामने न रहने पर भी मैं उसे पकड़ सकता हूँ। इतनी सृजन-शक्ति मुझमें है। दुष्यंत, शकुन्तला, अनसूया, प्रियम्वदा के चरित्र के अनुरूप प्रत्यक्ष हाव-भाव और कंठ-स्वर की प्रत्येक भंगिमा बिलकुल प्रत्यक्षवत् अनुमान कर लेना कठिन है—इसलिए वह सब जब प्रत्यक्ष अपने सामने देख पाता हूँ तो हृदय रस से भर उठता है लेकिन दो पेड़ या एक घर या एक नदी की कल्पना कर लेना बिलकुल कठिन नहीं है, उसको भी हमारे हाथ मे न रखकर चित्र के द्वारा उसे प्रस्तुत करना हमारे प्रति घोर अविश्वास प्रकट करना है।

हमारे देश की जात्रा इसीलिए मुझे अच्छी लगती है। जात्रा के अभिनय में दर्शक और अभिनेता के बीच कोई भारी व्यवधान नहीं होता। परस्पर के विश्वास और अनुग्रह का आश्रय लेकर काम बड़ी सहृदयता के साथ सम्पन्न होता है। काव्य-रस, जो कि असल चीज है, अभिनय की सहायता से फौवारे की तरह चारों ओर दर्शकों के पुलकित चित्त के ऊपर बरसने लगता है। मालिन जब अपने पुष्प-विरल बगीचे मे फूल खोजते-खोजते शाम किये दे रही है तब उसको प्रमाणित करने के लिए महफ़िल के बीच असली पेड़ लाकर पटक देने की क्या जरूरत है? अकेली मालिन मे ही सारा बगीचा अपने-आप जाग उठता है। अगर यह भी हो तो फिर मालिन मे ही क्या गुण रहा और दर्शक लोग भी काठ की मूरत बने क्या करने के लिए बैठे है?

शकुन्तला के कवि को अगर रंग-मंच पर दृश्य पट की बात सोचनी पड़ती तो वे शुरू मे ही हिरन के पीछे रथ दौड़ाना बंद कर देते। निश्चय ही वह बड़े कवि है, रथ बंद होने से ही उनका कलम न बंद हो जाता लेकिन मैं कह रहा हूँ कि जो चीज छोटी है उसके लिए बडी चीज क्यों अपने-आपको थोड़ा-सा भी छोटा करे। भावुक के हृदय में रगमंच है, उस रगमच में स्थान की कमी नहीं होती। वहाँ पर जादूगर के हाथ से दृश्यपट अपने-आप बनता रहता है। वहाँ मच, वहाँ पट नाटककार का लक्ष्यस्थल है, कोई कृत्रिम मन और कृत्रिम पट कवि-कल्पना के उपयुक्त नहीं हो सकता।

अतः जब दुष्यत और सारथी एक ही स्थान पर स्थिर खड़े होकर वर्णन और अभिनय के द्वारा रथ के वेग की चर्चा करते है तो वहाँ पर दर्शक सहज ही इस

साधारण-सी बात को पकड़ लेता है कि मंच छोटा है लेकिन काव्य छोटा नहीं है, इसलिए काव्य की खातिर वे मंच की इस अनिवार्य त्रुटि को प्रसन्नतापूर्वक सुधार लेते हैं और अपने हृदय के क्षेत्र को उसी छोटे घेरे में फैलाकर मंच को ही बड़ा बना लेते हैं। लेकिन मंच की खातिर अगर काव्य को छोटा करना पड़े तो उन दो-चार अभागे काठ के टुकड़ों को कौन माफ कर पाता।

शकुन्तला नाटक बाहर के चित्रपट की तनिक भी अपेक्षा नहीं रखता, इसीलिए अपने चित्रपटों की स्वयं ही सृष्टि कर लेता है। उनका कण्व ऋषि का आश्रम, उसका स्वर्गपथ का मेघलोक, उसका मारीच का तपोवन, इन सबके लिए वह और किसी पर कोई बोझ नहीं डालता। वह स्वय अपने को पूर्ण कर लेता है। चाहे चरित्रों की सृष्टि हो चाहे स्वभाव-चित्रों की; वह केवल अपनी काव्य-सम्पदा का सहारा लेता है।

मैं दूसरे निबंध में कह चुका हूँ कि यूरोप वालों का सत्य यथार्थ न हो तो सत्य नहीं होता। यही नहीं कि कल्पना केवल उनका मनोरंजन करेगी बल्कि जो काल्पनिक है वह अविकल वास्तविक बनकर उनको बच्चों की तरह भरमायगी। केवल काव्य-रस की प्राणदायिनी विशल्यकरणी होने से नहीं चलेगा उसके साथ-साथ यथार्थ गंधमादन भी चाहिए। आजकल कलियुग है इसलिए गंधमादन को उठाकर ले आने के लिए इंजीनियरिंग चाहिए। उसका कर्त्तव्य मामूली नहीं है। विलायत के स्टेज पर इस तमाशे के लिए जो व्यर्थ का खर्चा होता है, उसमें भारतवर्ष के न जाने कितने अभ्रभेदी दुर्भिक्ष डूब सकते हैं।

प्राच्य देशों के काम-काज, खेल-तमाशे सब-कुछ सरल-सहज होते हैं। केले के पत्ते पर हमारा भोज सम्पन्न होता है, इसीलिए भोज का जो सबसे प्राकृतिक आनंद है अर्थात् विश्व को उन्मुक्त भाव से अपने छोटे-से घर के भीतर आमंत्रित करके ले आना, वह इस प्रकार सम्भव होता है। आयोजन का भार यदि जटिल और अतिरेकपूर्ण होता तो असली चीज मारी जाती।

विलायत की नकल पर हमने जो थियेटर बनाया है वह एक भारी-भरकम चीज है। उसको हिलाना कठिन है, उसको छोटे-बड़े सबके दरवाज़े पर पहुँचाना दुस्साध्य है, उसमें सरस्वती का पद्म लक्ष्मी के जाल से प्रायः ढका रहता है। उसमें कवि और गुणी की प्रतिभा से कहीं ज्यादा धनी के मूलधन की ज़रूरत होती है। दर्शक अगर विलायती बचकानेपन में दीक्षित न हो और अभिनेता को अगर अपने ऊपर और काव्य के ऊपर सच्चा विश्वास हो तो अभिनय के चारों ओर से उनके

बहुत-से बहुमूल्य जंजाल को झाड़ू से बुहारकर अभिनय को मुक्ति और गौरव देना एक सहृदय हिन्दुस्तानी के जैसा काम होगा। बगीचे को अविरल बगीचे के रूप में ही आंककर खड़ा करना होगा और स्त्री-चरित्र को वास्तविक स्त्रियों द्वारा ही अभिनय कराना होगा। इस नितान्त स्थूल विलायती बर्बरता को छोड़ने का समय आ गया।

मोटे रूप में कह सकते हैं कि जटिलता अक्षमता का ही परिचय देती है, वास्तविकता टिड्डी की तरह आर्ट के भीतर घुसकर तिलचट्टे की तरह उसके सब रस को खत्म कर देती है और जहां पर अजीर्ण के कारण यथार्थ रस की क्षुधा का अभाव होता है वहां पर बहुमूल्य बाह्य प्रचुरता धीरे-धीरे भीषण रूप से बढ़ती चलती है—और होते-होते एक दिन अन्न को वह पूरी तरह ढक लेती है, चाट डालती है और बस एक भूसे का स्तूप बच जाता है।

'बंग दर्शन' जनवरी १६०३ (पौष १३०६) में प्रकाशित।

केकाध्वनि

अचानक पालतू मोर की आवाज सुनकर मेरे मित्र बोल उठे, "मैं इस मोर की बोली नहीं सह पाता; मैं समझ नहीं पाता कि कवियों ने क्यों केकाध्वनि को अपने काव्य में स्थान दिया है।"

कवि जब वसंत के कुहू स्वर और वर्षा की केकाध्वनि दोनों को समान आदर देते हैं तो किसी को एकाएक ऐसा लग सकता है कि शायद कवि कैवल्य-दशा को प्राप्त हो गया है—उसके निकट अच्छे और बुरे, ललित और कर्कश का भेद लुप्त हो गया है।

मोर ही क्यों, मेंढक की टर्र-टर्र और झिल्ली की झंकार को भी कोई मधुर नहीं कह सकता। तो भी कवियों ने इन स्वरों की भी उपेक्षा नहीं की। प्रेयसी के कंठस्वर से इनकी तुलना करने का साहस उन्हें नहीं हुआ, लेकिन षट् ऋतु के महासंगीत का प्रधान अंग कहकर उन्होंने इनका सम्मान किया है।

एक तरह की मिठास होती है जो निःसंशय मीठी होती है, बहुत ही मीठी होती है। उसे अपना लालित्य प्रमाणित करने में क्षण-भर समय नहीं लगता। इंद्रिय का असंदिग्ध साक्ष्य लेकर मन उसके सौन्दर्य को स्वीकार करने में रंच मात्र तर्क नहीं करता। वह हमारे मन का आविष्कार नहीं होता, इंद्रिय की उपलब्धि होती है; इसीलिए मन उसकी अवज्ञा करता है, कहता है—बहुत मीठा है, बस मीठा है। अर्थात् उसकी मिठास को समझने के लिए अंतःकरण की अपेक्षा नहीं होती, उसे केवल इंद्रियों के द्वारा समझा जाता है। जो गाने की समझ रखने वाले हैं वे इसीलिए बड़ी उपेक्षा से कहते हैं कि अमुक आदमी मीठा गीत गाता है। कहने का भाव यह होता है कि मीठा गाने वाला गाने को हमारी इंद्रिय सभा में ले आकर नितांत सुलभ प्रशंसा के द्वारा गाने को अपमानित करता है, मार्जित रुचि और शिक्षित मन के दरबार में वह प्रवेश नहीं करता। जो आदमी पाट का जानकार खरीदार है वह भीगा पाट नहीं चाहता; वह कहता है, "हमको सूखा पाट दो, तभी मैं उसका ठीक वजन समझ सकूँगा।" गाने की समझ रखने वाला

कहता है, "झूठा रस लेकर गाने का झूठा गौरव मत बढाना; हमको सूखा माल दो तभी मैं ठीक वज़न पाऊँगा और खुश होकर ठीक दाम चुका दूंगा।" बाहर की झूठी मिठास असली चीज का मोल गिरा देती है।

जो सहज ही मीठा है उससे मन में बहुत जल्दी आलस्य आ जाता है, ज्यादा देर तक मनोयोग नही रहता। जल्दी ही उसकी सीमा को पार करके मन कहता है, "अब बस, बहुत हुआ।"

इसीलिए जिस व्यक्ति ने जिस विषय मे विशेष शिक्षा पाई है वह उसके नितांत सहज और ललित आरंभिक अंश की कद्र नही करता। क्योंकि उतने की सीमा उसने जान ली है; उतने की दौड़ ज्यादा दूर तक नही है। वह यह समझता है, इसीलिए उसका अंतःकरण उससे नहीं जागता। अशिक्षित उस थोड़े से अश को ही समझ पाता है लेकिन तब भी उसकी सीमा उसे नही मिलती, इसीलिए उस अंश में ही, जो कि गहरा नही है, उसको एक-मात्र आनंद मिलता है। समझदार के आनंद को वह एक न जाने क्या चीज समझता है; बहुत बार वह उसको चपलता का आडंबर भी समझ लेता है।

इसीलिए सब प्रकार की कला-विद्याओं में शिक्षितों और अशिक्षितों का आनंद अलग-अलग रास्तों पर चला जाता है। तब एक पक्ष कहता है, "तुम क्या समझोगे!" और दूसरा पक्ष नाराज होकर कहता है, "क्यों नही, जो समझने की चीज़ है वह बस तुम्ही तो समझते हो, और कोई समझने वाला थोड़े ही है दुनिया में!"

एक गहरे सामंजस्य का आनंद, स्थान-समावेश का आनंद, दूरवर्ती के साथ योग-संयोग का आनंद, निकटवर्ती के साथ वैचित्र्य-साधन का आनंद—यही मानसिक आनंद है। भीतर प्रवेश किये बिना, समझे बिना इस आनंद का उपभोग नही किया जा सकता। ऊपर-ही-ऊपर चट से जो सुख मिलता है उसकी अपेक्षा यह सुख स्थायी और गहरा होता है।

और एक प्रकार से उसकी अपेक्षा व्यापक भी। जो गहरा नही है, वह लोगों में शिक्षा फैलने के साथ-साथ, अभ्यास के साथ-साथ धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है और उसका रीतापन प्रकट हो जाता है। जो गहरा है वह शुरू में चाहे बहुत-से लोगों के लिए सुगम न हो तो भी उसकी आयु बहुत दिनों की होती है, उसमे श्रेष्ठता का एक जो आदर्श होता है वह सहज ही जीर्ण नही होता।

जयदेव का 'ललित लवंगलता' अच्छा जरूर लगता है लेकिन बहुत दिनों तक

नही। इंद्रिय उसको मन-महाराज के सम्मुख निवेदित करती है; मन उसको एक बार स्पर्श करके ही रख देता है और तब इंद्रिय के उपभोग में ही वह समाप्त हो जाती है। 'ललित लवंगलता' के बगल में 'कुमारसम्भव' का एक श्लोक रखकर देखा जाय—

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां
वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्त पुष्पस्तबकावनम्रा
सचारिणी पल्लविनी लतेव।

छद मे वैसी लय नही है, शब्द संयुक्ताक्षर-बहुल हैं लेकिन तो भी यह श्लोक कान को भी 'ललित लवंगलता' की अपेक्षा ज्यादा मीठा लगता है। लेकिन वह भ्रम है। मन अपनी सृजन-शक्ति के द्वारा इंद्रिय-सुख को पूरा किये दे रहा है। जहाँ पर लोलुप इंद्रियाँ भीड लगाकर खड़ी नही होती वही पर मन को इस प्रकार के सृजन का अवसर मिलता है। 'पर्याप्त पुष्पस्तबकावनम्रा' मे लय का जो उत्थान-पतन है, कठोर और कोमल दोनों ने मिलकर ठीक-ठीक मात्रा में छंद को जो लय दी है वह जयदेवी लय के समान अति-प्रत्यक्ष नही है—वह निगूढ है; मन उसे आलस्य के साथ पढ नही जाता, स्वयं ढूंढ-ढूंढकर-पाकर खुश होता है। इस श्लोक मे भाव का जो एक सौन्दर्य है वह भी हमारे मन के साथ षड्यंत्र करके एक अश्रुतिगम्य संगीत की रचना करता है, यह संगीत समस्त शब्द-संगीत को पीछे छोड जाता है, ऐसा लगता है कि जैसे कान जुड़ा गए—लेकिन कान जुड़ाने की बात नही है, मानसी माया कान को ठगती है।

हमारे इस मायावादी मन को सृजन का अवकाश न दिया जाय तो वह किसी मिठास को ज्यादा देर तक मीठा नही समझता। वह उपयुक्त उपकरण पाने पर कठोर छंद को ललित, कठिन शब्द को कोमल बना लेता है। उसी शक्ति को अवसर देने के लिए वह कवियों से अनुरोध करता है।

केकारव सुनने मे कान को मीठा नही लगता लेकिन विशेष अवस्था में विशेष समय मे मन उसको मीठा बनाकर सुन पाता है, मन में वह क्षमता है। वह मिठास कोयल की बोली की मिठास से अलग है; नववर्षागम में, पहाड़ के नीचे, लता-जटिल प्राचीन महारण्य मे जो पागलपन छा जाता है मोर की बोली उसी का गान है। आषाढ में हरित-श्याम तमाल तालीवन के दुगुने घने अँधेरे में माँ के स्तन के प्यासे शत-सहस्र ऊर्ध्वबाहु शिशुओं के समान अगणित शाखाओं के आन्दोलित

मर्मर-मुखर महोल्लास के बीच मयूर रह-रहकर अपने स्वर में जो एक काँसे के बजने-जैसी केकार-ध्वनि उठाता है उससे प्रवीण वनस्पति-मडली में अरण्य-महोत्सव का प्राण जाग उठता है। कवि का केकारव उसी वर्षा का गान है; कान उसके माधुर्य को नही जानता, बस, मन जानता है। इसीलिए उससे मन ही अधिक मुग्ध होता है। मन उसके साथ और भी बहुत कुछ पाता है—समस्त मेघावृत आकाश, छायावृत अरण्य, नीलीमाच्छन्न गिरिशिखर, विराट् पागल प्रकृति अव्यक्त अंधी आनदराशि।

इसीलिए कवि का केकारव विरहिणी की विरह-वेदना के साथ जुड़ा रहता है। श्रुति-मधुर होने के नाते पथिक-वधू को व्याकुल नही करता—वह समस्त वर्षा का मर्मोद्‌घाटन कर देता है। नर-नारी के प्रेम में एक अत्यन्त आदिम भाव है, वह बाह्य प्रकृति के बहुत पास है, जल-स्थल-आकाश से संलग्न है। षट् ऋतुएँ अपने फूलों के साथ-साथ इस प्रेम को भी भाँति-भाँति के रगो मे रँग जाती हैं। जो पल्लव को स्पंदित करता है, नदी को तरगित करता है, धान की बाली को हिल्लोलित करता है, वही इसको भी अपूर्व चचलता से आदोलित करता रहता हैं। पूर्णिमा का प्रहरी उसको शुद्ध करता है और संध्या के बादलो की रक्तिमा से लज्जामंडित वधूवेश पहना देता है। एक-एक ऋतु जब अपनी सोने की छडी से प्रेम को छूती है तब उसका शरीर रोमांचित हुए बिना नही रह सकता। वह अरण्य के पुष्प-पल्लव के ही समान प्रकृति के रहस्यमय स्पर्श के आधीन है। इसी-लिए यौवनावेश-विधुर कालिदास ने इसका वर्णन किया है कि छ ऋतुओ के छ. तारों मे नर-नारी का प्रेम किन-किन सुरो मे बजता है; उन्होंने समझ लिया है कि जगत् मे ऋतु-आवर्त्तन का सबसे प्रधान कार्य प्रेम को जगाना है; फूल खिलाना आदि अन्य सब आनुषंगिक है. इसीसे वर्षा ऋतु के निषादस्वर केकारव का आघात ठीक विरह-वेदना के ऊपर जाकर पड़ता है।

विद्यापति ने लिखा है—

मत्त दादुरी, डाके डाहुकी,
फाटि जावत छतिया।

यह मेंढक की बोली नववर्षा के मत्त भाव के साथ नही, घनी वर्षा के निगूढ भाव के साथ खूब मेल खाती है। मेघ में आज कोई वर्षा-वैचित्र्य नही है, स्तर-विन्यास नहीं है, शची की किसी प्राचीन किंकरी ने आकाश के प्रांगण को मेघों मे एक-बराबर लीप दिया है। सब-कुछ कृष्ण-धूसर-वर्ण है। नाना शस्य विचित्र पृथ्वी

के ऊपर उज्ज्वल आलोक की तूलिका नहीं पड़ी इसीलिए उसमें कोई विविधता नहीं प्रस्फुटित हुई। धान की कोमल चिकनी हरियाली, पटसन का गाढ़ा रंग और ईख की पीली आभा एक विश्व-व्यापी कालिमा में मिली हुई है। हवा नहीं है, आसन्न वृष्टि की आशंका से लोग कीचड़-भरे रास्ते पर नहीं निकलते। बहुत दिन पहले ही खेत के सब काम समाप्त हो गए। पानी ने तालाब का पाट बराबर कर दिया है। इस प्रकार के ज्योतिहीन, गतिहीन, कर्महीन, वैचित्र्यहीन कालिमा-लिप्त एकाकार के दिन में मेढक की बोली ठीक सुर लगाती है। उसका सुर उसी वर्णहीन मेघ के समान, इसी दीप्तिशून्य आलोक के समान निस्तब्ध घनी वर्षा में फैल जाता है; वर्षा के घेरे को वह और भी घना करके पर्दे की तरह चारों ओर खींच देता है। वह नीरवता से भी अधिक एक स्वर है। वह निभृत कोलाहल है। उसके साथ झिल्ली की झकार ठीक से मेल खाती है, क्योंकि जैसे मेघ, जैसे छाया वैसे ही झिल्ली की झकार भी एक और आच्छादन विशेष है—वह स्वरमंडल में अधकार का प्रतिरूप है, वह वर्षा-निशीथिनी को सम्पूर्णता देती है।

'बंग दर्शन' अगस्त-सितम्बर १६०१ (भाद्र १३०८) में प्रकाशित।

बेकार बात

आदमी की असली पहचान दूसरे खर्चों से ज्यादा उसके बेकार खर्चों से होती है, क्योंकि आदमी खर्च करता है बँधे हुए नियमों के अनुसार, फिजूलखर्ची करता है अपने मन से।

जैसे बेकार खर्च होता है, वैसे ही बेकार बात भी होती है। बेकार बात में ही आदमी पकड़ में आता है। उपदेश की बात जिस रास्ते से चलती है वह मनु के समय से ही बँधा हुआ है; काम की बात जिस रास्ते से अपनी बैलगाड़ी ठेलकर ले आती है वह रास्ता कामकाजी लोगों के पैरों से रौंदा जाकर तृण-पुष्प-शून्य हो गया है। बेकार बात अपने ढंग से ही कहनी पड़ती है।

इसीलिए चाणक्य ने व्यक्ति-विशेष को जो बिलकुल चुप रहने के लिए कहा है, उस कठोर विधान में कुछ परिवर्तन किया जा सकता है। हमारी विवेचना में चाणक्य-कथित उक्त भद्र व्यक्ति 'तावच्च शोभते' जब-तब वह उच्च अंग की बात कहता है, जब-तब वह सनातन काल के परीक्षित सर्वजन-विदित सत्यों की घोषणा में लगा रहता है; लेकिन जैसे ही वह सहज बात अपनी भाषा में कहने की चेष्टा करता है विपत्ति में फँस जाता है।

जो आदमी कहने के लिए कोई खास बात न रहने पर कुछ कह ही नहीं सकता, बोलेगा तो वेद-वाक्य; नहीं तो चुप बैठा रहेगा, हे चतुरानन, उसकी कुटुम्बिता, उसकासाहचर्य, उसका पड़ोस 'शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख !'

पृथ्वी पर सभी चीजें प्रकाशधर्मी नहीं हैं ! कोयले को आग न मिले तो वह नहीं जलता, हीरा अकारण चमचमाता रहता है। कोयले से बड़ी-बड़ी मशीनें चलती हैं, हीरा हार में गूँथकर प्रियजन के गले में पहनाने के लिए होता है। कोयला आवश्यक होता है, हीरा मूल्यवान।

किसी-किसी विरले आदमी में हीरे की तरह अकारण चमचमाने का गुण रहता है। वह सहज ही अपने को प्रकाशित करता रहता है—उसको किसी खास निमित्त की जरूरत नहीं होती। उससे कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध कर लेने की

किसी को गरज नही होती; वह अनायास अपने को अपने-आप देदीप्यमान करता है, यह देखने मे ही आनन्द है। मनुष्य प्रकाश को इतना चाहता है, आलोक उसका इतना प्रिय है कि आवश्यकता का विसर्जन करके, पेट का अन्न फेंककर वह उज्ज्वलता के लिए लालायित हो सकता है। यह गुण देखकर फिर कोई इस सम्बन्ध में संदेह नही कर सकता कि मनुष्य पतंग-श्रेष्ठ है। जो जाति आँखें खोलकर अकारण प्राण दे सकती है उसका अधिक परिचय देने की जरूरत नही।

लेकिन सभी पतंगे के पंख लेकर नही पैदा होते। ज्योति का मोह सबको नही होता। बहुत-से लोग बुद्धिमान होते हैं, विवेचक होते हैं। गुफा देखकर वे उसकी गहराई में घुसने की चेष्टा करते है लेकिन रोशनी देखकर ऊपर उड़ने का व्यर्थ प्रयास तक नहीं करते। काव्य देखकर ये लोग पूछते है कि इसमे पाने की चीज क्या है, कहानी सुनकर अठारहो संहिताओ के साथ मिलाकर ये लोग बड़ी लबी-चौड़ी गवेषणा सहित विशुद्ध धर्म-मत से धिक्कारने या वाहवाही देने के लिए तैयार होकर बैठते है। जो अकारण है, अनावश्यक है उससे इनको कुछ नही मिलता।

जो प्रकाश के उपासक है वे इस समुदाय के प्रति अनुराग व्यक्त नही करते। वे इन लोगो को जिन सब नामो से पुकारते है, मैं उनका समर्थन नही करता। वररुचि ने ऐसे लोगो को अरसिक कहा है, हमारी राय में यह सुरुचिपूर्ण नही। हम इन्हें जो कुछ समझते हैं उसे मन ही में रहने देते हैं। लेकिन पुराने लोग ज़बान सँभालकर बात नही कहते थे, इसका परिचय एक संस्कृत श्लोक में मिलता है। इसमे कहा गया है—सिंहासन-उत्पाटित एक गजमुक्ता जंगल मे पड़ी थी, किसी भील रमणी ने दूर से उसको देखा और झपटकर उठा लिया। दबाकर देखा तो पाया कि वह पका बेर नही है, केवल मुक्ता है, भील रमणी ने उसे दूर फेंक दिया। स्पष्ट है कि जो लोग प्रयोजनीयता के विचार से ही सब चीजों का मूल्य निश्चित करते हैं, जिन्हें शुद्ध सौंदर्य और उज्ज्वलता का विकास लेश-मात्र विचलित नहीं कर पाता, उनकी तुलना कवि ने उस बर्बर नारी से की है। हमारे विचार में अच्छा होता अगर कवि इनके बारे मे चुप रहते; क्योकि ये क्षमताशाली लोग हैं, विशेषत निर्णय का भार प्रायः इन्हीके हाथ में होता है। ये लोग गुरु महाशय का काम करते है। जो लोग सरस्वती के काव्य-कमल-वन मे निवास करते हैं वे तटवर्ती वेत्रवनवासीजनों को उत्तेजित न करें, यही मेरी प्रार्थना है।

साहित्य की सचमुच बेकार रचनाएँ कोई बड़ी बात कहने का दावा नही

करती। संस्कृत साहित्य में 'मेघदूत' इसका उज्ज्वल दृष्टांत है। वह धर्म की कथा नहीं है, कर्म की कथा नहीं है, पुराण नहीं है, इतिहास नहीं है। जिस स्थिति में मनुष्य का चेतन-अचेतन का विचार लुप्त हो जाता है यह उसी स्थिति का प्रलाप है। इसको अगर कोई बेर समझकर पेट भरने की आशा से उठा ले तो झट फेंक देगा। इसमें प्रयोजन की बात रत्ती-भर नहीं है। यह विशुद्ध मुक्ता है, हाँ, विरही के विदीर्ण हृदय का रक्त-चिह्न थोड़ा-सा इसमें जरूर लगा है लेकिन उसे पोंछकर फेंक देने पर भी इसका मूल्य कम न होगा।

इसका कोई उद्देश्य नहीं है इसीलिए यह काव्य इतना उज्ज्वल है। यह एक माया-तरी है; कल्पना की हवा में इसका सजलमेघनिर्मित पाल फूल उठा है और एक विरही हृदय की कामना का वहन करते हुए यह अबाध वेग से एक अपरूप निरुद्देश्य की ओर भागी जा रही है—दूसरा कोई बोझा उस पर नहीं है।

टेनिसन ने जिन Idle tears, बेकार आंसुओं, की बात कही है, 'मेघदूत' उन्हीं बेकार आंसुओं का काव्य है। यह बात सुनकर बहुत-से लोग मुझसे बहस करने के लिए तैयार हो जायेंगे। बहुत-से लोग कहेंगे कि यक्ष जब प्रभु के शाप से अपनी प्रेयसी से विच्छिन्न हुआ है तब तुम 'मेघदूत' की अश्रुधारा को अकारण क्यों कहते हो। मैं बहस नहीं करना चाहता, इन सब बातों का मैं कोई उत्तर न दे सकूँगा। पर मैं जोर देकर कह सकता हूँ कि वह जो यक्ष का निर्वासन आदि है वह सब-कुछ कालिदास का बनाया हुआ है। वह काव्य-रचना का केवल एक निमित्त है। वहीं मचान बाँधकर उन्होंने यह इमारत खड़ी की है; अब हम उस मचान को फेंक देंगे। असल बात यह है कि 'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्' मन अकारण विरह में विकल हो उठता है, इस बात को कालिदास ने अन्यत्र स्वीकार किया है; आषाढ़ के प्रथम दिन अकस्मात् घने मेघों की घटा देखकर हमारे मन में एक अनोखा विरह जाग उठता है, 'मेघदूत' उसी अकारण विरह का निर्मूल प्रलाप है। ऐसा अगर न होता तो वह विरही मेघ के बदले बिजली को अपना दूत बनाकर भेजता। तब पूर्वमेघ इतना रह-बसकर, इतना घूम-फिरकर, इतने जुही के वनों को प्रफुल्लित करके, इतनी ग्राम-वधूटियों की उड़ती हुई दृष्टि के कृष्ण-कटाक्ष लूटता हुआ न चलता।

काव्य पढ़ते समय भी अगर हिसाब की कापी खोलकर सामने रखनी पड़े, जो कुछ पाया है अगर उसका हिसाब इस हाथ से उस हाथ चुकाना ही हो तो मैं स्वीकार करूँगा कि हम 'मेघदूत' से एक तथ्य प्राप्त करके विस्मय से पुलकित हुए हैं।

वह तथ्य यही है कि आदमी तब भी था और तब भी आषाढ़ का प्रथम दिन अपने नियम से आता था।

लेकिन असहिष्णु वररुचि ने जिन लोगों के प्रति अशिष्ट विशेषण का प्रयोग किया है, वे क्या इस लाभ को लाभ समझेंगे ? इससे ज्ञान का क्या विस्तार, देश की क्या उन्नति, चरित्र का क्या संशोधन होगा ! अतः जो अकारण है, अनावश्यक है वह, हे चतुरानन, रस के काव्य में रसिकों के लिए ही ढका रहे—जो आवश्यक है, हितकर है उसकी घोषणा थमेगी नहीं और न उसके खरीदारों की कमी होगी।

'बंग दर्शन' सितम्बर-अक्तूबर १६०२ (आश्विन १३०६) में प्रकाशित।

बसंत-यापन

इस मैदान के पार शाल-वन के नये कच्चे पत्तों में होकर वसन्ती हवा वह रही है।

अभिव्यक्ति के इतिहास में मनुष्य का एक अंश तो पेड़-पौधों के साथ जुड़ा हुआ है। हम लोग किसी समय शाखामृग थे इसका यथेष्ट परिचय हमारे स्वभाव मे मिलता है। लेकिन उसके भी बहुत पहले किसी आदि-युग मे हम निश्चय ही वृक्ष थे, यह क्या हम भूल सकते है? उस आदिकाल की सूनी दुपहरी मे जब वसन्ती हवा हमारे पेड़-पौधों मे किसी को रत्ती-भर खबर दिये बिना अचानक हू-हू करके आ पड़ती, तब हम क्या लेख लिखते थे या देश का उपकार करने निकलते थे। तब हम सारे दिन खड़े-खड़े गूंगों की तरह, बौड़मों की तरह कांपते रहते थे, हमारा सारा शरीर झर-झर मर-मर करके पागलों की तरह गाता रहता था, हमारी जड से लेकर शाखाओ की कच्ची टहनियां तक रस के प्रवाह से भीतर-ही-भीतर चंचल हो उठती थी। उस आदिकाल का फागुन-चैत इसी तरह रस-भरे आलस्य और अर्थहीन प्रलाप में कट जाता था। उसके लिए किसी के सामने कोई जवाबदेही नही करनी पड़ती थी।

तुम अगर यह कहो कि अनुताप का दिन उसके बाद आता था, वैसाख-जेठ की गर्मी चुपचाप सिर झुकाकर झेल लेनी पड़ती थी तो मुझे इससे इन्कार नही। जो चीज जिस दिन की है उस दिन उसको वैसे ही ग्रहण करना पड़ता है। यदि रस के दिन भोग और दाह के दिन धैर्य का आश्रय सहज ही लिया जाता है तो सान्त्वना की वर्षा-धारा जब दशों दिशाओ को भरकर झरना शुरू करती है तब उसको मज्जा-मज्जा में पूरी तरह समो लेने की सामर्थ्य रहती है।

लेकिन मैं ये सब बातें नही कहना चाहता था। लोग सदेह कर सकते हैं कि मैं रूपक का सहारा लेकर उपदेश देने बैठा हूं। मैं सदेह को बिलकुल निर्मूल नहीं कह सकता। बुरी आदत पड़ गई है।

मैं यही कह रहा था कि अभिव्यक्ति के अंतिम कोष्ठ मे आकर मनुष्य के

अनेक भाग हो गए हैं। जड़-भाग, वनस्पति-भाग, पशु-भाग, बर्बर-भाग, सभ्य-भाग, देव-भाग इत्यादि। इन अलग-अलग भागों की एक-एक विशेष जन्म ऋतु है। किस ऋतु में कौन भाग पड़ता है इसके निर्णय का भार मैं न लूंगा। मैं किसी एक सिद्धान्त को आखिर तक ले चल सकूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा करने पर बहुत झूठ बोलना पड़ता है। उसके लिए मैं राजी हूं लेकिन इतनी मेहनत आज न कर सकूंगा। आज पड़े-पड़े, सामने की ओर ताकते हुए जो कुछ सहज ही मन में आ रहा है उसको लिखने बैठा हूँ।

लम्बी सर्दी के बाद आज दोपहर निचाट मैदान में नव वसंत के साँस छोड़ते ही मैं अपने भीतर मनुष्य-जीवन का एक भारी असामंजस्य अनुभव कर रहा हूँ। विपुल के साथ, समग्र के साथ, उसका सुर नहीं मिल रहा है। जाड़े में मेरे ऊपर संसार के जो सब तकाजे थे आज भी ठीक वही सब चल रहे हैं। ऋतु बदलती रहती है लेकिन काम एक ही रहता है। ऋतु-परिवर्तन के ऊपर मन की जीत का झण्डा गाड़कर उसे मुर्दा कर देने में न जाने कौन-सी ऐसी बहादुरी है। मन बड़ा अजीब है, वह क्या नहीं कर सकता। वह दखिनी हवा की कुछ भी परवाह न करके सरपट बड़े बाजार की तरफ दौड़ सकता है। माना कि दौड़ सकता है लेकिन क्या इसीलिए दौड़ना जरूरी है? उससे दखिनी हवा तो रुक न जायगी, नुकसान किसका होगा?

यही कुछ दिन हुए हमारे आँवले, महुए और साल की डाल से पत्ते झर रहे थे—फागुन दूर से आए हुए बटोही के समान जैसे द्वार पर आकर बस दम लेने को बैठा हो, और हमारी वन-श्रेणी पत्ते गिराना बन्द करके रातों-रात नई-नई कोंपलें उगाने में लग गई।

हम मनुष्य हैं, हममें वैसा बन जाने की शक्ति नहीं है। बाहर चारों ओर जब हवा बदलती है, पत्ते बदलते हैं, रंग बदलते हैं तब भी हम बैल की तरह, पुरानी चीजों का भार ढोते हुए, वैसे ही रास्ते की धूल उड़ाते हुए पीछे-पीछे चलते रहते हैं। गाड़ी वाला पहले जिस लकड़ी से हमारे पाँजर को ठेलता रहता था अब भी वही लकड़ी है।

हाथ के पास पंजिका नहीं है—अनुमान करता हूं कि आज फाल्गुन की पन्द्रह या सोलह तारीख होगी, वसंत-लक्ष्मी आज षोडशी किशोरी है। लेकिन आज भी हफ्ते-हफ्ते अखबार निकल रहे हैं; मैं पढ़कर देखता हूं हमारे मालिक फायदे के लिए कानून बनाने में उसी तरह व्यस्त हैं और दूसरा पक्ष उसी तरह

उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार में लगा हुआ है। विश्व-जगत् में यही सर्वोच्च कर्म नहीं है—बड़े लाट, छोटे लाट, सम्पादक और सहकारी सम्पादक की उत्कट व्यस्तता की कुछ भी परवाह न करके दक्षिण समुद्र की तरंगोत्सव-सभा से हर साल यही चिरंतन वायु, नव-जीवन का आनन्द-समाचार लेकर, धरातल में अक्षय प्राण की आशा फिर से जगाने के लिए बाहर निकलती है—यह मनुष्य के लिए छोटी बात नहीं है; लेकिन इन सब बातों को सोचने के लिए हमारे पास छुट्टी नहीं है।

मेघ की पुकार आने पर शास्त्रों का अध्ययन वर्जित था, वर्षा के समय परदेशी घर लौट आते थे। मैं यह नहीं कह सकता कि बदली के दिन पढ़ाई नहीं हो सकती या वर्षा के समय विदेश में काम करना असम्भव है। मनुष्य स्वाधीन है, स्वतंत्र है, जड़-प्रकृति का आँचल नहीं पकड़े है। लेकिन शक्ति है क्या इसीलिए बराबर विपुल प्रकृति के साथ विद्रोह करके चलना होगा। विश्व के साथ मनुष्य की सह-कुटुम्बिता स्वीकार कर लेने से, आकाश में नवनीलाजल मेघोदय की खातिर पढ़ाई और काम-काज बन्द कर देने से, दखिनी हवा के प्रति थोड़ा-सा आदर भाव रखकर कानून की समालोचना बन्द रखने से मनुष्य चराचर जगत् के बीच बेसुरे की तरह नहीं बजता। पंजिका में तिथि-विशेष पर बैंगन, कोहड़ा, सेम निषिद्ध है; लेकिन और भी कुछ निषेध होने चाहिएँ। किस ऋतु में अखबार पढ़ना अवैध होगा, किस ऋतु में आफिस से गैरहाजिर न होना महापाप होगा, इसके निर्णय का भार अरसिक की अपनी बुद्धि के ऊपर न रखकर शास्त्रकारों को चाहिए कि उसे बिलकुल बाँध दे।

वसंत के दिन विरहिणी का मन हाहाकार करता है, यह बात हमने प्राचीन काव्यों में पढ़ी है—इस समय यह बात लिखते हुए हमको संकोच होता है, बाद को लोग हँसेंगे। प्रकृति के साथ अपने मन का सम्पर्क हमने ऐसा तोड़ लिया है। वसंत में समस्त वन-उपवन में फूल खिलने का समय उपस्थित होता है; वह उनके प्राण की अजस्रता का, विकास के उत्सव का समय है। तब आत्मदान के उच्छ्वास में तरु-लता पागल हो उठते हैं; तब उनको हिसाब-किताब की कोई चेतना नहीं रह जाती; जहाँ पर दो-ढो फल लगेंगे, वहाँ पच्चीस कलियाँ लग जाती हैं। मनुष्य क्या बस इस अजस्रता के स्रोत को रूँधता रहेगा? अपने को खिलायगा नहीं, फलायगा नहीं, दान करना न चाहेगा? स्त्रियाँ बस घर लीपेंगी, बरतन माँजेंगी और जिनको यह सब काम नहीं हैं वे शाम को चार बजे तक ऊन का गुलूबंद

बुनती रहेंगी ? हम क्या ऐसे निरे मनुष्य हैं ? क्या हम वसंत के रहस्यमय रस-संचार-विकसित तरु-लता-पुष्प-पल्लव कोई नहीं ? ये जो हमारे घर के आँगन को छाया से ढककर, गंध से भरकर, बाँहों से घेरकर खड़े हैं, वे क्या हमारे इतने बेगाने हैं कि जब वे फूल बनकर खिल उठेंगे तब हम चपकन पहनकर दफ्तर जायेंगे—किसी अनिर्वचनीय वेदना से हमारा हृदय-पिण्ड तरु-पल्लवों के समान काँप न उठेगा ?

मैं तो आज पेड़-पौधों के साथ अपनी पुरानी आत्मीयता स्वीकार करूँगा। आज मैं किसी तरह न मानूँगा कि व्यस्त होकर काम करते घूमना ही जीवन की अद्वितीय सार्थकता है। आज हमारी उसी युग-युगान्तर की बड़ी दीदी वन-लक्ष्मी के घर भैयादूज का निमंत्रण है। वहाँ पर आज तरु-लता से बिलकुल घर के आदमी की तरह मिलना होगा, आज छाया में लेटकर सारा दिन कटेगा, मिट्टी को आज दोनों हाथों से बिखेरूँगा समेटूँगा; वसंती हवा जब बहेगी तब उसके आनन्द को मैं अपने हृदय की पसलियों में अनायास हू-हू करके बहने दूँगा ताकि वहाँ पर ऐसी कोई आवाज न हो जिसकी भाषा पेड़-पौधे नहीं समझते। इसी तरह चैत्र के अन्त तक मिट्टी, हवा और आकाश के बीच जीवन को नरम करके, हरा करके बिखेर दूँगा, प्रकाश में, छाया में चुपचाप पड़ा रहूँगा।

लेकिन हाय, कोई काम बन्द नहीं होता, हिसाब की कापी बराबर खुली रहती है। मैं नियम की मशीन में, कर्म के फंदे में पड़ गया हूँ—अब वसंत के आने से ही क्या और जाने से ही क्या ?

मनुष्य समाज के आगे मेरा सविनय निवेदन है कि यह स्थिति ठीक नहीं। इसका संशोधन जरूरी है। इसमें मनुष्य का कोई गौरव नहीं है कि वह विश्व से अलग रहे। मनुष्य इसीलिए बड़ा है कि उसमें विश्व की सब विविधता, सब वैचित्र्य हैं। मनुष्य जड़ के साथ जड़, तरु-लता के साथ तरु-लता, पशु-पक्षी के साथ पशु-पक्षी बन जाता है। प्रकृति के राजमहल के तमाम दरवाजे उसके लिए खुले हैं लेकिन खुले रहने से ही क्या होगा। एक-एक ऋतु में जब एक-एक महल से उत्सव का निमंत्रण आता है तब मनुष्य अगर उसको स्वीकार न करके अपनी आढ़त की गद्दी पर ही पड़ा रहे तब ऐसा बड़ा अधिकार उसे क्यों मिला। पूरा मनुष्य बनने के लिए उसको सभी कुछ होना पड़ेगा, इस बात को याद न रखकर मनुष्य क्यों अपनी मनुष्यता को विश्व-विद्रोह की एक संकीर्ण ध्वजा के रूप में खड़ा रखना चाहता है ? क्यों वह बार-बार दम्भपूर्वक कहता है कि "मैं जड़ नहीं

हूँ, वनस्पति नही हूँ, पशु नही हूँ, मैं मनुष्य हूँ—मैं केवल काम करता हूँ और समालोचना करता हूँ, शासन करता हूँ, विद्रोह करता हूँ।" क्यों वह यह नही कहता कि "मैं सभी कुछ हूँ, सबके साथ मेरा अबाध सम्बन्ध है—पृथकता की ध्वजा मेरी नही है :"

हाय रे समाज-स्तंभ के पक्षी ! आकाश का नीला रग आज विरहिणी की आँखों-जैसा सपनो में डूबा हुआ है, पत्ते का हरा रग आज तरुणी के कपोल-जैसा ताजा-ताजा है, वसंत की हवा आज मिलन के आग्रह-जैसी चचल है, तब भी तेरे डैने आज बन्द हैं, तब भी तेरे पैरो में आज कर्म की जजीर झनझना रही है—यही क्या मानव-जन्म है !

'बंग दर्शन' मार्च १९०३ (चैत्र १३०९) मे प्रकाशित।

एकादश खण्ड

पंचभूत

मन

यह जो दोपहर में नदी के किनारे गाँव के एक तितल्ले मे बैठा हूँ, टिक-टिकी (छिपकली) कमरे के कोने में बैठी टिकटिक कर रही है, दीवार के पंखा खीचने के छेद मे गौरैया का एक जोड़ा घोंसला बनाने के लिए बाहर से तिनके ला-लाकर चूं-चूं करते हुए अत्यंत व्यस्त भाव से बराबर आ-जा रहा है, नदी में नाव बही जा रही है, ऊँचे कगारों के बीच से नीले आकाश मे उनके मस्तूल और फूले हुए पालों का थोडा-सा अंश दिखाई पड़ रहा है, हवा मे स्निग्धता है, आकाश स्वच्छ है, बहुत दूर दूसरे किनारे की रेखा से लेकर मेरे बरामदे के सामने वाले घिरे हुए बगीचे तक सारा दृश्य उस तेज धूप में तस्वीर के टुकडे-जैसा दिखाई पड रहा है—बड़ा मजा आ रहा है। जिस तरह बच्चे को माँ की गोद मे एक गर्मी, एक आराम, एक स्नेह मिलता है, उसी तरह इस पुरातन प्रकृति की गोद में बैठे हुए एक जीवनपूर्ण, स्नेहपूर्ण कोमल गर्मी चारो ओर से मेरे सारे शरीर मे प्रवेश कर रही है। क्या बुरा है अगर मैं इसी तरह रहा आऊँ। कागज-कलम लेकर बैठने के लिए कौन तुमको कोच रहा था। किस विषय पर तुम्हारा क्या मत है, किस बात मे तुम्हारी सहमति या असहमति है, इस बात को लेकर एकाएक धूम-धाम से कमर बाँधकर बैठने की क्या जरूरत थी। वह देखो मैदान के बीचों-बीच, कही कुछ भी नही, एक बवंडर थोडी-सी धूल और सूखे पत्तो की ओढ़नी उड़ाते हुए कैसे मजे से नाच गया। बस पैर की उँगली के सहारे सरलता की कैसी भंगिमा से क्षण-भर खड़ा रहा और फिर हुश-हाश करके सब-कुछ उड़ाकर बिखराकर कहाँ चला गया कुछ ठिकाना नही। पूँजी तो बड़ी है। थोड़ा-सा घर-पतवार, थोड़ी धूल-बालू जो सुविधा से हाथ आ जाय उसीको लेकर मजे से बड़ी भाव-भंगी के साथ उसने कैसा एक खेल खेल लिया। इसी तरह सूनी दोपहरी मे वह सारे मैदान में नाचता फिरता है। न तो उसका कोई उद्देश्य है और न कोई दर्शक – न तो उसका कोई मत है न कोई तत्त्व है, न समाज और इतिहास के संबन्ध में कोई अत्यन्त समीचीन उपदेश—पृथ्वी पर जो सबसे अधिक अनावश्यक

है उन्ही सब विस्मृत-परित्यक्त, पदार्थों मे एक गर्मी फूंककर उन सबको थोड़ी देर के लिए जीवित, जाग्रत सुन्दर बना देता है।

मैं भी अगर इसी तरह नितांत सहज भाव से एक साँस मे जैसी-तैसी कुछ चीजे खड़ी करके, अच्छी तरह घुमाकर, उड़ाकर, लट्टू नचाकर चला जा सकता। इसी तरह अनायास सृजन करता, इसी तरह फूंक मारकर तोड़ फेंकता चिन्ता नही, चेष्टा नहीं, लक्ष्य नही, बस एक नृत्य का आनन्द, बस एक सौन्दर्य का आवेग, बस एक जीवन की भँवर। अवाध भूमि, अनावृत आकाश, सब ओर फैला हुआ सूर्य का आलोक—उन्हीके बीच मुट्ठी-मुट्ठी-भर धूल लेकर इन्द्रजाल बनाना, यह केवल पागल हृदय के उदार उल्लास के द्वारा सम्भव है।

ऐसा हो तो बात समझ में आए। लेकिन बैठे-बैठे पत्थर के ऊपर पत्थर जमाकर, पसीना-पसीना होकर, कुछ थोड़े-से निश्चल मतामत ऊँची आवाज मे घोषित करना। उसमें न तो गति है, न प्रीति, न प्राण। बस एक कठिन कृतित्व। उसको कोई अच्छी नजर से देखता है और कोई पैर से ठेल देता है—जिसकी जैसी योग्यता हो।

लेकिन इच्छा करने पर भी मैं कब इस काम से निवृत्त हो सकता हूँ। सभ्यता की खातिर मनुष्य ने मन नामक अपने एक अश को अपरिमित प्रश्रय देकर बहुत बड़ा बना दिया है, अब अगर तुम उसे छोड़ना भी चाहो तो वह तुमको नही छोड़ता।

लिखते-लिखते मैं बाहर की ओर ताक रहा हूँ, वह एक आदमी धूप से बचने के लिए सिर पर चादर रखे दाहिने हाथ मे शाल के पत्ते के दोने में थोड़ा-सा दही लिये रसोई घर की ओर जा रहा है। वह मेरा नौकर है, उसका नाम नारायणसिंह है। खूब हट्टा-कट्टा निश्चिन्त, खुशमिजाज, अच्छी खूराक पानेवाले और खूब पत्तों से भरे हुए चिकने कटहल के पेड़-जैसा। इस तरह का आदमी इस बाह्य प्रकृति के साथ ठीक मेल खाता है। प्रकृति और इसके बीच कोई वैसी दूरी नही है। इस जीवधारी शस्यशालिनी वसुन्धरा के अग से लगा-लिपटा यह आदमी बड़े सहज ढंग से जी रहा है, इसके भीतर अपना कोई रचमात्र विरोध-विसंवाद नहीं है। वह पेड जिस तरह जड़ से लेकर पत्तियो की नोक तक बस एक शरीफ़े का पेड़ है, उसको और किसी चीज़ के लिए कोई सिरदर्द नही है, उसी तरह मेरा हृष्ट-पुष्ट नारायणसिंह आद्योपांत केवल-मात्र एक प्रकृत नारायणसिंह है।

कोई नटखट शिशु देवता अगर शरारत से उस शरीफ़े के पेड़ मे बस एक बूँद

मन डाल दे। तो फिर देखो उस समय, श्यामल वृक्ष के जीवन में कैसा एक विषम उपद्रव खड़ा हो जाता है। तब मारे चिन्ता के उसके चिकने हरे पत्ते भोजपत्र के समान पीले पड़ जायँ और तने से लेकर शाखा तक बुड्ढे आदमी के माथे की तरह झुर्रियाँ पड़ जायँ। तब क्या फिर इस तरह बसंत में, दो-चार दिनों में ही उसका सारा शरीर नये-नये हरे-हरे पत्तों के रूप में पुलकित हो सकेगा ? उन गोल-गोल गुच्छा-गुच्छा फलों से प्रत्येक शाखा भर उठेगी ? तब तो वह सारा दिन एक पैर पर खड़े-खड़े बस यही सोचता रहेगा, मेरे पास बस यह थोड़े-से पत्ते क्यों हुए, पंख क्यों नहीं हुए ! मैं जी-जान से इतना तनकर, इतना ऊँचा होकर खड़ा हूँ तो भी काफी देख क्यों नहीं पाता ! क्षितिज के उस पार क्या है ? वह आकाश के तारे जो पेड़ की शाखा में खिले हुए है, उस पेड़ के पार मैं कैसे पहुँचूं ? मैं कहाँ से आया, कहाँ जाऊँगा, यह बात जब तक स्थिर न होगी तब तक मैं इसी तरह ध्यान-मग्न खड़ा रहूँगा और मेरे पत्ते इसी तरह झरते रहेंगे, डालें सूखती रहेंगी, मैं काठ होता रहूँगा ! मैं हूँ या नहीं हूँ या हूँ भी और नहीं भी हूँ, जब तक इस प्रश्न की मीमांसा नहीं होती तब तक मेरे जीवन में कोई सुख नहीं है। लम्बी वर्षा के बाद जिस दिन सवेरे-सवेरे पहली बार सूरज निकलता है उस दिन मेरी मज्जा में जो एक पुलक जागता है उसे मैं ठीक-ठीक कैसे व्यक्त करूँगा और जाड़े के अंत में फागुन के बीचों-बीच जिस दिन एकाएक साँझ को दखिनी हवा चलती है उस दिन इच्छा होती है—क्या इच्छा होती है यह मुझे कौन समझायगा।

यही सब तो बखेड़ा है। गया उस बेचारे का फूल खिलाना, रस से भरा हुआ शरीफा पकाना। जो है उसकी अपेक्षा अधिक होने की चेष्टा में, जैसा है उससे अलग कुछ होने की चेष्टा में, कभी इधर कभी उधर। आखिरकार एक दिन सहसा अंतर्वेदना के मारे तने से लेकर अगली शाखा तक फटकर बाहर निकल पड़ता है एक सामयिक पत्र का लेख, एक समालोचना, अरण्य-समाज के संबंध में एक असामयिक तत्वोपदेश। फिर उसमें नहीं रह जाता वह पल्लव-मर्मर, वह छाया, वह सर्वांग-व्याप्त सरस सम्पूर्णता।

यदि कोई प्रबल शैतान, सरीसृप के समान चोरी-चोरी मिट्टी के नीचे प्रवेश करके, हजारों-लाखों टेढ़ी-मेढ़ी जड़ों के भीतर से पृथ्वी के समस्त तरु-लता, तृण-गुल्म में मन का संचार कर दे तो फिर पृथ्वी पर अंग जुड़ाने का स्थान कहाँ रहेगा। सौभाग्य से, बाग में आने पर पक्षी के गाने में कोई अर्थ नहीं मिलता और

अक्षरहीन सबुज पत्र[1] (हरे पत्तों) के बदले शाखा-शाखा पर सूखे-सफ़ेद मासिक पत्र, समाचार-पत्र और विज्ञापन झूलते नहीं दिखाई पड़ते।

सौभाग्य से, पेड़ों में विचारशीलता नहीं होती। सौभाग्य से, धतूरे का पेड़ कामिनी के पेड़ की समालोचना करके यह नहीं कहता कि "तुम्हारे फूलों में कोमलता है पर ओजस्विता नहीं है," और बेर कटहल से नहीं कहता कि "तुम अपने को बड़ा समझते हो लेकिन मैं कुम्हड़े को तुमसे बड़ा समझता हूँ।" केला नहीं कहता, "मैं सबसे कम मूल्य में सबसे बड़ा पत्र (पत्ता) प्रचारित करता हूँ।" और कंद उससे होड़ लगाकर उससे कम मूल्य में, उससे बड़े पत्र का आयोजन नहीं करता।

तर्क-प्रताड़ित चिंता-तापित वक्तृता-श्रांत मनुष्य उदार उन्मुक्त आकाश के चिन्तारेखाहीन ज्योतिर्मय प्रशस्त ललाट को देखकर, अरण्य की भाषा का मर्मर और तरंग का अर्थहीन कलरव सुनकर, इस मनोविहीन अगाध प्रशान्त प्रकृति में डूबकर ही कुछ स्निग्ध और संयत हो सका है। मन-स्फुलिंग की उस ज़रा-सी दाह-निवृत्ति के लिए ही यह अनन्त-प्रसारित अमन समुद्र की प्रशान्त-नील जल-राशि आवश्यक हो उठी है।

असल बात मैं आगे ही कह आया हूँ, हमारे भीतर के कुल-सामंजस्य को नष्ट करके हमारा मन अत्यंत विशाल हो उठा है। अब वह कहीं समा नहीं पाता। खाने-पहनने के लिए, जीवन-धारण के लिए, सुख से स्वच्छन्दता से रहने के लिए जितना जरूरी है, मन उससे कहीं ज्यादा बड़ा हो गया है। इसलिए सारे जरूरी काम एक तरफ सरकाकर भी चारों ओर बहुत-कुछ मन बाकी रह जाता है। इसीलिए वह बैठा-बैठा डायरी लिखता है, बहस करता है, समाचार पत्र का संवाददाता बनता है, जो चीज आसानी से समझ में आती है उसे मुश्किल बना देता है। जिससे एक तरह से समझना चाहिए उसे दूसरी तरह से खड़ा कर देता है, जो कभी किसी काल में किसी तरह समझा नहीं जा सकता, दूसरी सब चीजों को फेंक-फाँककर उसीमें लगा रहता है, यहाँ तक कि इससे भी अधिक गर्हित कार्य करता है।

लेकिन मेरे उस असभ्य नारायणसिंह का मन उसके शरीर की आवश्यकता के अनुसार ठीक नाप से फिट होकर लगा हुआ है। उसका मन उसके जीवन को

---

१. संभव है इस पद में श्लेष हो और लेखक ने इसी नाम के मासिक पत्र पर भी हल्का व्यंग्य किया हो—अनु०।

सर्दी-गर्मी, हारी-बीमारी और बेइज्जती से बचाता है लेकिन जब देखो तब उन्चास पवन के वेग से चारों ओर उडता नही रहता। एकाध बटन के छेद से बाहर की हवा चोरी-चोरी उसके मानव-आवरण के भीतर प्रवेश करके उसको कभी-कभी फुला नहीं देती, यह मैं न कह सकूंगा, लेकिन मन की उतनी चंचलता उसके जीवन के स्वास्थ्य के लिए ही आवश्यक है।

'साधना', जून १८९२ (ज्येष्ठ १३००) में प्रकाशित।

अखण्डता

दीप्ति ने कहा, "सच कहती हूँ, मुझे तो ऐसा लगता है कि आजकल प्रकृति की स्तुति को लेकर तुम सब लोगो ने कुछ बढ़-बढ़कर बातें करना शुरू कर दिया है।"

मैंने कहा, "देवी, और किसी की स्तुति शायद तुम्हें अच्छी नही लगती ?"

दीप्ति ने कहा, "जब स्तुति को छोड़कर उससे अधिक कुछ न मिलता हो तो उसका अपव्यय मुझसे नही देखा जाता।"

समीर ने अत्यंत विनम्र मनोहर हँसी के साथ ग्रीवा झुकाते हुए कहा, "भगवती, प्रकृति की स्तुति और तुम्हारी स्तुति मे कोई बड़ा अंतर नही है। तुमने भी शायद यह देखा होगा कि जो लोग प्रकृति के स्तुति-गान की रचना करते रहते है वे तुम्हारे ही मंदिर के प्रधान पुजारी हैं।"

दीप्ति ने रूठकर कहा, "अर्थात् जो लोग जड की उपासना करने है वे ही हमारे भक्त है !"

समीर ने कहा, "तुमने मुझको इस बुरी तरह गलत समझा इसलिए मुझको एक लंबी कैफियत देनी पड़ेगी। हमारी भूत-सभा के वर्तमान सभापति श्रद्धास्पद श्रीयुत भूतनाथ बाबू ने अपनी डायरी मे मन नामक एक हठीले पदार्थ के उपद्रव की बात बतलाते हुए जो लेख लिखा है, वह तुम सब लोगो ने पढ़ा है। मैंने उसीके नीचे दो-चार बातें लिख रखी हैं,अगर सदस्यगण अनुमति दें तो मैं पढ़ूँ—मेरे मन का भाव उससे स्पष्ट हो जायगा।"

क्षिति ने हाथ जोड़कर कहा, "देखो भाई समीरण, लेखक और पाठक का संबंध ही स्वाभाविक संबंध है—तुमने जो चाहा लिखा, मैंने जो चाहा पढ़ा, किसी को कुछ कहने की गुंजाइश नही, कि जैसे तलवार म्यान में घुस गई। लेकिन अगर तलवार अनिच्छुक अस्थि-चर्म के साथ भी वैसी ही गहरी आत्मीयता स्थापित करने लगे तो वह उतने स्वाभाविक और मनोहर रूप मे सम्पन्न होने की चीज नही है, लेखक और श्रोता का संबंध भी वैसा ही अस्वाभाविक, बेमेल

होता है। हे चतुरानन, पाप के चाहे जैसा दण्ड का विधान करो लेकिन इतना करना कि अगले जन्म में मैं डाक्टर का घोड़ा, शराबी की पत्नी और प्रबंध-लेखक का बंधु होकर जन्म न लूं।"

व्योम ने मज़ाक करने की कोशिश की और कहा, "एक तो बंधु का अर्थ ही बंधन है, और फिर अगर प्रबंध-बंधन हो तो वह फंदे के ऊपर फंदा हो जाता है—'गंडस्योपरि विस्फोटकम्'।"

दीप्ति ने कहा, "हँसने के लिए मैं दो बरस के समय की प्रार्थना करती हूँ। इस बीच मुझे पाणिनि, अमरकोश और धातु-पाठ को हस्तामलक कर लेना होगा।"

यह सुनकर व्योम को बहुत मज़ा आया। उसने हँसकर कहा, "तुमने बड़ी अजीब बात कही। मुझे एक कहानी याद आती है…।"

स्रोतस्विनी ने कहा, "मैं देखती हूँ कि तुम लोग समीर का लेख अब आज सुनने न दोगे। समीर तुम पढ़ो, उन लोगों की बात मत सुनो!"

स्रोतस्विनी के आदेश के विरुद्ध किसी ने आपत्ति न की। यहाँ तक कि स्वयं क्षिति शेल्फ़ के ऊपर से डायरी की कापी निकाल लाया और अत्यंत निरीह-निरुपाय व्यक्ति के समान संयत होकर बैठा रहा।

समीर ने पढ़ना शुरू किया, "मनुष्य को बाध्य होकर पग-पग पर मन की सहायता लेनी पड़ती है, इसीलिए भीतर-ही-भीतर हम उसे देख नहीं पाते। मन हमारा बहुत भला करता है लेकिन उसका स्वभाव ऐसा है कि वह किसी तरह हमारे साथ पूरा-पूरा घुल-मिल नहीं पाता। हमेशा खिच-खिच करता रहता है, सलाह देता है, उपदेश देने आता है, हर काम में हस्तक्षेप करता है। कि जैसे कोई बाहर का आदमी घर का आदमी बन जाय—उसको अलग करना भी मुश्किल और प्यार करना भी मुश्किल।

"बहुत-कुछ वह बंगालियों के देश में अंग्रेजों की गवर्नमेण्ट जैसा है। हम लोगों का सरल देशी ढंग है और उसका जटिल विदेशी ढंग का आईन-कानून। वह उपकार करता है लेकिन आत्मीय नहीं समझता। वह भी हमको नहीं समझ पाता, हम भी उसको नहीं समझ पाते। हमारी जो सब सहज स्वाभाविक क्षमताएँ थीं, वे तो उसकी शिक्षा से नष्ट हो गईं; अब उठते-बैठते उसकी सहायता के बिना काम नहीं चलता।

"अंग्रेजों के साथ हमारे मन के और भी कई साम्य हैं। इतने दिनों से वह

हमारे बीच रह रहे हैं लेकिन यहाँ के रहने वाले नहीं हुए, तभी हमेशा उड़े-उड़े-से रहते हैं। कि जैसे मौके से कोई फ़ुरसतो मिलते ही महासमुद्र-पार अपनी जन्म-भूमि में भाग जाने से ही उनकी जान बचेगी। सबसे अधिक आश्चर्यजनक सादृश्य यही है कि तुम उनके आगे जितना ही नरम होगे, जितना ही 'जी हुजूर, खुदावन्द' कहकर हाथ जोड़ोगे उतनी ही उनकी शान बढ जायगी; और तुम अगर झट से हाथ की आस्तीन उठाकर घूँसा दिखला सको, ईसाई शास्त्र के अनुशासन को न मानकर थप्पड़ के बदले में झाँपड लगा सको तो वह पानी हो जायँगे।

"मन के ऊपर हमारी चिढ इतनी गहरी है कि जिस काम में उसका हाथ कम दिखाई पड़ता है उसीकी हम लोग सबसे ज्यादा प्रशंसा करते हैं। नीति-ग्रन्थ में हठीलेपन की निंदा जरूर है लेकिन सच पूछो तो हम उसके प्रति अपने भीतर अनुराग देखते हैं। जो व्यक्ति बहुत सोच-विचारकर आगा-पीछा देखकर बहुत सतर्क होकर काम करता है उसको हम प्यार नहीं करते; लेकिन जो व्यक्ति सदा निश्चिन्त रहता है और खिले हुए मुखड़े से बिना लाग-लपेट अपनी बात कह बैठता है और यों ही कोई बेढब काम कर डालता है, लोग उसको प्यार करते हैं। जो व्यक्ति भविष्य का हिसाब-किताब करके बड़ी सावधानी से अर्थ-संचय करता है, ऋण की आवश्यकता होने पर लोग उसके पास जाते हैं और मन-ही-मन उसे अपराधी समझते हैं, और जो भोला-भाला आदमी अपने और अपने परिवार के भविष्य के शुभ-अशुभ की चिन्ता न करके जो कुछ पाता है फौरन खुले हाथों खर्च कर बैठता है, लोग आगे बढकर उसको कर्ज देते हैं और सब समय उस रुपये को वापस पाने की आशा भी नहीं रखते। बहुत बार अविवेचना अर्थात् मनो-विहीनता को ही हम उदारता कहते हैं और जो मनस्वी हिताहित ज्ञान के आदेशानुसार तर्क की लालटेन हाथ में लेकर अत्यंत कठिन संकल्प के साथ नियम के बँधे-टके रास्ते पर चलता है उसको लोग हिसाबी, विषयी, तंगदिल आदि गालियाँ देते हैं।

"मन नाम की जो चीज है, उसको जो भुला सके उसीको हम मनोहर कहते हैं। मन का बोझ हम जिस स्थिति में अनुभव नहीं करते उसी स्थिति को आनंद कहते हैं। नशा करें बल्कि उस नशे में जानवर बन जायँ, अपना सर्वनाश कर लें, यह भी स्वीकार है लेकिन कुछ देर के लिए हिरासत में पड़कर भी हम उस खुशी को रोक नहीं पाते। मन अगर सचमुच हमारा आत्मीय होता और आत्मीय-जैसा व्यवहार करता तो क्यों ऐसे उपकारी व्यक्ति के प्रति इतनी अधिक कृतघ्नता हमारे मन में जागती।

"हम बुद्धि की अपेक्षा प्रतिभा को क्यों ऊँचा आसन देते हैं ! बुद्धि प्रतिदिन प्रतिक्षण हमारे हजारों काम कर देती है, वह न होती तो हमारी जीवन-रक्षा दुस्साध्य हो जाती; और प्रतिभा कभी-कभार हमारे काम आती है और बहुत बार हमारा नुकसान भी करती है। लेकिन बुद्धि भी मन की चीज है उसे कदम गिनकर चलना पड़ता है; और प्रतिभा मन की नियमावली की परवाह न करके हवा की तरह आती है, न किसी की पुकार सुनती है और न किसी के मना करने से मानती है।

"प्रकृति में यह मन नहीं है इसीलिए प्रकृति हमको इतनी मनोहर लगती है। प्रकृति में एक के नीचे दूसरी परत नहीं है। तिलचट्टे के कधे पर बैठकर टिड्डा उसे खा नहीं रहा है। मिट्टी से लेकर उस ज्योति-संचित आकाश तक उसकी इस विराट् गृहस्थी में किसी अनजान परदेसी का लड़का घुसकर बदमाशी नहीं कर रहा है।

"वह एकाकी है, अखण्ड-सम्पूर्ण है, निश्चिततता है, निरुद्विग्न है। उसके असीम नीले ललाट पर बुद्धि की रेखा तक नहीं है, केवल प्रतिभा की ज्योति निरंतर चमकती रहती है। जिस प्रकार एक सर्वांगसुन्दरी पुष्प-मंजरी अनायास विकसित हो उठती है वैसे ही अनायास एक जबरदस्त आँधी आकर सारे सुख-सपनों को तोड़-फोड़कर चली जाती है। सब-कुछ जैसे इच्छा के वश हो रहा है, चेष्टा कहीं नहीं। वह इच्छा कभी प्यार करती है, कभी चोट मारती है, कभी प्रेयसी अप्सरी के समान गाती है, कभी भूखी राक्षसी के समान गरजती है।

"चिन्तापीड़ित संशयापन्न मनुष्य के निकट द्विधाशून्य अव्यवस्थित इच्छा-शक्ति का बड़ा प्रचण्ड आकर्षण है। राजभक्ति, प्रभुभक्ति, उसीका एक रूप है। जो राजा अपनी इच्छा-मात्र से प्राण दे और ले सकता है उसके लिए जितने लोगों ने अपनी इच्छा से प्राण दिया है उतने लोग वर्तमान युग के नियमपाशबद्ध राजा के लिए स्वेच्छापूर्वक आत्मविसर्जन करने के लिए तैयार नहीं होते।

"जो लोग मनुष्य जाति के नेता होकर जन्मे हैं उनके मन को नहीं देखा जाता। वे क्यों, क्या सोचकर, किस युक्ति के अनुसार, क्या काम करते हैं, सहसा यह सब-कुछ समझ में नहीं आता; और मनुष्य अपने संशय-तिमिराच्छन्न क्षुद्र गह्वर से निकलकर पतिंगों की तरह झुंड-के-झुंड उनकी महत्त्व-शिखा में कूदकर अपना प्राण दे देते हैं।

"रमणी भी प्रकृति के समान है। मन ने आकर उसको बीच में दो टुकड़े में

बांट नही दिया है। वह फूल की तरह सिर से पैर तक एक है। इसीलिए उसकी गतिविधि, उसका आचार-व्यवहार इतना सहज-सम्पूर्ण है। इसीलिए द्विधाओं से आंदोलित पुरुष के लिए रमणी 'मरणं ध्रुव' होती है।

"प्रकृति के समान रमणी भी निरी इच्छाशक्ति होती है, उसमें युक्ति, तर्क, विचार, आलोचना, क्यों, कैसे, कुछ नही होता। कभी वह चारो हाथ से अन्न बाँटती है और कभी प्रलय की मूर्ति बनकर संहार करने के लिए उद्यत होती है। भक्त लोग हाथ जोड़कर कहते है, " 'तुम महामाया हो, तुम इच्छामयी हो, तुम प्रकृति हो, तुम शक्ति हो' ।"

समीर दम लेने के लिए जरा-सा रुका तो क्षिति ने गंभीर चेहरा बनाकर कहा, "वाह ! क्या खूब ! लेकिन, तुम्हारी कसम, एक अक्षर भी अगर समझा होऊं ! शायद तुम जिस चीज़ को मन और बुद्धि कहते हो, प्रकृति के समान हमारे अंदर भी उसका अभाव है। लेकिन उसके बदले में किसी ने प्रतिभा के लिए मेरी प्रशंसा नहीं की और आकर्षण-शक्ति भी अधिक हो, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण नही मिलता।"

दीप्ति ने समीर से कहा, "तुमने तो मुसलमानों की तरह यह बात कही, उनके शास्त्रों में ही तो लिखा है कि स्त्रियो के आत्मा नही होती।"

स्रोतस्विनी ने विचार मे डूबे हुए कहा, "मन और बुद्धि शब्द का प्रयोग अगर एक ही अर्थ मे करो और अगर यह कहो कि हम उससे वंचित है तो मेरी राय तुम्हारी राय से न मिलेगी।"

समीर ने कहा, "मैं जो बात कह रहा हूँ वह बाजाब्ता बहस करने के काबिल नही है। पहली वर्षा मे पद्मा जो मैदान बना गई वह बालू है, उसके ऊपर हल लेकर पड़ जाने से और उसे उलट-पुलट कर देने से कोई फल न मिलेगा। धीरे-धीरे दो-तीन वर्षों में जब उसके ऊपर तह-पर-तह मिट्टी पड़ेगी तब वह हल को सह सकेगी। मैंने भी उसी तरह चलते-चलते बहाव मे आकर बस एक बात उठाई है। हो सकता है कि दूसरे बहाव मे वह बिलकुल ढल जाय या कौन जाने उनके ऊपर बाढ की चिकनी गीली मिट्टी पड़ जाने से वह उपजाऊ भी हो उठे। जो हो अभियुक्त की बात सुनने के बाद उस पर विचार किया जाय।

"मनुष्य के अंत.करण के दो अंश होते हैं। एक अचेतन, विशाल, गुप्त और निश्चेष्ट और दूसरा, सचेतन, सक्रिय, चंचल, परिवर्तनशील। जैसे महादेश और समुद्र। समुद्र चचल भाव से जो कुछ संचय करता है, त्याग करता है, वही गुप्त

तल-देश में धीरे-धीरे जमा होते-होते एक दृढ़ निश्चय स्तूप का आकार ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार हमारी चेतना प्रतिदिन जो कुछ ला रही है, देख रही है, वही सब धीरे-धीरे संस्कार, स्मृति, अभ्यास के आकार में एक विशाल गोपन आधार लेकर अचेतन भाव से संचित होता जा रहा है। वही हमारे जीवन और चरित्र की स्थायी भित्ति है। एकदम भीतर बैठकर निचली तह को कोई नहीं खोज सकता। जितना ऊपर से दिखाई पड़ता है या आकस्मिक भूकम्प के वेग से जो निगूढ़ अंश ऊपर फिंक जाता है उसीको हम देख पाते हैं।

"इसी महादेश में शस्य, पुष्प, फल, सौंदर्य और जीवन अत्यंत सहज भाव से अंकुरित हो उठते हैं। ये देखने में स्थिर और निष्क्रिय होते हैं लेकिन इनके भीतर एक अनायास निपुणता, एक गुप्त जीवन-शक्ति निगूढ़ भाव से काम करती रहती है। समुद्र में बस लहरें उठती हैं, वाणिज्य-तरी तैरती है, डूबती है, बहुत-कुछ लाती है, ले जाती है, उसके बल की सीमा नहीं है; लेकिन उसमें जीवनी-शक्ति और धारिणी-शक्ति नहीं है, वह किसी चीज को जन्म नहीं दे सकती, पाल नहीं सकती।

"रूपक से यदि किसी को आपत्ति न हो तो मैं कहूँगा कि हमारा यही चंचल बहिरंग पुरुष है और यही विराट्, गोपन, अचेतन अंतरंग नारी।

"यही स्थिति और गति समाज में स्त्री और पुरुष के बीच बँट गई है। समाज का समस्त उपार्जन-ज्ञान और शिक्षा स्त्री-जाति में पहुँचकर निश्चल स्थिति प्राप्त कर लेती है। इसीलिए उनमें ऐसी सहज बुद्धि, सहज शोभा, अशिक्षित पटुता होती है। मनुष्य-समाज में स्त्री बहुत समय की रची हुई है, इसीलिए उसके संस्कार इतने दृढ़ और पुरातन है, उसके सब कर्त्तव्य इस प्रकार चिर-अभ्यस्त सहज-साध्य के समान चला करते हैं। पुरुष उपस्थित प्रयोजन की खोज में समय के स्रोत में अनुक्षण परिवर्तित होता रहता है; लेकिन उस समस्त चंचल प्राचीन परिवर्तन का इतिहास स्त्री-जाति में निरंतर तह-पर-तह जमा होता रहता है।

"पुरुष आंशिक है, विच्छिन्न है, सामंजस्यविहीन है और स्त्री ऐसा एकसंगीत है जो सम पर आकर सुन्दर, सुडौल ढंग से सम्पूर्ण होता है; उसमें उत्तरोत्तर चाहे जितने पदों का संयोग और नई-नई तानों की योजना क्यों न करो, वह सम पर आकर सबको अपने सुन्दर गोल घेरे में ले लेता है। बीच में आवर्त्त एक स्थिर केन्द्र का सहारा लेकर अपनी परिधि को फैलाता है। इसीलिए जो कुछ हाथ के पास है उसे वह इतने निपुण सुन्दर भाव से खींचकर अपना बना ले पाता है।

"यह केन्द्र बुद्धि नहीं है; यह एक सहज आकर्षण शक्ति है। यह एक ऐक्य-बिन्दु है। मनः पदार्थ जहाँ पर आकर ताक-झाँक करता है वहीं पर यह सुन्दर ऐक्य सैकड़ों टुकड़ों में बिखर जाता है।"

व्योम ने अधीर होकर एकाएक शुरू कर दिया, "तुम जिसको ऐक्य कहते हो मैं उसको आत्मा कहता हूँ; उसका धर्म ही यही है, वह पाँच वस्तुओं को अपने चारों ओर खींच ले आकर और एक गठन देकर गढ़ लेती है। और तुम जिसको मन कहते हो वह पाँच वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होकर अपने को और उन सबको तोड़-ताड़कर बिखेर देता है। इसीलिए आत्मयोग का प्रधान सोपान होता है मन को वश में करना।

"समीर ने मन की तुलना अंग्रेज के साथ जो की है वह यहाँ भी लागू होती है कि अंग्रेज सब चीजों को ही आगे बढ़कर खदेड़ देता है। उसका 'आशायधिम् को गतः' सुनता हूँ कि सूर्यदेव भी नहीं हैं—वे भी उसके राज्य में उदय होकर आज तक अस्त नहीं हो सके और हम लोग आत्मा के समान केन्द्रगत हैं; हम कुछ हरण नहीं करना चाहते, चारों ओर जो कुछ है उसको घनिष्ठ भाव से अपने पास खींचकर गढ़ना चाहते हैं। इसलिए हमारे समाज में, घर में, व्यक्तिगत जीवन-यात्रा में, ऐसी एक रचना की गहनता दिखाई पड़ती है। मन संग्रह करता है, आत्मा सृजन करती है।

"योग के सब तथ्य मैं नहीं जानता; लेकिन सुनते हैं कि योग बल से योगी सृष्टि कर सकते थे। प्रतिभा की सृष्टि भी वैसी होती है। कवि लोग सहज क्षमता-बल से मन को निवृत्त करके अर्ध-चेतन भाव से मानो एक आत्मा के आकर्षण में भाव, रस, दृश्य, वर्ण, ध्वनि को न जाने कैसे संचित करके, पुंजित करके, जीवन में सुन्दर गठन से मण्डित करके खड़ा कर देते हैं।

"बड़े-बड़े आदमी जो बड़े-बड़े काम करते हैं, वह भी इसी ढंग से। जो जहाँ का है वह जैसे एक दैवी शक्ति के प्रभाव से आकृष्ट होकर रेखा-रेखा में वर्ण-वर्ण में मिल जाता है, एक सुसम्पन्न, सुसम्पूर्ण कार्य के रूप में ठहर जाता है। प्रकृति की सबसे कनिष्ठ संतान मन नामक हठीला बालक बिलकुल तिरस्कृत-बहिष्कृत हो ऐसी बात नहीं, पर वह अपने से उच्चतर, महत्तर प्रतिभा के अमोघ माया-मंत्र-बल से मुग्ध के समान काम करता जाता है; ऐसा लगता है कि जैसे सब-कुछ जादू से हो रहा है; कि जैसे समस्त घटनाएँ, बाह्य स्थितियाँ योग-बल से इच्छानुसार यथास्थान सजती जा रही हैं—गैरीबाल्डी ने इसी तरह टूटे-फूटे इटली को नये

ढंग से प्रतिष्ठित किया था—वाशिंगटन जंगल-पहाड़ में बिखरे हुए अमेरिका को अपने चारों ओर खींच ले आकर एक साम्राज्य के रूप में गढ़ गए।

"ये सब काम एक-एक योग-साधना है।

"कवि जिस प्रकार काव्य का गठन करता है, तानसेन जिस प्रकार तान, लय, छंद में एक-एक गान की सृष्टि करते थे, रमणी उसी प्रकार अपने जीवन की रचना करती है। उसी अचेतन भाव से उसी माया-मंत्र-बल से। पिता-पुत्र, भाई-बहन, अतिथि-अभ्यागत को सुन्दर बन्धन में बाँधकर वह अपने चारों ओर गठित कर लेती है, सज्जित कर लेती है; भाँति-भाँति के उपकरण लेकर बड़े निपुण हाथों से एक घर बढ़ाती है; घर ही क्यों, रमणी जहाँ भी आती है अपनी चारों दिशाओं को एक सौंदर्य-संयम में बाँध लेती है। अपने चलने-फिरने, वेश-भूषा, बात-चीत, आकार-इंगित को एक अनिर्वचनीय गठन कर देती है। उसको श्री कहते हैं। यह तो बुद्धि का काम नहीं है, अनिर्देश्य प्रतिभा का काम काम है, मन की शक्ति नहीं, आत्मा की अभ्रांत रहस्यमय शक्ति है। यह जो ठीक सुर ठीक जगह पर जाकर लगता है, ठीक बात ठीक जगह पर आकर बैठती है, ठीक काम ठीक समय पर होता है यह अखिल जगत् की केन्द्र-भूमि से स्वाभाविक स्फटिक धारा के समान उच्छ्वसित एक महा रहस्यमय उत्स है। उस केन्द्र-भूमि को अचेतन न कहकर अनि-चेतन नाम देना उचित होगा।

"प्रकृति में जो सौंदर्य है, महान् और गुणी लोगों में वही प्रतिभा है और नारी में वही श्री है, वही नारीत्व है। यह केवल पात्र-भेद से भिन्न विकास है।"

इसके बाद व्योम ने समीर के चेहरे की ओर देखकर कहा, "फिर? अपना लेख तो खत्म कर डालो!"

समीर ने कहा, "क्या जरूरत है? मैंने जिसका आरम्भ किया था तुमने तो एक तरह से उसका उपसंहार कर दिया।"

क्षिति ने कहा, "कविराज महाशय ने शुरू किया था, डाक्टर महाशय उसे पूरा कर गए, अब हम लोग हरि-हरि कर विदा हों। मन क्या है, बुद्धि क्या है, आत्मा क्या है, सौंदर्य क्या है, प्रतिभा क्या है—यह सब तत्त्व मैंने कभी नहीं समझे लेकिन समझने की आशा थी; आज उसको भी मैंने जलांजलि दे दी।"

ऊन का गोला उलझ जाने पर जिस तरह उसे सिर झुकाकर धीरे-धीरे सतर्क उँगलियों से खोलना पड़ता है, स्रोतस्विनी उसी तरह चुपचाप बैठी हुई मन-ही-मन बातों को बड़े यत्न से सुलझाने लगी।

दीप्ति भी मौन थी; समीर ने उससे पूछा, "क्या सोच रही हो ?"

दीप्ति ने कहा, "बंगाली स्त्रियों की प्रतिभा के बल से बंगाली लड़कों के समान अपूर्व सृष्टि कैसे सम्भव हुई यही सोच रही हूँ।"

मैंने कहा, "मिट्टी के गुण से हमेशा शिव को नहीं गढ़ा जा सकता।"

'साधना' अगस्त १८६३ (श्रावण १३००) में प्रकाशित।

प्रांजलता

स्रोतस्विनी ने किसी विख्यात अंग्रेज कवि का उल्लेख करके कहा, "कौन जाने, उनकी रचना मुझे अच्छी नही लगती।"

दीप्ति ने और भी प्रबल भाव से स्रोतस्विनी के मत का समर्थन किया। समीर जहाँ तक सम्भव हो कभी लड़कियों की किसी बात का स्पष्ट प्रतिवाद नही करता। इसीसे उसने जरा हँसकर बात बनाते हुए कहा, "लेकिन बहुत-से बड़े-बड़े समालोचक तो उनको बहुत ऊँची जगह देते हैं।"

दीप्ति ने कहा, "आग जलाती है, इस बात को अच्छी तरह समझने के लिए किसी समालोचक की सहायता आवश्यक नही होती, यह तो अपने बाएँ हाथ की छिगुनी की नोक से भी समझा जा सकता है—अच्छी कविता का अच्छापन अगर उसी तरह अनायास न समझ सकूँ तो मैं उसकी समालोचना पढ़ना जरूरी नही समझती।"

समीर जानता था कि आग जलाने की क्षमता है, इसीलिए वह चुप हो गया; लेकिन बेचारे व्योम को इन सब बातों का कोई ज्ञान न था, उसने उच्च स्वर से अपनी स्वगत उक्ति आरम्भ कर दी।

उसने कहा,"मनुष्य का मन मनुष्य को पीछे छोड जाता है, बहुत बार आदमी उसके पास नही पहुँच पाता—"

क्षिति ने उसको रोककर कहा, "त्रेता युग में हनुमान की शतयोजन पूँछ श्रीमान् हनुमानजी को ही पीछे छोड़कर बहुत दूर पहुँच जाती थी, पूँछ के सिरे पर अगर जूँ बैठ जाती तो खुजलाकर लौटने के लिए घोड़ा बुलाना पडता। मनुष्य का मन हनुमान की पूँछ से भी ज्यादा लम्बा है। इसीलिए कभी-कभी मन जहाँ पर जा पहुँचता है वहाँ पर समालोचक के घोड़े को बुलाए बिना हाथ नही पहुँचता। पूँछ और मन मे अंतर यही है कि मन आगे-आगे चलता है और पूँछ पीछे-पीछे चलती है—इसीलिए दुनिया में पूँछ इतनी लांछित है और मन का इतना महातम है।"

क्षिति की बात खत्म होने पर व्योम ने फिर शुरू किया, "विज्ञान का उद्देश्य है जानना और दर्शन का उद्देश्य है समझना। लेकिन मामला कुछ ऐसा हो गया है कि विज्ञान का जानना और दर्शन का समझना ही दूसरे सब जानने और समझने से ज्यादा कठिन हो गया है इसके कितने स्कूल, कितनी किताबें कितने आयोजन आवश्यक हो गए हैं। साहित्य का उद्देश्य है आनंद देना, लेकिन उस आनंद को ग्रहण करना भी नितांत सहज नही है—उसके लिए भी विविध प्रकार की शिक्षा और सहायता की जरूरत होती है। इसीलिए मैं कह रहा था कि देखते-देखते मन इतना आगे बढ जाता है कि उसके पास पहुँचने के लिए सीढ़ी लगानी पड़ती है। अगर कोई रूठकर कहे कि जो बिना शिक्षा के नही जाना जा सकता वह विज्ञान नही है, जो बिना चेष्टा के नही समझा जा सकता वह दर्शन नही है, और जो बिना साधना के आनंद नही देता वह साहित्य नही है तो केवल खना[1] का वचन, प्रवाद-वाक्य और पाचाली का सहारा लेकर उनको बहुत पीछे छूट जाना होगा।"

समीर ने कहा, "आदमी के हाथों में सभी चीजें धीरे-धीरे कठिन हो उठती हैं। असभ्य लोग जैसे-तैसे चिल्लाकर ही उत्तेजना अनुभव करते है। लेकिन हमारा ग्रह ऐसा है कि विशेष अभ्यास-साध्य शिक्षा-साध्य सगीत के बिना हमको सुख नही मिलता। और भी ग्रह यह है कि अच्छा गायन करना जिस प्रकार शिक्षा-साध्य है, अच्छे गायन मे सुख अनुभव करना भी वैसा ही शिक्षा-साध्य है। उसका फल यह है कि एक समय जो साधारणजनो का था वह धीरे-धीरे साधक का बन जाता है। चिल्ला सभी सकते है और चिल्लाकर सभी असभ्य जनसाधारण उत्तेजना का सुख अनुभव करते हैं, लेकिन सब गा नही सकते और गाने से सबको सुख भी नहीं मिलता। यही कारण है कि समाज जितना ही आगे बढता है उतना ही अधिकारी और अनधिकारी, रसिक और अरसिक इन दो वर्गों की सृष्टि होने लगती है।"

क्षिति ने कहा, "बेचारा आदमी कुछ इस तरह गढा गया है कि जितना ही सहज उपाय का सहारा लेने जाता है उतना ही दुरूहता मे जाकर फँस जाता है। वह आसानी से काम करने के लिए मशीन बनाता है लेकिन मशीन स्वय एक विषम दुरूह वस्तु है। वह सहज ही समस्त ज्ञान को विधिवद्ध करने के लिए विज्ञान की सृष्टि करता है लेकिन उस विज्ञान को पूरी तरह समझना ही कठिन है; न्याय

---

१. प्रसिद्ध लोक-कवि···अनु०।

करने की सहज प्रणाली खोज निकालने के लिए आईन-कानून बनाए गए, लेकिन आईन-कानून को अच्छी तरह समझने के लिए ही दीर्घजीवी लोगो को अपना बारह आना जीवन दे देना जरूरी हो जाता है, सहज ढग से लेन-देन करने के लिए रुपये की सृष्टि हुई, आखिरकार रुपये की समस्या ऐसी एक समस्या हो उठी कि उसे सुलझाना किसी के वश की बात नही। सब-कुछ सहज करना होगा, इसी चेष्टा में मनुष्य का जानना-समझना, खाना-पीना, आमोद-प्रमोद सब-कुछ अत्यन्त कठिन हो उठा है।"

स्रोतस्विनी ने कहा, "उसी हिसाब से कविता भी कठिन हो उठी है। आजकल मनुष्य बड़े स्पष्ट रूप में दो हिस्सो मे बँट गया है। थोडे-से लोग धनी है और बहुत-से लोग निर्धन, थोड़े-से लोग गुणी है और बहुत-से लोग निर्गुण। आजकल कविता भी सर्वसाधारण की नही है, वह विशेष लोगो की है। यह सब-कुछ मैं समझ गई। लेकिन बात यह है कि हमने जिस विशेष कविता के प्रसग मे यह बात उठाई है वह कविता किसी अंश मे कठिन नही है, उसमे ऐसा कुछ भी नही है जो हम-जैसा व्यक्ति भी समझ न सके—वह नितात सरल है। अत. वह यदि अच्छी न लगे तो यह हमारे समझने का दोष नही है।"

इसके बाद क्षिति और समीर की और कुछ कहने की इच्छा न हुई। लेकिन व्योम वैसे ही खिले हुए मुखड़े से कहने लगा, "जो सरल है वही सहज है, यह कहना ठीक नही। बहुत बार वही अत्यंत कठिन होता है, क्योकि वह अपने को समझाने के लिए कोई रद्दी उपाय काम में नहीं लाता, चुपचाप खड़ा रहता है, उसको समझे बिना चले जाने पर वह फिर किसी बहाने से नही बुलाता। प्रांजलता का प्रधान गुण यही है कि वह बिना किसी व्यवधान के मन के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करता है, उसका कोई मध्यस्थ नही होता। लेकिन जो मन मध्यस्थ की सहायता के बिना कुछ ग्रहण नही कर सकते, जिन्हे भुलावा देकर आकर्षित करना पड़ता है, उनके लिए प्रांजलता बहुत ही दुर्बोध होती है। कृष्णनगर के कारीगर का बनाया हुआ भिश्ती अपनी तमाम रँगी-चुंगी मशक और अंग-भंगी के द्वारा हमारी इंद्रियों और अभ्यास की सहायता से हमारे मन मे चट मे प्रवेश कर लेता है; लेकिन ग्रीक प्रस्तर-मूर्ति मे वैसा रँगा-चुंगा कुछ नही होता—वह प्रांजल और सब प्रकार से प्रयास-विहीन होती है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वह सहज होती है। वह किसी तरह के तुच्छ बाह्य कौशल का सहारा नहीं लेती इसीलिए उसमे भाव-सम्पदा अधिक होनी चाहिए।"

दीप्ति ने काफी खिन्न होकर कहा, "अपनी ग्रीक प्रस्तर-मूर्ति की बात छोड़ दो। उसके सम्बन्ध में बहुत-सी बातें सुननी है और जिन्दा रही तो अभी और भी बहुत-सी बातें सुननी पड़ेंगी। अच्छी चीज का दोष यही है कि उसे सदैव संसार की आँखों के सामने रहना पड़ता है, सभी उसके बारे में कुछ कहते हैं, उसके पास कोई पर्दा नहीं होता, उसकी कोई आबरू नहीं होती; उसे और किसी को खोजना नहीं पड़ता, समझना नहीं पड़ता, अच्छी तरह आँख खोलकर उसकी ओर ताकना भी नहीं पड़ता, बस उसके सम्बन्ध में बँधी-टँकी बातें सुननी और कहनी होती हैं। जिस प्रकार सूर्य का कभी-कभी मेघग्रस्त हो जाना उचित है, नहीं तो मेघमुक्त सूर्य का गौरव समझ में नहीं आता, उसी प्रकार मुझे लगता है कि पृथ्वी की बड़ी-बड़ी ख्यातियों के ऊपर कभी-कभी वैसी ही अवहेलना का पर्दा पड़ना उचित है—कभी-कभी ग्रीक मूर्ति की निंदा करने का फैशन होना अच्छा है, कभी-कभी सब लोगों के निकट प्रमाणित होना उचित है कि चाणक्य कालिदास से बड़ा कवि है। नहीं तो और सहा नहीं जाता। जो हो वह एक अप्रासंगिक बात है। मेरा कहना यही है कि बहुत बार भाव की दरिद्रता, आचार की बर्बरता, सरलता जान पड़ती है—बहुत बार अभिव्यक्ति की क्षमता के अभाव को भाव के आधिक्य का परिचय समझ लिया जाता है—यह भी याद रहना चाहिए।"

मैंने कहा, "कला-विद्या में सरलता उच्च अंग की मानसिक उन्नति की सहचर होती है। बर्बरता सरलता नहीं। बर्बरता के आडम्बर का आयोजन बहुत अधिक होता है। सभ्यता अपेक्षाकृत निरलंकार होती है। अधिक अलंकार हमारी दृष्टि को आकर्षित करता है लेकिन मन को प्रतिहत कर देता है। हमारी बंगला भाषा में, क्या अखबारों में और क्या उच्च श्रेणी के साहित्य में सरलता और प्रमादहीनता का अभाव देखा जाता है—सभी को बात बढ़ाकर, चिल्लाकर और मुँह बनाकर बात कहना अच्छा लगता है; बिना आडम्बर सच बात को साफ़-साफ़ कहने की प्रवृत्ति किसी की नहीं होती, क्योंकि अब भी हममें एक आदिम बर्बरता है; सत्य जब प्रांजल वेश में आता है तो उसकी गहराई और असामान्यता को हम देख नहीं पाते; जब तक भाव का सौंदर्य कृत्रिम भूषण और सब प्रकार की अतिशयता से भाराक्रान्त होकर न आये हमारी आँखों में उसकी मर्यादा नष्ट होती है।"

समीर ने कहा, "संयम भद्रता का एक प्रधान लक्षण है। भद्र व्यक्ति जबरदस्ती किसी प्रकार के अतिरेक द्वारा अपने अस्तित्व को उत्कट भाव से प्रचारित

नही करते; विनय और सयम के द्वारा वह अपनी मर्यादा की रक्षा करते है। वहुत वार साधारण लोगों की आँखों में संयत समाहित भद्रता की अपेक्षा आडंवर और अतिरेक की भंगिमा अधिक आकर्षक जान पडती है। लेकिन वह भद्रता का दुर्भाग्य नही है, वह उन साधारण लोगों के भाग्य का दोप है। साहित्य में संयम और आचार-व्यवहार में संयम उन्नति का लक्षण है। अतिरेक के द्वारा दृष्टि को आकर्पित करने की चेष्टा भी वर्बरता है।"

मैंने कहा, "अंग्रेजी की एकाध वात माफ करनी होगी। जिस प्रकार भद्रजनो में उसी प्रकार भद्रसाहित्य में भी मैंनर है, लेकिन मैंनरिज्म नही। इसमे संदेह नही कि अच्छे साहित्य की एक विशेप आकृति-प्रकृति होती है लेकिन उसमे एक ऐसी परिमित सुपमा होती है कि आकृति-प्रकृति की विशेपता विशेप रूप से दिखाई नही पडती। उसमें एक भाव रहता है, एक गूढ प्रभाव रहता है लेकिन कोई अपूर्व भंगिमा नही रहती। तरग-भंग के अभाव मे वहुत वार परिपूर्णता भी लोगों की नजर से ओझल हो जाती है और परिपूर्णता के अभाव मे बहुत बार तरंग-भंग भी लोगों को विचलित कर देती है। लेकिन इससे यह भ्रम किसी को न होना चाहिए कि परिपूर्णता की प्रांजलता ही सहज और उथलेपन की भंगिमा ही दुरूह होती है।"

मैंने स्रोतस्विनी की ओर मुड़कर कहा, "वहुत बार उच्च श्रेणी का सरल साहित्य समझना इसीलिए कठिन होता है कि मन उसको समझ लेता है पर वह अपने को समझाता नही।"

दीप्ति ने कहा, "नमस्कार करती हूँ। आज हमारी काफी शिक्षा हो गई। अब फिर कभी उच्च अंग के पण्डितों के निकट उच्च अंग के साहित्य के सम्बन्ध मे में मत व्यक्त करके अपनी वर्वरता प्रकट न करूँगी।"

स्रोतस्विनी ने उस अंग्रेज कवि का नाम लेकर कहा, "तुम लोग चाहे जितना तर्क करो और चाहे जितनी गाली दो, इस कवि की कविता मुझे किसी तरह अच्छी नही लगती।"

'साधना' अप्रैल १८९५ (चैत्र १३०१) में प्रकाशित।

कौतुक-हास्य की मात्रा

उस दिन मैंने यह मोटा प्रश्न उठाया था कि जिस प्रकार दुःख का रोना होता है उसी प्रकार सुख की हँसी होती है लेकिन बीच में यह कौतुक की हँसी कहाँ से आ गई। कौतुक कुछ रहस्यमय चीज है। जानवर भी सुख-दुःख अनुभव करते हैं लेकिन कौतुक अनुभव नहीं करते। अलकार-शास्त्र में जितने रसों का उल्लेख है वे सभी रस जानवरों के अपरिणत, अपरिस्फुट साहित्य में हैं, केवल हास्य-रस नहीं है। हो सकता है कि बन्दर की प्रकृति में रस का थोड़ा-बहुत आभास दिखाई पड़ता हो, लेकिन बन्दर के साथ मनुष्य का और अनेक विषयों में सादृश्य है।

जो असंगत है उसमें मनुष्य का दुःख पाना उचित था, हँसी आने का कोई मतलब ही नहीं होता। पीछे जब चौकी न हो तब अगर कोई आदमी यह सोचकर कि मैं चौकी पर बैठ रहा हूँ जमीन पर गिर पड़े तो उससे दर्शकों के सुख अनुभव करने का कोई युक्तिसंगत कारण नहीं दिखाई पड़ता। ऐसा एक उदाहरण क्यों, कौतुक मात्र में ऐसा एक पदार्थ है जिससे मनुष्यों को सुख न होकर दुःख होना ही उचित है।

हम लोगों ने बात-बात में उस रोज इसके एक कारण की ओर निर्देश किया था। हम कह रहे थे कि कौतुक की हँसी और हमारी हँसी एकजातीय है—दोनों हास्यों में एक प्रबलता है। इसीसे हमको सदेह हुआ था कि हो सकता है आमोद और कौतुक में एक प्रकृतिगत सादृश्य हो; उसीका पता पाने पर कौतुक-हास्य के रहस्य को खोला जा सकता है।

साधारण भाव के सुख और आमोद में एक अन्तर है। नियम-भंग में जो थोड़ी-सी पीड़ा है, वह पीड़ा न रहने पर आमोद नहीं हो पाता। आमोद ऐसी चीज है जो नित्य-नैमित्तिक सहज नियम-संगत नहीं होती; वह कभी कुछ होती है कभी कुछ, उसमें प्रयास आवश्यक होता है। इसी पीड़न और प्रयास के संघर्ष में मन को जो एक उत्तेजना होती है वही उत्तेजना आमोद का प्रधान उपकरण है।

हम कह रहे थे कि कौतुक में भी नियम-भंग-जनित एक पीड़ा है; वह पीड़ा बहुत अधिक मात्रा को अगर न पहुँच जाय तो वह हमारे मन में जो एक सुखकर उत्तेजना जगाती है उसी आकस्मिक उत्तेजना के आघात से हम हँस पड़ते है। जो सुसंगत है वह हमेशा से नियम-सम्मत होता है, जो असगत है वह क्षण-भर का नियम-भग है। जहाँ पर जो होना चाहिए वहाँ उसके होने से हमारे मन मे कोई उत्तेजना नही होती। अचानक न होने पर या और किसी रूप मे होने पर उसी आकस्मिक हल्के उत्पीडन से मन एक विशेष चेतना का अनुभव करके सुख पाता है और हम हँस पडते है।

उस दिन हम यही तक गये थे, इसके आगे नही गये। लेकिन इसका मतलब यह नही है कि और आगे नही जाया जा सकता। कहने के लिए और भी बातें हैं।

श्रीमती दीप्ति ने प्रश्न किया कि हमारे चार पण्डितो का सिद्धान्त अगर सच हो तो चलते-चलते अचानक हल्की-सी ठोकर खाने पर या रास्ते मे गुजरते हुए एकाएक हल्की-सी दुर्गन्ध नाक मे लगने पर हमारा हँसना, अतत· उत्तेजनाजनित सुख अनुभव करना उचित होगा।

इस प्रश्न के द्वारा हमारी मीमासा खण्डित नही होती, केवल सीमित होती है। इससे केवल इतना समझ में आता है कि पीडन मात्र कौतुकजनक उत्तेजना जन्म नही देता। इसलिए अभी यही देखना जरूरी है कि कौतुक-पीड़न का विशेष उपकरण क्या है।

जड़ प्रकृति मे करुण रस भी नही है हास्यरस भी नही है। एक बडा पत्थर छोटे पत्थर को चूर-चूर कर दे तो भी हमारी आँखो मे आँसू नही आते और समतल मैदान पर चलते-चलते अचानक एक बे-मेल पहाड़ की चोटी देखकर हमें हँसी नही आती। नदी, निर्झर, पर्वत, समुद्र मे यहाँ-वहाँ आकस्मिक असामजस्य दिखाई पडता है—वह बाधाजनक, विरक्तिजनक, पीड़ाजनक हो सकता है लेकिन कभी कौतुकजनक नही होता। सचेतन पदार्थ से सम्बन्ध रखने वाला बेमेलपन ही हमारे भीतर हँसी जगा सकता है, शुष्क जड़ पदार्थ का नही।

क्यो, यह ठीक-ठीक बतलाना मुश्किल है, लेकिन विचार करके देखने मे कोई बुराई नही।

हमारी भाषा में कौतुक और कौतूहल शब्दों में अर्थ का सम्बन्ध है। संस्कृत साहित्य मे अनेक स्थलो पर एक ही अर्थ मे इन दोनों शब्दों का प्रयोग होता है।

इससे मैं अनुमान करता हूँ कि कौतूहल-वृत्ति के साथ कौतुक का विशेष सम्बन्ध है।

कौतूहल का एक प्रधान अंग नवीनता की लालसा है, कौतुक का भी एक प्रधान उपादान नवीनता है। असगत में जैसी एक विशुद्ध नवीनता होती है वैसी सगत मे नही होती।

लेकिन प्रकृत असंगति इच्छा-शक्ति के साथ मिली हुई है, वह जड़-पदार्थ में नहीं होती। मुझे अगर साफ़-सुथरे रास्ते पर चलते-चलते अचानक दुर्गन्ध मिले तो मैं निश्चयपूर्वक समझ जाऊँगा कि पास ही कही पर कोई दुर्गन्ध वाली वस्तु है इसलिए ऐसा हुआ; इसमें किसी प्रकार का कोई नियम का व्यतिक्रम नही है, यह अवश्यम्भावी है। जड़-प्रकृति मे जो कुछ जिस कारण से हो रहा है उसके अलावा और कुछ नही हो सकता, यह निश्चित है।

लेकिन अगर मैं रास्ते में चलते-चलते अचानक यह देखूँ कि एक बुड्ढा खेमटा नाच रहा है तो वह सचमुच असगत जान-पड़ता है क्योंकि वह अनिवार्य नियम-सगत नही। हम उस बुड्ढे से किसी तरह ऐसे आचरण की आशा नही करते क्योंकि वह इच्छा-शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति है, अपनी इच्छा से नाच रहा है, इच्छा करता तो भी नहीं नाच सकता था। जड पदार्थ में अपनी इच्छा-जैसी कोई चीज नही होती इसलिए जड पदार्थ के लिए कुछ भी असगत या कौतुकजनक नही हो सकता। इसीलिए अनपेक्षित ठोकर या बदबू हास्यजनक नही होती। चाय का चम्मच अगर संयोग से चाय के प्याले से गिरकर दावात की स्याही में पड जाय तो वह चम्मच के लिए कोई हास्यकर बात नही है—गुरुत्वाकर्षण के नियम का उल्लंघन नही हो सकता। लेकिन अन्यमनस्क लेखक यदि अपनी चाय का चम्मच दावात मे डुबोकर चाय पीने की चेष्टा करे तो यह निश्चय ही कौतुक का विषय है। जड़ पदार्थ मे जिस प्रकार नीति नही होती उसी प्रकार असंगति भी नही होती। मन. पदार्थ ने प्रवेश करके जहाँ पर दुविधा को जन्म दिया है वही पर उचित और अनुचित, सगत और असगत दिखाई पड़ता है।

कौतूहल जो चीज है वह अनेक स्थलों पर निष्ठुर होती है; कौतूहल में भी निष्ठुरता है। ऐसा सुनते है कि सिराजुद्दौला दो लोगो की दाढ़ी एक-दूसरे से बाँधकर दोनो की नाक मे सुंघनी भर देते थे—दोनों जब छीकना शुरू करते तो सिराजुद्दौला को बहुत मजा आता। इसमे असंगति कहाँ पर है। नाक में सुंघनी देने पर छीक तो आयगी ही। लेकिन वहाँ भी इच्छा और कार्य मे असंगति है।

जिनकी नाक मे सुंघनी दी जा रही है उनकी इच्छा नही है कि वे छीकें, क्योकि छीकते ही उनकी दाढी खिचेगी लेकिन तो भी उन्हें छीकना ही पडता है।

इस प्रकार इच्छा और स्थिति मे असंगति, उद्देश्य और उपाय मे असगति, कथनी और करनी मे असगति—इन सबमे निष्ठुरता है। बहुत बार हम जिसको लेकर हँसते है वह अपनी स्थिति को हास्य का विषय नही समझता। इसीलिए पांच भौतिक सभा में व्योम ने कहा था कि कॉमेडी और ट्रैजेडी मे उत्पीडन का केवल मात्रा-भेद है। कॉमेडी मे जितनी निष्ठुरता प्रकट होती है उससे हमको हँसी आती है और ट्रैजेडी में जितनी दूर तक जाती है उससे हमारी आँखों में आँसू आ जाते हैं। बहुत-सी टाइटेनिया अपूर्व मोहवश गर्दभ के निकट जो आत्म-विसर्जन करती है वह मात्रा-भेद और पात्र-भेद से मर्मभेदी शोक का कारण हो उठता है।

असगति कॉमेडी का भी विषय है, ट्रैजेडी का भी। इच्छा और स्थिति की असगति प्रकट होती है। फाल्स्टाफ विन्डसरवासिनी रगिणियो की प्रेम-लालसा मे विश्वस्त चित्त से आगे बढ़े लेकिन अपनो दुर्गति कराकर बाहर चले आए; रामचन्द्र जब रावण-वध करके, वनवास की प्रतिज्ञा पूरी करके, राज्य में लौटकर दाम्पत्य-सुख के चरम शिखर पर चढते है उसी समय अकस्मात् बिना मेघ के वज्राघात हुआ—गर्भवती सीता को जंगल मे निर्वासित करने के लिए उन्हें बाध्य होना पड़ा। दोनो स्थलो पर आशा के साथ फल की इच्छा के साथ स्थिति की असंगति प्रकट हो रही है। अत स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि असगति दो प्रकार की होती है—एक हास्यजनक और दूसरी दु खजनक। विरक्तिजनक, विस्मयजनक, रोषजनक को भी हम बाद वाली श्रेणी में डालते हैं।

अर्थात् असंगति जब हमारे मन के ऊपरी स्तर पर आघात करती है तब हमको कौतुक जान पड़ता है, गहरे स्तर पर आघात करती है तो हमको दुःख होता है। शिकारी जब बड़ी देरी तक ताक लगाये रहने के बाद बत्तख के भ्रम में एक दूर की सफेद चीज पर गोली चलाता है और फिर उसके पास दौड़कर जाने पर देखता है कि वह एक फटा हुआ कपड़ा है तब उसकी उस निराशा मे हमको हँसी आती है। लेकिन कोई व्यक्ति जिस चीज को अपने जीवन का परम पदार्थ समझकर एकाग्र चित्त से एकांत चेष्टा में आजीवन उसके पीछे लगा रहा है और अंततोगत्वा सिद्ध काम होकर उसको हाथ में पाते ही यह देखता है कि वह केवल एक तुच्छ प्रवंचना है तो उसके इस नैराश्य से अन्तःकरण व्यथित होता है।

दुर्भिक्ष में जब दल-के-दल आदमी मर रहे हों तब कोई उसे प्रहसन का विषय नहीं समझता। लेकिन हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि यह एक मसखरे शैतान के लिए बड़े कौतुक का दृश्य है। वह उस समय इन सब अमर आत्मधारी जीर्ण कलेवरों के प्रति हास्यपूर्वक कटाक्ष करके कह सकता है, "वह रहा तुम्हारा षड्दर्शन, तुम्हारे कालिदास का काव्य; वह रहे तुम्हारे तैंतीस करोड़ देवता, दो मुट्ठी चावल भी नहीं है, ऐसी है तुम्हारी अमर आत्माएँ, तुम्हारे जगत्-विजयी मनुष्य का प्राण एकदम कंठ के पास आकर धुक-धुक कर रहा है।

मोटी बात यह है कि असंगति धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते विस्मय से हँसी और हँसी से आँसू मे बदलती जाती है।

'साधना' मार्च १८९१ (फाल्गुन १३०१) मे प्रकाशित।

अपूर्व रामायण

घर पर एक मंगल-कार्य था इसीलिए तीसरे पहर पास ही मच पर से बारोवाँ रागिनी में नौबत बज रही थी। व्योम ने बड़ी देर तक मूंदे रहने के बाद एकाएक आँखें खोलकर कहना शुरू किया, "हमारी इन सब देशी रागिनियों में एक परिव्याप्त मृत्यु-शोक का भाव है, सभी सुर रो-रोकर कह रहे हैं, संसार में कुछ भी स्थायी नही होता। ससार में सब-कुछ अस्थायी है, यह बात ससारी के लिए नई नही, प्रिय भी नही, यह एक अटल, कठोर सत्य है। लेकिन तो भी बाँसुरी के मुँह से सुनने में यह इतनी अच्छी क्यो लगती है। क्योंकि बाँसुरी ससार के इस सबसे कठोर सत्य को सबसे ज्यादा मीठा बनाकर कहती है। ऐसा लगता है कि मृत्यु निश्चय ही इसी रागिनी के समान करुण है लेकिन इसी रागिनी के समान सुन्दर भी है। जगत् ससार के वृक्ष पर जो सबसे भारी जगद्दल पत्थर बैठा हुआ है, इस गान का सुर न जाने किस मन्त्र-बल से उसको हल्का कर देता है। एक व्यक्ति के हृदय-कुहर से उच्छ्वसित होकर उठने पर जो वेदना चीत्कार होकर बज उठती, क्रन्दन होकर फूट पडती, बाँसुरी उसीको समस्त जगत् के मुख से ध्वनित करके ऐसी अगाध करुणापूर्ण और अनत सान्त्वनामय रागिनी की सृष्टि करती है।"

दीप्ति और स्रोतस्विनी आतिथ्य के सब काम पूरे करके आ बैठी थी, ऐसे समय में आज के इस मंगल-कार्य के दिन व्योम के मुँह से मृत्यु-सम्बन्धी आलोचना सुनकर बहुत खिन्न हुई और उठ गई। व्योम उनकी खिन्नता न समझकर वैसे ही अविचलित भाव से चेहरे पर बिना शिकन लाये अपनी बात कहता रहा। नौबत बहुत अच्छी लग रही थी, हमने उस दिन फिर कुछ ज्यादा बहस नहीं की।

व्योम ने कहा, "आज की यह बाँसुरी सुनते-सुनते एक बात मेरे मन में विशेष रूप से जाग रही है। प्रत्येक कविता मे एक विशेष रस होता है—अलंकार शास्त्र ने जिसको आदि, करुण, शान्ति के नामों मे विभाजित किया है। मुझे लगता है कि यदि जगत्-रचना को काव्य के रूप में देखा जाय तो मृत्यु ही उसका प्रधान

रस है, मृत्यु ने ही उसको यथार्थ कवित्व अर्पित किया है। यदि मृत्यु न होती और जगत् का जो कुछ जहाँ है चिरकाल वहीं वैसे-का-वैसा खड़ा रहता तो जगत् एक चिरस्थायी समाधि-मन्दिर के समान अत्यन्त संकीर्ण, अत्यन्त कठिन, अत्यन्त बँधा हुआ हो जाता। इस अनंत निश्चलता का चिरस्थायी भार ढोना प्राणियों के लिए बड़ा दुरूह होता। मृत्यु ने इसी अस्तित्व के भीषण बोझ को हल्का बनाये रखा है और जगत् को विचरण करने के लिए असीम क्षेत्र दिया है। जिधर मृत्यु है उधर ही जगत् की असीमता है। उस अनंत रहस्यभूमि की दिशा में ही मनुष्य की समस्त कविता, समस्त संगीत, समस्त धर्म तन्त्र, समस्त तृप्तिहीन वासना समुद्रपारगामी पक्षी के समान घोसले को खोज में उड़ी जाती रही हैं। एक तो जो प्रत्यक्ष है, वर्तमान है वह हमारे लिए अत्यन्त प्रबल है और फिर अगर वही चिरस्थायी होता तो उसके एकेश्वर उत्पीडन का अन्त न रहता—तब उसके ऊपर फिर अपील कहाँ चलती। तब कौन बतलाता कि इसके बाहर भी असीमता है। अनन्त का बोझ तब यह संसार कैसे उठा पाता—यदि मृत्यु उस अनन्त को अपने चिरप्रवाह में निरंतर प्रत्यक्ष न किये रहती।"

समीर ने कहा "मरना न होता तो जीने की कोई मर्यादा ही न रहती। आज दुनिया-भर के लोग जिनकी अवज्ञा करते हैं वह भी जीवन से, गौरव से गौरवान्वित है तो इसीलिए कि मृत्यु है।"

क्षिति ने कहा, "मैं उसके लिए बहुत चिन्तित नहीं हूँ, मेरी राय से मृत्यु के अभाव में कहीं पर किसी विषय को लेकर खड़े होने का उपाय न रहता, वही सबसे बड़ी चिन्ता का कारण है। उस स्थिति में व्योम यदि अद्वैत तत्त्वों के संबंध में विवेचना उठाता तो कोई हाथ जोड़कर यह न कह सकता कि 'भाई अब समय नहीं है इसलिए माफ़ करो।' मृत्यु न होती तो अवसर का अंत न होता। अब मनुष्य अधिक-से-अधिक सात-आठ वर्ष की अवस्था में अध्ययन आरम्भ करके पच्चीस वर्ष की अवस्था में कालेज की डिग्री लेकर या मजे में फेल होकर निश्चित हो जाता है, तब किसी विशेष वयस में आरम्भ करने का भी कोई कारण न होता और किसी खास उम्र में खत्म करने की भी कोई जल्दी न होती। सभी काम-काज और जीवन-यात्रा के विराम-अर्द्धविराम बिलकुल उठ जाते।"

व्योम इन सब बातों की ओर काफी कान न देकर अपने चिन्तन-सूत्र के पीछे-पीछे चलता हुआ कहता रहा, "जगत् में केवल मृत्यु ही चिरस्थायी है, इसीलिए हमने अपनी समस्त चिरस्थायी आशा और वासना को उसी मृत्यु में प्रतिष्ठित

किया है। हमारा स्वर्ग, हमारा पुण्य, हमारी अमरता सब उसीमें हैं। जो सब चीजें हमे इतनी प्रिय हैं कि हम कभी उनके विनाश की कल्पना भी नही कर पाते उन सबको मृत्यु के हाथों में समर्पित करके हम अपने जीवन के अन्तकाल की प्रतीक्षा करते रहते हैं। पृथ्वी पर न्याय नही है, न्याय मृत्यु के बाद मिलता है, पृथ्वी पर प्राणपण वासना निष्फल होती है, सफलता मृत्यु के कल्पतरु के नीचे होती है। संसार की और सभी दिशाओं मे कठिन, स्थूल वस्तुराशि हमारे मानव-आदर्श को बाधा देती है, हमारी अमरता और असीमता का खण्डन करती है—संसार की जिस सीमा पर मृत्यु है, जहाँ पर सभी वस्तुओं का अवसान है, वहीं पर हमारी प्रियतम, प्रबलतम वासना के लिए हमारी शुचितम, सुन्दरतम कल्पना के लिए कोई रोक-टोक नही होती। हमारे शिव श्मशानवासी हैं—हमारे सर्वोच्च मंगल का आदर्श मृत्युनिकेतन में है।"

मुलतानी बारोयाँ खतम करके शहनाई सूर्यास्त के स्वर्णाभ अंधकार में पूर्वी बजाने लगी। समीर ने कहा, "मनुष्य ने जिन सब आशाओं-आकांक्षाओं को मृत्यु के पार निर्वासित कर दिया है, इस शहनाई का सुर उन्ही पर चिर-अश्रु-सजल हृदय के धनों को पुन. मनुष्य-लोक में लौटा ले आता है। साहित्य और संगीत और सब ललित कलाओं को, मानव-हृदय के सब चिरन्तन पदार्थों को मृत्यु के परलोक से इहलोक में ले आकर प्रतिष्ठित करता है। कहता है, पृथ्वी को स्वर्ग, वास्तव को सुन्दर और इस क्षणिक जीवन को ही अमर बनाना होगा। जिस प्रकार मृत्यु ने जगत् का असीम रूप व्यक्त कर दिया है, उसको एक अनन्त मिलन-सेज पर एक परम रहस्य के साथ परिणय-पाश में बाँध रखा है और उसी बन्द दरवाजे वाले मिलन-कक्ष के गुप्त झरोखे से अनन्त सौन्दर्य और संगीत आकर हमें स्पर्श करता है, उसी प्रकार साहित्य-रस और कला-रस हमारे जड-भार-ग्रस्त विक्षिप्त दैनंदिन जीवन में प्रत्यक्ष के साथ परोक्ष का, अनित्य के साथ नित्य का, तुच्छ के साथ सुन्दर का, व्यक्तिगत छोटे सुख-दु.ख के साथ विश्वव्यापी बड़ी रागिनी का सम्बन्ध जोड़ता है। अपने समस्त प्रेम को हम पृथ्वी से निकालकर मृत्यु के पास भेजेंगे या इसी पृथ्वी पर रखेंगे, तर्क इस बात को लेकर है। हमारा प्राचीन वैराग्य-धर्म कहता है, परलोक में ही सच्चे प्रेम का स्थान है, नवीन साहित्य और ललित कला कहती है, "इहलोक मे ही हम उसका स्थान दिखाए देते हैं।"

क्षिति ने कहा, "मैं इस प्रसंग में एक अपूर्व रामायण-कथा कहकर सभा भंग करना चाहता हूँ।--

'राजा रामचन्द्र—अर्थात् मनुष्य—प्रेम-नामक सीता को अनेकानेक राक्षसों के हाथ से बचा ले आकर अपनी अयोध्यापुरी में परम सुख से वास कर रहे थे। इसी समय कई धर्मशास्त्रों ने दल वाँधकर इस प्रेम के नाम पर कलंक लगाना शुरू किया। कहा, वे अनित्य पदार्थ के साथ एक स्थान पर रही हैं, उनका परित्याग करना होगा। वास्तविक अनित्य के घर में वन्द रहने पर भी जो कलंक इस देवांशजाता राजकुमारी का स्पर्श नहीं कर सका, उसकी कहानी को अब कौन प्रमाणित करेगा। एक अग्नि-परीक्षा थी, वह तो करके देख ली गई—अग्नि ने उन्हें नष्ट न करके और भी उज्ज्वल कर दिया। तो भी शास्त्रों की कानाफूसी से इस राजा ने आखिरकार एक दिन प्रेम को मृत्यु-तपसा के तीर पर निर्वासित कर दिया। इस वीच महाकवि और उनके शिष्यों के आश्रम में रहकर इस अनाथिनी ने कुश और लव, काव्य और ललित कला नामक युगल संतान को जन्म दिया। वही दोनों शिशु, कवि से रागिनी सीखकर आज राजसभा में अपनी परित्यक्ता जननी का यशोगान करने आए हैं। इस नवीन गायक के गान से विरही राजा का चित्त चंचल हो उठा है और आँखें गीली हो गई हैं। अब भी उत्तरकाण्ड पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ। अब भी देखना है कि किसकी जीत होती है—त्याग-प्रचारक, प्रवीण वैराग्य-धर्म की या प्रेम-मंगल-गायक दो अमर शिशुओं की।''

'साधना' सितम्बर १८९५ (भाद्र १३०२) में प्रकाशित।

वैज्ञानिक कौतूहल

विज्ञान की आदिम उत्पत्ति और चरम लक्ष्य के बारे में व्योम और क्षिति में भारी बहस छिड़ी हुई थी। व्योम ने उस प्रसंग में कहा, "यद्यपि हमारी कौतूहल-वृत्ति से ही विज्ञान की उत्पत्ति है तो भी मेरा विश्वास है कि हमारा कौतूहल विज्ञान की ठीक-ठीक तलाश करने के लिए बाहर नहीं निकला उसकी आकांक्षा पूर्णतया अवैज्ञानिक है। वह खोजना चाहता है पारस पत्थर, निकल पड़ता है एक प्राचीन जीव का जीर्ण अँगूठा, वह चाहता है अलादीन का चिराग, पा जाता है दियासलाई का बक्स। ऐल्केमी ही उसका मनोगत उद्देश्य है, कैमिस्ट्री उसकी अप्रार्थित सिद्धि; ऐस्ट्रालोजी के लिए वह आकाश भर में जल फेंकता है पर हाथ आती है ऐस्ट्रानमी। वह नियम नहीं खोजता, वह कार्य-कारण-शृंखला की नई-नई कड़ियों की गिनती नहीं करना चाहता, वह नियम का विच्छेद खोजता है, वह सोचता है कि कब एक जगह पर पहुँचकर सहसा वह देखेगा कि वहाँ पर कार्य-कारण की अनंत पुनरुक्ति नहीं है। वह अभूतपूर्व नवीनता चाहता है—लेकिन वृद्ध ज्ञान चुपके-चुपके उसके पीछे-पीछे आकर उसकी समस्त नवीनता को प्राचीन बना देता है, उसके इंद्रधनुष को दर्पण-विच्छुरित वर्णमाला का परिवर्धित संस्करण बना देता है और पृथ्वी की गति को पके हुए ताड़-फल के गिरने का समश्रेणीय प्रमाणित कर देता है।

"जो नियम हमारे धूलि-कण में है, वही एक नियम अनंत आकाश और अनंत काल में सर्वत्र फैला हुआ है, अपनी इस खोज को लेकर हम आजकल आनंद और विस्मय प्रकट करते हैं। लेकिन यह आनंद यह विस्मय मनुष्य के लिए सचमुच स्वाभाविक नहीं है। उसने जब अनंत आकाश में नक्षत्रों के राज्य में अपने अनु-संधान-दूत भेजे थे तब उसको बड़ी आशा थी कि उस ज्योतिर्मय, अंधकारमय धाम में धूलि-कणों का नियम न होगा, वहाँ पर एक अत्यन्त आश्चर्यजनक स्वर्गिक अ-नियम का आनन्द उल्लास होगा, लेकिन अब वह देखता है कि वे चाँद-सूरज,

ग्रह-नक्षत्र, वह सप्तर्षिमंडल, वे अश्विनी-भरणी-कृतिका हमारे इस धूलिकणों के ही छोटे-बड़े भाई-बहन हैं। इस नये तथ्य को लेकर हम जो आनन्द प्रकट करते हैं वह हमारा एक नया कृत्रिम अभ्यास है, वह हमारी आदिम प्रकृति का अंग नही।"

समीर ने कहा, "यह कुछ झूठ बात नही। पारस पत्थर और अलादीन के चिराग के प्रति प्रकृतिस्थ मनुष्य-मात्र का एक गहरा आकर्षण होता है। बचपन में कथामाला की एक कहानी पढी थी कि कोई किसान मरते समय अपने बेटे से कह गया, अमुक खेत में मैं तुम्हारे लिए गुप्त धन रखे जाता हूँ। उस बेचारे ने बहुत खोदा लेकिन गुप्त धन न मिला पर उस खोदने के गुण से जमीन में इतनी फसल पैदा हुई कि उसे फिर किसी चीज की कमी न रही। बालक-स्वभाव बालक मात्र को यह कहानी पढ़कर कष्ट होता है। खेती करके फ़सल तो दुनिया-भर के सब खेतिहरो को मिलती है लेकिन गुप्त धन तो गुप्त है इसीलिए नही मिलता—वह विश्वव्यापी नियम का एक अपवाद है और आकस्मिक है इसीलिए स्वभावत मनुष्य के मन मे उसके प्रति इतनी अधिक कामना होती है। कथामाला चाहे जो कहे, किसान का बेटा अपने पिता के प्रति कृतज्ञ नही हुआ, इस विषय में कोई संदेह नहीं। वैज्ञानिक नियमों की अवज्ञा मनुष्य के लिए कितनी स्वाभाविक है, हर रोज़ हमें इसका प्रमाण मिलता है। जो डाक्टर निपुण चिकित्सा द्वारा अनेक रोगियों को ठीक करता है। उसके बारे में हम कहते हैं कि उस आदमी के हाथ में यश है। शास्त्र-संगत चिकित्सा के नियमो से डाक्टर रोग को आराम पहुँचाता है, इस बात से हमारी आंतरिक तृप्ति नही होती; उसमें साधारण नियम के व्यतिक्रमस्वरूप एक रहस्य का आरोप करके ही हमें संतोष होता है।

मैंने कहा, "उसका कारण यह है कि नियम अनंत काल और अनंत देशों में प्रसारित होने पर भी सीमाबद्ध है, वह अपनी चिन्हित रेखा से बाल बराबर इधर-उधर नही हो सकता—इसीलिए उसका नाम नियम है और इसीलिए वह मनुष्य की कल्पना को पीड़ा पहुँचाता है। शास्त्र-संगत चिकित्सा से हम अधिक आशा नही कर सकते—ऐसे रोग हैं जो चिकित्सा के लिए असाध्य हैं। लेकिन आज तक हाथ के यश नामक रहस्यमय व्यापार का ठीक सीमा-निर्णय नही हो सका, इसीलिए वह हमारी आशा को, कल्पना को कही भी बाधा नही पहुँचाता। इसीलिए डाक्टरी दवाई से अधिक झाड़-फूँक की दवाई का आकर्षण होता है। उसका फल कितनी दूर तक हो सकता है उसके संबंध में हमारी आशा की कोई सीमा नही

होती। मनुष्य की जानकारी जितनी ही बढ़ती जाती है, जितना ही वह अमोघ नियमों के लौह प्राचीर से घिरता जाता है, उतना ही वह अपनी स्वाभाविक अनंत आशा को सीमाबद्ध कर बैठता है, कौतूहल-वृत्ति की स्वाभाविक नवीनता की आकांक्षा को संयत कर लेता है, नियम को राजपद पर प्रतिष्ठित करता है और पहले अनिच्छा से और फिर अभ्यास से उसके प्रति एक राज-भक्ति का उद्रेक करता है।

व्योम ने कहा, "लेकिन वह भक्ति सचमुच अन्तर की भक्ति नही होती, वह काम निकालने की भक्ति होती है। जब इस बात का बिलकुल निश्चयपूर्वक पता है कि जगत्-कार्य अपरिवर्तनीय नियमो से बँधा हुआ है तब प्रयोजनवश, पेट के मारे, प्राण के मारे उसके आगे सिर नीचा करना पड़ता है। तब विज्ञान के बाहर अनिश्चय के हाथो में अपने-आपको समर्पित कर देने का साहस नही होता; तब ढोलक, तागा, मंतर फूंके हुए पानी आदि को ग्रहण करने की विवशता मे हम एलैक्ट्रिसिटि, मैगनेटिज्म, हिप्नोटिज्म आदि विज्ञान का ट्रेडमार्क देकर अपने-आपको भुलावा देते हैं। हम नियम की अपेक्षा अनियम को जो प्यार करते हैं। उसका एक बुनियादी कारण है। स्वय अपने मे हम एक जगह पर नियम का विच्छेद देखते हैं। हमारी इच्छा-शक्ति सब नियमो से परे होती है, वह स्वाधीन होती है—कम-से-कम हम ऐसा ही अनुभव करते है। अपनी अन्तर्प्रकृतिगत उस स्वाधीनता का सादृश्य बाह्य प्रकृति मे पाकर स्वभावत हमें आनन्द होता है। इच्छा के प्रति इच्छा का आकर्षण अत्यन्त प्रबल होता है, इच्छा के साथ जो दान हम पाते हैं वह दान हमारे लिए और भी अधिक प्रिय होता है, सेवा हमें चाहे जितनी मिले उसके साथ इच्छा का योग न रहने पर वह हमको रुचिकर नही जान पड़ती। इसीलिए जब मैं यह समझता था कि इन्द्र हमको दृष्टि देते हैं, मरुत हमारे लिए वायु जुटाते है, अग्नि हमको दीप्ति देती है, तब उस ज्ञान मे हमको एक आंतरिक तृप्ति मिलती थी। अब हम जानते है कि धूप, वृष्टि, वायु में इच्छा-अनिच्छा नही होती, वे योग्य-अयोग्य, प्रिय-अप्रिय का विचार न करके निर्विकार भाव से यथानियम काम करते है, आकाश मे जल के अणु शीतल वायु के साथ मिलते हैं जिस प्रकार वे साधु के पवित्र मस्तक पर बरसकर सर्दी पैदा करेंगे उसी प्रकार असाधु के कुम्हड़े-जैसे खोपड़े को सींचने मे भी सकोच न करेंगे—विज्ञान की विवेचना करते-करते यह चीज धीरे-धीरे हमको एक प्रकार से सह्य हो गई है लेकिन सच बात तो यह है कि वह हमको अच्छी नही लगती।"

मैंने कहा, "पहले जहाँ पर स्वाधीन इच्छा के कृतित्व का अनुमान किया था अब हमको वहाँ पर नियम का अंधा शासन दिखाई पडता है, इसीलिए विज्ञान की विवेचना करने पर जगत् हमको निरानंद, इच्छा-सम्पर्क-विहीन जान पड़ता है लेकिन जब तक इच्छा और आनंद हमारे अन्तर में हैं तब तक जगत् के अन्तर मे उसको हमें अनुभव करना ही होगा—वहाँ पर न सही जहाँ हमने पहले उसकी कल्पना की थी। उसको अपने अन्तर्तम स्थान पर प्रतिष्ठित न देखकर हमारी अन्तर्तम प्रकृति को ऐसा लगता है कि उसके साथ दुराचार हुआ है। हममें समस्त विश्व-नियमों का जो एक व्यतिक्रम है, जगत् में कही पर उसका एक मूल आदर्श नही है, इस बात को हमारी अन्तरात्मा स्वीकार नहीं करना चाहती। इसीलिए हमारी इच्छा एक विश्व-इच्छा की, हमारा प्रेम एक विश्व-प्रेम की गहरी प्रत्याशा के बिना जी नही सकता।"

समीर ने कहा, "जड़-प्रकृति के नियमो की दीवार सर्वत्र चीन की बड़ी दीवार से अधिक दृढ, प्रशस्त और अभ्रभेदी होती है। अचानक मानव-प्रकृति में एक छोटा-सा छिद्र दिखाई पड़ा। वही पर आँख लगाकर हमने एक अद्भुत चीज पाई है। हमने देखा है कि दीवार के उस पार एक अनंत अनियम रहता है; इस छिद्र-पथ से हम उसके साथ जुड़े हुए हैं; वही से समस्त सौन्दर्य, स्वाधीनता, प्रेम, आनन्द, प्रवाहित होकर आता है। इसीलिए इस सौन्दर्य और प्रेम को विज्ञान के किसी नियम मे नही बाँधा जा सका।"

इसी समय स्रोतस्विनी ने घर मे आकर समीर से कहा, "उस दिन दीप्ति की पियानो की स्वरलिपि वाली पुस्तिका तुम लोग इतना खोज रहे थे, जानते हो उसकी क्या हालत हुई ?"

समीर ने कहा, "नही।"

स्रोतस्विनी ने कहा, "रात को चूहों ने उसे काट-कूटकर पियानो के तारों के बीच बिखेर दिया। ऐसी अनावश्यक क्षति करने का तो कोई उद्देश्य ढूँढे नही मिलता।"

समीर ने कहा, "वह चूहा शायद चूहों के वंश में एक विशेष क्षमता-सम्पन्न वैज्ञानिक है। विस्तृत गवेषणा से वह बाजे की किताब और बाजे के तारों में किसी सम्बन्ध का अनुमान कर सका है। अब वह सारी रात परीक्षा करता रहता है। वह उस विचित्र ऐक्यतानपूर्ण संगीत के अद्भुत रहस्य को भेदने की चेष्टा कर रहा है। अपने पैने दाँतो से वह बराबर बाजे की किताब का विश्लेषण कर रहा

है। पियानों के तारों के साथ उसके सब भावों को एकत्र करके देख रहा है। अभी उसने बाजे की किताब काटनी शुरू की है, फिर बाजे का तार काटेगा, काठ काटेगा और फिर बाजे में सौ छेद करके उसी छेद में अपनी छोटी-सी नाक और चंचल कौतूहल घुसेड़ देगा—इस बीच मर्गीत उतना ही दूर से दूरतर, कठिन से कठिनतर होता चला जायगा। मेरे मन में यह बात उठ रही है कि मूषक-कुल-तिलक ने जिस उपाय का आलम्बन किया है उससे तार और कागज के उत्पादन के संबंध में नये तत्त्व आविष्कृत हो सकते हैं लेकिन उक्त कागज के साथ उक्त तार का जो यथार्थ सम्बन्ध है वह क्या सैकड़ों-हजारों वर्षों में भी पता चल सकेगा? संशय-परायण नए चूहों के मन में क्या अन्ततोगत्वा इस प्रकार का कोई वितर्क उपस्थित न होगा कि कागज केवल कागज है और तार केवल तार—और यह केवल प्राचीन चूहों का युक्तिहीन संस्कार है कि किसी ज्ञानवान् जीव ने उनको एक आनंदजनक उद्देश्य-बंधन में बाँधा था। इस संस्कार का एक यही शुभ फल दिखाई पड़ता है कि उसी प्रेरणा से अनुसंधान में प्रवृत्त होकर तार और कागज की आपेक्षिक कठोरता के संबंध में अनेक परीक्षाएँ सम्पन्न हुई।

"लेकिन किसी-किसी दिन बिल के भीतर दाँत चलाने के काम में लगे रहने पर अपूर्व-संगीत-ध्वनि रह-रहकर कर्ण-कुहरों में प्रवेश करती है और अन्तःकरण को थोड़ी देर के लिए मोहाविष्ट कर देती है। यह क्या मामला है। यह बेशक एक रहस्य है। लेकिन निश्चय ही वह कागज और तार के सम्बन्ध में अनुसंधान करते-करते क्रमशः सैकड़ों छेदों के रूप में खुल जायगा।

'साधना' सितम्बर १८६५ (भाद्र १३०२) में प्रकाशित।